विष्णुकान्त शास्त्री

चुनी हुई रचनाएँ

खण्ड

२

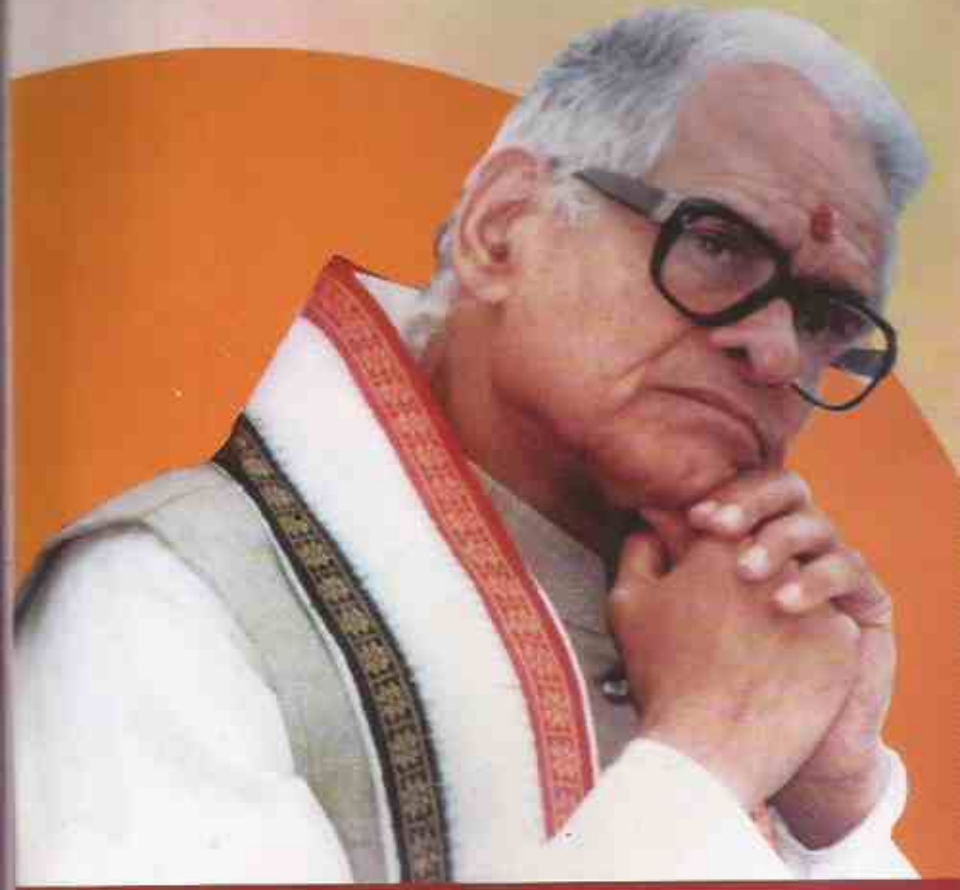

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

परम्परा के स्वस्थ पक्ष के प्रति अपार सम्मान-भाव के साथ ग्रहणयोग्य आधुनिक विचारों की संगति आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की अपनी विशेषता है। तर्क की पीठिका पर किया गया प्रभावी विश्लेषण, नवीन गवाक्षों को उद्घाटित करनेवाला तलस्पर्शी चिन्तन तथा गहन अध्यवसाय को प्रमाणित करनेवाला पाण्डित्यपूर्ण विवेचन उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है।

विद्वत्ता के साथ-साथ वाग्मिता का मणिकांचन संयोग शास्त्री जी में है। अपने लेखन एवं सम्मोहक वक्तव्यों के माध्यम से उन्होंने समाज में अत्यंत विशिष्ट स्थान अर्जित किया है। सहजता, शालीनता, विनम्रता के साथ निरभिमानी व्यक्तित्व ने उन्हें अपार लोकप्रियता प्रदान की है। उनकी चुनी हुई रचनाओं के प्रकाशन से निश्चय ही साहित्य रसिक पाठकों को प्रसन्नता होगी।

प्रथम खंड में आलोचनापरक निबन्ध संकलित हैं। महाकवि कालिदास से लेकर आधुनिक काल के कतिपय विशिष्ट रचनाकारों की रचनाओं का विद्वत्तापूर्ण विवेचन करनेवाले २४ निबंध इस खंड में संगृहीत हैं।

द्वितीय खंड में संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज तथा आध्यात्मिक रचनाएँ हैं। इस खंड में प्रेरक पुरुषों पर केन्द्रित आलेखों के साथ विविध विषयों पर शास्त्री जी के महत्त्वपूर्ण निबंध एवं कविताएँ भी हैं।

विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ

खण्ड : २

(संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, अध्यात्म-चिन्तन, विविध विषयक रचनाएँ तथा कविताएँ)

अनुग्रह फाउण्डेशन, ११३ पार्क स्ट्रीट, कोलकाता-१६ के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित

प्रकाशक :

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

कोलकाता

विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ

खण्ड : २

संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, अध्यात्म-चिन्तन,
विविध विषयक रचनाएँ तथा कविताएँ

सम्पादक :
जुगल किशोर जैथलिया

प्रकाशक :
श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
१-सी, मदन मोहन बर्मन स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००७
टेलिफैक्स : २२६८-८२१५
ई-मेल : kumarsabha@vsnl.net

प्रकाशन समिति :
डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी
डॉ० उषा द्विवेदी
श्री कृष्ण स्वरूप दीक्षित
श्री महावीर बजाज
श्री श्रीराम तिवारी

•

प्रथम संस्करण :
२ मई, २००३ ई०
(आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के ७५वें जन्म दिवस पर)
११०० प्रतियाँ

•

मूल्य :
३००/- रु.

•

आवरण सज्जा :
श्री श्रीजीव अधिकारी

•

मुद्रक :
'एस्केज'
८, शोभाराम बैसाक स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७
दूरभाष : २२१८ ६०८४

Vishnu Kant Shastri : Chuni Hui Rachanayen
(Volume-II)
Edited by : Jugal Kishore Jethalia
Price : 300/-

सम्पादकीय

अपनी असाधारण प्रतिभा, विद्वत्ता तथा स्वीकृत कार्य को पूर्ण निष्ठा से सम्पन्न करने के सहज स्वभाव के कारण आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने जीवन के विविध क्षेत्रों में अपार कीर्ति अर्जित की है। साहित्यिक क्षेत्र में तो अपने रचनात्मक अवदान के कारण वे सुप्रतिष्ठित हैं ही, राजनीति जैसे जटिल क्षेत्र में भी उन्होंने अपने निष्कलंक व्यक्तित्व के कारण अलग पहचान बनाई है।

पाण्डित्यपूर्ण पारिवारिक परम्परा, विभिन्न क्षेत्रों के श्रेष्ठ जनों का साहचर्य, ४० वर्ष से भी अधिक का निष्ठापूर्ण प्राध्यापकीय जीवन और प्रत्येक छोटे-बड़े काम को दायित्वपूर्ण ढंग से सम्पन्न करने की वृत्ति—इन सबने मिलकर उनके दीप्त व्यक्तित्व का निर्माण किया है।

वाग्मिता के क्षेत्र में भी विष्णुकान्त जी ने सारे देश में यश अर्जित किया है। संप्रेषणीयता एवं प्रभावोत्पादकता से युक्त उनके ज्ञान-गूढ़ व्याख्यान विषय की अधुनातन जानकारी प्रदान करते हैं और श्रोताओं के मन-मस्तिष्क को गो-दुग्ध की तरह परिपुष्ट करते हैं। इसी कारण सारे देश में शास्त्रीजी के व्याख्यानों को भिन्न-भिन्न संस्थाओं ने प्रकाशित - प्रसारित किया है। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के मंच से भी उनके कई व्याख्यान स्वतंत्र रूप से प्रकाशित एवं वितरित हुए हैं। आचार्य शास्त्री के आध्यात्मिक प्रवचनों ने भी अलग श्रोतृवर्ग तैयार किया है। ईशावास्योपनिषद् एवं गीता पर कुमारसभा में हुए उनके प्रवचन न केवल प्रशंसित हुए हैं बल्कि इनके कैसेटों और प्रकाशित पुस्तकों की देशभर से माँग बनी हुई है।

विष्णुकान्तजी की रचनाओं के पाठक केवल प्राध्यापक या विद्यार्थी ही नहीं हैं बल्कि इनसे इतर समाज का साहित्यिक एवं संस्कृति प्रेमी ऐसा भी एक बड़ा वर्ग है जो आज के वैचारिक प्रदूषण से गहराये विभ्रम में, नीर-क्षीर विवेक अथवा 'संग्रह-त्याग विवेक' से प्राचीन एवं अर्वाचीन परम्परा एवं ज्ञान को सही ढंग से विश्लेषित करने वाले उनके व्याख्यानों एवं रचनाओं से अभिभूत है और उनके प्रकाशनों की प्रतीक्षा करता

रहता है। अतः इन साहित्य रसिक पाठकों को शास्त्रीजी की विभिन्न विषयों पर चुनी हुई रचनाएँ प्रदान की जा सकें, इस हेतु मेरे मन में पिछले कई वर्षों से विचार चल रहा था। संयोग से कुछ माह पूर्व मैंने अपने परम मित्र डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी से यह विचार प्रकट किया। उन्होंने इसका समर्थन करते हुए २ मई २००३ को विष्णुकान्त जी के ७५ वें जन्म दिवस को चुनी हुई रचनाएँ प्रकाशित करने का सर्वाधिक उपयुक्त अवसर बताया। चर्चा के समय कुमारसभा पुस्तकालय की मंडली के सक्रिय सदस्य – डॉ० उषा द्विवेदी, महावीर बजाज एवं कृष्ण स्वरूप दीक्षित भी उपस्थित थे। सभी ने एक स्वर से प्रकाशन का समर्थन करते हुए इसके सम्पादन का दायित्व मुझे ही सौंप दिया। मैंने बिना किसी ना-नुकुर के प्रभु-कृपा मानकर इस कार्य को स्वीकार कर लिया। वैसे भी यह कार्य मेरी व्यक्तिगत रुचि का तो था ही।

विगत ५ माह के परिश्रम एवं कुमारसभा पुस्तकालय के कर्मठ सदस्यों के सहयोग से शास्त्रीजी के सम्पूर्ण रचना संसार से केवल प्रतिनिधि रचनाएँ छाँटते-छाँटते भी चार-चार सौ पृष्ठों के दो खण्ड तैयार हो गए और अनेक रचनाएँ हमें विवश होकर छोड़नी पड़ीं। शायद कोई 'समग्र' ही इस अधूरी पिपासा को शान्त कर सके। फिर भी मुझे पूर्ण विश्वास है कि दो खण्डों में संकलित साहित्य के विविध पक्षों को समेटती हुई यह सामग्री अध्येताओं एवं साहित्य-रसिक पाठकों को तोष प्रदान करेगी।

प्रथम खंड में जहाँ कालिदास से लेकर आधुनिक काल तक के कतिपय विशिष्ट रचनाकारों के साहित्यिक अवदान पर आलोचनापरक निबन्ध संकलित हैं, इस दूसरे खंड में शास्त्रीजी द्वारा रचित साहित्य की अन्य सभी विधाओं यथा— संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, अध्यात्म-चिन्तन एवं विविध विषयक रचनाओं के साथ कतिपय कविताएँ भी दी जा रही हैं ताकि शास्त्रीजी के रचना संसार की एक झलक पाठकों को मिल सके।

सामग्री संकलन, प्रूफ-संशोधन तथा सुरुचिपूर्ण मुद्रण हेतु प्रकाशन समिति के सभी सदस्यों ने विशेष परिश्रम किया है, इस हेतु मैं उनके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। साथ ही मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, अपने अनन्य मित्र श्री पुरुषोत्तम दास चितलांगिया के प्रति, जिन्होंने अपने ट्रस्ट से प्रकाशन हेतु आर्थिक व्यवभार वहन कर पुस्तकालय के प्रति एवं इस कार्य के प्रति अपने अनुराग को प्रकट किया है।

सुधी पाठकों की प्रतिक्रिया की हमें प्रतीक्षा रहेगी।

भवदीय

(जुगल किशोर जैथलिया)
संपादक

प्रकाशकीय

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के साथ आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का अत्यन्त आत्मीय सम्पर्क है। पुस्तकालय ने अखिल भारतीय स्तर पर जो ख्याति अर्जित की है, उसमें श्रद्धेय शास्त्रीजी का बहुमूल्य योगदान है। पुस्तकालय के महत्त्वपूर्ण आयोजनों, प्रकाशनों तथा गतिविधियों को उनका आशीर्वाद सदैव प्राप्त होता रहता है। चाहे सांसद की व्यस्त जीवनचर्या हो या राज्यपाल की उत्तरदायित्वपूर्ण कर्मठता—संरक्षक, मार्गदर्शक के रूप में उनका वरदहस्त सदा पुस्तकालय पर है, यह हम सबके लिए अत्यंत गौरव की बात है।

आचार्य शास्त्री ने साहित्यिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक—सभी क्षेत्रों में अपने प्रभावी अवदान के कारण जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है, वह अभूतपूर्व एवं प्रेरक है। निष्ठावान अध्यापक, निःस्पृह समाजसेवी, उत्कट शिक्षाव्रती तथा भारत-भारती के अनन्य साधक के रूप में वे समादृत हैं। हिन्दी साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ समालोचकों में उनकी गणना की जाती है। उन्होंने आलोचना के साथ-साथ संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, काव्य आदि विधाओं को भी समृद्ध किया है। विविध सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक विषयों पर उनके आलेख, वक्तव्य एवं प्रवचन पाठकों/श्रोताओं द्वारा प्रशंसित हुए हैं।

परम्परा के स्वस्थ पक्ष के प्रति अपार सम्मान-भाव के साथ ग्रहणयोग्य आधुनिक विचारों की संगति शास्त्रीजी की अपनी विशेषता है। तर्क की पीठिका पर किया गया प्रभावी विश्लेषण, नवीन गवाक्षों को उद्घाटित करनेवाला तलस्पर्शी चिन्तन तथा गहन अध्यवसाय को प्रमाणित करनेवाला पाण्डित्यपूर्ण विवेचन उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है।

उद्भट विद्वान एवं प्रभावी वक्ता के साथ-साथ अपने अप्रतिम व्यक्तित्व के कारण भी शास्त्रीजी सबके श्रद्धेय हैं। सहजता, शालीनता, विनम्रता के साथ उनके निरभिमानी व्यक्तित्व से छलकती आत्मीयता सबको अपना बना लेती है। विष्णुकान्तजी

की संतुलित जीवन दृष्टि, छोटे-बड़े सभी को यथोचित स्नेह-सम्मान प्रदान करनेवाला उनका स्वभाव उनके व्यक्तित्व को अद्भुत तेजस्विता से आपूरित कर देता है।

कुमारसभा पुस्तकालय ऐसे सारस्वत-साधक के समग्र साहित्य से प्रतिनिधि रचनाओं का चयन कर उन्हें दो खण्डों में प्रकाशित करने जा रहा है। दोनों खण्डों की रचनाएँ पाठकों को विष्णुकान्त जी के रचनात्मक अवदान का समुचित परिचय करा सकें, इस बात का हमने विनम्र प्रयास किया है। रचनाओं का चयन मुख्यतः प्रकाशित कृतियों से किया गया है। कुछ अग्रंथित निबंध एवं प्रमुख व्याख्यान भी इन ग्रंथों में शामिल किए गए हैं। इस प्रकार रचनाओं का ऐसा स्तवक तैयार किया गया है जो लेखक, वक्ता, प्रवचनकार, कवि—इन सभी रूपों से पाठकों को परिचित करा सके।

पुस्तकालय परिवार के वरिष्ठ सदस्य तथा लंबे कालखंड तक विविध क्षेत्रों में आचार्य शास्त्री के अभिन्न सहयोगी श्री जुगल किशोर जैथलिया इन दोनों ग्रंथों का संपादन कर रहे हैं, यह और भी प्रसन्नता की बात है। पुस्तकालय के मंत्री श्री महावीर बजाज ने सुरुचिपूर्ण प्रकाशन हेतु तथा डॉ० उषा द्विवेदी, श्रीयुत श्रीराम तिवारी, श्री कृष्ण स्वरूप दीक्षित तथा श्री गजानन्द राठी ने प्रूफ संशोधन हेतु काफी मेहनत की है। सर्वश्री गोविन्द नारायण काकड़ा, अरुण प्रकाश मल्लावत, अरुण सोनी तथा नन्द कुमार लढ़ा ने भी सब प्रकार का सहयोग दिया है।

इस कार्य में राज-भवन, लखनऊ के अधिकारियों का भी प्रशंसनीय सहयोग मिला है। इस हेतु मैं दोनों परिसहायों (ए. डी. सी.) – कैप्टेन कुलदीप मगोत्रा एवं श्री भानु भास्कर, आई.पी.एस. का आभारी हूँ। महामहिम राज्यपाल उत्तर प्रदेश के प्रमुख सचिव श्री शंभुनाथ, आई.ए.एस. तथा विशेष सचिव श्री राकेश कुमार ओझा ने अपनी साहित्यिक रुचि के अनुरूप आत्मीय सहयोग दिया, अतः कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा कर्त्तव्य है।

२ मई २००३ को आचार्य शास्त्री ने अपने जीवन के पचहत्तरवें वर्ष में प्रवेश किया है। इस मौके पर "विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ" ग्रंथ के दो खण्ड प्रकाशित करते हुए हमें आंतरिक प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। यह प्रकाशन साहित्य-रसिक पाठकों के लिए अनुपम उपहार तो है ही, पचहत्तरवें जन्मदिवस पर पुस्तकालय द्वारा अपने मार्गदर्शक के प्रति प्रकट किया गया सम्मान-भाव भी है।

हमें विश्वास है कि पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण ग्रंथों एवं संग्रहणीय स्मारिकाओं की भाँति ये ग्रंथ भी साहित्यप्रेमियों का समादर प्राप्त करेंगे।

प्रेमशंकर त्रिपाठी

(डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी)
संयोजक : प्रकाशन समिति

रीडर एवं अध्यक्ष : हिन्दी विभाग
सुरेन्द्रनाथ सांध्य कॉलेज
कोलकाता

लेखकीय

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के प्रेरणापुरुष श्री जुगल किशोर जैथलिया और उनके सहयोगियों ने मेरी चुनी हुई रचनाओं को दो खण्डों में प्रकाशित कर मेरे पचहत्तरवें जन्म दिवस पर मुझे प्रीतिकर उपहार प्रदान किया है। मैंने १९५५ से लिखना शुरू किया। पिछले ४८ वर्षों की सृजन-यात्रा से कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं को चुन लेना और उन्हें विधा के अनुरूप दो खण्डों में समायोजित करना सचमुच कठिन और परिश्रमसाध्य कार्य था जिसे बहुत आत्मीयता के साथ इन मित्रों ने निभाया। मैं पुस्तकालय परिवार के समस्त अधिकारियों का हृदय से आभारी हूँ।

कलकत्ता विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाओं में हिन्दी साहित्य का अध्यापन करते समय मुझे कई प्रश्नों से टकराना पड़ा और जब-जब मैं स्थापित दृष्टियों से सहमत नहीं हो पाया तब-तब मुझे लगा कि मुझे अपनी बात युक्तियुक्त ढंग से लेख के माध्यम से कहनी चाहिए। कभी-कभी मुझे यह भी लगा कि कुछ महत्त्वपूर्ण किन्तु अमीमांसित विषय हैं जिन पर विस्तार से विवेचन करना आवश्यक है। जिन साहित्यकारों की रचनाओं ने मुझे बहुत अधिक प्रभावित किया उनकी विशेषताओं को रेखांकित करना भी मुझे उचित लगा। आलोचनात्मक निबन्धों के लेखन के पीछे मुख्यतः ये ही तीन प्रेरणाएँ काम करती रही हैं। आलोचना लिखना ही मेरे लेखकीय जीवन का प्रमुख पक्ष रहा है। अतः प्रथम खण्ड में मेरी आलोचनाओं को संकलित करने का निर्णय सुसंगत है।

आलोचना-लेखन में मेरा बौद्धिक विवेचक रूप ही उभरा है। मेरा भावुक रूप भी अपने को अभिव्यक्त करना चाहता था। जिन श्रेष्ठ प्रतिभाओं से मैं प्रभावित हुआ उनके संबंध में अपने अनुभवों को मैंने संस्मरणों के माध्यम से लिपिबद्ध किया है। इसी तरह मेरा घुमक्कड़ मन जिन-जिन क्षेत्रों में रमा है, उनकी सुन्दरता और प्रभविष्णुता को भी अंकित करने की मैंने चेष्टा की और इसी क्रम में यात्रा-वृत्त लिखे

जाते रहे। कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकरणों, घटनाओं, परिस्थितियों का साक्षी होने के कारण मुझे रिपोर्ताज लिखने की भी आवश्यकता का अनुभव हुआ। बांग्लादेश के संबंध में लिखे गए अधिकांश निबंध रिपोर्ताज ही हैं।

जिन महापुरुषों के जीवन एवं दर्शन से मेरी मान्यताओं का निर्माण हुआ है, उनसे संबद्ध विविध प्रसंगों पर उनकी दृष्टि को प्रतिपादित करनेवाले निबन्ध लिखकर मुझे आंतरिक सन्तोष का अनुभव हुआ है। बचपन के धार्मिक संस्कार के साथ कई महात्माओं के सम्पर्क ने मुझे अध्यात्म की ओर भी उन्मुख किया अतः उस सम्बन्ध में भी मैंने लिखने की धृष्टता की है।

कविता मेरे लिए जीवन की ऊर्जा रही है। श्रेष्ठ कवियों की बहुत सी रचनाएँ मुझे कंठस्थ हैं और मैं उन्हें समय-समय पर मित्रों और अपने आपको सुनाता रहता हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं कवि नहीं हूँ लेकिन मेरी भावुकता कविता के रूप में समय-समय पर मूर्त्त होती रही है; मेरे उस रूप का भी थोड़ा परिचय देने का प्रयास मित्रों ने किया है। स्वाभाविक रूप से दूसरे खण्ड में इन विविध विषयों की चुनी हुई रचनाओं को संकलित किया गया है।

यह सही है कि इनमें से अधिकांश रचनाएँ मेरे प्रकाशित ग्रन्थों से ली गई हैं किन्तु बहुत सी रचनाएँ ऐसी भी हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में तो प्रकाशित हुई हैं किन्तु अभी तक अग्रंथित हैं। यदि मेरा बहुधंधीपन मुझे कुछ अवसर दे तो निकट भविष्य में मेरी ३-४ पुस्तकें और भी प्रकाशित हो सकती हैं। मालूम नहीं कबतक मुझे इसके लिए समय मिल पाएगा।

कुमारसभा पुस्तकालय के इस प्रकाशन ने मुझे जबर्दस्त प्रेरणा दी है कि मैं अपने अवशिष्ट अग्रंथित निबन्धों को यथाशीघ्र विषय के अनुरूप ग्रन्थों में संकलित कर प्रकाशित करूँ। पाठकों का मुझे बहुत अधिक स्नेह-सद्भाव प्राप्त होता रहा है और सच कहा जाय तो उन्हीं के कारण मुझे निरन्तर लिखने की प्रेरणा मिलती रही है। इन दो खण्डों के सम्बन्ध में भी अपने कृपालु पाठकों की राय जानना चाहूँगा।

राजभवन, लखनऊ
उत्तर प्रदेश

(विष्णुकान्त शास्त्री)

अनुक्रम

खण्ड : २

संस्मरण ■

कभी न होगा जिसका अन्त : निराला □ १
अविरोध की साधना के मूर्त्तरूप : हजारीप्रसाद द्विवेदी □ ६
धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र □ १४
खण्ड-खण्ड फिर भी अखण्ड : स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती □ २१
आलोक-छुआ अपनापन : अज्ञेय □ ३३
क्योंकि है सपना अभी भी : धर्मवीर भारती □ ४९
प्रखर मेधा, अडिग विश्वास : रामविलास शर्मा □ ७५
श्रद्धा और बुद्धिवाद की रस्साकशी : बच्चन □ ९०
विधायक की यातना □ ११५

यात्रावृत्त ■

आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी : कश्मीर □ १२३
वैष्णोमाता तूँ त्रिकुटा दी रानी □ १३३
हिमाचल की विरल श्रेणी तरल सी
आँख में उलझी : दार्जिलिंग □ १४३
शास्त्रैरपि शस्त्रैरपि : एन. सी. सी. शिविर □ १५२
सूरीनाम यात्रा : पीढ़ियों से बिछुड़े भाइयों के बीच चन्द रोज □ १६०

रिपोर्ताज ■

अँधकार में ज्योति की तलाश :
बाँग्लादेश में भारतीजी के साथ □ १७३
ये सतत संघर्ष की घड़ियाँ अमर होंगी □ १८५
मगर हिमपात को देती चुनौती एक तरुमाला □ १९७

अध्यात्म चिन्तन ■

ईशावास्योपनिषद् : एक सिंहावलोकन □ २०६
योग की गीतोक्त परिभाषाएँ □ २२९
नवधा भक्ति □ २४८
शरणागति की भूमिका □ २७५

विविध विषयक रचनाएँ ■

महाराणा प्रताप : आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों की दृष्टि में □ २८६
भूषण की दृष्टि में शिवाजी :
'राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो' □ ३०४
स्वामी विवेकानन्द का सन्देश □ ३१३
मौलिक द्रष्टा एवं महान् संगठनकर्त्ता डॉ. हेडगेवार □ ३१९
डॉ. मुखर्जी की शिक्षा-नीति □ ३३६
जयप्रकाश नारायण : क्रान्तिकारी भी आध्यात्मिक भी □ ३४५
शिक्षा का भारतीय आदर्श □ ३५३
सांस्कृतिक राष्ट्रवाद □ ३६३

कविताएँ ■

आईने के सामने □ ३७८
क्या करोगे पूछ कर प्रिय □ ३७९
विविध मुक्तक □ ३८०
तुमको क्या जादू आता है ? □ ३८१
लक्ष्य तेरा पास ही है □ ३८२
दो मुक्तक □ ३८३
भक्तिपरक चतुष्पदियाँ □ ३८४
केशव का आत्ममंथन □ ३८६

कभी न होगा जिसका अन्त : निराला

सरदार वल्लभ विद्यानगर से भारतीय हिन्दी परिषद् के अधिवेशन से लौटते समय मैं अनायास ही प्रयाग उतर पड़ा । सोचा त्रिवेणी-स्नान कर लूँ । उस दिन तारीख थी २ जनवरी, १९६१।

त्रिवेणी-स्नान करने के लिए सभी हिन्दू प्रयाग आते हैं या आना चाहते हैं, किन्तु साहित्यिकों के लिए प्रयाग में एक नहीं, दो त्रिवेणियाँ हैं। एक तो सबकी, दूसरी उन्हीं की । पहली त्रिवेणी में स्नान कर चुकने के बाद दूसरी की रसधारा में अवगाहन करने चला। यह दूसरी त्रिवेणी है निराला, पन्त और महादेवी की। आधुनिक हिन्दी साहित्य की ये तीन महान् विभूतियाँ गंगा, यमुना, सरस्वती की तरह प्रयाग में मिल गयी हैं। लेकिन संयोग देखिये, सरस्वती लुप्त हैं और महादेवीजी उस दिन प्रयाग में नहीं। पन्तजी का संस्मरण फिर कभी लिखूँगा, इस समय निराला की निराली भेंट ही मन पर छायी हुई है।

दारागंज की एक गली के एक छोटे से मकान के दरवाजे पर ले जाकर मुझे खड़ा कर दिया एक छोटे लड़के ने। दारागंज में निराला को सब जानते हैं, पढ़े-लिखे भी, अपढ़ भी, बड़े भी, बच्चे भी। निराला का नाम लेते ही वहाँ के निवासियों के मुख पर आत्मीयता की आभा झलक जाती है । मैं निराला से मिलना चाहता हूँ, यह सुनकर वह लड़का मेरे साथ हो गया । वह भी निराला को जानता था – 'वे बड़े कविजी जो हैं।'

दरवाजा भीतर से बन्द था, खटखटाने पर खुल गया। और मैं निराला के घर में था। एक छोटा सा श्रीहीन कमरा, जिसमें एक तरफ निराला की खाट थी और दूसरी तरफ चौकी जिस पर शिवगोपालजी मिश्र तथा और दो सज्जन बैठे थे। निराला की चारपाई से सटी दीवाल में एक आलमारी थी, जिसमें कुछ पुस्तकें थीं और कुछ दवा की शीशियाँ। निरालाजी एक पतली रजाई ओढ़े बैठे थे, मैंने उन्हें देखा और कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध रह गया । निरालाजी कैसे हो गये हैं। पीला, निस्तेज चेहरा, बढ़ा सा

पेट, सूखी सी बाहें और धँसी सी आँखें। निरालाजी की आँखें! स्मृति में बिजली कौंधी! सत्रह वर्ष पहले की देखी निरालाजी की भव्य मूर्ति आँखों के सामने सजीव हो उठी।

तब मैं चौदह वर्ष का किशोर था । काशी में अ.भा. विक्रम परिषद् द्वारा कालिदास जयन्ती के अवसर पर वृहत् कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था । कविगण हमलोगों के घर ही ठहरे थे । निराला भी पधारे थे। उस पुरुष सिंह को देखकर देखता ही रह गया था । गठा हुआ लम्बा-चौड़ा शरीर, गौरवमंडित मुखमण्डल, और उसमें चमकनेवाली तेजोदीप्त पानीदार बड़ी-बड़ी आँखें ! पिताजी (स्वर्गीय पं. गांगेय नरोत्तम शास्त्री) ने जब हमलोगों का परिचय कराया, तो उन आँखों में वात्सल्य छलक आया था। वे आँखें मेरे किशोर मन में अपनी अमिट छाप छोड़ गयी थीं।

निराला के दर्शन दूसरी बार हुए कलकत्ते में सितम्बर १९५३ में, जब उनके अभिनन्दन का आयोजन किया गया था। निरालाजी बन्धुवर लक्ष्मीनिवासजी झुनझुनवाला के घर ठहरे थे। उनको देखते ही लगा था कि यद्यपि उनके बाल आधे पक चुके हैं और गाल निष्प्रभ हो चले हैं, तथापि आँखों की तेजस्विता में कोई अन्तर नहीं आया है। उनकी मर्मदर्शिता, ज्वलनशीलता एवं प्रभविष्णुता बढ़ी ही है, घटी नहीं।

किन्तु इस बार निराला की आँखें देखकर लगा कि जैसे ये पहले की छायामात्र रह गयी हैं। अवसाद और विषाद से भरी ये पीली आँखें निराला की ही हैं, इस कटु सत्य को स्वीकार करते समय मन कचोट उठा।

निरालाजी की जिज्ञासाभरी दृष्टि के उत्तर में चरण स्पर्श करते हुए मैंने बताया कि मैं स्वर्गीय पं. गांगेय नरोत्तम शास्त्री का पुत्र हूँ और गुजरात से भारतीय हिन्दी परिषद् के अधिवेशन में भाग लेकर लौटते समय आपके दर्शन के लिए प्रयाग उतर गया हूँ। पिताजी के असामयिक निधन के लिए उन्होंने शोक प्रकट किया, पिताजी के रूप, गुण, शील, कवित्व का भी उन्होंने स्मरण किया, यह जानकर कि मैं हिन्दी का अध्यापक हूँ, वे प्रसन्न हुए, बोले, अपने पिता के चरण-चिह्नों पर चलना, हिन्दी की सेवा करते रहना।

उन्हें अनुकूल देखकर मेरी हिम्मत बढ़ी। मैंने निवेदन किया, "आपकी कविताएँ प्रायः इधर-उधर सुनाता रहता हूँ। आज आपको आपकी ही कविता सुनाने की अनुमति चाहता हूँ।"

उत्तर में उन्होंने जो कहा, वह उनकी महत्ता के अनुरूप ही था। वे बोले, "मेरी कविता सुनाकर क्या करोगे, पन्त को सुनाओ, महादेवी को सुनाओ, बच्चन को सुनाओ, हम सब एक हैं।" उनकी इस अनाडम्बर विशाल हृदयता के प्रति श्रद्धानत हो गया। किन्तु मैं बालहठ ठान चुका था, बोला "आज तो गंगाजल से ही गंगा की पूजा करूँगा।" वे मुस्कराये, मुझे पन्त की पंक्ति याद हो आयी *'राहुग्रसित शरदेन्दु हासिनी।'*

राहुग्रसित चन्द्रमा भी अपनी महाप्राणता के कारण उस पीड़ा के क्षणों में इसी प्रकार मुसकरा पाता होगा। लगा, निराला की उक्ति कितनी वास्तविक है, 'हँस रहा, यह देख कोई नहीं झेला!' इस रोग जर्जर काया के भीतर अब भी वह वज्र कठोर कुसुम कोमल अन्तर धड़क रहा है, रसानुभूति एवं रस-परिवेशन ही जिसका जीवन-लक्ष्य है। अनुमति मानकर मैंने 'जुही की कली' सुनानी शुरू की। मेरे मित्रों का कहना है कि मैं आवृत्ति बुरी नहीं करता और उस समय तो मुझे लग रहा था कि मेरे प्राण जिह्वा पर ही आ गये हैं। अपनी सम्पूर्ण कला और कुशलता के साथ मैं निराला को उनकी अत्यन्त प्रिय कृति सुना रहा था, मानो वह मेरी परीक्षा हो और उसमें उत्तीर्णता मेरे लिए अनिवार्य हो! मेरा सौभाग्य कि निराला प्रसन्न हो गये। उनकी आँखों में प्रशंसा चमकी जो अधरों पर 'स्मित की चाँदनी' बन खिल उठी ।

हिन्दी का आशुतोष बोला, "अब मैं भी तुम्हें एक कविता सुनाऊँगा ।" और उन्होंने पद्माकर के निम्नलिखित कवित्त की अत्यन्त ओजस्वितापूर्ण आवृत्ति की ।

जैसो तैं न मोसों कहूँ नैकहूँ डरात हुतो,
तैसो अब हौं हूँ नैकहूँ न तोसों डरिहौं ।
कहै 'पद्माकर' प्रचंड जो परैगो तो
उमंड करि तोसो भुजदण्ड ठोंकि लरिहौं ।
चलो चलु, चलो चलु विचलु न बीच ही तें
कीच बीच नीच तौ कुटुम्ब को कचरिहौं ।
एरे दगादार मेरे पातक अपार, तोहिं
गंगा के कछार में पछार छार करिहौं ।

मुझे लगा कि निराला कविता पढ़ते समय साकार कविता बन जाते हैं। उनके स्वर का आरोह-अवरोह, प्रवाह, विराम, अंगों का संचालन, आँखों का आकुञ्चन-प्रसारण, सब मानो कविता के अन्तर्हित भाव को व्यक्त करने के अपरिहार्य साधन हों। जीवन-भर जो व्यक्ति योद्धा रहा है, उसकी भक्ति भी योद्धा की ही हो सकती है। मुझे बिल्कुल लगा कि निराला 'दगादार अपार पातक' के साथ गंगा मैया की शक्ति से शक्तिमान होकर भिड़ गये हैं और वे उसे उसी तरह पछाड़ देंगे जिस तरह अखाड़े में उन्होंने अनगिनत मल्लों को और साहित्य के क्षेत्र में असंख्य अहम्मन्य आलोचकों को पछाड़ दिया है। 'उमंड करि तोसों भुजदण्ड ठोंकि लरिहौं' कहते-कहते सचमुच उन्होंने भुजदण्ड ठोंके, 'चलो चलु चलो चलु विचलु न बीच ही तें' के समय उनकी वही मुद्रा और भावना थी जैसी सबल प्रतिद्वन्द्वी को ललकारते समय किसी स्वाभिमानी योद्धा की हो सकती है। 'गंगा के कछार में पछार छार करिहौं' कहते समय लगा कि जैसे उन्होंने सचमुच दगादार पातक को पछाड़ ही दिया है। उस आवृत्ति को सुन कर ही समझ सका

कि 'पतित पावनी गंगे, निर्मल जलकल रंगे' आदि उनकी पंक्तियाँ हृदय की कितनी गहराई से निकलती हैं। किन्तु आवृत्ति शेष करते-करते उनकी खाँसी उभड़ आयी। वे कुछ देर तक खाँसते रहे। शिवगोपाल जी ने बताया कि इस समय खाँसी उन्हें काफी कष्ट दे रही है । किन्तु तन का कष्ट मन की शक्ति को तोड़ नहीं पाया है, इसका प्रमाण मिला कविता सुनाने का संकेत पाकर। शिवगोपाल जी ने भी कहा, 'हाँ, कुछ कविताएँ सुनाइये, जरा इनका मन ही बहल जाये।' ब्रज के प्रति उस समय उनका झुकाव देखकर मैंने देव का निम्नलिखित कवित्त सुनाया —

ऐसो जो हौं जानतों कि जैहै तू विषय के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरो तोरतों ।
आजु लौं हौं कत नरवाहन की नाहीं सुनि
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतों ।
चलन न देतों देव चंचल अचल करि
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतों ।
भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि
राधावर विरुद के वारिधि में बोरतों ।

इस पर निराला जी ने ब्रज का एक अत्यन्त सुन्दर भक्तिरस पूरित कवित्त सुनाया। मेरा दुर्भाग्य है कि मैं न तो उसे स्मरण रख पाया, न खोज ही पाया। मैं जानता था कि निराला जी अपने मनोजगत में भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाषाओं और साहित्यों के अनुराग में रँगे रहते हैं। कलकत्ते के सितम्बर १९५३ के प्रवास में कुछ समय तक वे उर्दू में ही रमे रहे थे। मुझे याद है कि उस समय एक बार उन्होंने दक्षिणेश्वर जाने की इच्छा प्रकट की। निराला जी के साथ मैं और लक्ष्मीनिवास जी भी उसी गाड़ी में बैठ गये। रास्ते भर वे प्रायः चुप रहे या उर्दू में कुछ बुदबुदाते रहे। दक्षिणेश्वर पहुँच कर हम लोगों को उन्होंने कहा, "जाओ, दौदार हासिल कर आओ और बीबी फातिमा से हमारा सलाम कह देना, यह भी कह देना कि हम मक्के में उनसे मिलेंगे ।" हमलोग हैरान ! उन्हें अकेले छोड़कर जाने की इच्छा भी नहीं हो रही थी किन्तु उन्होंने डाँट कर कहा, "लड़कों को बड़ों की बात माननी चाहिये, जाओ।" हमलोग चुपचाप चले गये। लौट कर देखा कि उनके पास जो कुछ था, सब भिखमंगों में बाँट कर उन्हें समझा रहे थे कि अब कुछ नहीं बचा, अब जाओ। कई संस्मरणों में भी पढ़ चुका था कि कभी वे बंगला ही बोलते हैं, कभी अंग्रेजी ही। मुझे लगा कि इस समय निराला जी ब्रजभाषा काव्यसरोवर में हंस बन कर तैर रहे हैं।

अचानक वे बोले कि जैसी कविता भूषण ने की, वैसी किसी ने नहीं की। उसके ऊपर कोई नहीं जा सकता। वह सच्चा मर्द कवि था। मानो अपने कथन के प्रमाण

स्वरूप ही उन्होंने भूषण का यह कवित्त बहुत जोश के साथ सुनाया—

बेद राखे बिदित पुरान परसिद्ध राखे,
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर में ।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की
कांधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी कर में ।
मीडि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर में ।
राजन की हद राखी तेगबल सिवराज
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में ।

मैंने कहा — 'त्रिपाठी के ऊपर त्रिपाठी ही गया है।' और 'जागो फिर एक बार' की पंक्तियाँ सुनाने लगा, किन्तु उन्होंने बीच में ही काट कर कहा, 'नहीं, वह भी भूषण के ऊपर नहीं जा सकता है।' और उन्होंने भूषण का एक और कवित्त सुनाया, किन्तु इस बार उन्हें खाँसी से अधिक कष्ट हुआ। पं. शिवगोपाल जी को लगा कि निराला जी यदि उत्तेजना में और कविताएँ सुनायेंगे, तो उनके स्वास्थ्य को हानि पहुँच सकती है। उन्होंने मुझे इशारे से मना कर दिया। हम लोगों ने भूषण की श्रेष्ठता को स्वीकार किया। शिवगोपाल जी ने फिर कहा, 'अब निराला जी को कुछ विश्राम करना चाहिये, चलिये हम लोग चलें।' हम लोगों ने निराला जी को प्रणाम किया। वे मौन ही रहे। पुनः प्रणाम कर हम लोग बाहर आये ।

बाहर आते ही शिवगोपाल जी ने कहा, 'आप बड़े भाग्यवान हैं । पिछले कई महीनों में ऐसी अच्छी मुलाकात निराला जी ने किसी से नहीं की थी । कविताएँ तो नहीं, हाँ खरी-खरी बातें कइयों को अवश्य सुनायी थीं । आपको तो उन्होंने पाँच-छः कवित्त सुनाये, आपसे कविताएँ सुनीं, सचमुच आप भाग्यवान हैं।'

मैं अपने सौभाग्य पर स्वयं गद्-गद् था। निराला का स्नेह पाकर मैं हर्षविभोर हो उठा था। इस रुग्णावस्था में भी काव्यचर्चा के प्रति यह स्वाभाविक अनुराग निराला की सहज महत्ता का द्योतक है। उस साकार काव्यगंगा का पावन दर्शन, स्पर्श और प्रसाद पाकर मेरा प्रयाग-प्रवास सार्थक हो गया । ●

अविरोध की साधना के मूर्त्तरूप : हजारीप्रसाद द्विवेदी

मैंने जब-जब आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बारे में सोचा है, तब-तब महाभारत का यह श्लोक स्मरण हो आया है—

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ।
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम् ।।

वस्तुतः धर्म तो वही है जो अविरोधी हो । यह 'अविरोध' मेरे मुँह पर मेरे जैसी, तेरे मुँह पर तेरे जैसी बात कहना नहीं है, सुविधावाद को ढढ़ाया हुआ दार्शनिक लबादा नहीं है, यह तो विरोधी तत्त्वों में व्याप्त सत्य के गुरु, लघु अंशों को विनिश्चित कर उनकी निर्भय स्वीकृति है। मुझे लगता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की सारी साधना इसी अविरोधी धर्म की साधना है। परस्पर विरोधी पंथों, विचारों और व्यक्तियों में जहाँ सत्यांश है, तप और निर्माण के संकेत हैं, वहाँ द्विवेदीजी श्रद्धानत हैं, चाहे वह नाथपंथ हो या वैष्णव धर्म, गांधीवाद हो या समाजवाद, स्टालिन हो या गुरुजी गोलवलकर। उनका धर्म निषेध का कम, स्वीकार का अधिक है। कुछ लोगों ने इसे अपने यौवन सुलभ आवेश में 'धुरीहीनता' कहा है, कुछ ने अपनी स्वार्थी प्रकृति के अनुसार सबको प्रसन्न करने की व्यावहारिकता । किन्तु वास्तव में यह अपने में एक महान् गुण है और है हानिलाभनिरपेक्ष आदर्शवादिता।

पर नहीं, तात्त्विक विवेचन और नहीं, इससे तो अमूर्त्त होते हुये वे मेरी पकड़ से दूर चले जायेंगे, मैं तो 'दूर के करिले निकट बन्धु' की भावना के अनुसार इस निबन्ध में उनके भाव रूप का जो प्रतिबिम्ब मेरे मानस पर पड़ा है उसे मूर्त करना चाहता हूँ, अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर नितान्त अपना बनाकर ।

बात १९५२ के अक्टूबर के अन्तिम सप्ताह से ही शुरू करूँ। अगले महीने ही मुझे एम. ए. (हिन्दी) की परीक्षा देनी थी । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास पढ़ते समय मेरे मन में कुछ प्रश्न जागे। न जाने क्यों मुझे लगा कि इन शंकाओं का समाधान तो 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' का लेखक ही कर सकता है। मैंने आचार्य हजारीप्रसाद

द्विवेदी को एक लम्बा पत्र लिखा । कुछ ही दिनों बाद द्विवेदी जी का उत्तर आया, संक्षिप्त किन्तु मुझे सदा के लिए बाँध देनेवाला ! अच्छा हो कि वह पत्र ही उद्धृत कर दूँ। द्विवेदीजी ने लिखा था :-

१८-११-५२

प्रिय भाई,

कृपापत्र। (१) 'वीरगाथा' कहे जाने वाले काल के सम्बन्ध में मेरे विचार सद्यः प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' (राष्ट्रभाषा परिषद्) सम्मेलन भवन, कदम कुआँ, पटना में पढ़ लें। (२) मैं समझता हूँ चैतन्यदेव पर कोई सूफी प्रभाव नहीं था। (३) प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में मेरे विचार सद्यः प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास' के अन्त में मिलेंगे। आपकी बात से मैं बहुत दूर तक सहमत हूँ । आशा है, प्रसन्न हैं।

आपका,
हजारीप्रसाद द्विवेदी

मैंने यह पत्र कई बार पढ़ा, सोचा कैसा है यह व्यक्ति जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर एक सामान्य, अपरिचित परीक्षार्थी के जिज्ञासा भरे पत्र को कृपापत्र कहता है, जो उसकी शंकाओं के समाधान के लिए पुस्तकों का निर्देश करते हुए अन्त में लिखता है 'आपकी बात से मैं बहुत दूर तक सहमत हूँ।' मेरी बात.....एक अज्ञात परीक्षार्थी की बात....हिन्दी विभागाध्यक्ष यह भी तो लिख सकता था, तुम्हारी बात बहुत दूर तक ठीक है, पर द्विवेदीजी ने लिखा था 'आपकी बात से मैं बहुत दूर तक सहमत हूँ' छोटों को अकृत्रिम स्नेह और दिशानिर्देश के साथ इतना अधिमान देनेवाला उदार हृदय कितना विशाल होगा, मैं इसकी कल्पना करता ही रह गया।

संयोग से अगले वर्ष ही उनके सम्पर्क में आने का अवसर भी मिल गया। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के अभिनन्दन समारोह में सम्मिलित होने के लिये १-११-५३ को वे कलकत्ते पधारे। मैं स्टेशन गया उनके स्वागतार्थ। हिमालय-सी उस काया से झरनेवाली तरंगायित हास्य गंगा की कलकल ध्वनि सुनी और उसकी आत्मीयता की लपेट में आ गया। मुझे लगा और अब भी लगता है कि उनकी वैष्णव प्रकृति निकट आनेवालों को आश्वस्त करती है आतंकित नहीं। उनका साहचर्य उन्हें बड़ा बनाता है, बौना नहीं। सौभाग्य से उस समय तक मेरी नियुक्ति कलकत्ता विश्वविद्यालय में हो चुकी थी । पिताजी (स्व. पं. गांगेय नरोत्तम शास्त्री) से उनका पुराना परिचय और सद्भाव था । मैं अनायास ही उनका स्नेहभाजन बन गया।

उसी समारोह में पहली बार उनका व्याख्यान सुना । एक अपूर्व अनुभव हुआ। तब से न जाने कितनी बार उनके व्याख्यान सुने हैं, हर बार पहली बार की तरह ही हृदय पुलकित हुआ है । सच, द्विवेदीजी सिर्फ कंठ से नहीं, अंग-अंग से बोलते हैं । अन्तस् की गहराई से निकली हुई रसस्नात, ज्ञानपूत वाणी और उसके साथ उनके समूचे व्यक्तित्व का जादूभरा प्रभाव....अद्भुत समा बँध जाता है । आवश्यकतानुकूल ठीक समय पर प्रसन्न गम्भीर स्वर का आरोह, अवरोह, विराम, प्रवाह, आँखों की चमक, मुख पर उत्साह उद्दीपना, विनोदमोद, सिर का हिलना, हाथों का उठना-गिरना....ये सभी मानों उनकी बात की प्रेषणीयता के साधन एवं माध्यम हैं । वे अपने भाषणों में वैज्ञानिक की तरह तटस्थ, भावहीन, वस्तुनिष्ठ, मात्र अर्थबोधपरक विवेचन नहीं करते, कवि की तरह अपने विषय को जीवन्त करते हैं, तथ्यों के कंकाल में मांस, मज्जा, त्वचा का संयोजन कर उसे रमणीय बनाते हैं, उसका भावपूर्ण, संश्लिष्ट बिम्ब ग्रहण कराते हैं । शुष्क शोधविशेषज्ञों की दृष्टि में यह उनका 'क्रिमिनल अपराध' है किन्तु सहृदय श्रोताओं और रसज्ञ साहित्य शोधकों के लिए यह बहुत बड़ा गुण है। उनके शोध ग्रंथों में भी यह विशेषता पायी जाती है, केवल 'नाथपंथ' में उन्होंने शुष्क शोधाचार्य का बाना धारण किया है अन्यथा 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' हो या 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' हो या 'प्राचीन भारत का कलात्मक विनोद' सर्वत्र तथ्याश्रित होते हुए भी उनकी दृष्टि तथ्यपर्यवसायी नहीं है.....तथ्य और तर्क के परे 'अनुभवैकगम्य' सत्य की जो झाँकी उन्होंने पायी है उसका आभास उनकी लेखनी देती चलती है।

उनके साथ गपशप करना तो रसमय ज्ञान की फुहारों से अभिसिंचित होना है। लतीफों और कहकहों के प्रवेग में उदासी और निराशा न जाने कहाँ बह जाती हैं। कितनी सरलता से, आत्मीयता से, विनोदी रीति से वे कितनी अच्छी और बड़ी बातें बताते चलते हैं, यह अनुभव किये बिना समझा नहीं जा सकता। वे अपनी बात आरोपित भी नहीं करते, दूसरे की बातों को काटने की चेष्टा भी नहीं करते किन्तु बातचीत के मध्य वैचारिक रगड़ जरूर मन में छोड़ देते हैं, सवाल उठा देते हैं। पूछने पर उनके संबंध में अपने मत बता देते हैं, फिर यह सामने वाले का काम है कि वह कितना अंश उपयोगी समझ कर ले, कितना छोड़ दे । अपनी मान्यताओं का त्याग न करने पर भी उनके संबंध में नयी दृष्टि से सोचने के लिए श्रोता स्वतः प्रेरित हो जाता है। हँसी की मधुर आभा से स्निग्ध वातावरण में चलनेवाली ये गल्पगोष्ठियाँ निरन्तर कर्मठता की प्रेरक हैं, बिलकुल उनके आत्माभिव्यंजक ललित निबंधों की तरह। आम फिर बौरा गये, नाखून क्यों बढ़ते हैं, ठाकुरजी की बटोर या गतिशील चिन्तन आदि निबन्ध जिस तरह सहज सामान्य प्रसंग से आरम्भ होकर विचार की गहन कोटि में पहुँच जाते हैं, उसी तरह ये गोष्ठियाँ भी हँसी मजाक के बीच ही साहित्य समाज और संस्कृति की सूक्ष्म समस्याओं को भी समझने, सुलझाने के समर्थ संकेत देती हैं।

द्विवेदीजी अपने उपन्यासों को भी गप्प ही कहते हैं । विचार के स्तर पर जो बात शुष्क और ठस हो जाने के कारण सर्वजनग्राह्य नहीं हो पाती, उसे ही वे घटनाओं और चरित्रों के माध्यम से परिस्फुट करते हैं । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्र' लेख में तत्त्वदर्शन और काव्य, इतिहास और समाजशास्त्र घुलमिल-से गये हैं और 'गप्प' के माध्यम के कारण अपने ढंग से अद्‌भुत प्रभाव डालने में समर्थ हैं ।

अपनों से उनका व्यवहार कुछ अद्‌भुत मिठास लिये होता है । एक दिन सुबह-सुबह मेरा फोन घनघना उठा । कोई भारी रोबीली आवाज में मुझे, कलकत्तेवालों को फटकार रहा है, सब प्रमादी होते जा रहे हैं...कार्य के प्रति किसी का कुछ ध्यान ही नहीं है...मैं अचकचा गया, मैंने पूछा 'आपको पहचान नहीं पा रहा हूँ...।' "लो, मिला न हाथों हाथ प्रमाण प्रमाद का, इसीलिए पंचनद से चला आ रहा हूँ जाँच पड़ताल के लिए...." "पंचनद से चले आ रहे हैं, आपका शुभ नाम ?" "अब भी नहीं पहचान पा रहे हो व्योमकेश शास्त्री को" और इसके बाद फोन पर ही ठहाका । "अरे पंडित जी आप हैं, कब पधारे....." विद्वत्ता और अधिकार का ताप पंडित जी की रसधारा को सुखा नहीं पाया, बढ़ती हुई उम्र उस पर कोई असर नहीं डाल सकी, उनके प्रति किये गये अन्याय भी उसे अवरुद्ध नहीं कर सके...मालूम नहीं किस अक्षय स्रोत से उसका उद्‌गम हुआ है। कितने लोगों को तो जरा-जरा सा अधिकार पाकर ऐंठकर सूखा छुहारा बनते देखा है, जरा से आघात से टूटते देखा है । पर पंडित जी हैं कि हर स्थिति में प्रसन्न हैं, सर्जनशील हैं, स्नेह और प्रेरणा देते चलते हैं । तुलसीदास ने लिखा है, *'सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं, बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं।'* जगत् के मूल में भाव या चेतना ही है, द्विवेजी जो इसे आग्रहपूर्वक.....आस्थापूर्वक मानकर उससे ही संयुक्त रहकर रस और शक्ति पाते और बाँटते रहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि प्रार्थना से शक्ति, स्फूर्ति प्राप्त होती है, प्रार्थना से परिवर्तन संभव है, किन्तु इसके लिए इच्छा के साथ ज्ञान और क्रिया का भी सम्यक् संयोग आवश्यक है।

उनकी मान्यता है कि वैष्णव-साधना और साहित्य-साधना दोनों ही भाव साधनाएँ हैं, मध्यमा वाणी के क्षेत्र हैं। उनमें शब्द और अर्थ का विक्षरण नहीं होता, पद, पदार्थ दोनों मानसलोक में आते हैं। भाव के बोध से ही अभाव का ज्ञान होता है, जिसकी पूर्ति भगवान् विभाव के रूप में करते हैं। निस्सन्देह व्यक्तिगत साधना में सबसे ऊँचा भाव राधा भाव ही है क्योंकि वह पूर्ण समर्पण का भाव है और पूर्ण समर्पण के लिए नारी भावना ही अधिक फलवती है। स्थूल, जड़ और यांत्रिक बना दिये जाने के कारण इसका साम्प्रदायिक रूप अटपटा लगता है किन्तु इस भावसाधना में अपार क्षमता है।

यह साधना कहाँ तक फलवती हुई है, इसकी कसौटी व्यवहार ही है । जीवन में अपमान, दुःख कष्ट आने पर व्यक्ति क्या करता है, क्या वह रोने बैठ जाता है, क्या वह प्रतिशोध के लिए बावला हो उठता है, तब तो समझना चाहिए कि साधना कच्ची ही

है। भाव साधना तो व्यक्तिगत साधना है किन्तु उसकी सुगन्ध साधक की क्रिया में आनी चाहिए । क्रिया सामाजिक होती है । साधना में कहाँ तक सिद्धि मिली है इसकी कसौटी क्रिया ही है । यदि वह दूषित है तो साधना को भी दूषित समझना चाहिए । अपना प्रिय यदि एक थप्पड़ लगा दे तो उसके प्रेम पर विश्वास होने के कारण हम उसे क्रीड़ा समझते हैं । फिर यदि प्रभु पर पूरा विश्वास हो और उनकी तरफ से आये आघात को कोई स्वीकार न करे तो बात नहीं बनती है । १९६० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष पद से हटाये जाने पर द्विवेदीजी के अप्रतिरोध को इसी सन्दर्भ में समझना चाहिए । प्रायः द्विवेदीजी अपने प्रति किये गये अन्याय को भी स्वीकार कर लेते हैं, अन्याय करनेवालों से जूझते नहीं, शाप भी नहीं देते । जूझते हैं वे अपने मन से कि वह दुर्बल न पड़ जाये और उसकी पीड़ा को सृजन पीड़ा में बदल देते हैं ।

इसी साधना से सुवासित हैं निश्छल आत्मीयता और हितैषिता से भरे उनके अन्तर-वैयक्तिक सम्बन्ध । हो सकता है महीनों, वर्षों के बाद द्विवेदीजी मिलें किन्तु फिर भी सम्बन्धों की हृद्यता म्लान नहीं होती । उसी सहजता से वे मिलते हैं मानो काल का कोई व्यवधान बीच में पड़ा ही न हो । अधिक निकट व्यक्तियों के साथ व्यवहार में ऐसी पारिवारिकता बरतते हैं कि आश्चर्य होता है। एक बार वे मेरे घर पधारे। मेरा भतीजा शशांक उन दिनों मुश्किल से साल डेढ़ साल का रहा होगा। जब तक द्विवेदी जी रहे, वह उनकी गोद में ही खेलता रहा।

मीठा विनोद करने का अवसर मिले तो कभी नहीं चूकते। काशी से एक बार उन्होंने मेरे हाथ अपनी पुत्री श्रीमती भारती मिश्र के लिए एक टोकरी आम भेजे। मैं अपने परिवार के लिए भी एक टोकरी आम ले जा रहा हूँ, यह उन्हें मालूम था। कुछ ही दिनों बाद उनका पत्र मिला, "कलकत्ते से पत्र आ गया है कि आम मिल गए और बहुत मीठे निकले। मुझे कोई सन्देह नहीं रहा कि आपकी टोकरी उधर चली गई। पर अब तो हो भी क्या सकता है।" शब्दों की यह विनोदपूर्ण मधुरता उनके हृदय की छाया भर है। कलकत्ते में एक बार एक नवयुवक सज्जन उनसे मिलने आये। उन्होंने दाढ़ी बढ़ा रखी थी। द्विवेदीजी ने बहुत गंभीरता से पूछा, क्या आपकी शाल खो गयी है। वे जरा असमंजस में पड़कर बोले, नहीं तो। द्विवेदीजी ने कहा, भाई बात ऐसी है कि काशी के एक पंडित जी का अंगौछा खो गया था तो उन्होंने प्रतिज्ञा की कि पन्द्रह दिनों तक दाढ़ी न बनवा कर उसी पैसे से नया अंगौछा खरीदूँगा। सो आपकी इतनी बड़ी दाढ़ी देखकर लगा शायद आप शाल का घाटा पूरा करने की कसम खाये बैठे हैं । इस पर जो ठहाका लगा कि पूछिये मत। गल्पगोष्ठी में द्विवेदी जी अपने को भी नहीं बख्शते । एक बार उन्होंने बताया, शान्तिनिकेतन में गर्मी बेहद पड़ती है। गर्मी की एक शाम को मैं खद्दर की छोटी धोती पहने बाहर पढ़ रहा था। रोशनी कम होने लगी थी किन्तु आलस के कारण उठ नहीं रहा था, किताब को और पास लाकर पढ़ता जा रहा था । इतने में

उधर से क्षितिमोहन सेन के साथ रवीन्द्रनाथ आ गये। गुरुदेव को देखकर मैं संकुचित होकर खड़ा हो गया और उनके सम्मान के लिए अपनी धोती के छोर से ऊपर का बदन ढाँकने की चेष्टा करने लगा, खद्दर की छोटी धोती, ऊपर खिंची तो नीचे पैर उघड़ने लगे। मेरे संकोच को देखकर क्षितिमोहन सेन बोले, अरे पंडित जी काहे परेशान होते हैं, इस देश में संस्कृत पढ़े पुरुषों और अंग्रेजी पढ़ी स्त्रियों को नंगे रहने का पूरा अधिकार है। और इस पर फिर वही ठहाका।

इसी गपशप के बीच द्विवेदीजी छोटों के बारे में पूछताछ भी करते हैं और माँगने पर उन्हें उचित सलाह भी देते हैं। जिन दिनों मैं नया-नया प्राध्यापक हुआ था, कुछ रुपयों के लोभ से, कुछ आदरणीय व्यक्तियों के दबाव से एकाध ट्यूशन भी कर लेता था। किसी ने पंडित जी से कहा होगा, वे उससे कुछ नहीं बोले। संयोग से उसके दो दिन बाद ही मैंने स्वयं पंडितजी से पूछा, द्विवेदीजी, नये प्राध्यापकों को कैसे पढ़ाना चाहिए। वे हंसे, बोले, यह तो 'ट्रेड सिक्रेट' है, चलो तुम्हें बता देता हूँ। सफल प्राध्यापक के लिए खूब पढ़ना और विषय की स्पष्ट धारणा कर लेना तो अनिवार्य है ही छात्रों को समझना और उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करना भी आवश्यक है, देखो पढ़ाते समय छात्र-निरपेक्ष होकर गूढ़ ज्ञान देना ठीक नहीं है। छात्रों को अपने साथ लेकर चलना चाहिए। दूध में कुछ पानी मिलाकर बीच-बीच में किस्से-कहानी, लतीफे कविता सुनाकर छात्रों के मन को कठिन विषय को ग्रहण करने के योग्य बनाना चाहिए। इसका ध्यान रखना चाहिए कि व्याख्यान खाली पानी भी न रह जाये और एकदम खोवा भी न हो जाये। फिर अर्थपूर्ण मुस्कुराहट के साथ बोले, तीन बातों से बचना भी चाहिए, ट्यूशन से, पाठ्य पुस्तक लेखन से और आलस्य से। उनकी बात सुनकर मैं जरा सिटपिटा गया। भविष्य में ट्यूशन न करने का मेरा विचार और पक्का हो गया। ट्यूशनों की माया काटे बीस साल हो गये, पाठ्य पुस्तक लेखन के चक्कर में मैं कभी पड़ा ही नहीं, लेकिन आलस्य से पिण्ड ही नहीं छूटता। क्या करूँ। लेखनभीरुता को साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास में वे बहुत बड़ा प्रतिबन्धक मानते हैं। क्षमता पाते हुए भी जो नहीं लिखते या लिखने में बहुत संकोच करते हैं, उन्हें वे लिखने के लिए बराबर प्रोत्साहित करते हैं। अपना उदाहरण देते हुए उन्होंने मुझे बताया था कि शुरू-शुरू में उन्हें लिखते समय यह भीति सताती रहती थी कि शान्तिनिकेतन के प्राध्यापक की कलम से यदि कोई कच्ची बात निकल गयी तो लोग क्या कहेंगे। आज तो वे इसका यह समाधान देते हैं कि लिखते-लिखते ही लिखना आता है इसलिए लिखना शुरू कर दो, किन्तु अपने समय उन्होंने आरम्भ में कई रचनाएँ छद्मनामों से लिखी थीं और फिर आत्मविश्वास दृढ़ हो जाने पर वे अपने नाम से लिखने लगे थे। हाँ, सर्जनात्मक साहित्य के सम्बन्ध में उनकी यह मान्यता है कि अपने जीवनदर्शन के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा हो जाने के बाद लिखना श्रेयस्कर है किन्तु यह भी अन्तिम बात नहीं है। कार्य के औचित्य के सम्बन्ध में

निश्चय हो जाने पर उसकी प्रविधि की जानकारी के लिये रुके रहना वे ठीक नहीं मानते। इस क्षेत्र में वे रवीन्द्रनाथ के इस वाक्य को परम सत्य मानते हैं, पथ तोमारे पथ देखावे....पथ ही तुम्हें पथ दिखायेगा....दिशा का निश्चय कर लेने के बाद चलना शुरू कर देना चाहिए, फिर आगे कभी यदि दिशा भी बदलनी पड़े तो भी कोई हानि नहीं। रुके रहने से चलना निश्चय ही श्रेष्ठ है।

नयों के प्रति उनके मन में अथाह स्नेह है। वे बहुत जोर देकर कहते हैं कि गलती करने का अधिकार भी नयों को है, तभी वे कुछ नया और बड़ा भी दे सकेंगे, 'गलती न हो जाये', यह डर तो जड़ बना देगा, अतः इससे मुक्ति पानी चाहिए । हाँ, पुरानों को अपना सहयोग नयों को पूरी मात्रा में देते रहना चाहिए ताकि गलतियों की संभावना कम रह जाये। इसका यह मतलब नहीं कि वे नयों की सब बातें मान लेने के पक्ष में हैं। नये कवियों में बढ़ती व्यक्तिवादिता से वे प्रसन्न नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि अपने विशिष्ट अनुभव को जनसाधारण तक पहुँचाने और उसे उसी प्रकार ग्राह्य बनाने की प्रक्रिया ही उसके साधारणीकरण की प्रक्रिया है। यह समूह चित्त के कारण ही संभव है । सच तो यह है कि समूह चित्त से युक्त रहना ही स्वस्थता है। कोई पदार्थ सबको लाल दिखता हो, एक को पीला दिखे तो वह अस्वस्थ माना जायेगा। कवि और पागल दोनों समूह चित्त से बिलकुल बँधे हुए नहीं होते, किन्तु पागल जहाँ अवनर्मिल होता है, उसकी बातों का साधारण जन के लिए कोई अर्थ नहीं होता और इस दृष्टि से वह असामाजिक होता है वहाँ कवि विशिष्ट भाषा, छन्द आदि के माध्यम से अपने अनुभव प्रेषित करता है, उसकी बात का अर्थ होता है, अतः वह असामाजिक नहीं है, नहीं हो सकता। किन्तु वह केवल सामान्य अनुभव नहीं करता कुछ विशेष करता है, अतः वह अधिनर्मिल होता है। यह विशेषता यदि सामान्यता के अतिशय विरोध में जाये तो कवि अबोध्य....असामाजिक होने लगता है। व्यक्तिवादिता के नाम पर इसका समर्थन उनकी दृष्टि में उचित नहीं है।

किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि वे कवियों या विचारकों को अतीतकालीन या समसामयिक मान्यताओं का अनुगामी बनाना चाहते हैं। नहीं, उन्होंने बाणभट्ट की आत्मकथा में डंके की चोट कहा है, "किसी से भी न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं" किन्तु निडरता, उद्धतता और उच्छृंखलता तो नहीं है, असामाजिकता तो नहीं है। वे स्वयं 'खुले दिमाग के' हैं और दूसरों को भी सभी प्रश्नों पर खुले दिमाग से विचार करने की प्रेरणा देते हैं। 'हिन्दी को मध्ययुगीनता से बचाओ' यह नारा उन्होंने बार-बार बुलन्द किया है । 'हमारे चरितनायकवाद को' 'हमारे यहाँ वाद को', टीकाभाष्य मात्र को वे मध्ययुगीनता की प्रवृत्ति मानते हैं। अपने बूते पर भी नयी बात कहने का साहस उनमें पर्याप्त मात्रा में है और नयों में भी इस साहस को वे जगाते रहते हैं। वे अपने शिष्यों को भी अपना अन्धानुगामी नहीं बनाना

चाहते। वे शिलाधर्मी गुरु नहीं हैं कि अपने विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर हावी रहकर उसे विकलांग बना दें, वे आकाशधर्मी गुरु हैं सबको अवकाश, सबको प्रकाश, सबको वायु और वर्षा...जो जिस दिशा में बढ़ना चाहे, बढ़े, अपने व्यक्तित्व को चरितार्थ करें...उनके शिष्यों और स्नेहभाजनों में कांग्रेसी, कम्यूनिस्ट, जनसंघी, सभी हैं। उनके विद्यार्थी जब उनसे बहस करने लगते हैं तो वे चिढ़ते नहीं। सामनेवाला यदि समझकर भी अपनी बात पर अड़ा रहता है तो कह देते हैं कि मेरी सब बातें ठीक ही हैं, इसकी क्या गारंटी है। जो मानते हो उसे ही जीवन में उतारो, उसी के अनुकूल आचरण करो, आचरण ही असली कसौटी है, बात नहीं। इतना याद रखो कि किसी भी तत्त्वचिन्तन को अन्तिम सत्य के रूप में ग्रहण करना ठीक नहीं है। काल का प्रभाव सब पर पड़ता है, सब बनने या बिगड़ने की प्रक्रिया में हैं, अन्तिम बात....तैयार माल (फिनिश्ड प्राडक्ट) कुछ भी नहीं है । अर्थात् न सामनेवाले की बात अन्तिम है, न द्विवेदीजी की, और गहरे और गहरे उतरते चले जाना होगा, राह के किसी एक सच को पकड़ कर बैठ जाना नहीं चलेगा ।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर बात करते समय एक बार मैं उनसे पूछ बैठा, "पंडितजी, ये परिस्थितियाँ कितनी निराशाजनक हैं । नये साहित्य की अनास्था और निराशा क्या इन्हीं से उद्‌भूत नहीं हैं, क्या स्वयं आप निराश नहीं होते?" उन्होंने उत्तर दिया, "नहीं, मैं निराश नहीं होता। अपने जीवन में हताश कई बार हुआ हूँ, पर निराश नहीं । हताशा और निराशा एक ही चीज तो नहीं हैं। व्यक्तियों की दुर्बलता या परिस्थितियों की प्रतिकूलता से कई बार आशा आहत हुई है, किन्तु मंगल की आशा छोड़कर बैठना तो मनुष्यत्व नहीं। अभी अभी इस आस्था का मूर्त्त प्रमाण पुनः उन्होंने दिया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में श्री गजेन्द्र गडकर के प्रतिवेदन के प्रतिवाद में रेक्टर पद का परित्याग करते हुए भी उन्होंने यही घोषणा की 'अब मुझे कहीं नहीं जाना है। काशी में रहकर ही बहुत से कार्य करने हैं।' द्विवेदी जी प्रशासन के जंजाल से मुक्त होकर पुनः सर्जना के क्षेत्र में कार्यरत हो रहे हैं, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति, उनके प्रति हुए अन्याय से विक्षुब्ध होते हुए भी यह बात मुझे अच्छी लगी। गौरवोन्नत क्लर्की करनेवाले लोग इस देश में बहुत हैं, मौलिक चिन्तन करनेवालों की संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती है। लालित्य तत्त्व के प्रति और गहरी दृष्टि हिन्दी के माध्यम से विश्व साहित्य विवेचना को मिले, मैं यही मनाता हूँ।

जो द्विवेदीजी के निकट सम्पर्क में आये हैं जिनका अन्तःकरण उनके साहित्य के तापहीन प्रकाश से आलोकित हुआ है, वे जानते हैं कि उनके ज्ञानी, गुणी लेखक, प्रशासकरूप से कहीं बड़ा उनका सरल विनोदी अलमस्त मानव रूप है। असंख्य द्वीपों को जोड़नेवाले सेतु सदृश उस मानव रूप को मेरा सश्रद्ध नमन। ●

धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी शिक्षक की विशेषता बताते हुए कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में लिखा है –

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां, धुरिप्रतिष्ठापयितव्य एव ।।

अर्थात् कुछ शिक्षक स्वयं ज्ञानी होते हैं पर ज्ञानदान की प्रविधि में कुशल नहीं होते, कुछ बहुत ज्ञानी न होते हुए भी संक्रान्ति में....अपने विषय की शिक्षा देने में पटु होते हैं किन्तु धुरिप्रतिष्ठा का अधिकारी, श्रेष्ठ शिक्षक तो वही है जिसमें दोनों गुण हों, जो अपने विषय का मर्मज्ञ भी हो और शिक्षण पद्धति में निष्णात भी। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ऐसे ही आदर्श शिक्षक हैं। अपने विषय को हस्तामलकवत् स्पष्ट कर छात्रों के मन में उसकी अमिट छाप डाल देने की उनकी क्षमता वरिष्ठ प्राध्यापकों के लिए भी ईर्ष्या की बात है। १९६१ में दिल्ली में आयोजित हिन्दी प्राध्यापक संगोष्ठी में डा. नगेन्द्र ने अपने प्रास्ताविक वक्तव्य में डा. श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा. धीरेन्द्र वर्मा के बाद हिन्दी साहित्य के वरेण्य प्राध्यापक के रूप में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का ही उल्लेख किया था । मैं अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर उनके इस मत की संपुष्टि करता हूँ।

यह ठीक है कि मैं उनका विधिवत् छात्र नहीं रहा किन्तु छात्रत्व के लिए कक्षा में बैठकर ही किसी से पढ़ना अनिवार्य तो नहीं है। कक्षा के बाहर रहकर भी किसी से बहुत कुछ सीखा-पढ़ा जा सकता है। सच तो यह है कि वास्तविक छात्रावस्था परीक्षाओं की छोटी-बड़ी परिधियों को लांघने के बाद ही शुरू होती है। इस दृष्टि से मैं सच्चा छात्र तब बना जब सन् १९५३ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के रूप में मेरी नियुक्ति हो गयी। पहले वर्ष ही मुझे रीतिकालीन साहित्य पढ़ाना पड़ा। तब मालूम पड़ा कि यह रत्नाकर कितना दुर्गम अथवा कितना प्रभावपूर्ण है, इसे नीतिगलित कह कर टालना या उड़ंछू आलोचना के द्वारा इसका पार पाने की चेष्टा करना

हास्यास्पद है। उस सागर संतरण के लिए मिश्रजी का कृतित्व ही मेरे लिए अभयपोत बना। मिश्रजी के समान 'मरजीवा' बनना तो मेरे लिए सम्भव न था किन्तु उनके लाये मोतियों की दीप्ति से अपने छात्रों को दीप्तिमान् करता रहा। पर मेरा छात्रत्व उनकी कृतियों के अनुशीलन तक ही सीमित नहीं है । यदि मैं अर्जुन नहीं हूँ तो एकलव्य भी नहीं हूँ। १९५४ के नवम्बर में काशी जाने का सुयोग मिला, विश्वनाथ का प्रसाद पाये बिना यात्रा कैसे पूरी होती। 'पितु समेत कहि कहि निज नामा' की परम्परा के अनुसार मैंने चरण-वन्दना की। आशुतोष प्रसन्न हो गये । पहली ही बैठक डेढ़ घंटे की जमी। मेरी जिज्ञासाओं के सदुत्तर उस समय तो दिये ही, भविष्य में भी देते रहने के लिए प्रतिश्रुत हुए। और फिर मध्यकालीन साहित्य के क्षेत्र में जब जब मेरा छकड़ा संशय के कीचड़ में फंसा तब तब मैंने गुहार लगायी। मेरे प्रत्येक पत्र का उत्तर उन्होंने तुरन्त दिया इस आश्वासन के साथ कि 'आपका छकड़ा कभी कीचड़ में न फँसेगा जहाँ तक प्राचीन काल का सम्बन्ध है।' मेरे पास उनके बीसों पत्र हैं जिनमें उन्होंने मेरी शंकाओं का समाधान किया है। आज की दुनियाँ में यदि 'पत्र-मित्र' हो सकते हैं तो 'पत्र-छात्र' भी हो सकते हैं। फिर ५४ से अब तक न जाने कितनी गल्पगोष्ठियों, विचारगोष्ठियों, सभासमितियों में उनके सत्संग का लाभ मुझे मिलता रहा है। उनके साहचर्य से ज्ञान के साथ-साथ साहित्यिक आनन्द, प्रेरणा एवं स्फूर्ति की प्राप्ति होती रही है। फिर भी यदि कोई मुझे उनका छात्र न मानना चाहे तो एक और प्रासंगिक चर्चा करनी पड़ेगी।

प्राध्यापक होने के कारण मुझे मिश्रजी अपने पत्रों में नमोनमः लिखा करते थे । इस पर मैंने हठाग्रह किया कि मुझे वे अपने आशीर्वाद से वंचित न करें । उत्तर में आशीर्वाद देते हुए उन्होंने लिखा, 'प्राप्ते तु षोडसे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् - शिष्यं चापि। इसीसे सहधर्मा के नाते आपको नमोनमः लिख भेजा । आप अभी सोलह वर्ष से कम के ही बने रहना चाहते हैं तो विवशता है। आप भला हठ क्यों छोड़ेंगे । भारत-प्रसिद्ध श्रीगांगेय ने भगवान् का हठ छुड़ा दिया था, अपना नहीं छोड़ा । आप ठहरे श्री गांगेयात्मज । देवव्रत के दृढ़व्रत । मैं ही हारा।' मेरा सौभाग्य है कि शिष्य होने के नाते (चाहे वे मुझे नाबालिग ही मानते रहे) मुझे उनका आशीर्वाद भी मिलता रहा और सहधर्मा के नाते मित्रवत् व्यवहार भी ।

मेरा एक आधारभूत विश्वास है कि कोई व्यक्ति अच्छा प्राध्यापक केवल विषय के ज्ञान और प्राध्यापन-कौशल मात्र से नहीं हो सकता। उसके लिए अनिवार्य है कि वह छात्रवत्सल भी हो अर्थात् छात्रों का भला चेते और करे भी। नियमित छात्रों के अतिरिक्त भी उनके सम्पर्क में आनेवाले न जाने कितने निरुपाधिक छात्र सोपाधिक होकर अपने पैरों पर खड़े हो गये । छात्रहितैषिता की एक कसौटी परीक्षा में अंक देने की नीति भी है। अपने विषय के प्रति निष्ठा का निर्वाह करते हुए योग्य को उसका

समुचित प्राप्य देने के लिए जिस विवेकयुक्त उदारता का प्रयोजन होता है, वह मिश्रजी में भरपूर है। इसका एक बार मुझे विलक्षण अनुभव हुआ। एम. ए. के एक पत्रार्ध में मैं मिश्रजी का सहपरीक्षक था। एक परीक्षार्थी ने बहुत अच्छा लिखा था किन्तु भूल से उसने एक प्रश्न के दोनों विकल्पों के उत्तर लिख दिये थे । नियम के अनुसार एक उत्तर काट देने के लिए परीक्षक विवश था। १६ अंक कट जाने पर उसे अब ३४ में से ही अंक देने थे। मिश्रजी ने निश्चय किया कि वह प्रथम श्रेणी के योग्य है, हड़बड़ी में उससे एक गलती हो गयी तो क्या इसके लिए उसका सारा भविष्य नष्ट कर देना चाहिए। उन्होंने उसे ३४ में ३१ अंक दे दिये और मुझ से बोले इसमें वाइसचान्सलर भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता क्योंकि मैंने कोई गैरकानूनी काम नहीं किया है। एम. ए. में साहित्य के पत्र में और किसी परीक्षक ने ३४ में ३१ अंक शायद ही किसी परीक्षार्थी को दिये हों। मैं उनका मुँह ही देखता रह गया। उस अपरिचित छात्र के प्रति (क्योंकि वह मेरे विश्वविद्यालय का छात्र था) मिश्रजी की यह विवेकपूर्ण उदारता उनकी छात्रहितैषिता का निश्चित प्रमाण है।

मिश्रजी अतीत प्रेमी हैं किन्तु वर्तमान की उपेक्षा नहीं करते, भविष्य के प्रति आस्था नहीं त्यागते। भविष्य का अनुमान और संयोजन अतीत के आश्रय पर ही करना चाहते हैं। परम्परा या प्रत्यक्ष अतीत के 'आदर्श' में अपने रूप की झलक देखकर अपने को सँवारने सिंगारने की प्रेरणा वे देते हैं । उनकी मान्यता है कि 'उन्नति उसी ने की है, जिसने अतीत के सहारे आगे बढ़ने का साहस किया है ।' इस बात की कसक उन्होंने बार-बार व्यक्त की है कि 'अतीत के अनुराग से मुँह मोड़ने या उपेक्षा करनेवाले वर्तमान प्रियों के देखते-देखते हमारा वर्तमान खण्डित हो गया।' अतीत के प्रति उनकी यह भावुक दृष्टि उन्हें मुख्यतः हिन्दी साहित्य के अतीत से ही बाँधे रही। समसामयिक साहित्य को देखने परखने का प्रयास भी उन्होंने पुरातन दृष्टि और प्रतिमानों से किया। अवश्य ही उन्होंने पुराने प्रतिमानों को अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा भी की किन्तु उनका मुख्य प्रदेय हिन्दी साहित्य के अतीत को विशेषतः रीतिकाल या श्रृंगारकाल को सुव्याख्यायित करना ही है । अपने इस क्षेत्र में वे मूर्धन्य स्थान के अधिकारी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

गाँधीजी की आँधी में पड़ अंग्रेजी स्कूल को त्याग वे लाला भगवानदीन 'दीन' के हिन्दी साहित्य विद्यालय में भर्ती हुए थे। दीनजी से ही उन्होंने साहित्यिक संस्कार प्राप्त किये, बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि को अपनाकर उनको परिमार्जित और व्यवस्थित किया। यह गंगायमुनी धारा उनके कर्तृत्व में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। एक तरफ उन्होंने भूषण, घनआनन्द, केशवदास, पद्माकर आदि की ग्रन्थावलियों का सम्पादन किया, रसिकप्रिया, भाषाभूषण आदि की टीकाएँ लिखीं, अन्य ग्रन्थावलियों में

भी 'चूर्णिका' का प्रसाद दिया, वहीं दूसरी ओर उनकी मार्मिक आलोचनाएँ भी लिखीं, 'हिन्दी साहित्य का अतीत' लिखकर साहित्य इतिहास-लेखन में महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को समझाने और उनकी उलझी गुत्थियों को सुलझाने का स्तुत्य प्रयास किया। वे विनोद में अपने को कभी 'टीका सम्प्रदाय' का (स्मरण रहे वे टीका लगाते भी हैं और टीका करते भी हैं) और कभी निष्कलुष 'शुक्ल सम्प्रदाय' का अनुयायी कहते हैं। मिश्रजी का नैतिक बोध तुलसी के मर्यादावाद से निर्मित है (उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ दीनजी के तत्त्वावधान में मानस की टीका के लेखन से हुआ था और उसकी अन्यतम उपलब्धि है डेढ़ सौ हस्तलेखों के आधार पर किया गया मानस का शुद्ध पाठ निर्धारण।) और साहित्यिक सौन्दर्यबोध बिहारी-घनआनन्द की वक्रोक्तियों, रसोक्तियों द्वारा । आधुनिकता को इसी दुहरे छन्ने से छानकर उन्होंने ग्रहण किया है। लोक संग्रह और लोकमंगल उनकी प्रकृति है तो पण्डितों और प्रवीणों को अपनी विदग्धवाणी से मुग्ध कर देना उनकी परिमार्जित संस्कृति।

मिश्रजी अत्यन्त प्रत्युत्पन्नमति हैं । बातचीत में सामनेवाले के वाक्यों के टुकड़ों को लेकर ऐसी व्यंजनापूर्ण सरस उक्तियाँ इस आसानी से कह देते हैं कि सुननेवाले मस्त हो जाते हैं। प्रस्तुत हैं दो तीन उदाहरण ।

भारतीय हिन्दी परिषद् के हैदराबाद अधिवेशन की एक निबन्ध गोष्ठी के अध्यक्ष थे श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन'। एक विषय पर बोलने के लिए आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र को आमंत्रित करते हुए अपने स्वभाव के अनुसार उच्छ्वसित भाव से बोले, "जैसा कि मुहावरा है, वे उन रोमन महापुरुषों में अन्तिम हैं.....आदि आदि।" मिश्रजी ने व्याख्यान शुरू करते हुए पहला वाक्य कहा, 'जरा देखिये, शिवमंगलजी स्वयं 'सुमन' होते हुए मुझ जैसे 'हँसमन' वादी को रो-मन बता रहे हैं और उनमें भी अन्तिम।' जो ठहाका लगा होगा, उसका अनुमान किया जा सकता है।

कलकत्ते के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर श्री कालीप्रसाद खेतान मिश्रजी को भारतीय इतिहास के अनुसन्धान में बिहारी सतसई के योगदान पर किये गये अपने शोधकार्य के बारे में बता रहे थे । उदाहरण के लिए एक दोहा सुनाकर वे सिद्ध करने लगे कि उसमें कूचबिहार के युद्ध का वर्णन है। सब कुछ सुनकर मिश्रजी बहुत गंभीरता से बोले, 'मैं आपसे सहमत हूँ, सिर्फ वर्तनी की भूल का संशोधन करना चाहता हूँ, कूचबिहार के 'क' में दीर्घ 'ऊ' की नहीं ह्रस्व उ की मात्रा लगनी चाहिए।' खेतानजी तो सिटपिटा गये, और सबलोग ठठाकर हँस पड़े ।

वैष्णव आचार्यों के मतानुसार वास्तविक वैष्णव वही है जिसकी सत्संगति में अवैष्णव भी भगवन्नाम लेने लगे। इस कसौटी को साहित्य पर लागू किया जाये तो कहा जा सकता है कि वास्तविक साहित्यिक वही है जिसकी सन्निधि में लोग बाग साहित्यिक

वाक्प्रयोग करने लगे। मिश्रजी इस कसौटी पर बिलकुल खरे उतरते हैं । अपने छात्रों और मित्रों से व्यंजनापूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर सुनकर वे बहुत प्रसन्न होते हैं, भले ही उनमें निहित कटाक्ष उन्हीं पर क्यों न हो। मिश्रजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से गया विश्वविद्यालय में चले गये तो मैंने उनसे पूछा, 'आपका बनारस तो वह गया, अब गया में रस बना या नहीं ? उन्होंने तुरन्त जवाब दिया, 'अरे बनारस बहने के बाद भी इतना बचा कि गया में उसे कोठी में भर रखा है।' उल्लेखनीय है कि वे गया में 'बनारस कोठी' में रहते थे।

एक बार मैं उनसे मिलने उनके घर गया था । बातचीत के समय माँ जी (मिश्रजी की सहधर्मिणी) भी आकर बैठ गयी थीं। मिश्रजी पढ़ने लिखने की अपनी चौकी पर बैठे थे । नीचे बैठने पर माँ जी के घुटने जुड़ जाते हैं, अतः वे कुर्सी पर बैठी हुई थीं । किसी प्रश्न पर बहस छिड़ गयी जिसमें माँ जी का मत मिश्रजी से भिन्न था। वे बड़े विश्वास से बोलीं, 'इस घर में तो मेरी ही चलेगी, देखते नहीं वे इस घर के चौकीदार भर हैं, चेयरमैन तो मैं ही हूँ।' सटीक उत्तर देने में कभी न चूकने वाले मिश्रजी भी निरुत्तर रह गये ।

बनारसी मस्ती मिश्रजी में कूट-कूट कर भरी है। उन्होंने कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्द बना रखे हैं, जिनका प्रयोग वे खुले खजाने करते हैं किन्तु उसका वास्तविक अर्थ उनके अन्तरंग जन ही समझ पाते हैं। यह कोई अच्छी बात नहीं कि मैं विश्वासघात कर उनके रहस्य को जगजाहिर कर दूँ लेकिन उदाहरण दिये बिना आप मेरी बात क्यों मानने लगे। अतः केवल दो शब्दों की बानगी पेश करता हूँ। जब उनके सामने कोई विशिष्ट व्यक्ति बेभाव की हाँकने लगता है तब कभी कभी मिश्रजी उसकी प्रशंसा में कह उठते हैं 'आपकी क्या बात है, आप तो परम रसालिया हैं। सुननेवाला गद्गद भी हो जाता है और मिश्रजी अपने प्रति बेईमानी भी नहीं करते। जानना चाहते हैं कैसे, तो पहले बताइये कि रसाल के कितने पर्यायवाची शब्द होते हैं। अमरकोष की पंक्ति है, 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' आम्र, चूत, रसाल और अति सुगन्धित होने पर सहकार आम के ही नाम हैं। अब 'चूत' में इया प्रत्यय लगाने पर आप मिश्रजी के रसालिया शब्द का वास्तविक अर्थ समझ जायेंगे । इसी तरह उनका एक प्रिय शब्द है सखा। बड़ा निर्दोष लगता है। गोष्ठियों में भी वे कह देते हैं 'वह सखा इस तरह बोल रहा था।' अब पंडितजी के सखा तो बहुत अधिक हैं नहीं। क्या वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुसार सबको अपना सखा मानते हैं ? नहीं नहीं जरा सखा के 'खा' को अलग-अलग करके पढ़िये 'स र वा' आपको बनारसियों का एक अत्यन्त प्रिय शब्द उसमें छिपा मिलेगा, यह बात और है कि उस शब्द को शिष्ट नहीं माना जाता। साधारण सी बात में चमत्कार पैदा कर देना मिश्रजी के बाँयें हाथ का खेल है।

यदि आप विदा होते समय उनसे कहें 'दया रखियेगा' तो बहुत सम्भव है कि वे उत्तर दें 'उलट कर रखियेगा।' इस पर अगर आप अचकचायें तो वे सहज भाव से बता देंगे 'दया' को उलट दीजिये। एक सान्ध्य साहित्य गोष्ठी के बाद किसी संस्था के लिए चन्दा उगाहने की योजना पर चर्चा होने लगी। जब काफी देर हो जाने पर भी जबानी जमाखर्च की सरगर्मी घटने का लक्षण न दिखाई पड़ा तो गृहपति ने उपस्थित विद्वानों से अनुरोध किया, आपलोग खाना यहीं खा लें। मिश्रजी जल्दी किसी के यहाँ खाते नहीं हैं । वे उठते हुए बोले 'आपलोगों की हजारों लाखों की चर्चा में यदि उलझा रह गया तो मुझे चारपाई तक नसीब न होगी अतः आपलोग खाना खायें और मैं 'खाना' के ख को र व समझ कर रवाना हो जाता हूँ।' सच, अपनी प्रतिभा और कर्मठता को जिन्दादिली से सरस बनाये रखने में मिश्रजी की स्पर्धा बहुत कम लोग कर सकते हैं। मिश्रजी जितने विनोदी हैं उससे कहीं अधिक दृढ़ हैं। आघातों को वे झेलते रहे हैं छाती तान कर और बिना झुके आगे बढ़ते रहे हैं। सिर्फ एक आघात से उन्हें मैंने कातर होते देखा है। कितना निष्ठुर क्रूर आघात था वह। नवम्बर ६४ में उनके अत्यन्त योग्य पुत्र चन्द्रभूषण मिश्र का अचानक केवल एक घंटे की अस्वस्थता में देहावसान हो गया। अनभ्र वज्रपात भी इसके लिए हल्का शब्द है। उस अत्यन्त गम्भीर शोक के उपरान्त मेरे एक पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था 'आपके ८-११-६४ के शोक समवेदनापूर्ण पत्र से इस घोर विपत्ति में भी विचलित होते धैर्य के टिकाव को कुछ सहारा मिला । कष्ट कुछ कम होता-सा प्रतीत हुआ। अब जो कहीं रहा हूँ। साँस भर चल रही है। भगवान् शेष उत्तरदायित्वों को पूर्ण कर लेने का अवसर दें और अपनी शरण में शीघ्र लें यही चाह रहा हूँ। प्रतिवचन के लिए शब्द नहीं मिल रहे हैं।' उस परम पीड़ित अवस्था में भी मिश्रजी अपने अवशिष्ट उत्तरदायित्वों के प्रति सचेत थे । ये उत्तरदायित्व केवल पारिवारिक नहीं, साहित्यिक भी थे। रीतिकालीन अनेक कवियों की सम्पादित ग्रन्थावलियों के प्रकाशन का काम बाकी ही था । भगवद्विश्वास और कार्यनिष्ठा के सहारे ही तन, मन को तोड़ देनेवाली उस गहरी चोट को वे सह गये। यह ठीक है कि उनका सदा प्रसन्न, तीक्ष्ण प्रत्युत्पन्नमतित्व, व्यंग्यश्लेषमण्डित वक्तृत्व कुछ काल के लिए मेघाच्छन्न हो गया किन्तु क्रमशः उन्होंने अपने को आत्मकरुणा से उबारा और जीवनयुद्ध में पुनः झोंक दिया ।

उनकी यह दृढ़ता विचारों के क्षेत्र में भी परिलक्षित होती है। अपने मत को व्यक्त करते समय उन्हें इस बात की आशंका नहीं सताती कि उससे कौन प्रसन्न होगा, कौन रुष्ट। अपने अशेष श्रद्धाभाजन गुरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भी जहाँ वे असहमत हुए हैं (यथा केशव के प्रसंग में) वहाँ अपनी बात को युक्तियुक्त ढंग से रखने में वे संकुचित नहीं हुए हैं, फिर सहयोगियों या परवर्त्तियों की तो बात ही क्या। इसका

एक पुष्ट प्रमाण भारतीय हिन्दी परिषद् के दिल्ली अधिवेशन में मिला था। मिश्रजी के मतानुसार 'तुलसी सम्बन्धी सोरों सामग्री आपादमस्तक जाल है।' अतः इसका आभास पाकर भी कि 'दिल्ली के आस-पास के जितने आचार्यम्मन्य गद्दीधारी हैं, वे किसी न किसी रूप में चाहते यह हैं कि वह सामग्री आंशिक रूप में सत्य मान ली जाय' वे जब बोलने के लिए खड़े हुए तो गाली खाने के लिए तत्पर होकर बोले और उस जाल का भण्डाफोड़ करके ही रहे। उनकी प्रखर धारणा है कि उचित या उपयोगी का वक्ता वत्स भी मान्य हो सकता है और अनुचित या अनुपयोगी का उपदेशक ब्रह्मा भी अमान्य ही रहेगा। मिश्रजी ने 'रीतिकाल' के स्थान पर 'श्रृंगारकाल' नाम का प्रस्ताव किया जिसका कुछ विद्वानों ने विरोध किया। विरोधी तर्कों का जो करारा उत्तर मिश्रजी ने 'हिन्दी साहित्य का अतीत' के दूसरे भाग के 'अनुवचन' में दिया है, वह 'विवादी लेखन' का बहुत ही उत्कृष्ट उदाहरण है। वस्तुतः साहित्य की विवेचना की तलस्पर्शिता के लिए यह आवश्यक है कि विवेचक की अपनी दृष्टि हो, जो संगृहीत तथ्यों की विशिष्ट व्याख्या करने में सक्षम हो। मिश्रजी ने अपनी विशद् दृष्टि से श्रृंगारकाल के सम्बन्ध में जो स्थापनाएँ की हैं, वे निश्चय ही अत्यन्त महार्घ हैं। वस्तुनिष्ठता की दुहाई देनेवाले दृष्टिविहीन जन साहित्यिक तथ्यों के संग्राहक हो सकते हैं, विवेचक नहीं ।

अतीत में रमे रहने पर भी मिश्रजी भविष्य से उदासीन नहीं रहते, नयों की उपेक्षा नहीं करते। भारतीय हिन्दी परिषद् के हैदराबाद अधिवेशन में एक प्राध्यापक महोदय ने नई कविता की भर्त्सना करते हुए एक निबन्ध पढ़ा था। उनके बाद बोलते हुए मिश्रजी ने कहा था कि 'यह मान्यता ठीक नहीं है कि साहित्य की परम्परा में अब नये विकास के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है।' नयी कविता, अकविता आदि नाम से भड़के बिना उनके कथ्य पर विचार करना चाहिए। नये लोग वही प्रयोग तो कर रहे हैं कि अब तक कविता के जो तत्त्व स्वीकृत हो चुके हैं, उन्हें बाद देकर कविता सम्भव है या नहीं। उन्हें इस प्रयोग के लिए समय देना चाहिए। नये प्रयोगों की तुरन्त कड़ी आलोचना नहीं करनी चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में 'प्रवेशो निषिद्धः' की भावना ठीक नहीं है। ईमानदारी और संयम रहे तो केवल यथार्थ के नाम पर भी अच्छा साहित्य बन सकता है।' उनकी इस उदार दृष्टि से बहुत से पुराणपन्थी चकित रह गये थे।

मिश्रजी की मान्यता है कि भारतीय परम्परा में धर्म और साहित्य दोनों मूलतः तर्कप्रतिष्ठ हैं। अनुभव और तर्क के ही आधार पर हमारे पूर्वजों ने ऊर्ध्वगामी दृष्टि की प्रतिष्ठा की थी, इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से आत्मा की ओर जा कर ज्योति प्राप्त की थी उस परम्परा का निर्वाह करने की साधना जब-जब अवरुद्ध हुई है तब-तब हमारी दुर्गति हुई है। उस परम्परा को अखण्डित रखने की प्रेरणा देता रहा है मिश्रजी का जीवन, उनका लेखन। श्रद्धापूरित अन्तर और बुद्धि दीप्त वाणी के असामान्य आचार्य को मेरा सादर अभिवादन। ●

खंड-खंड फिर भी अखंड : स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

मृत्यु का आघात किसी की भी पांचभौतिक सत्ता को खण्ड-खण्ड कर दे सकता है किन्तु क्या वह चिन्मयी सत्ता को स्पर्श भी कर सकता है ? जिसने यह उपलब्ध कर लिया हो, 'न मैं नाम-रूप हूँ, न ये नाम-रूप मेरे हैं, मैं अखण्ड, अद्वैत, सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ', मौत उसका क्या बिगाड़ सकती है ? वह फिर भी ज्यों-का-त्यों अखण्ड-का-अखण्ड रह जाता है। घड़े के फूटने से आकाश नहीं फूट जाता । वह न तो घड़े का बन्दी था, न उसका मुखापेक्षी। नाम और रूप की मिथ्या ग्रन्थियों से छूट कर वह अपने अखण्डानन्द-स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही उस ब्रह्मविद्वरिष्ठ के लिए भी सत्य है जिसे जगत् अनन्तश्री अखण्डानन्द सरस्वती के नाम से जानता था।

हाँ, मर्मभेदी अन्तर आ गया है हम लोगों के लिए, उनके उन अबोध शिष्यों के लिए जिन्होंने वेदान्त का सत्य उनके मुँह से सुना तो कई बार, किन्तु जो उन शब्दों में निहित अर्थ को बोध के स्तर पर, उपलब्धि के स्तर पर अपनी अपात्रता के कारण ग्रहण नहीं कर पाये। हमारे लिए वे ही नाम-रूप विशिष्ट, वे ही परम आश्रय थे । मैं अपनी ही बात कहूँ। जब-जब भवभुजंग के दंशनों से मैं छटपटा उठता था, तब-तब उनके प्रशान्त, प्रफुल्ल मुख का ध्यान, उनके ग्रन्थों का अनुशीलन या उपदेशों का मनन करता था और मुझे शान्ति मिलती थी। मैं अपने जीवन के उन दिनों को धन्य मानता हूँ जो उनकी सन्निधि में बीते। आज मुझे इस बात का बेहद अफसोस है कि ऐसे सद्गुरु को पाकर भी मैं उनका बहुत कम सत्संग कर पाया। जिन तथाकथित महत्त्वपूर्ण कार्यों में उलझे रहने के कारण मैं गुरुजी के पावन सत्संग के लिए अधिक समय नहीं निकाल पाया, आज वे अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होते हैं। आज लगता है कि पारस मिला था पर अपने आवरणों के कारण मैं ही उसके दिव्य स्पर्श से वंचित रह गया ! लोहा कंचन नहीं बन सका।

मरण को भी चुनौती देता है स्मरण ! उसकी कुछ शक्ति ध्वनित होती है

घनानन्द की इस पंक्ति में, 'दीठि आगे डोलो, जो न बोलो कहा बस लागै, मोहि तो वियोग हूँ में दीसत समीप हो ।' यह स्मरण ही है जो दूर गये को पास ला देता है, विगत को अनागत कर देता है। भगवान् का भी तो लोग स्मरण ही करते हैं । कैसा अद्भुत है भक्तों का विश्वास जो मानते हैं कि भगवान् नहीं, भगवान् की स्मृति सब विपत्तियों को दूर कर देती है, 'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ।' हम लोग भी अब गुरुजी को अपनी स्मृतियों या उनकी कृतियों में ही पा सकते हैं । मेरा विश्वास है कि उनकी स्मृति भी उन्हीं के समान कल्याणकारिणी है। हम शिष्यों के लिए यह उचित ही है कि हम सब उनका स्मरण करें और एक-दूसरे को स्मरण करावें, 'स्मरन्तः स्मारयन्तश्च ।'

नवम्बर १९७४ मेरे लिए राम-कृपा का मास बन कर आया। श्री बसन्तकुमार बिड़ला एवं श्रीमती सरला बिड़ला के आमन्त्रण पर स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने कृपापूर्वक उनके आवास-स्थान पर १६ नवम्बर से ३० नवम्बर तक गीता-प्रवचन करना स्वीकार कर लिया था। सम्मान्य रमणलाल बिन्नानी के उद्योग से मुझे भी उस प्रवचन माला को सुनने का सौभाग्य मिला। पहले दिन ही मुझे लगा, 'जिसे खोजता था वर्षों से अब जा कर उसको पाया !' प्रातःकालीन पवित्र शान्त परिवेश, बिड़ला उद्यान का सुरम्य वातावरण, स्वामी जी की भव्य, प्रसन्न, सौम्य मुख-मुद्रा, मर्मस्पर्शी, अमृतमयी वाणी में समस्त उपनिषदों की सारभूता गीता का वैदुष्यपूर्ण विवेचन ! मेरी ही तरह सभी श्रोता सम्मोहित हो गये। एक घण्टे का समय कैसे बीत गया, पता ही नहीं चला। दिन-प्रतिदिन आकृष्ट होता चला गया मैं। पहली बार लगा कि तृप्ति और अतृप्ति का युगपत् अनुभव कैसे होता है। सुनते समय लगता गीता का मर्म परत-दर-परत उद्घाटित होता चला जा रहा है। पलक झपकते एक घण्टा बीत जाता और अधिकाधिक सुनने की गहरी प्यास ले कर घर लौटता। घर में भी और बाहर भी सुने हुए की चर्चा करता। मेरे बड़े भाई रमाकान्त जी ने प्रेरणा दी कि मुझे स्वामी जी से दीक्षा ले लेनी चाहिए। मैंने संकोचपूर्वक भाईजी पं. देवधर जी शर्मा से इसकी चर्चा की। उन्होंने उल्लासपूर्वक इसका समर्थन किया और स्वयं वे मुझे स्वामी जी के पास ले गये। मेरी प्रार्थना स्वामीजी ने अनुग्रहपूर्वक स्वीकार कर ली। २५ नवम्बर को प्रातःकाल पत्नी के साथ मैंने उनसे दीक्षा ग्रहण की। तुलसी की उक्ति मेरे मन में कौंधी –

सन्त बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । राम कृपा करि चितवा जेही ।।

सच, राम-कृपा से ही मुझे सद्गुरु की प्राप्ति हुई । उसी दिन से मैं उनका और वे मेरे हो गये।

फिर तो १९८६ तक प्रति वर्ष गुरुजी दीपावली के बाद कलकत्ता पधारते रहे करीब एक पखवारे के लिए । बिड़ला जी तथा अन्य भक्तों के घरों में गीता, उपनिषद्, भागवत, नारदीय भक्तिसूत्र, जीवन-व्यवहार, गृहस्थ-धर्म आदि पर उनके प्रवचन होते ।

उस ज्ञान-गंगा में अवगाहन कर अपनी-अपनी पात्रता के अनुरूप हम लोग जीवन को शुद्ध और समुन्नत करने का उपदेश-सम्बल ग्रहण करते, भले हम लोग सब कुछ न समझ पाते या समझ कर धारण न कर पाते। (जीवन में उसे उतार पाना तो और भी दुष्कर लगता!) किन्तु सुनते समय और उसके बाद भी लगता कि जीवन जैसा चलता आया है, वैसा नहीं चलना चाहिए, उसमें धर्म, भक्ति और ज्ञान का संयोजन कर उसे आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करना चाहिए। गुरुजी की कृपा से निश्चय ही हम लोगों के कुछ कलुष दूर हुए । रास्ता तो गुरुजी ने दिखा दिया है, अब यह तो हममें से प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए कितना उद्योग करता है। जितना उसका उद्योग होगा, उतनी ही उन्नति होगी।

प्रवचन से भी अधिक प्रीतिकर सत्र होता वार्त्तालाप का। उसी में लोग प्रश्न भी पूछते। प्रवचन के बाद उनके कुछ भक्तजन उन्हें घेर लेते। गुरुजी प्रेमपूर्वक उनकी बातें सुनते, उनके परिजनों के बारे में पूछते। सचमुच आश्चर्य होता था यह देखकर कि गुरुजी को कितने लोगों के नाम याद थे। लोग तरह-तरह की बातें सुनाते, कुछ बातें ऐसी भी होतीं जो हम लोगों को स्तरीय नहीं लगतीं किन्तु गुरुजी धैर्यपूर्वक सबकी बातें सुन लेते, कभी-कभी कुछ परामर्श भी देते। गुरुजी की मान्यता थी कि भारतीय धर्माचार्यों ने बुद्धि को जितना महत्व दिया है, उतना अन्य देशों के धर्माचार्यों ने नहीं दिया है।

गुरुजी स्वयं अपने शिष्यों को केवल श्रद्धा का ही नहीं, प्रज्ञा का भी अवलम्बन ग्रहण करने की प्रेरणा देते थे। इसका एक परिणाम यह भी था कि वे अपने शिष्यों को प्रश्न करने की पूरी छूट देते। अवश्य ही वे यह भी इंगित करते थे कि प्रश्न केवल पूछने के लिए या परीक्षा के लिए नहीं किये जाने चाहिए। जानने के लिए जीवन या साधना-क्रम से उठे हुए प्रश्न श्रद्धापूर्वक पूछने चाहिए, तभी उनसे वास्तविक लाभ होता है। सुसंगत और अच्छे प्रश्न करनेवालों से गुरुजी बहुत प्रसन्न होते थे। मेरी बेटी भारती उनसे बहुत प्रश्न किया करती थी। कई बार कुछ लोगों को लगता था कि वह प्रश्नों का अतिरेक कर रही है किन्तु गुरुजी ने उसे कभी निरुत्साहित नहीं किया, उलटे वे उसे प्रोत्साहित किया करते थे कि वह और प्रश्न पूछे ।

एक दिन किसी ने उनसे कुछ पूछा ही नहीं तो वे बोले, 'आज क्या भारती नहीं आयी है?' तब लोगों को लगा कि भारती के प्रति उनके मन में कितना वात्सल्य था। कलकत्ते में ही नहीं, वृन्दावन में भी भारती प्रश्नों की झड़ी लगा देती थी। स्वभावतः वहाँ भी कुछ लोग खीज उठते थे किन्तु गुरुजी ने उसे अभय दे रखा था, अतः उसके अन्तहीन प्रश्न चलते ही रहते। सिर्फ एक बार कलकत्ते में गुरुजी ने उससे कहा, 'भारती कभी-कभी चुप भी रहना चाहिए।' अगले दिन भारती ने कोई प्रश्न नहीं पूछा। उसके दूसरे दिन गुरुजी ने ही उससे कहा, 'क्या बात है भारती ! कल और आज अभी

तक तुमने कोई प्रश्न ही नहीं पूछा ?' उसने बिना झिझक कह दिया, 'आप ही ने तो चुप रहने के लिए कहा था, सो मैं चुप हूँ।' गुरुजी हँसने लगे, बोले, 'नहीं-नहीं! तुम प्रश्न पूछो।' और उसके प्रश्न फिर चालू हो गये ! सोचता हूँ कितने गुरु ऐसे होंगे जो छोटों को इतनी छूट देते हों, उनके प्रश्नों को इतना महत्त्व देते हों!

पहली बार कुछ लम्बे समय तक गुरुजी के साथ रहने का सौभाग्य मिला नवम्बर १९७६ में चाकुलिया में। प्रियवर प्रभुदयाल झुनझुनवाला ने विष्णुयज्ञ का आयोजन किया था। गुरुजी के अभिन्न मित्र और शिष्य श्री सुदर्शन सिंह जी 'चक्र' के वे कृपा-भाजन थे। चक्र जी ने गुरुजी से अनुरोध किया कि आप सात दिनों के लिए चाकुलिया पधारें। गुरुजी ने पूछा, 'यह चाकुलिया है कहाँ, कभी इसका नाम भी नहीं सुना।' इसके उत्तर में चक्रजी ने जो कहा वह मेरे लिए अविश्वास्य था। वे बोले, 'जंगल में हो तो भी क्या, मेरी प्रार्थना है कि आप वहाँ चलें।' बिना कुछ और पूछे गुरुजी ने हामी भर दी। कैसा अद्‌भुत प्रेम-सम्बन्ध था दोनों में ! मुझे भी आज्ञा हुई कि मैं भी चलूँ। मेरी क्या मजाल थी कि मैं ना करता। आन्तरिक कृतज्ञता के साथ चक्रजी को प्रणाम करता हूँ कि उनकी कृपा से मुझे गुरुजी के सत्संग का अद्‌भुत सुयोग मिला। चाकुलिया में जिस बगीचे में गुरुजी ठहराये गये थे वह बस्ती से दो-ढाई मील दूर था। सुबह साढ़े छह बजे गाड़ी से उनके लिए दूध जाता था। हम पति-पत्नी नहा-धो कर तैयार रहते और उसी गाड़ी से वहाँ चले जाते । कैसे आनन्द में बीतते तीन-साढ़े तीन घण्टे ! उस समय वहाँ और लोग नहीं आ पाते थे।

गुरुजी के साथ बगीचे में टहलना —एक तरफ़ प्रबुद्धानन्द, दूसरी तरफ मैं। कितने मधुर और प्रेरक प्रसंग छेड़ते थे गुरुजी ! वहीं गुरुजी ने मुझे समझाया था कि सुबह उठते ही शय्या पर ही बैठकर कुछ देर भगवान् का नाम लेना चाहिए, ध्यान करना चाहिए, तब कुछ और काम करना चाहिए। इसी तरह रात को सोने के पहले भी भगवान् का नाम लेना चाहिए। इससे दिन अच्छा बीतेगा, रात को भी दुःस्वप्न नहीं आयेंगे। मेरी पत्नी उनसे कुछ भी पूछने में संकोच नहीं करती थी। गुरुजी ने ही उसे कुछ पूछने को कहा तो उसने जप करने की पद्धति पूछी, ध्यान करने का तरीका पूछा। शिष्यों की योग्यता के अनुसार उनके मंगल का मार्ग बताने के लिए गुरुजी सर्वदा तत्पर रहते थे। सायंकाल को स्वयं प्रवचन करने के लिए पहले गुरुजी मुझे कुछ बोलने का आदेश देते थे। गुरुजी के सामने बोलने में मुझे बहुत संकोच था किन्तु उन्होंने मेरी झिझक छुड़ा दी और सातों दिन उनके पहले मुझे थोड़ी-थोड़ी देर बोलना पड़ा। बाद में तो महराई, वृन्दावन में भी उन्होंने मुझसे कई बार प्रवचन करवाये। यह उनकी कृपा थी कि उन्हीं से सुनी हुई बातों को अपने शब्दों में बोलने के संकोच-भरे प्रयासों को भी वे सराहते और मुझे आशीर्वाद देते कि मैं अच्छा बोलने लगूँगा। वहीं उन्होंने मुझे यह

आज्ञा भी दी कि गीता, मानस आदि पर प्रवचन करने के लिए किसी से कोई दक्षिणा मत लेना। प्रभु-कृपा है कि उनके इस आदेश का मैं निष्ठापूर्वक पालन कर रहा हूँ। बात प्रवचन की चल रही है तो एक बात और लिख दूँ।

बम्बई में गुरुजी एक प्रवचन देने जा रहे थे। जाने के पहले गुरुजी ने उड़िया बाबा के चित्र को सम्बोधित कर कहा, 'चलो बाबा, कथा कह आओ ।' मैं वहीं था । मैंने कौतूहल-भरे शब्दों में गुरुजी से पूछा, 'गुरुजी! कथा आप कहते हैं कि उड़िया बाबा?' वे हँसे, बोले, 'उड़िया बाबा ही कथा कहते हैं।' इसका मर्म तो गुरुजी ही जानें लेकिन तब से मैंने भी यह नियम बना लिया है कि गीता, मानस, भागवत आदि पर बोलने के पहले गुरुजी का ध्यान कर लेता हूँ। इतनी हिम्मत तो मेरी नहीं पड़ती कि कह सकूँ, चलिये गुरुजी, कथा कह आइये, पर उनका स्मरण करने के बाद ही बोलना शुरू करता हूँ । मेरी निष्ठा है कि इससे इन विषयों पर बोलना मेरे लिए सुगम हो जाता है।

चाकुलिया में ही आनन्दमयी माँ और गुरुजी के परस्पर सद्भाव को देखकर मैं मुग्ध हो गया था । दोनों एक-दूसरे की प्रतिष्ठा के प्रति अत्यन्त सजग थे । गुरुजी यदि उन्हें 'माँ' कह कर पुकारते थे तो माँ उन्हें 'बाबा' कहती थीं और वैसा ही सम्मान देती थीं । २२-५-८१ को आनन्दमयी माँ के जन्मोत्सव में सम्मिलित होने के लिए गुरुजी गंगालहरी से कनखल गये थे और वहाँ मातृ-तत्त्व पर उनका अद्भुत प्रवचन हुआ था। बड़े सन्तों में इतना सौहार्द बहुत कल्याणकर लगता है ।

१९७७ में मैं सक्रिय राजनीति में चला आया और भगवदिच्छा से एम.एल.ए. भी बन गया। मेरी प्रार्थना पर गुरुजी ने आशीर्वाद तो दिया किन्तु राजनीति की फिसलनों से बचने का निर्देश भी दिया । इस पर उनका बहुत जोर था कि केवल पार्टी के लोगों का नहीं, 'सबका हित हो, इसका ध्यान रखें ।' उन्होंने यह भी सिखाया था कि 'स्वयं चारित्र्य के पालन से लोगों का जितना भला होता है, उतना अन्य प्रकार से नहीं।' वे अपने शिष्यों से कहते रहते थे कि बिना स्वयं शुद्ध-पवित्र हुए देश-सेवा करने का दम भरनेवाले बाद में अपनी ही सेवा करने लगते हैं । उनका शिष्य ऐसा न हो जाये, इसकी उन्हें वास्तविक चिन्ता थी ।

जब मैंने उन्हें लिखा कि सुबह से ही अपना काम करानेवालों का ऐसा ताँता लग जाता है कि नियमित पूजा-पाठ में भी विघ्न पड़ने लगा है, राजनीति बड़ी सीमा तक मनुष्य को बहिर्मुख बनाती है, अनचाहे भी उसके दबाव के कारण व्यक्ति एक सीमा तक भगवद्विमुख हो जाता है, तब तुरन्त उनका हस्ताक्षरित पत्र आया, 'आपकी यह बात समझ में नहीं आयी कि आपको अपना नित्य-नियम करने का पूरा समय नहीं मिलता । आप कठोरता से कह दीजिए – हम इस समय से इस समय तक, एक घण्टे तक किसी से नहीं मिलेंगे। जब लोग लौटने लगेंगे, प्रसिद्ध हो जायेगा तो उस समय

आना बन्द कर देंगे। अपने घर के बाहर एक पट्ट लगा दीजिए । कोई बैठा रहे तो उसके बैठने की व्यवस्था कर दीजिए । मन्त्र, पूजा, प्रार्थना के समय पर यह निश्चय कर लीजिए कि — *'सत हरिभजन, जगत सब सपना।'*

मेरे पत्र से गुरुजी को यह भी लगा होगा कि बेचारा मेहनत से जनता की सेवा कर रहा है, तभी तो उसके पास सभी लोग आते हैं, यह भी कि इसके मन में भी नित्य-पूजन के क्रम का निर्वाह न कर पाने की पीड़ा है और इसे वह अपनी भगवद्विमुखता मानने लगा है। अतः उन्होंने मुझे पुचकारा भी । उन्होंने लिखा था, 'आप सच्चे हृदय से जनता-जनार्दन की सेवा करते रहेंगे तो आपकी विमुखता भी ऐसी होगी जैसे कोई बालक अपने पिता की गोद में बैठकर उसकी ओर पीठ किये हुए हो, उसकी ओर मुँह न किये हो।' मुझे बहुत सान्त्वना मिली थी गुरुजी के इन शब्दों को पढ़कर। राजनीति के कुछ कड़वे अनुभवों से व्यथित हो कर अपनी मनःस्थिति मैंने उन्हें लिख भेजी थी। उसके उत्तर में उन्होंने लिखा था, 'यदि सच्चा मनुष्य राजनीति में पड़ेगा तो उसको बाद में वैराग्य अवश्य होगा। भले भगवान् भूल जायँ, परन्तु नेताओं के दाँव-पेंच इतने दुष्ट होंगे कि वे व्यवहार से ग्लानि उत्पन्न कराये बिना नहीं रहेंगे। अच्छा है, आप उसका अनुभव कर रहे हैं। बिना भोग के राजनीतिक तीक्ष्णता का पता नहीं चलता।' वस्तुतः जो व्यक्ति राजनीतिक मिजाज का न हो, उसके लिए राजनीति बहुत भारी पड़ती है। कालान्तर में या तो वह राजनीति छोड़ ही देगा या मूल्यों पर अधिष्ठित राजनीति के लिए आन्तरिक कष्ट झेलता रहेगा।

कलकत्ता-बम्बई में गुरुजी के साथ किये हुए सत्संग और वृन्दावन के आश्रम में रहकर किये हुए सत्संग में बहुत अन्तर था। एक तो इन महानगरों में रहते समय व्यक्ति अपने कार्यों से इतना बँधा रहता है कि चाहकर भी वह पूरा समय सत्संग के लिए नहीं निकाल पाता। दूसरे, स्वयं गुरुजी इन स्थानों पर, विशेषतः कलकत्ते में, भक्तों के आमन्त्रणों के कारण एवं आतिथेय की सुविधा की दृष्टि से सीमित समय के लिए सुलभ होते थे।

वृन्दावन में तो आत्मीय कुलपति जैसे लगते थे वे । नित्यक्रिया या मौन आदि के निर्वाह के लिए निश्चित किये गये समय के अतिरिक्त वे सब समय अपने शिष्यों से घिरे रहते । वे स्वयं तो मूर्तिमान् आनन्द थे ही, औरों को भी भक्ति, ज्ञान एवं आनन्द बाँटते रहते थे । एक-एक व्यक्ति की सुविधाओं का ध्यान रखते, एक-एक व्यक्ति की मानसिकता को परख कर उसके लिए हितकर उपदेश करते । सदा मुस्कराते रहते, आये हुओं को आश्वस्त करते, अपना....इस सीमा तक अपना बना लेते कि सबको लगता कि वे मुझसे ही सबसे अधिक प्रेम करते हैं ।

मैं तो बहुत थोड़े-थोड़े समय के लिए चार-पाँच बार वृन्दावन जाकर उनके

सत्संग का प्रसाद पा सका । कोठी के बड़े कमरे में या बाहर, नृत्यगोपाल के मन्दिर में, उड़िया बाबा के आश्रम में या वृक्षों के तले जहाँ वे होते वहीं सत्संग-सुधा प्रवाहित होती रहती । किसी के प्रश्न की वे अवज्ञा नहीं करते, सहृदयतापूर्वक सुनते, प्रयोजन होने पर स्वयं उसे और स्पष्ट करते और फिर स्पष्ट, स्वच्छ, अनुभव-सिद्ध युक्तियों के द्वारा उसका समाधान करते । कठिन-से-कठिन विषय को सरल बना कर वे इतनी आत्मीयता भरी शैली में समझाते कि उस समय तो यही लगता कि विषय हृदयंगम हो गया । बाद में कच्चे घड़े में डाले जल के सदृश वह निकल गया-सा लगता तो इसके लिए जिम्मेदार हम लोग ही थे – क्यों नहीं अपने हृदय-घट को हम लोग पक्का बना पाये ! फिर भी उस अमृत का जितना अंश भी जिसके हृदय में रह गया है, उतना ही उसके जीवन को धन्य बनाने के लिए पर्याप्त है ।

वृन्दावन में सब सुविधाओं के होते हुए भी भक्तों की बहुलता तो रहती ही । कई बार औरों के सामने कुछ प्रश्न पूछने में झिझक भी होती । रामजी की कृपा से जीवन में दो बार उनके साथ गंगालहरी में रहने का सुयोग मिला । कह नहीं सकता, उन पवित्र दिनों का कितना ऋणी हूँ मैं । हरिद्वार और ऋषिकेश के बीच बिलकुल गंगाजी के तट पर अवस्थित गंगालहरी। दूर-दूर तक बस्ती का नामोनिशान नहीं ! सुन्दर उद्यान, समस्त आधुनिक सुविधाओं से युक्त भव्य आवास, भगवती भागीरथी की मधुर कलकल ध्वनि, सामने की छोटी पहाड़ी की रहस्यावृत रमणीयता और पूजनीय गुरुजी का सत्संग! स्वामी प्रबुद्धानन्द, शिवानन्द, हरिश्चन्द्र, सतीशबालाजी जैसे इने-गिने गुरुजी के अन्तरंग परिकर और मैं! कैसी अद्‌भुत दिनचर्या थी वहाँ गुरुजी की ! साढ़े चार बजे भोर में गुरुजी गंगा-तट पर भ्रमण करने निकलते । स्वभावतः हम लोग सवा तीन-साढ़े तीन के बीच उठते । उस ब्राह्ममुहूर्त में उस दिव्य परिवेश में मन स्वतः शुद्ध हो जाता । गुरु के मौन व्याख्यान में शिष्यों के संशय कैसे उच्छिन्न हो जाते हैं, इसका कुछ-कुछ अनुभव हुआ । भ्रमण के बाद गंगाजी के किनारे ही छः बजे तक गुरुजी बैठते, गंगा के प्रवाह को निहारते रहते। इस समय बातचीत बहुत ही कम होती । फिर ६ से ८-३० तक अपनी नित्यचर्या के बाद वे ११ बजे तक शिष्यों से बातचीत करते, उनकी जिज्ञासाओं का समाधान करते। पहली बार (अर्थात् ८-५ से १२-५-८१ तक) माण्डूक्य-उपनिषद् का मर्म वे मुझे समझाते रहे । मैं उनके माण्डूक्य-प्रवचन का अध्ययन कर रहा था । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त, तुरीय, विश्व, तेजस्, प्राज्ञ, वैश्वानर, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, ब्रह्म, पंचकोश, तीन शरीर, ज्ञान, भक्ति का सम्बन्ध आदि-आदि कितने विषयों की व्याख्या उन्होंने की । उनके प्रिय शिष्य शिवानन्द जी ने भी मुझे बहुत प्रभावित किया। उनका शरीर स्वीडेन का था । विदेशी होते हुए भी उन्हें गुरुजी ने न केवल अपना लिया था, बल्कि उनकी योग्यता का विचार कर उन्हें संन्यास की दीक्षा भी दी थी। कैसी लगन थी उनकी! संस्कृत को

उन्होंने आयत्त कर लिया था। शांकरभाष्य के साथ ब्रह्मसूत्र का गम्भीर अध्ययन किया था उन्होंने। गुरुजी जब व्यस्त रहते तो मैं उनके साथ सत्संग करता। दूसरी बार (अर्थात् २४-५ से ३१-५-८४ तक) मैंने वहीं 'तुलसीदास का मनोरथ' शीर्षक लेख लिखा। गुरुजी ने उसका एक-एक शब्द सुना, उसके अतिरेकों को परिमार्जित किया और तुलसी के अध्ययन की दिशा का संकेत किया। भोजन के बाद गुरुजी कुछ देर विश्राम करते और फिर किसी निश्चित विषय पर लेख लिखा देते। श्रीमद्भागवत, कौषीतक्युपनिषद् जैसे गम्भीर ग्रन्थों पर वे धारा-प्रवाह बोल कर लेख लिखाते। विषय के स्पष्टीकरण या क्रम के निर्धारण के लिए वे लिखाते समय रुकते नहीं थे। सब कुछ जैसे मस्तिष्क में ढल चुका हो और सहज रूप में वाग्धारा के रूप में प्रकट हो रहा हो। अद्भुत, निश्चयकारिणी प्रज्ञा और विवेचन-क्षमता थी उनकी ! शाम को हरिद्वार या ऋषिकेश के कुछ भक्त आ ही जाते थे। परमार्थ निकेतन के स्वामी सदानन्द जी, अहमदाबाद के योगिराज मनुवर्य तथा अन्य संन्यासीगण भी गुरुजी से सत्संग करने आते थे । बहुत ही सुखद, सरस और ज्ञानमय प्रसंग छिड़ते। कुछ देर मौन रहने के बाद गुरुजी पुनः गंगा-तट पर भ्रमण करते, हम लोग उनके साथ लगे ही रहते। भोजन के बाद गुरुजी करीब दस बजे शयन करने चले जाते। गुरु जी की इसी दिनचर्या में उनके विश्राम या चिन्तन-मनन के समय स्वामी प्रबुद्धानन्दजी के साथ तैलाभ्यंग कर मैं गंगा-स्नान करता। ब्रह्मद्रव कहा है गंगा को भक्तों ने। उनकी पावन गोद में, शीतल जल-प्रवाह में सन्तरण अत्यन्त प्रीतिकर लगता। *'ऐ रे दगादार मेरे पातक अपार तोहि गंगा की कछार में पछार छार करिहौं !'* पद्माकर की यह उक्ति दुहराता और उत्फुल्ल चित्त से स्तोत्र-पाठ करता ! दिन आनन्द में निकलता, आनन्द में ही समाहित रहता और आनन्द में ही विलीन हो जाता। आध्यात्मिकता की जैसी प्रगाढ़ अनुभूति मुझे वहाँ उन दिनों हुई, वैसी और कभी और कहीं नहीं हुई ।

जिस प्रकार सूर्य का सहज धर्म है प्रकाश वितरित करना, उसी प्रकार गुरुजी का सहज स्वभाव था ज्ञान वितरित करते रहना। छोटी-छोटी बातों से भी वे शिक्षा देते रहते थे। एक बार एक शिष्य ने पूछा, 'मेरे योग्य कोई सेवा हो तो बताइये।' गुरुजी हँस कर टाल गये । बाद में उन्होंने हम लोगों से कहा, 'सेवा की जाती है, अपने लायक पूछी नहीं जाती।' 'अपने लायक' शब्द-प्रयोग में ही प्रयोक्ता अपने बचाव का विधान कर रखता है। सच्ची भावना हो तो व्यक्ति सेवा किये बिना रह नहीं सकता। ऐसे ही व्यक्तियों को सेवा बताई भी जा सकती है।'

एक बार उन्होंने कहा, 'याद रखना उपासना वाच्यार्थ की ही होती है, लक्ष्यार्थ की नहीं। शालग्राम शिला, शिवलिंग, देवप्रतिमा साक्षात् भगवान् हैं, यही भाव रखना चाहिए। जिस प्रकार पिता की उँगली को पकड़ कर चलनेवाले बालक के लिए कहा

जाता है कि वह पिता को पकड़ कर चल रहा है, उसी प्रकार प्रतिमा-पूजन करनेवाले की भावना यदि दृढ़ है तो वह प्रभु का ही पूजन करता है । इसी प्रकार मन्त्र और देवता में भी अभेद मानना चाहिए । शब्द और अर्थ में ही जब अभेद होता है—

गिरा अरथ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ।

तब मन्त्र और देवता में अभेद क्यों नहीं होगा? इसीलिए निष्ठापूर्वक मन्त्र-जप करते रहने से इष्टदेव का साक्षात्कार होता है।

गुरुजी भागवत, गीता, उपनिषद् आदि के मर्मज्ञ थे किन्तु तुलसीदास के प्रति उनकी श्रद्धा विलक्षण थी । मानस की चौपाइयों के सहारे ही उन्होंने अक्षर-ज्ञान किया था। मानस का पाठ माँ को सुनाते-सुनाते मार्मिक प्रसंगों में 'सजल नयन गद्‌गद गिरा' की स्थिति उनकी हो जाती थी। मृत्यु के पूर्व वे अधिकतर मानस का पाठ ही सुना करते थे। मैं ३०-५-८७ को उनके दर्शन करने बम्बई गया था। उन्हें दुबारा कोबाल्ट कारेडिवेशन दिया गया था । बहुत कष्ट था शरीर को किन्तु मानस-पाठ-श्रवण का क्रम जारी था। उस दिन पाठ सुनने के बाद उन्होंने मुझसे कहा था, 'तुलसीदास का प्रबन्ध-विधान महर्षि वाल्मीकि से भी अच्छा और चुस्त है। वाल्मीकि मूल कथा में अवान्तर कथाओं का बहुत विस्तार कर देते हैं – जैसे विश्वामित्र के परिचय, गंगा की उत्पत्ति आदि प्रकरणों को उन्होंने बहुत बढ़ा दिया है, जबकि तुलसीदास अनुपात और रोचकता का बहुत ध्यान रखते हैं। उनके पुष्पवाटिका-प्रसंग, परशुराम-प्रसंग निश्चय ही अधिक प्रभावशाली हैं। इसी तरह मर्यादा का ध्यान भी तुलसी ने अधिक रखा है। काव्य के बाह्य प्रसंगों में – जैसे ऋतु, वन, पर्वत आदि के वर्णनों में — वाल्मीकि ने अधिक रस लिया है, तुलसी ने काव्य के अन्तरंग के निखार पर अधिक बल दिया है। भागवत की कथाओं में भी वैविध्य और बिखराव है, तुलसी में अधिक कसाव है । ज्ञान और भक्ति के क्षेत्रों में भागवत से काफी प्रभावित होते हुए भी तुलसी ने अपनी विशेषता कायम रखी है। तुलसी की निजी विशेषता यह है कि उन्होंने ब्रह्म को ही इष्टदेव बनाया है, इष्टदेव पर ब्रह्मत्व का आरोप नहीं किया है। वेदान्त-वेद्य विभु ही उनके राम हैं। इससे उनके भक्ति-निरूपण में भी वैशिष्ट्य आया है। भक्ति के क्षेत्र में वे अत्यन्त उदार थे, बिलकुल अपने राम की तरह । इसीलिए उन्होंने वसिष्ठ की संकीर्णता को दूर करवा कर चित्रकूट में उनसे गुह को गले लगवाया है। यह राम और भरत की उदारता की विजय है।'

मैं बहुत विनम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि यह उदारता गुरुजी में भी थी। उनके आश्रम में प्रातःकाल गरीबों के लिए जो भोजन बँटता था उसमें हर किसी का स्वागत था। सिकन्दर बख्त और आरिफ बेग जैसे मुस्लिम नेताओं को भी उन्होंने अपने आश्रम में सप्रेम भोजन कराया था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, 'जो लोग मन्दिरों में हरिजनों के प्रवेश का निषेध करते हैं, वे शास्त्र-विरुद्ध आचरण करते हैं। यदि

हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश को पाप या अधर्म माना जाता तो उसके लिए प्रायश्चित्त का भी विधान होता किन्तु ऐसे किसी प्रायश्चित्त का कोई उल्लेख धर्म-ग्रन्थों में नहीं है।' गुरुजी धर्म को आज के जीवन से जोड़ना चाहते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि सामाजिक मंगल धर्माचरण से ही सम्भव है किन्तु धर्माचार को वे जड़ नहीं मानते थे। मूल सत्य की रक्षा करते हुए युग की आवश्यकताओं के अनुसार धर्म के आचारों में आचार्यों ने निरन्तर परिवर्तन किये हैं और आज भी किये जाने चाहिए, ऐसी उनकी मान्यता थी। किसी एक ही आचार से धर्म बँधा हुआ है, ऐसा वे नहीं मानते थे। एक श्लोक वे बार-बार सुनाया करते थे—

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः।।

(अर्थात् धर्म के उस आत्मस्वरूप को नमस्कार है जिसकी पूजा पृथक्-पृथक् धर्म-फल की कामना करनेवाले, पृथक्-पृथक् धर्माचारोंवाले पृथक्-पृथक् धर्मों से करते हैं।) किसी एक आचार्य द्वारा प्रवर्तित, किसी एक ऐतिहासिक काल या किसी भौगोलिक सीमा से आबद्ध आचरण ही धर्म है, ऐसा मानना तो संकीर्णता है। इसी के चलते धर्म के नाम पर इतनी खूनखराबी हुई है। गुरुजी मानते थे कि अपने-अपने कर्तव्य-कर्म में व्यापक ईश्वर-दृष्टि का अवतरण ही धर्म है। दुखी को सुख देना, अज्ञानी को ज्ञान देना और भयभीत को अभय बनाना ऐसे ही धर्म के द्वारा सम्भव है। धनी और गरीब के बीच बढ़ते हुए अन्तर से भी वे व्यथित थे। 'साधु और राष्ट्र-सेवा' शीर्षक अपने निबन्ध में उन्होंने स्पष्ट लिखा है, 'यदि गरीबों के बच्चों को बीमारी में दवा नहीं मिलेगी, पहनने को कपड़ा नहीं मिलेगा, रहने के लिए मकान की व्यवस्था नहीं होगी, शिक्षण और लौकिक उन्नति-प्रगति की सुविधा समान रूप से नहीं मिलेगी तो केवल उन्हें भावना के बल पर धर्मात्मा बनाये रखने में सफलता नहीं मिल सकती। हमारे साधुओं का यह काम है और इस शिक्षा में उनके लिए अच्छा अवसर है कि वे धनियों और गरीबों के बीच आयें, धन को हस्तान्तरित करने में सहयोग दें। गरीबों के लिए विद्यालय, चिकित्सालय, रोजगार और लौकिक उन्नति के अवसर उपस्थित करें।' धर्म की यह उदार व्याख्या और उसकी सेवामूलक व्यावहारिक प्रेरणा गुरुजी की बहुत बड़ी विशेषता थी।

गुरुजी किसी की निष्ठा को खण्डित या परिवर्तित भी नहीं करते थे। उनका कहना था, 'जो जहाँ है, उसकी साधना वहीं से शुरू होगी। उस भूमिका की साधना का ठीक-ठीक निर्वाह होने पर उन्नत भूमिका की प्राप्ति स्वतः होगी और इस स्थिति में उच्चतर सत्य को वह स्वयं ग्रहण कर लेगा।' वे संन्यासियों और गृहस्थों के लिए अलग-अलग उपदेश करते थे और गृहस्थाश्रम को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। १७ से १८ अक्टूबर १९८७ तक मैं वृन्दावन में उनके दर्शनार्थ गया हुआ था। १९ अक्टूबर को

प्रातःकालीन सत्संग में मैंने उनसे कहा, 'बचपन में ही मैंने एक श्लोक कण्ठस्थ कर लिया था—

अधमाः धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः ।
उत्तमाः मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ।।

(अर्थात् अधम व्यक्ति केवल धन की कामना करते हैं, मध्यम कोटि के व्यक्ति धन और मान दोनों चाहते हैं किन्तु जो उत्तम व्यक्ति होते हैं, वे मान की ही कामना करते हैं। उत्तम जनों का धन मान ही है।)

इस श्लोक से प्रभावित होने के कारण मेरे मन में मान प्राप्त करने की इच्छा जगी। भगवान् की कृपा से थोड़ा-बहुत मान मिला भी किन्तु ग्रन्थों में लिखा है कि मान सुरापान के सदृश दोषावह है, उसे त्याग कर ही सुखी हुआ जा सकता है। 'मेरी क्या मानेच्छा सर्वथा त्याज्य है? यदि हाँ, तो उससे कैसे बचा जाये?' गुरुजी का उत्तर जितना सुसंगत था, उतना ही आश्वस्तकारी भी। वे बोले, 'मध्यकाल में हिन्दू समाज का नेतृत्व बाबाजी लोगों के हाथों में आ गया था। चाहे वे संन्यासी रहे हों, चाहे विरक्त भक्त, दोनों की दृष्टि निवृत्ति-प्रधान थी। उन्होंने मुक्ति या भक्ति पर ही बल दिया और सामाजिक प्रतिष्ठा आदि की उपेक्षा की। मोक्षकामियों या निष्काम भक्तों के लिए निवृत्ति की ही बात ठीक है किन्तु प्रवृत्तिपरायण गृहस्थों के लिए वैदिक उपदेश धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग को सिद्ध करने का रहा है। इसी के अन्तर्गत मान प्राप्त करने का विचार भी आता है। सामाजिक सम्मान उसे ही प्राप्त होता है जिसने अपने क्षेत्र में कोई विशिष्ट उपलब्धि की हो। उसके लिए अपने आचरण को संगत, व्यवहार को विश्वसनीय बना कर बड़े-बड़े, अच्छे काम करने पड़ते हैं। इससे मनुष्य का विकास होता है। अतः गृहस्थों के लिए मानेच्छा शुभ है। धर्मपूर्वक मान प्राप्त करने की चेष्टा में कोई दोष नहीं है। इसके लिए तुम्हें अपराध का बोध नहीं होना चाहिए। हाँ, जब सर्वत्यागी संन्यासी बनने की सच्ची प्रेरणा होगी तब मानेच्छा भी अपने आप छूट जायेगी। किन्तु आज की स्थिति तो यह है कि धन, मान, अधिकार पाने के लिए ही लोग संन्यास ले रहे हैं । संन्यास की सच्ची वृत्ति तो लुप्त-सी हो गयी है। गृहस्थों को प्रभु पर आश्रित रह कर अपने धर्म का निर्वाह करते रहना चाहिए। इससे उन्हें मान भी प्राप्त होगा । मानेच्छा से पीड़ित हो कर अकरणीय कार्य करना उचित नहीं है, उससे अन्ततोगत्वा मान-हानि ही होगी। सीधी बात है, अच्छे काम करते हुए मान प्राप्त हो तो उसका स्वागत है, मान प्राप्त करने के लिए ही तरह-तरह के काम करना ठीक नहीं है, उससे बचना चाहिए।' मुझे इस उपदेश से बहुत शान्ति मिली। संयोग से यह मेरे लिए उनका अन्तिम उपदेश था।

गुरुजी अपने व्रत का पालन करने में कितना कष्ट उठाते थे, इसके भी दो-चार अनुभव मुझे हुए हैं। कलकत्ते में एक बार तीन दिनों तक ज्वरग्रस्त स्थिति में ही उन्होंने

प्रवचन किये थे। एक दिन उन्हें १०३° बुखार था, फिर भी वे प्रवचन करने गये। हाँ, आरम्भ में कुछ देर तक मुझे बोलने की आज्ञा दी। कैंसर जैसी पीड़ादायक व्याधि से ग्रस्त होने पर भी डेढ़ वर्ष तक वे अपने कार्यक्रमों का यथासम्भव निर्वाह करते रहे। कलकत्ता, बनारस, बम्बई, वृन्दावन में उन दिनों मैंने देखा है कि दोपहर-भर कराहते रहने पर भी शाम के प्रश्नोत्तर-सत्रों को वे प्रायः अन्त तक चालू रखते रहे। १७ नवम्बर के सायं प्रवचन के बाद उनकी अस्वस्थता बढ़ गयी और १८ नवम्बर, १९८७ की रात्रि को उन्होंने शरीर छोड़ दिया। जिस ब्रह्मवेत्ता के लिए कर्म करने का अपना कोई प्रयोजन ही नहीं था, वह लोक-मंगल के लिए अन्त समय तक प्रवचन करता रहा, जिज्ञासुओं को कल्याण का मार्ग दिखाता रहा।

अपनी उदारता और बहुज्ञता के कारण जिस प्रकार सभी सम्प्रदायों के आचार्यों और अनुयायियों को वे अपने लगते थे, उसी प्रकार विविध राजनीतिक दलों के नेता भी उनके पास आते रहते थे । साहित्यकारों का भी एक बड़ा वर्ग उनके प्रति गम्भीर आस्था रखता था ।

संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वान् (केवल हिन्दीभाषी नहीं, महाराष्ट्री, गुजराती, बंगाली, दक्षिण भारतीय भी) उनसे सत्संग करने आते थे। पारम्परिक वैदुष्य और साधना के क्षेत्रों में उनकी मान्यता अखिल भारतीय थी। हिन्दी के कई बड़े साहित्यकार और चिन्तक उनके प्रति श्रद्धालु थे। सेठ गोविन्ददास, जैनेन्द्र, वियोगी हरि, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, यशपाल जैन, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ. निर्मला जैन, डॉ. मोहन अवस्थी जैसे श्रेष्ठ कृतिकार और विचारक भी उनसे विचार-विमर्श करने या अपनी समस्याओं के समाधान पाने के लिए उनके पास आया करते थे । वे जितने गम्भीर ज्ञानी थे, उतने ही भावुक भक्त थे; जितने श्रेष्ठ वक्ता थे, उतने ही सहृदय मनुष्य थे। एक बार उनके सम्पर्क में आने का अर्थ था —उनसे जुड़ जाना, अपनी-अपनी राहों पर चलते हुए भी उनसे आलोक प्राप्त करते रहना। जो सबका होता है, वह संकीर्ण अर्थ में किसी का नहीं होता। गुरुजी स्वरूप से असंग होते हुए भी स्वभाव से इतने कोमल और करुणामय थे कि सबको अपने लगते थे।

मृत्यु ने उनके भौतिक शरीर को भले हमसे दूर कर दिया हो किन्तु उसी के कारण भाव-जगत् में वे हमारे और निकट आ गये हैं। उनके विचारों के अनुशीलन, उनके सत्संग में बिताये दिनों के भावपूर्ण स्मरण के द्वारा वे हमारे हृदयों में और गहरे उतर गये हैं। रत्नाकर की गोपियों की यह उक्ति बिलकुल सच है—

ज्यौं-ज्यौं बसे जात दूरि-दूरि प्रिय प्रान-भूरि,
त्यौं-त्यौं धँसे जात मन-मुकुर हमारे में । ●

आलोक-छुआ अपनापन : अज्ञेय

अज्ञेय को जानना अरण्य को जानने के समान ही सहज भी था और दुष्कर भी। वे मिलते सभी से सहज भाव से थे, पर खुलते किससे कितना थे, यह कहना कठिन है। उनके अन्तरंगतम वृत्त के लोग भी उन्हें क्या जान सके थे ? उन्हें जान लेने का गुमान करनेवालों से भी क्या उनके बारे में बड़ी-बड़ी गल्तियाँ नहीं हुई ? मैं तो खैर, उस वृत की परिधि को भी शायद नहीं छू पाया था । कितनी सटीक, सन्तुलित उक्ति है अज्ञेय की अपने बारे में—

मैं सभी ओर से खुला हूँ / वन-सा, वन-सा अपने में बन्द हूँ
शब्द में मेरी समाई नहीं होगी / मैं सन्नाटे का छन्द हूँ।

किन्तु शब्दों के अतिरिक्त और कोई माध्यम भी तो नहीं है मेरे पास उनके सम्बन्ध में अपनी स्मृतियों को दूसरों तक यथासम्भव सजीव रूप में पहुँचा पाने का। जानता हूँ, इन शब्दों में कभी दूर, कभी पास से दिखी उनकी कुछ झलकियाँ ही अंकित हो पायेंगी पर समग्र को उजागर करने में अंशों का भी कुछ-न-कुछ योगदान होता ही है। अतः संकोचपूर्वक किन्तु अकुंठित चित्त से प्रवृत्त हो रहा हूँ इस स्मृति-मन्थन में, इस प्रतिज्ञा के साथ कि जितना मेरा सच है, उतना ही कहूँगा।

मुझे याद है, उस दिन १९५९ की १४ जनवरी थी। धर्मतल्ले में घूमते हुए अचानक डॉ. धर्मवीर भारती और कान्ता जी से भेंट हो गयी। उस समय मुझे सचमुच बहुत आनन्द और आश्चर्य हुआ जब उन्होंने कहा, 'आइये, आपको अज्ञेय जी से मिलायें।' अज्ञेय जी उन दिनों हिन्दी साहित्य में मध्याह्न-सूर्य की तरह तप रहे थे। कौन ऐसा हिन्दी साहित्य-प्रेमी था जो उनसे मिलना न चाहता! मैं उल्लसित भाव से भारती जी के साथ हो लिया। ग्रैंड होटल के नीचे अज्ञेय जी से भेंट हुई। गरिमा-मंडित भव्य व्यक्तित्व जो अनायास सामनेवाले को प्रभावित कर देता था। संयत, शालीन भाव से वे मुझसे मिले। हम लोगों ने साथ-साथ 'नीरा' में कॉफी पी। ज्यादा बात भारती जी ही करते रहे। अज्ञेय जी बहुत कम बोले किन्तु उनकी थोड़ी-सी बातों में भी अध्ययन और

असाधारणता की छाप थी। उनका व्यक्तित्व भी प्रभावी था और व्यवहार भी। मिल कर भी न मिलने का-सा, तटस्थता, असम्पृक्त-सा भाव! मुझे पहले लगा, शायद नया परिचय होने के कारण वे मुझसे कम खुले, फिर लगा कि शायद वे खुल कर–अधिक ठीक कहना होगा अपने को खोल कर – मिल ही नहीं सकते । उन्हें अपने असामान्य व्यक्तित्व का आभास था । जो उनके स्तर तक उठ कर उनसे मिल सकता था, शायद उसी से कुछ मात्रा तक वे खुल सकते थे। उनके संक्षिप्त उत्तर और दीर्घ मौन ही हम लोगों के उस दिन के वार्त्तालाप के प्रमुख अंश थे। उठते समय मैंने उनसे कहा, "महादेवी जी की हँसी और आपका मौन क्रिया में विपरीत होते हुए भी फल में एक जैसे हैं – औरों से अलग रहने के वर्म जैसे!" उत्तर में मिली एक मधुमिश्रित मुस्कान!

अपनी उस यात्रा में मेरे आमन्त्रण और विभागाध्यक्ष प्रो. कल्याणमल लोढ़ा के आग्रह पर अज्ञेय जी कलकत्ता विश्वद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापकों और विद्यार्थियों के समक्ष नयी कविता पर बोले। भारतीय संस्कृति संसद में जापान की संस्कृति पर भी उन्होंने एक विचारपूर्ण व्याख्यान दिया। मुझे लगा कि वे अपनी बातें बड़ी मर्यादा और आत्म-विश्वास के साथ कहते हैं और श्रोताओं पर गहरा प्रभाव डालते हैं। विद्यार्थियों के प्रश्नों के उत्तर भी वे स्नेहपूर्वक देते रहे। तीखे प्रश्नों के उत्तर भी उन्होंने अनुत्तेजित ढंग से दिये। एक प्रश्न था, "क्या आप फ्रायड से प्रभावित हैं ?" उनका उत्तर था, "फ्रायड को पढ़ना कोई दोष तो नहीं है। जब अपनी दृष्टि-शक्ति क्षीण हो तो चश्मे की सहायता लेनी पड़ती है। उसी तरह जगत् के व्यापारों को समझने के लिए बड़े मनीषियों की कृतियों का अध्ययन गौरव का विषय है, लज्जा का नहीं । व्यक्ति यदि किसी का अध्ययन करता है या किसी के निकट सम्पर्क में रहता है तो उससे किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होगा ही। साहित्यकार की रचना में यह प्रभाव बाहरी, ऊपरी अथवा आरोपित प्रतीत हो तो यह दोष है अन्यथा यदि वह सहज हो कर आया है तो उसे दोष नहीं कहा जा सकता।" व्यापक दृष्टि एवं देश-विदेश के ज्ञान-विज्ञान से समृद्ध, आत्म-विश्वास से युक्त उनके व्याख्यानों ने मुझ पर गहरी छाप छोड़ी।

उसी यात्रा में एक बार उनके साथ 'नीरा' में कॉफी पीने का सुयोग मिला श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के सौजन्य से। अज्ञेय जी के मौन के वर्म को भेदने के लिए मैंने एक युक्ति की। मुझे उनकी कई कविताएँ याद थीं। मैंने उनसे कहा, "मैं आपकी कविताएँ कभी-कभी मित्रों-छात्रों को सुनाता रहता हूँ। मैं नहीं जानता, मेरा काव्य-पाठ उन कविताओं के भावों-विचारों के अनुरूप होता है या नहीं। क्या आप अपनी कविताओं का पाठ सुन कर पाठ-शैली में प्रयोजनीय संशोधन करना उचित समझेंगे ?" वे कुछ चकित भी हुए और प्रसन्न भी। उनकी मौन अनुमति पा कर मैंने उन्हें उनकी दो-तीन कविताएँ सुनायीं। वे सन्तुष्ट हुए, बोले, "मेरे पढ़ने का ढंग कुछ अलग हो सकता है

पर आप भी अपने ढंग से अच्छा काव्य-पाठ करते हैं।" मेरा विश्वास है कि उसके बाद मैं उनका स्नेह-भाजन बन गया —अवश्य ही एक सीमा तक ही।

उसी वर्ष नवम्बर में श्री शिक्षायतन कॉलेज की तरफ से 'हिन्दी साहित्य में आधुनिक बोध' विषय पर एक अखिल भारतीय विचार-गोष्ठी हुई। अज्ञेय, डॉ. देवराज, डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. नामवर सिंह, जैसे सर्जक और विचारक पहले दो दिनों की गोष्ठियों में बोल चुके थे। तीसरे दिन मुझे भी बोलने के लिए आमन्त्रित किया गया। मैंने कुछ आक्रामक शैली में कहा कि आधुनिकता के अतिरेक में अपनी परम्परा के स्वस्थ तत्त्वों से भी कटना आत्मघाती प्रवृत्ति है। संकीर्ण व्यक्तिवादिता और अभिव्यक्ति में अस्पष्टता तथा चौंकाने के लिए की गयी लटकेबाजी का भी मैंने विरोध किया। श्रोताओं ने मेरे वक्तव्य का इतना स्वागत-समर्थन किया कि आयोजकों ने मेरे अभियोगों का उत्तर देने के लिए नामवर जी को पुनः आमन्त्रित किया। वैचारिक मतभेद के बावजूद उस व्याख्यान के कारण मुझे उन सभी वक्ताओं का स्नेह-सम्मान मिला, इसका मुझे बार-बार अनुभव हुआ । अज्ञेय जी ने अपनी स्वाभाविक गम्भीरता के साथ मुझसे बाद में कहा था, "क्या भारतीय काव्यशास्त्री भी नहीं कहते कि काव्य का अर्थ कुछ प्रकट, कुछ छिपा हुआ होना चाहिए ? आप उसके बिलकुल स्पष्ट होने की माँग कैसे कर सकते हैं ?" मैंने उनकी बात के औचित्य को स्वीकार करके भी कहा था, "अभिव्यक्ति की सांकेतिकता, गहराई और सूक्ष्मता का विरोध मैं नहीं करता किन्तु नयेपन के नाम पर कविताओं को अनबूझ पहेली बना देने का समर्थन भी नहीं किया जा सकता।" जो हो, उस प्रसंग से मैं उनके कुछ और निकट हो आया । उसके बाद वे जब कलकत्ते आये या मैं दिल्ली गया तो मैं उनसे प्रायः मिलता रहा ।

मेरे विद्यार्थी और हिन्दी के उभरते हुए लेखक शरद देवड़ा ने अप्रैल १९६६ में 'अवन्तिका' की ओर से एक बड़ा आयोजन किया था – 'आज का हिन्दी साहित्य' समारोह । आमन्त्रितों में थे अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, देवेन्द्रनाथ शर्मा, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, नामवर सिंह, मोहन राकेश, सुरेश अवस्थी आदि। मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि मार्क्सवादी खेमा अज्ञेय का प्रकट-अप्रकट विरोध करने के लिए कटिबद्ध है । योजना बनाई गयी कि पहले वक्ता अज्ञेय हों जिससे बाद में उनका खंडन किया जा सके । उस खेमे की रणनीति के मुकाबले में अज्ञेय निस्पृह जैसे लगे । उन्होंने सहज ही पहले बोलना स्वीकार कर लिया। मैंने इस गोष्ठी का विस्तृत विवरण 'अणिमा' पत्रिका में प्रो. शशांक के नाम से प्रस्तुत किया था, जिसकी प्रामाणिकता की दाद नामवर जी ने अपने एक पत्र में मुझे दी थी । अज्ञेय जी के महत्त्वपूर्ण वक्तव्य के जिस अंश ने मुझे सर्वाधिक छुआ, वह इस प्रकार था, "आज का हिन्दी साहित्य अर्थात् एक बड़ी सीमा तक आज का भारतीय साहित्य ! इस स्पष्टीकरण का महत्त्व इसलिए

है कि आज का हिन्दी साहित्यकार विश्व का होना चाहता है, भारतीय नहीं। मेरा सौभाग्य है कि मैं आज का भी हूँ और भारतीय भी। पिछला बोध मुझे भी कुछ देर से हुआ। धीरे-धीरे मुझे लगा कि मुझे भारतीय होना है। हमारे सांस्कृतिक चिन्तन में अतीत, वर्तमान और भविष्य में विरोध नहीं है । वे आपस में घुले-मिले हैं। बदली हुई परिस्थितियों का वर्णन करते हुए अपनी नयी दृष्टि से पुराने का वर्णन करना भी जिस प्रकार नया है, उसी प्रकार पुरानी दृष्टि से ही किया गया नये का वर्णन भी एक सीमा तक नया है। और दोनों का संघात भी क्या नया नहीं है ? बदली चेतना से धर्म को समझने का और उन दोनों के सम्बन्ध को पाठक तक ले जाने का प्रयास भी जरूरी है।" अज्ञेय जी अर्थात् हिन्दी में आधुनिकता के सबसे बड़े मसीहा के मुँह से यह बात सुनकर मेरे पारम्परिक मन को बहुत अच्छा लगा। मैं उनकी ओर और अधिक आकृष्ट हुआ । यह भी स्वीकार करूँ कि मार्क्सवादियों के उनके प्रति अनुचित विरोधी रवैये ने भी मुझे उनकी ओर जाने के लिए, एक सीमा तक उनका पक्ष लेने के लिए प्रेरित किया।

एक दिलचस्प सवाल अज्ञेय के बारे में यह भी उठा था कि वे मूलतः क्या हैं —कवि या उपन्यासकार? डॉ. नगेन्द्र तथा अन्य कई आलोचक उन्हें मुख्यतः उपन्यासकार घोषित करते रहे हैं, अनेकों की दृष्टि में वे मूलतः कवि हैं —हिन्दी की प्रयोगशील नयी कविता-धारा के प्रवर्तक और सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतिनिधि। 'शेखर : एक जीवनी' के प्रकाशित होते ही वे हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे, जबकि कवि के रूप में उनकी स्थिति आरम्भ में तो (अर्थात् 'भग्नदूत', 'चिन्ता' के काल में) उपेक्षित-सी रही, फिर ('तार सप्तक', 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर' के काल में) विवादास्पद रही। 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', 'अरी ओ करुणा प्रभामय' तक आते-आते उनकी कवि-प्रतिभा का लोहा उनके कटु आलोचकों को भी मानना पड़ा। अतः मेरे मन में यह जानने का कौतूहल था कि स्वयं अज्ञेय जी अपने को मूलतः क्या मानते हैं। १९६८ की फरवरी में दिल्ली में एक शाम अज्ञेय जी के साथ बिताने का सुयोग मुझे मिला । जब बातचीत कुछ जमी तो मैंने अपनी उक्त जिज्ञासा व्यक्त की । वे मुस्कराये, बोले, 'कृतिकार की बातों का कम, उसकी कृतियों का अधिक विश्वास करना चाहिए। कृतिकार का अपना मूल्यांकन सब समय सही नहीं होता। उसे एक सीमा तक सहायक-भर माना जा सकता है । यह काम तो मुख्यतः आलोचकों का है। आप लोगों को ही इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए।' फिर भी जब मैंने अपना अनुरोध जारी रखा, तब वे बोले, "पहले मैं अपने को मूलतः कवि मानता था। फिर लगने लगा कि मैं मूलतः उपन्यासकार हूँ। अब फिर मुझे लगता है कि नहीं, मैं कवि ही हूँ। उपन्यास, कहानी, नाटक भी मैं कवि के रूप में ही लिखता हूँ। वास्तव में मैं समाज से कुछ दूर पला-बढ़ा हूँ, जंगल, दूरदराज स्थान, कारावास और फिर अधिकतर एकान्त!

मैं जिस सत्य को जानता हूँ या जान सकता हूँ, वह मूलतः व्यक्ति के चिन्तन या अनुभव पर आधारित है। यह स्थिति कवि के अधिक अनुकूल है। मैं अमृतलाल नागर से भिन्न प्रकृति का व्यक्ति हूँ। किसी प्रकृति की श्रेष्ठता की नहीं, केवल भिन्नता की बात कर रहा हूँ। सामाजिक सन्दर्भों के विशेष अनुभव न होने के कारण भी मैं अपने को मुख्यतः उपन्यासकार नहीं मानता क्योंकि वह बात वैसा होने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।"

उस दिन मैंने उनसे यह भी पूछा था, "आप लिखते कैसे हैं ?" उन्होंने प्रतिप्रश्न किया, "क्या आप मेरा इंटरव्यू लेने पर तुले हुए हैं?" मैंने कहा, "नहीं, मैं आपको यानी आपके सर्जक-रूप को समझना चाहता हूँ।" वे बोले, "तो फिर सुनिये ! मैं किसी भी अनुभव के बाद तुरन्त लिखने नहीं बैठ जाता । मेरे मन में कोई बात बरसों तक चुभती रहती है, मैं उस पर सोचता रहता हूँ। जब तक मुझे लगता है कि कहीं अस्पष्ट हूँ, कुछ अधूरा है, तब तक लिखना शुरू नहीं करता। जब करीब-करीब उसकी पूरी तस्वीर मन में उभर आती है तब लिखना या लिखाना शुरू करता हूँ और फिर रुकता नहीं, इधर-उधर उलझता नहीं, बिलकुल निर्विघ्न एकान्त चाहता हूँ। 'अपने-अपने अजनबी' कुल तीन दिनों में लिखा गया उपन्यास है। 'नदी के द्वीप' सात दिनों के बीच के अन्तराल को छोड़ कर दस दिनों में पूरा हो गया था। लिखते समय मैं बिल्कुल काट-छाँट नहीं करता। प्रतिलिपिकर्ताओं की असावधानी के कारण प्रतिलिपियों में काट-छाँट हो सकती है, मूल पांडुलिपि में नहीं। जब तक मुझे सन्तोष नहीं होता तब तक मैं अपनी कोई कृति प्रकाशनार्थ नहीं देता। 'शेखर : एक जीवनी' का तीसरा भाग लगभग पूर्ण हो चुका है। केवल कुछ स्थलों, कुछ बातों के बारे में सन्तोष नहीं हुआ, अतः पड़ा हुआ है । उसका प्रकाशन कब होगा, कहा नहीं जा सकता।" और भी बहुत-सी बातें हुईं। बैठक काफी लम्बी चल गयी। मैंने अपराधी-भाव से कहा, "आज मैंने आपका बहुत समय नष्ट कर दिया।" वे बोले, "नहीं, नहीं। समय आखिर होता किसलिए है ! हम लोगों ने तो सार्थक प्रश्नों पर ही बातचीत की है। आप जब दिल्ली आयें, आपका स्वागत है।" मुझे लगा, उन्होंने आलोक-छुआ अपनापन मुझ पर बरसा दिया है और मैं उससे भीग गया हूँ। प्रायः मौन रहनेवाले उस चिन्तक, सर्जक को इतना मुखर कर पाना निश्चय ही बड़ी उपलब्धि थी।

अज्ञेय ने केवल कृतियों की सर्जना नहीं की है, बहुत बड़ी संख्या में उन्होंने हिन्दी लेखकों को भी सिरजा है। उन्हें जिस किसी में थोड़ी भी सम्भावना दिखाई पड़ी उसे उभारने और माँजने में उन्होंने अपना पूरा सहयोग दिया। मैं अपनी ही बात कहूँ। मैं वाक्शूर और लेखनीभीरु रहा हूँ। धर्मवीर भारती और नामवर जी की ही तरह अज्ञेय जी को भी लगा कि मुझे लिखना चाहिए। 'नया प्रतीक' के लिए जब उन्होंने मुझे कुछ लिखने का आदेश दिया तो मैं सहम गया। भारती जी और नामवर जी की फर्माइशों के बाद भी

कई बार कन्नी काट जाता रहा हूँ किन्तु अज्ञेय जी को तो टाला नहीं जा सकता था। मैंने निर्धारित समय के भीतर ही सद्यःदिवंगत मोहन राकेश पर संस्मरण लिख कर भेज दिया। तुरन्त अज्ञेय जी का पत्र आया । पहले उन्होंने पीठ ठोंकी थी, "आपका पत्र मिला, साथ में लेख भी। इस मुस्तैदी से बहुत प्रभावित हूँ। मैं तो कल आपको याद दिलाने के लिए पत्र लिखने वाला था कि लेख आ ही गया।" फिर लेख की सराहना करते हुए भी बहुत आत्मीयता के साथ उसकी त्रुटियों की ओर संकेत किया था उन्होंने, "संस्मरण जून अंक में ही दे रहा हूँ । कल मई अंक छप कर तैयार हुआ और आज से जून का काम शुरू है न! रायल्टी वाला पत्र मार्के का है! और भी संस्मरण चरित्र को उजागर करते हैं। दो-एक छोटे परिवर्तन कर लेने की अनुमति चाहता हूँ। एक तो तारीखों का ब्यौरा कुछ कम कर दिया है, 'मोटी-मोटी' सूचनाओं तक ही सीमित कर दिया है। हाँ, दो-एक जगह तारीख ही रहने दी है। दूसरे, राकेश के संस्मरण में वही निरन्तर मंच के मध्य में रहे, इस ख्याल से दूसरे नामों की बार-बार आवृत्ति से बचना उचित मान कर कहीं-कहीं नाम काट कर 'अन्य अतिथि' या ऐसा कुछ कर दिया है। सभी नाम कम-से-कम एक बार पूरे कर दिये हैं, क्योंकि यह कैसे मान लिया जाय कि नेमिचन्द्र जैन सभी के लिए 'नेमि जी' हैं या कि 'इन्दुजा जी' कहने से सब जान जायेंगे कि वह डॉ. सुरेश अवस्थी की पत्नी हैं (या कि सुरेश जी विवाहित भी हैं ?) आशा है, ये आपको ग्राह्य होंगे। मेरा तो विश्वास है कि इससे लेख उन लोगों के लिए भी अधिक पठनीय हो जायेगा जो इनर सर्किल के नहीं हैं – सामान्य हिन्दी पाठक हैं ।" इतना बड़ा कृती साहित्यकार सम्पादन-धर्म को इतनी निष्ठा से निभाता है और लेख को अधिक पठनीय बनाने के लिए किये गये उचित परिवर्तनों के लिए भी अपने से बहुत कनिष्ठ लेखक की सहमति चाहता है, यह अनुभव अज्ञेय की महत्ता के प्रति मुझे और विनम्र बना गया।

पत्र का समापन करते हुए उन्होंने मेरे बतरसलोभी स्वभाव को जैसा प्रोत्साहन दिया वह उनकी उदारता के अनुरूप ही है, "आपसे भेंट बहुत थोड़ी देर की रही – बल्कि वह भी अधिकांश राह चलते ही। यह तो है कि 'यायावर' का सही परिचय पथ पर ही मिलेगा। फिर भी कुछ देर बैठ कर बात करते तो बहुत अच्छा लगता । अब की बार सही – आयें तो अवश्य सूचना दें। मैं तो कलकत्ते आने की सोचता ही रहता हूँ– आ कब पाता हूँ, देखें।" यह पत्र १४-५-७४ का है। मुझे यह जान कर आन्तरिक हर्ष हुआ कि अज्ञेय जी को मुझसे बातचीत करना सचमुच अच्छा लगता है, कि वे मुझे, मेरे प्रश्नों को, मेरी 'माथा-चटौवल' को झेलते नहीं, पसन्द करते हैं।

सम्पादक अज्ञेय को मेरी लेखकीय सीमाओं का पता शीघ्र ही चल गया। कई बार एक-एक लेख के लिए उन्हें तगादे के तीन-तीन पत्र भेजने पड़ते थे, फिर भी वे मुझसे कुछ-न-कुछ लिखवाते ही रहते थे। पर उनकी सम्पादकीय शालीनता बराबर

बरकरार रही। उनके आदेश पर आखिरी लेख मैंने लिखा था – 'उत्तर भागवत भूमि यात्रा' पर। कई तगादों के बाद मैंने जो लेख भेजा उसमें उनसे सम्बद्ध संस्मरण में स्मृति-दोष के कारण तथ्य-सम्बन्धी दो गल्तियाँ रह गयी थीं। उन्होंने अपने २३-१२-८५ के पत्र में लिखा, "हाँ, दो पृष्ठों की फोटो-कापी भेज रहा हूँ – पृ. १३ और १७ की – क्योंकि इन दोनों में मैंने थोड़ा-सा परिवर्तन किया है मुझसे सम्बद्ध संस्मरण में । यह तथ्य की दृष्टि से ही किया गया है, फिर भी एक बार आप इसे देख कर ओके कर दें तो निश्चिन्त रहूँगा।" अपने से छोटों की भी लेखकीय गरिमा को सुरक्षित-सम्मानित रखनेवाली यह सम्पादकीय शालीनता मेरी समझ में तो हिन्दी में अद्वितीय है। इसीलिए उन्हें इतना व्यापक लेखकीय सहयोग मिलता रहा।

अपनी उचित प्रशंसा से भी वे संकोच का अनुभव करते थे । इसी पत्र में उन्होंने लिखा था, "आपका लेख मुझे बहुत अच्छा लगा है, उसके बारे में अधिक नहीं कहूँगा । हाँ, मेरे बारे में जो कुछ है, वह असमंजस का कारण है, पर सब काट भी नहीं सकता।"

उनकी शालीनता ही नहीं, दृढ़ता भी अनुकरणीय थी । वे जिसे सही मानते थे, उस पर अडिग रहते थे । जनवरी १९७५ में नागपुर में हुए प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन की एक घटना मुझे याद आ रही है। उस सम्मेलन की प्रमुख साहित्यगोष्ठी में बोलने के लिए आयोजकों ने अज्ञेय जी को पहले से नहीं कहा था। गोष्ठी शुरू होने के कुछ पहले ही अज्ञेय जी मंडप में आ गये थे। तब आयोजकों ने मंच पर बैठने और उस अवसर पर कुछ बोलने का अनुरोध उनसे किया । अज्ञेय जी का दो-टूक जवाब था, "मुझसे पहले से नहीं कहा गया था इस गोष्ठी में बोलने के लिए, अतः मैं नहीं बोलूँगा। और जब बोलना नहीं है तो मंच पर भी क्यों जाऊँ ?" अब एक अच्छी-खासी दृष्टिकटु स्थिति पैदा हो गयी। लल्लन प्रसाद व्यास, अनन्त गोपाल शेवड़े भी उनसे अनुरोध करके, पहले से न कह पाने के लिए क्षमा माँग कर हार गये किन्तु अज्ञेय जी बोलने के लिए तैयार नहीं हुए। मैंने उनसे प्रार्थना की 'आप मंच पर तो चले जाइये, भले मत बोलियेगा।' वे तमाशा नहीं बनाना चाहते थे, अतः इस पर राजी हो गये किन्तु उस गोष्ठी में कुछ नहीं बोले। मैंने कई प्रतिष्ठित लेखकों को बोलने का अवसर देने के लिए आयोजकों की चिरौरी-विनती करते वहाँ देखा किन्तु अज्ञेय जी से चिरौरी-विनती करते वे लोग थक गये, फिर भी वे बोलने के लिए तैयार नहीं हुए। उनकी मान्यता थी कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विद्वानों के समक्ष बिना पूरी तैयारी किये बोलना नितान्त अनुचित है। अपनी मान्यता पर अडिग रहना उनका स्वभाव था।

विश्व हिन्दी सम्मेलन से असन्तुष्ट हो कर वे लौटे। २७-१-७५ के अपने पत्र में उन्होंने मुझे लिखा, "मैं विश्व हिन्दी सम्मेलन से अत्यन्त निराश हुआ। मुझे न केवल हिन्दी का कोई विश्व-रूप वहाँ नहीं दीखा बल्कि यही खतरनाक भ्रान्ति दीखी कि कुछ

विदेशियों को अच्छी हिन्दी बोलते देख-सुनकर (हम) कितने स्वप्नाविष्ट हो जा सकते हैं। अंग्रेजी की बात छोड़िए क्योंकि उसके साथ गुलामी के भी सन्दर्भ हैं, पर कोई भारतीय फ्रेंच या रूसी बोल लेता हो (ऐसा भारतीय जो भारत में ये भाषाएँ पढ़ा रहा हो) और फ्रांस या रूस जाये, तो क्या वहाँ के लोग जम्हूरे की तरह जगह-जगह घुमा कर बुलवायेंगे कि देखो यह अच्छी फ्रेंच/रूसी बोलता है, जिससे सिद्ध होता है कि फ्रेंच/रूसी विश्व-भाषा हो गयी ! विदेशी लोग इस अपमानजनक प्रदर्शन से दुखी ही हो कर गये हैं, कह भी गये हैं कि यह हिन्दी की immaturity (अपरिपक्वता) का ही प्रमाण है कि उसे दूसरों को हिन्दी बोलते देख कर विस्मय होता है। (मेरी समझ में ठीक ही कह गये हैं।)

विश्व सम्मेलन न केवल हमें विराट् स्वप्न में भरमाता है, वरंच देश में हिन्दी की दुरवस्था के प्रति भी अन्धा करता है और सरकार की बढ़ती हुई प्रतिकूलता के प्रति भी। और मेरा अनुमान है कि इसने अन्य भाषा-प्रदेशों में भी हिन्दी-विरोधी मनोभाव को बढ़ावा ही दिया है । वह आगे गुल खिलायेगा । यों उदासीनता/विरोध का वातावरण फिर हिन्दी को जम कर वहाँ खड़ा करे जहाँ से उसे वास्तव में शक्ति मिलेगी तो यह भी कोई बुरा परिणाम न होगा – पर वह सम्मेलन का उद्दिष्ट न होगा, उसके विपरीत ही परिणाम होगा।" इतिहास ने साबित किया कि अज्ञेय जी का मूल्यांकन सही था। केन्द्रीय सरकार हिन्दी-प्रेमियों को भरमा कर हिन्दी को उसके प्राप्य से वंचित करती रही, अंग्रेजी को सर्वाधिकार सौंपे रही, फिर भी कुछ अहिन्दी-प्रदेशों में हिन्दी-विरोध की ज्वाला सुलगती ही रही । विश्व सम्मेलनों के प्रदर्शनों से नहीं, लोक सम्मेलनों के निर्णयों के क्रियान्वयन से ही हिन्दी को वास्तविक शक्ति मिल सकती है।

२६ जून, १९७५ को आपातकाल घोषित हुआ। चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार पर यह क्रूर आघात था। जैसा अपेक्षित था, अज्ञेय जी ने अपनी साहित्यिक मर्यादा के भीतर इसका विरोध किया। सरकार ने उन्हें गिरफ्तार तो नहीं किया किन्तु उनकी गतिविधियों पर, 'नया प्रतीक' पर, कड़ी नजर रखी जाने लगी । अपनी छोटी-सी सीमा में मैं भी आपातकाल का विरोध कर रहा था । वे मेरे इस रवैये से प्रसन्न थे। अपने विश्वासों की कीमत चुकाने से वे कभी नहीं कतराते थे। वे चाहते थे कि दूसरे भी ऐसा करें।

हम लोगों ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में बिड़ला व्याख्यानमाला के अंतर्गत व्याख्यान देने के लिए उन्हें आमन्त्रित कर रखा था। नवम्बर १९७५ के तीसरे सप्ताह में वे कलकत्ते पधारे। उनके अपने आकर्षण के साथ विभागाध्यक्ष लोढ़ा जी की सुव्यवस्था के कारण उनकी व्याख्यानमाला कलकत्ते की चिरस्मरणीय साहित्यिक घटना बन गयी। विषय उन्होंने गहन चुना था – 'काल की अवधारणा।' पूर्व और

पश्चिम के विद्वानों के विचार-मन्थन के सन्दर्भ में इस कठिन विषय को यथासम्भव स्पष्ट करने का उनका प्रयास अतिशय स्तुत्य था। तीनों दिन कलकत्ता विश्वविद्यालय का दरभंगा हॉल कलकत्ते के हिन्दी साहित्यिकों और साहित्य-प्रेमियों से खचाखच भरा रहा। लोढ़ाजी ने संचालन का दायित्व मुझे सौंप दिया था। स्वभावतः ४-५ दिन प्रायः अज्ञेय जी के साथ ही बीते। स्वीकृत कार्य को सुसम्पन्न करने के लिए वे अपनी तरफ से पूरी लगन से चेष्टा करते थे, इस व्याख्यानमाला के क्रम में मैंने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया।

अज्ञेय जी नास्तिक बुद्धिवादी के रूप में ही विख्यात रहे हैं। उनके काव्य में आस्था के, उत्सर्ग के मिलनेवाले प्रसंगों की व्याख्या भी मानवीय भविष्य और मंगल के सन्दर्भ में ही की जाती रही है। पर उनकी 'कितनी नावों में कितनी बार', 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ', 'सागर मुद्रा', 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' सदृश परवर्ती कविता-पुस्तकों में भक्ति-चेतना के संकेत भी मुझे मिले। सितम्बर-अक्टूबर १९७६ में राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में हिन्दी प्राध्यापकों के पक्षव्यापी अध्ययन-शिविर के अपने व्याख्यान में जब यह बात मैंने कही तो विश्वंभरनाथ उपाध्याय, परमानन्द श्रीवास्तव, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आदि मित्रों ने मेरे इस कथन को अमान्य ठहराया। पर मैंने अपनी बात साग्रह दुहरायी। लौटना तो दिल्ली हो कर ही हम लोगों को था। मुझसे पहले ही परमानन्द श्रीवास्तव और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी अज्ञेय जी से मिले। उन्हें एक प्रकार से धक्का-सा लगा अज्ञेय जी से यह सुन कर कि शास्त्री जी की बात ठीक है। १२-१०-७६ को मैं अज्ञेय जी से मिला तो उन्होंने स्वीकार किया कि भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति उनके इधर के काव्यों में होने लगी है।

सच्चाई यही है कि अपने जीवन के कुछ विशिष्ट अनुभवों के कारण अज्ञेय जी आस्तिक हो गये थे। धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध में भी उनके विचारों में उनके अपने विवेक का स्थान था। वे पुनर्जन्म को मानने के पक्ष में नहीं थे किन्तु आत्मा की अमरता को, परमात्मा को मानते थे। वे यह भी मानते थे कि साधना के द्वारा आत्मा का परमात्मा में विलय हो सकता है। इला जी ने मुझे बताया था कि वे भक्ति के स्तोत्रों का पाठ भी करते थे किन्तु फलश्रुति के अंशों को छोड़ देते थे। उनका मत था कि एक स्तोत्र पढ़ कर इतना कुछ पाने की इच्छा रखना तो व्यवसाय है, भक्ति नहीं। हो सकता है, इस परिवर्तन में कुछ भूमिका विद्यानिवास जी मिश्र की भी रही हो। मिश्र जी के माध्यम से ही अज्ञेय जी स्वामी अखंडानन्द सरस्वती से मिले थे। उन्हीं के आश्रम में वृन्दावन में वत्सल निधि का एक शिविर भी अज्ञेय जी ने किया था। मैं स्वामी अखंडानन्द जी का दीक्षित शिष्य हूँ, यह जान कर उन्हें प्रसन्नता हुई थी। मुझसे शंकराचार्य जी की प्रार्थना-षट्पदी सुन कर अज्ञेय जी ने पाठ करने के लिए उसे लिखवा

लिया था । जब मैंने बाद में उन्हें प्रार्थना-षट्पदी पर गुरुजी के प्रवचन की पुस्तिका दी थी तो वे कृतज्ञ हुए थे। वे स्वामी जी से बीच-बीच में मिलते रहते थे।

१२-८-८५ के अपने पत्र में उन्होंने लिखा था, "मैं एक बार फिर वृन्दावन हो आया – दो दिन स्वामी जी का सान्निध्य रहा और बड़ी शान्ति मिली।" गुरु जी दिल्ली आये हुए हैं, यह जान कर २२-१०-८५ को उन्होंने मेरे साथ जा कर गुरुजी से भेंट की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने जीवन के अन्तिम दो दशकों में वे उत्तरोत्तर भागवत सत्ता की ओर अपनी अन्तर्यात्रा में अग्रसर होते जा रहे थे यद्यपि इसकी मुखर चर्चा से वे विरत रहते थे। यह भी स्मरणीय है कि उनकी आध्यात्मिकता इस जीवन और जगत् की उपेक्षा कर इसके उत्तरदायित्वों से पलायन का रास्ता नहीं खोजती थी। इसी जीवन और जगत् को अधिक सारवान् बनाने की अन्तर्दृष्टि थी वह।

आपातकाल का विरोध करने के क्रम में मैं सक्रिय राजनीति की ओर उन्मुख होता चला गया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि जून'७७ में मैं जनता पार्टी के टिकट पर पश्चिम बंगाल की विधान सभा का सदस्य चुन लिया गया । मेरे अधिकतर साहित्यिक मित्रों और शुभेच्छुओं ने मेरे इस कदम का समर्थन नहीं किया। अज्ञेय जी उन थोड़े-से लोगों में थे जिन्होंने कहा कि "जनता के लोकतान्त्रिक अधिकारों की रक्षा के प्रयास के कारण यदि आपकी साहित्यिक गतिविधि को कुछ क्षति भी हो तो उसे सहना चाहिए। हाँ, हम लोग आपसे यह आशा अवश्य करेंगे कि आप आम राजनीतिक नेता जैसे न हो जायें।" स्वयं उन्होंने भी उन्हीं दिनों 'नवभारत टाइम्स' जैसे राष्ट्रीय दैनिक पत्र का प्रधान सम्पादक बन कर अपने सर्जक साहित्यकार-रूप को एक सीमा तक क्षतिग्रस्त करना इसी तर्क के आधार पर स्वीकार किया था।

फिर मेरे पाँच साल मुख्यतः विधायक की राजनीतिक भूमिका निभाने में स्वाहा हो गये। इस बीच अज्ञेय जी को 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' मिला । उनसे मैं एक-दो बार मिला भी किन्तु साहित्यिक कार्यों में और अज्ञेय जी के साथ निकट सम्बन्ध में भी एक अन्तराल-सा आ गया मेरे जीवन में। इसे अज्ञेय जी ने ही तोड़ा। १२-१०-८३ को सुबह-सुबह दिल्ली से फोन कर उन्होंने आदेश दिया कि मैं वत्सल निधि द्वारा इसी महीने के अन्त में आयोजित होनेवाले बोधगया शिविर में 'आज की कविता तथा छन्द' विषय पर व्याख्यान दूँ। मैंने विनम्रतापूर्वक हामी भर दी।

अज्ञेय के प्रबन्ध-पटु व्यवस्थापक-रूप का प्रत्यक्ष अनुभव मुझे बोधगया और बरगी के शिविरों तथा 'उत्तर भागवत भूमि यात्रा' में मिला। अवश्य ही धुरी की तरह इनका बोझ इला जी उठाती रहीं किन्तु योजना, व्यवस्था की सूक्ष्म परिकल्पना अज्ञेय ही करते रहे और पूरे उत्साह से सहभागी के रूप में उनमें अंश ग्रहण करते रहे। मुझे याद आता है २९-५-७४ के अपने पत्र में उन्होंने लिखा था, "६३ साल के लोग पूरा

अवकाश ले लेते हैं और मैं हूँ कि रोज नया काम ओढ़ लेता हूँ – और ओढ़ने को बाध्य भी हूँ ।" मेरा सौभाग्य है कि अक्टूबर, १९८३ से उनके प्रयाण-काल तक मुझे उनका अधिकाधिक स्नेह, विश्वास प्राप्त होता रहा। वे अन्त तक युवा स्वप्नदर्शी की तरह योजनाएँ बनाते रहे और पूरी कर्मठता के साथ उन्हें क्रियान्वित करते रहे। कई बार उन्हें मोटर चलाते हुए मैंने देखा है। वे सधे हाथों स्टियरिंग पकड़ते, तेज मोटर चलाते, दनादन ओवरटेक करते। यात्राओं में वे कोई अतिरिक्त सुविधा नहीं लेते, अपना भारी थैला स्वयं उठाते और जवान सहयात्रियों के साथ कदम मिला कर चलते। अपनी बढ़ी हुई उम्र और दिल के दौरे पड़ने के बावजूद वे अन्त तक सक्रिय रहे। सूरज डूबते समय तक लाल ही रहता है, इसे उन्होंने अपने जीवन में भी प्रमाणित किया।

हिन्दी की आधुनिक कविता में छन्द की स्थिति से मुझे तीव्र असन्तोष है। मुझे लगता है कि मुक्त छन्द की अतिशयता काव्य-सौष्ठव को क्षतिग्रस्त कर रही है। बहुतेरे नये कवियों में छन्दोज्ञान का शोचनीय अभाव है, इसीलिये अधिकांश समकालीन कवियों के मुक्त छन्द अनगढ़ गद्य बनते जा रहे हैं। मुक्त छन्द भी अपनी आन्तरिक लयवत्ता के लिए विविध मात्राओं/वर्णों के छन्दों का आधार लेने पर ही अधिक प्रभविष्णु बन सकते हैं। पूरी काव्य-रचना मुक्त छन्द में ही हो, यह विकल्पहीन स्थिति कभी काम्य या वांछित नहीं हो सकती। अतः नये कवियों को भी छन्दों की उपयोगिता पर पुनर्विचार करना चाहिए, छन्दोवैविध्य के द्वारा अपनी कविता को समृद्धतर बनाना चाहिए।

अज्ञेय जी मेरी कई स्थापनाओं से सहमत होते हुये भी मानते थे कि मुक्त छन्द की लयवत्ता बलाघात पर भी आधारित हो सकती है। मुक्त छन्द के काव्य-पाठ-कौशल को विकसित करने के पक्ष में वे भी थे । उन्होंने इसी मुद्दे को बरगी शिविर में भी विचार का विषय बनाया। मेरे विचारों से अपनी कई असहमतियों के बावजूद उन्होंने न केवल बरगी शिविर में इस विषय पर और विस्तार से बोलने के लिए मुझे आमन्त्रित किया बल्कि मेरे लेख को अपने द्वारा सम्पादित पुस्तक 'समकालीन कविता और छन्द' में पहले लेख के रूप में प्रकाशित किया। दृष्टि-भेद को सम्मानपूर्वक स्वीकारने में वे अत्यन्त उदार थे। जिस प्रकार अपनी मान्यताओं को वे शालीनता और दृढ़ता के साथ प्रस्तुत करते थे, उसी प्रकार अन्यों के भी इस अधिकार को मानते थे।

अज्ञेय जी की सौन्दर्य-चेतना शिविरों के लिए चुने गये स्थानों में भी परिलक्षित होती थी। मुक्त प्रकृति के साहचर्य में नये-पुराने साहित्यकारों का सहवास, सर्जनात्मक साहित्य का सामूहिक पाठ, खुली चर्चा, तेज-तर्रार बहस के बावजूद सौहार्द्र उनका लक्ष्य था। सचमुच इन शिविरों/यात्राओं से तरोताजा हो कर, आन्तरिक दृष्टि से समृद्ध हो कर सहभागी लौटते थे।

बोधगया शिविर की एक अविस्मरणीय स्मृति है – महानो नदी की पतली धारा

में घुटनों तक पानी में खड़े-खड़े अज्ञेय जी से कविताएँ सुन पाने की। बाद में कुछ लोगों ने बड़े हल्के ढंग से छींटाकशी की थी इस पर । काश, वे वहाँ होते, उस विलक्षण अनुभव से गुजरते, तब समझ पाते कि यह छींटाकशी कितनी सारहीन है। हम लोगों ने बार-बार अनुरोध कर एक तरह से अज्ञेय जी को विवश कर दिया था कि युगोस्लाविया में हुए 'स्वर्णमाल' सम्मान के अवसर पर उन लोगों के द्वारा प्रकाशित 'स्वर्णमाल काव्य-संकलन' में से वे हम लोगों को अपनी कुछ कविताएँ सुनायें। एक सीमा तक संकोच व्यक्त करने के बावजूद हम लोगों के आग्रह को उन्होंने स्वीकार किया था । उस शान्त, स्निग्ध, उत्फुल्ल परिवेश में उन कविताओं के पाठ ने हम लोगों को अभिभूत-सा कर दिया था। इसी तरह बरगी शिविर में शरत्-पूर्णिमा की रात को नर्मदा के बाँध के किनारे के जादुई परिवेश में आयोजित काव्य-पाठ-समारोह को मैं कभी नहीं भूल सकता। किसी प्रकार का अंकुश न होते हुए भी एक स्वतःस्वीकृत मर्यादा के अन्तर्गत 'चाँदनी में वह सफेदी है कि जैसे धूप ठंडी हो गयी है' की अनुभूति करते हुए नर्मदा के पार्श्वसंगीत की पृष्ठभूमि में अज्ञेय, अजित कुमार, कन्हैयालाल नन्दन, रमेशचन्द्र शाह तथा अन्य अनेक उगती हुई प्रतिभाओं की कविताएँ सुन पाना क्या कम सौभाग्य की बात है ! इन शिविरों के साथ अविच्छेद्य रूप से जुड़ा वन-विहार का कार्यक्रम अज्ञेय की कवि-प्रतिभा के जीवन्त स्पर्श-सा होता था।

सामान्य हिन्दी पाठकों में अज्ञेय क्रान्तिकारी लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं । इस मान्यता के मूल में यह तथ्य है कि अपने आरम्भिक जीवन में १९२९ से १९३६ तक वे क्रान्तिकारी दल के सदस्य थे और अपने लेखन में भी उन्होंने पुरानी पद्धति के प्रति विद्रोह कर कथा-साहित्य और कविता दोनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये थे। बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि क्रान्ति के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि में बाद में मौलिक परिवर्तन हुआ था। मुझे भी इसका सीधा ज्ञान उन्हीं से बातचीत करते समय २२-१०-८५ को हुआ। बम्बई की एक संस्था ने मुझे क्रान्तिकारियों पर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया था। संयोग से उसके पहले मुझे दिल्ली आने का सुयोग मिला। मैंने सोचा, इस विषय पर अज्ञेय जी से सार्थक बातचीत हो सकती है और मैं उनके पास पहुँच गया।

मुझे यह जान कर आश्चर्य ही हुआ था कि अज्ञेय अब क्रान्ति के कई पहलुओं से असहमत थे । उनका कहना था कि "क्रान्ति के मूल में है — अपनी वांछित, निश्चित दिशा में त्वरित परिवर्तन की कामना। दूसरे (भले वे बहुसंख्यक ही क्यों न हों) यदि ऐसा न चाहें तो बल-प्रयोग के द्वारा, असहिष्णु हिंसा के द्वारा सत्ता पर अधिकार कर उन्हें उस दिशा की ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य करना इसकी प्रकृति में ही है । इसी प्रक्रिया में यह प्रवृत्ति विकसित होती है कि जो हमारे साथ हैं, वह साथी हैं और जो साथ नहीं है, वह शत्रु हैं। क्रान्तिकारी की दीक्षा में ही यह निहित है कि अपने

साथियों के प्रति भी रागात्मक सम्बन्ध व्यक्तिगत सम्पर्क – नहीं पनपना चाहिए। अपने विपथगामी साथी को (भले ही वह अत्यन्त श्रेष्ठ क्यों न हो और असहमति के उसके ठोस कारण क्यों न हों) शत्रु मान कर समाप्त कर देने की मानसिकता भी क्रान्तिकारी-दीक्षा का अंग होती है।" अज्ञेय को ये दोनों मुद्दे बाद में अग्राह्य लगते थे।

उनकी मान्यता के अनुसार परिवर्तन की कामना तो ठीक है, उसके लिए एक सीमा तक अधैर्य भी ठीक है किन्तु दूसरे की इच्छा उसी दिशा में परिवर्तन करने की न होने पर बलात् परिवर्तन करने का अधिकार किसी को कैसे मिल जाता है ? हमारी बात ठीक ही है, इस विश्वास के आधार की परीक्षा होनी चाहिए। बहुमत की दृष्टि में (जो कई बार नेता की दृष्टि ही होती है) विपथगामी होने पर किसी आदर्शवादी स्वतन्त्रचेता साथी की हत्या कर देनी चाहिए, यह भी उन्हें अपराध-सा लगता था। हम क्रान्तिकारी हैं, दूसरे जो हमसे असहमत हैं, वे बहुत हुए तो सुधारक-भर हैं, अतः हम अपनी बात को शस्त्र-बल से उन सब पर लाद देने के अधिकारी हैं, यह तर्क अब उन्हें स्वीकार नहीं था। उनके अनुसार क्रान्ति की एक बड़ी सीमा यह भी होती है कि सत्तारूढ़ हो जाने के बाद क्रान्तिकारी स्थितिशील हो जाते हैं। क्योंकि उनकी वृत्ति फिर सत्ता बनाये रखने की हो जाती है, अतः वे यह मानना ही नहीं चाहते कि परिवर्तन करके हम जहाँ पहुँचे हैं, उसके आगे भी परिवर्तन हो सकता है। क्रान्तिकारी दलों और पैगम्बरी धर्मों को निकट लानेवाली बात भी यही है। पहले पैगम्बर होते थे पर हमारे पैगम्बर के बाद अब कोई पैगम्बर नहीं हो सकता, यह धारणा समान रूप से क्रान्तिकारी दलों में भी व्याप्त है। क्रान्तिकारी अपने आवेश में कुछ हद तक अमानवीकृत हो जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह आविष्ट-सा होता है। अपनी सैद्धान्तिक प्रेरणाओं (जिनमें स्वयं सत्ता में बने रह कर बलपूर्वक परिवर्तन का निमित्त बनने का भाव भी रहता है) के कारण वह अकथनीय अत्याचार कर सकता है । रूस और चीन दोनों देशों में क्रान्ति के बाद हुए सामूहिक उत्पीड़नों में लाखों की हत्या हुई थी। अब उन दोनों देशों के नेता भी इसकी कटु भर्त्सना करते हैं, इसे 'ब्लंडर' मानते हैं।

उन्होंने एक और चौंकानेवाली बात कही थी । उनका मानना था कि भारत में रूस-चीन की तरह क्रान्ति नहीं हो सकती क्योंकि यह मूलतः हिन्दू देश है। यहाँ दूसरे मतों के प्रति समादर की भावना स्वतःसिद्ध सत्य के रूप में विद्यमान है। पड़ोसी देशों की तुलना में भारत में लोकतन्त्र के टिकाऊ होने का कारण भी हिन्दू धर्म और संस्कृति की चेतना ही है। सत्ता पर अधिकार किये बिना समाज को बदल देने का संकल्प करनेवालों को आज की राजनीतिक दृष्टि में क्रान्तिकारी नहीं माना जाता। हिन्दू संस्कृति ऐसा संकल्प रख कर अग्रसर होने वालों को – मन, वाणी और कर्म से परहित या सर्वहित चाहनेवालों को – सन्त कहती है। गाँधी जी भी ऐसे ही थे। कांग्रेस से गाँधी जी का

अलगाव भी सत्ता के प्रश्न पर ही हुआ था। तुरत सत्ता चाहनेवालों ने गाँधी जी का साथ छोड़ दिया था। उनके शहीद हो जाने के बाद अपने स्वार्थ के लिए उनका उपयोग वे लोग करते रहे, यह अलग बात है। अज्ञेय जी ऐसे सन्तों को और गाँधी जी को भी व्यापक दृष्टि से क्रान्तिकारी और वास्तविक क्रान्तिकारी मानने के पक्ष में थे।

प्रचलित राजनीतिक दृष्टि से क्रान्ति के मार्ग से असहमति उनकी काफी पुरानी है। इसके प्रमाण में उन्होंने १९५४-५५ में लिखित और 'पूर्वा' में संकलित अपनी एक चतुष्पदी भी सुनायी, जिसका शीर्षक है 'शक्ति का उत्पात'—

क्रान्ति है आवर्त, होगी भूल उसको मानना धारा;
उपप्लव निज में नहीं उद्दिष्ट हो सकता हमारा ।
जो नहीं उपयोज्य वह गति-शक्ति का उत्पाद भर है;
स्वर्ग की हो - माँगती भागीरथी भी है किनारा ।। (पूर्वा, पृ. २३३)

ऐसा प्रतीत होता है कि क्रान्ति के अग्नि-पथ से गुजर कर, उसकी विकृतियों के सन्दर्भ में हिन्दू संस्कृति की उदार सहिष्णुता का अनुभव कर अज्ञेय अधिक मानवीय बने थे । व्यक्तिगत बन्धुत्व को स्वीकार करने और दूसरे के विवेक को भी सम्मान देने के कारण उनका विश्वास प्रचलित राजनीतिक क्रान्तिवादिता से हट गया था ।

यह भी दिलचस्प बात है कि अज्ञेय जी इसके बावजूद विद्रोह के पक्ष में थे। सामान्यतः वे अनुशासन को स्वीकार कर शुभ बुद्धि से किये गये सामूहिक प्रयास को प्रशस्त मानते थे किन्तु वे यह भी मानते थे कि यदि कोई किसी बात को ईमानदारी से गलत समझे तो उसका प्रतिकार करने का अधिकार उसे है। लेकिन फिर उसे इसके लिए दंड सहने को भी तैयार रहना चाहिए। असंयत उच्छृंखलता का वे कतई समर्थन नहीं करते थे। उनकी स्थापना थी कि इकाई समष्टि के प्रति कृतज्ञ तो हो, पर अपने विवेक को कुंठित भी न होने दे। मार्क्सवादियों ने उनके विरुद्ध जो धुआँधार अभियान छेड़ा था, उसमें उन पर लगाये जानेवाले आरोपों में शायद सबसे भ्रामक आरोप था अतिशय व्यक्तिवादिता का, संकीर्ण अहंवादिता का। जो व्यक्ति प्राणों की बाजी लगा कर देश की स्वाधीनता और फासिज्म के विरोध के लिए संग्राम कर सकता है, उसे 'समाज-विमुख' कैसे कहा जा सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। कविता में भी उनकी घोषणा रही है, *'तुम्हें धारे हृदय में/मैं खुले हाथों सदा दूँगा/बाह्य का जो देय/नहीं गिरने तक कहूँगा/तनिक ठहरूँ/क्योंकि मेरा चुक गया पाथेय।'* यह ठीक है कि वे व्यक्ति के अनुभव और विचार को भी बहुत महत्त्व देते थे। किसी से उधार लिये हुए तथाकथित 'सत्य सिद्धान्त' की वेदी पर उनकी बलि नहीं चढ़ाते थे। उनका विश्वास था कि मुक्त, कुंठा-रहित व्यक्तियों के सहयोग से ही शक्तिशाली समाज बन सकता है। बड़ा और घना वन जिस तरह बड़े और घने वृक्षों की समष्टि है, उसी तरह उन्नत, स्वतन्त्र

और विवेकी व्यक्तियों के आधार पर ही सचमुच बड़ा समाज निर्मित हो सकता है । इस स्थापना से असहमत होने का कोई वस्तुगत कारण मुझे नहीं दिखता।

उनके साथ की गयी 'उत्तर भागवत भूमि यात्रा' मेरे जीवन की अत्यन्त बहुमूल्य स्मृति-धरोहर है। मैंने उस पर लम्बा लेख लिखा है, अतः उन बातों को मैं यहाँ दुहराना नहीं चाहता किन्तु उसमें अनुल्लिखित एक-दो बातों की चर्चा करना उचित समझता हूँ ।

अज्ञेय जी को भी कभी-कभी मैं दूसरे बड़े कवियों की रचनाएँ सुनाने की धृष्टता करता रहता था । मैंने सदा पाया कि वे न केवल उन्हें चाव से सुनते थे बल्कि कई बार मुझसे उन्हें लिखवा भी लेते थे। मांडवी अहमदनगर के प्रसन्न परिवेश में मैंने उनसे कहा कि मेरे पिता (स्व. पं. गांगेय नरोत्तम शास्त्री) क्षेमेन्द्र के एक श्लोक को अपनी आराम-कुर्सी कहा करते थे। विषम परिस्थितियों से घिर जाने पर वे उसके आधार पर अपने मन को समझाते थे कि 'ओ मेरे चित्त ! तू क्यों इधर-उधर व्यर्थ भटकता फिरता है, कभी विश्राम भी कर । इसे भली-भाँति समझ ले कि स्वयं जैसा होता है, वैसा ही होता है, अन्यथा नहीं हो सकता। अतः अतीत को स्मरण करना छोड़, भविष्य के भी बांधनू मत बना, अतर्कित रूप से आते-जाते रहनेवाले भोगों का अनुभव करता चल'—

परिभ्रमसि किं मुधा क्वचन चित्त विश्राम्यतां
स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा नान्यथा ।
अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसंकल्पयन्
अतर्कितगमागमाननुभवामि भोगानहम् ।।

अज्ञेय जी ने इस सूक्ति को बहुत सराहा था और मुझसे लिखवा कर इसे अपने पास रख लिया था। सम्भवतः क्षणों में जीने के अपने सिद्धान्त को उन्हें इसमें आंशिक पुष्टि दिखी थी। यह भी स्पष्ट करना चाहता हूँ कि क्षणों को महत्व देते हुए भी न अज्ञेय को, न इस सूक्ति को क्षणवादी कहा जा सकता है।

इसी तरह एक बार बातचीत में मैंने उनसे कहा कि फ्रायड के बहुत पहले चरक ने अपने इसी भारतवर्ष में यह निरूपित किया था कि अपनी बुद्धि, धृति, स्मृति से विभ्रष्ट हो कर जब कोई अशुभ कार्य करता है तो वह 'प्रज्ञापराध' — अपनी ही समझ के विरुद्ध गलत, असंगत आचरण करता है । उसी से उसके सारे मनोदैहिक विकार — आयुर्वेद की भाषा में कफ, वात, पित्त सम्बन्धी त्रिदोष ही नहीं ईर्ष्या, द्वेष, शोक, क्रोध आदि मनोविकार भी प्रकुपित हो उठते हैं । उनका श्लोक इस प्रकार है—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम् ।।

अज्ञेय जी ने यह श्लोक भी लिखवा लिया था और 'प्रज्ञापराध' शब्द की बहुत सराहना की थी।

अज्ञेय जी ने कई बार गोष्ठियों में अच्छा बोलने या निबन्ध-पाठ करने पर मुक्त हृदय से मुझे बधाइयाँ दी थीं, मेरी बातों को महत्त्व देते हुए अपनी असहमति भी दो-तीन बार व्यक्त की थी किन्तु एक बार उन्हें लगा कि मैंने गम्भीर विवेचन करने के स्थान पर नाम गिना कर ही आलोचकीय दायित्व पूरा कर दिया है। उस बार उन्होंने मीठी चुटकी लेते हुए कहा था, "आप कब से प्रभाकर माचवे की तरह नामों की तालिका से काम चलाने लगे?" विनोद में दी गयी सही, यह सीख मैं कभी नहीं भूलूँगा।

अज्ञेय अन्तिम दिन तक कार्यरत थे। उनका लिखा काफी कुछ अप्रकाशित साहित्य होना चाहिए। 'शेखर : एक जीवनी' के तीसरे भाग का उल्लेख कर चुका हूँ। उन्होंने मुझे बताया था कि सेंट फ्रांसिस के जीवन पर उन्होंने एक गीतिनाट्य लिखा था जो पहले कामुक होने के बावजूद बाद में सन्त हो गये थे। उनके जीवन की जिस विडम्बना को अज्ञेय ने उभारा था, वह यह थी कि सेंट फ्रांसिस तो उत्तर-जीवन में प्रेम को सर्वोपरि महत्त्व देते रहे किन्तु उन्हीं के पट्ट शिष्य ने उन्हीं से कहा, 'मठ केवल प्रेम के आधार पर नहीं, नियमों के आधार पर चलता है।' अज्ञेय जी की इस पर टिप्पणी थी कि 'प्रतिष्ठान का अंग बनने की यही परिणति होती है।' वे कबीर के ऊपर भी एक गीतिनाट्य लिखना चाह रहे थे। नहीं जानता, लिख पाये थे या नहीं।

'जय जानकी जीवन यात्रा' और 'भागवत भूमि यात्रा' की सफल क्रियान्विति के बाद उन्होंने नर्मदा-यात्रा की योजना बनायी थी – नर्मदा के उद्गम से संगम तक के महत्त्वपूर्ण स्थलों की यात्रा के रूप में। अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसमें सम्मिलित होने का अग्रिम निमन्त्रण भी उन्होंने मुझे दिया था। उनकी अनेकानेक सृजनधर्मी योजनाओं के समान ही यह पूर्ण नहीं हो सकी किन्तु इससे भी उनकी दृष्टि की साहसिक मौलिकता का आभास मिलता है। निरन्तर योजनाबद्ध कार्य करते रहने के प्रति वे इतने समर्पित थे कि उसकी गति के मन्द पड़ने पर व्यथित हो उठते थे। अपने १३-१-८४ के मार्मिक पत्र में उन्होंने लिखा था, "मेरे कार्य की गति कुछ धीमी हो गयी क्योंकि 'दिल ने धोखा दिया।' वह जो कष्ट प्रदर्शनी के दौरान हुआ था, हल्का दौरा ही था। अनन्तर और भी कष्ट हुआ और एक बार उठने के बाद दिसम्बर मध्य में फिर खाट से बाँध दिया गया। फिर भी काम तो चल ही रहा है।"

और एक ऐसा दिन भी आया जब जीवन की धज्जियाँ उड़ानेवाले किन्तु स्निग्ध सपनों का अलस सोना सँजोनेवाले अज्ञेय के दिल ने आखिरी धोखा दिया और उनकी एक मुट्ठी खाक ही रह गयी, समागत काल में उनकी लय-ताल मिल गयी ।

उनके स्नेहधन्य आत्मीय जनों को और उनके साहित्य-प्रेमियों को समाश्वस्त करे इस गहरी पीड़ा के क्षणों में भी उन्हीं की वाणी – *"लेकिन/फिर आऊँगा मैं लिये झोली में अग्निबीज/धारेगी जिसको धरा ताप से/होगी रत्नप्रसू!"* ●

क्योंकि है सपना अभी भी : धर्मवीर भारती

'कुछ घटता चला जाता है मुझमें
उनके न रहने से जो थे मेरे साथ ।
मैं क्या कह सकता हूँ उनके बारे में अब
कुछ भी कहना एक धीमी मौत सहना है।'

कुँवर नारायणजी की ये पंक्तियाँ मुझपर छाई रहीं, जब भारतीजी की शोक सभा में मुझे बोलने के लिए कहा गया.... सच यही है कि मैं संतुलित रूप से बोल नहीं पाया। अब भी ये पंक्तियाँ मुझपर हावी हैं। कैसा अटपटा लगता है भारतीजी के नाम के आगे 'दिवंगत' शब्द जोड़ना; पर सच्चाई यही है कि उनकी भौतिक काया अब नहीं रही। फिर भी कितना कुछ वे ऐसा छोड़ गए हैं जो अभी तो है ही, आगे भी बहुत काल तक रहेगा। निश्चय ही उनका साहित्य कालजयी है। उसपर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और आनेवाले युगों में भी बहुत कुछ लिखा जाएगा। मुझे उसकी चिंता नहीं है, चिंता इस बात की है कि लोक-दृष्टि से अगोचर उनके जीवन के बहुत से ऐसे संवेदनशील प्रसंग, जिनमें व्यक्ति धर्मवीर भारती अपनी पूरी प्राणवत्ता के साथ उजागर हुआ था, उन व्यक्तियों के साथ विस्मृति के गर्भ में चले जाएँगे, जो उनके साक्षी रहे हैं। क्या यह उनका उत्तरदायित्व नहीं है कि वे प्रामाणिकता के साथ उन्हें लिपिबद्ध कर जाएँ, ताकि भावी पीढ़ियाँ इस अग्रणी साहित्यस्रष्टा को—और साहित्यकार स्रष्टा को भी यथासंभव समग्रता में समझ सकें। यही विचार मुझे प्रेरित कर रहा है कि मैं इस धीमी मौत को सहूँ, क्योंकि इसीके माध्यम से भारतीजी के चले जाने के हादसे को एक सीमा तक झेला जा सकता है और नई जिंदगी पाई जा सकती है।

धर्मवीर भारती के साहित्य से मेरा परिचय १९५२-५३ से ही हो गया था, जो उत्तरोत्तर घनिष्ठ होता गया। मुझे याद है कि अगस्त १९५८ में 'मधुचक्र' की बैठक में 'नई कविता' पर मैंने एक लेख पढ़ा था। उसमें भारतीजी की कविताओं के उद्धरण भी

थे। स्वाभाविक रूप से मैंने उनकी प्रशंसा की थी। मैं जब अपने लेख का यह अंश पढ़ रहा था, मुझे रोककर राजेंद्र यादव ने कांता भारती का परिचय मुझसे कराया। वे पुष्पलताजी के साथ उस गोष्ठी में आई थीं। पुष्पाजी इससे कुछ क्षुब्ध हुई थीं, क्योंकि उन्हें लगा था कि इससे विषय प्रतिपादन की गंभीरता कम हुई थी। जो हो, इससे कलकत्ता की तत्कालीन साहित्यिक मंडली में यह बात फैली कि नई कविता के कई पक्षों से असहमत होते हुए भी मैं भारती की कविता का प्रशंसक हूँ। भारतीजी की कविता 'सृजन की थकन भूल जा देवता/अभी तो पड़ी है धरा अधबनी' मेरी अत्यंत प्रिय कविताओं में से एक है। उन दिनों मैं इसे मित्रों को प्रायः सुनाया करता था। एक बार मैंने अपने एक गुरुजन को इस कविता के कुछ अंश सुनाए। वे बोले, 'बहुत अच्छी कविता है। तुमने लिखी है ?' मैंने कहा, 'नहीं, यह कविता भारती की है।' वे गुस्से में बोले, 'भारती की है! एकदम रद्दी कविता है।' मैं उनका मुँह ही देखता रह गया। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि भारतीजी ने अपने आरंभिक काल में पुरानी पीढ़ी के कुछ विद्वानों को कितना आहत किया था, अपनी विद्रोही मुद्रा से। पर मुझे भारती ने केवल कविता के स्तर पर ही नहीं, विचार के स्तर पर भी प्रभावित किया था। मैंने अपने उस लेख में लिखा था— 'प्रयोगवादी कविता भी आरंभ के दिनों की उच्छृंखलावस्था छोड़कर धीरे-धीरे अपना स्वस्थ रूप धारण कर रही है। ऐसी स्थिति में यह निश्चय ही परंपरा से बहुत कुछ लेगी। भारती का 'अंधा युग' इस दिशा में शुभ चरण है। नई कविता के दूसरे अंक में 'अंधा युग' का परिचय देते हुए भारती ने लिखा है— 'नई कविता न तो परंपरा की अंध-पूजा करती है और न उसके विरुद्ध हीन-ग्रंथियुक्त निरर्थक विद्रोह। वह परंपरा को आत्मसात् कर उसे नए स्तर पर प्रतिष्ठित करती है, नई दिशा में मोड़ती है। जिस नए राग-बोध को लेकर हिंदी की नई कविता अग्रसर हो रही है, व्यास उसके सबसे निकट पड़ते हैं।' .....मेरी समझ में भारती के इस स्वस्थ सिद्धांत का अनुगमन उनके सहयोगियों को भी करना चाहिए।' इस लंबे उद्धरण से यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत परिचय होने के पहले ही भाव और विचार दोनों स्तरों पर मुझे भारती अपने समीप लगने लगे थे। मुझे भारती के एक और पहलू ने छुआ था। मार्क्सवादियों के प्रगतिवादी कठमुल्लेपन पर उनके तीखे प्रहार भी मुझे बहुत भाते थे। 'परिमल' की गोष्ठियों और संगम के 'तीरभा' के स्तंभों ने भी मुझे आकृष्ट किया था। उनका विनोदी रूप मुझे तब गुदगुदा गया था जब मैंने गोपी कृष्ण गोपेश के हाथ में नई कविता का वह अंक देखा जिसपर भारतीजी ने भेंट की पंक्ति में लिखा था— 'गोपेशजी को सादर, सभय, सातंक!' खिसियाए हुए गोपेशजी बोले थे— 'बड़ा बदमाश है भारती!' मुझे इसके भी आभास मिले थे कि भारती का उपन्यास 'गुनाहों का देवता' छात्र-छात्राओं में, विशेषतः छात्राओं में बहुत लोकप्रिय है।

उन दिनों 'परिमल' के एक सक्रिय सदस्य रामबहादुर सिंह 'मुक्त' व्यापार के सिलसिले में कलकत्ता आए हुए थे। साहित्यिक गोष्ठियों में वे मुझसे मिलते रहते थे। उम्र में मुझसे छोटे थे, अतः मेरे प्रति उनका आदर भाव भी था। अचानक ३१.१२.१९५८ को सुबह-सुबह मेरे घर वे आए और बोले, 'भारतीजी कलकत्ता आए हुए हैं। आप चलें तो मैं आपको उनसे मिलवा दूँ।' भारती के प्रति मन में बहुत सद्भाव था ही, दिन भी छुट्टी का था, मैं चल पड़ा। भारतीजी बहुत प्रेम से मिले। कांताजीऔर पुष्पाजी भी थीं। वे दोनों भी मुझसे मिलकर प्रसन्न हुईं। बातचीत मुख्यतः नयी कविता पर ही हुई। भारतीजी मुझे सौम्य, शिष्ट, बुद्धि-ज्ञान एवं वार्तालापपटु लगे। कलकत्ता के उसी प्रवास में भारतीजी ने अज्ञेयजी से मेरा परिचय कराया। धर्मतल्ले की पुस्तकों की दुकानों में मैं पुस्तकें उलट-पुलट रहा था, वहीं भारतीजी भी प्रकट हुए। बातचीत के दौरान वे बोले, 'यहीं अज्ञेयजी भी हैं। क्या आप उनसे मिले हैं ?' तब तक मैं अज्ञेयजी से व्यक्तिगत रूप से नहीं मिला था। सहज ही उनसे मिलने के लिए मैं राजी हो गया। हम लोगों ने साथ-साथ नीरा में चाय पी; पर ज्यादा बातचीत हम दोनों ही करते रहे, अज्ञेयजी गंभीर बने रहे। भारतीजी की तर्ज पर मैंने भी अज्ञेयजी को 'भाई' कहना शुरू कर दिया; पर उनका स्नेह पाने के लिए मुझे कुछ और तपस्या करनी पड़ी। बाद में तो अज्ञेयजी ने भी मुझे अकुंठ रूप से अपना लिया था।

भारतीय ज्ञानपीठ के श्री लक्ष्मी चंद्र जैन ने जुलाई १९५९ के मध्य में अपने घर में भारतीजी के काव्य-पाठ का आयोजन किया था। मैं भी आमंत्रित था। मुझे याद है, भारतीजी ने उस दिन विदेशी कविताओं के अपने अनुवाद सुनाए थे। बाद में उनपर कुछ चर्चा भी हुई थी। मैंने कहा था— 'यदि यह न बताया जाता कि ये कविताएँ अनूदित हैं तो हम लोग इन्हें मौलिक मान लेते। इसका अर्थ यह है कि भारतीजी ने अनुवाद नहीं किया है, अनुसर्जना की है।' स्वाभाविक रूप से यह बात भारतीजी को प्रीतिकर लगी। उस यात्रा में वे मेरे घर भोजन के लिए भी पधारे। हम लोग एक दूसरे के और निकट आ गए।

२८ से ३० नवंबर, १९५९ तक कलकत्ता के सुप्रसिद्ध कॉलेज श्री शिक्षायतन में 'हिंदी साहित्य में आधुनिकता बोध' पर एक अखिल भारतीय विचार गोष्ठी हुई, जिसमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, देवराज, भारती और नामवर सिंह पधारे थे। विद्वानों ने इस गोष्ठी में यह प्रतिपादित किया कि वैज्ञानिक बोध की प्रधानता के कारण पुराने मूल्य टूट रहे हैं। पर यह वे नहीं बता पाए कि उनके स्थान पर कौन से नए मूल्य स्वीकृत या स्थापित हुए हैं और उनसे आधुनिक समाज का कैसे मंगल विधान होगा। मैंने अपने व्याख्यान में जरा तीखेपन के साथ इस पक्ष को उभारा था। मुझे यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि श्रोताओं ने मेरे वक्तव्य का विपुल समर्थन किया। मेरा

आश्चर्य तब और बढ़ गया जब इस व्याख्यान के कारण मुझे अज्ञेय, देवराज, भारती और नामवरजी का स्नेह-सौहार्द्र भी मिला, क्योंकि इन्हीं चारों को लक्ष्य कर मैंने अपनी बात कही थी।

१९५९ में भारतीजी कई बार कलकत्ता आए थे। उसके चलते एक भ्रम यह भी फैला था कि भारतीजी कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में रीडर पद के लिए प्रयास कर रहे हैं। इस गोष्ठी के कारण तीन-चार दिन हम लोग घंटों बहस और गपशप करने का सुयोग पा सके थे। इन्हींके दौरान भारतीजी ने दो टूक शब्दों में मुझसे कहा, 'कलकत्ता विश्वविद्यालय के रीडर पद के लिए मेरा रत्ती भर आग्रह नहीं है। आप मित्रों को इसके लिए आश्वस्त कर सकते हैं।' असल में भारतीय ज्ञानपीठ से उनकी पुस्तकों का प्रकाशन क्रम तो चल ही रहा था, उन्हें धर्मयुग का संपादक बनाने की भी पेशकश की जा रही थी।

१९६० के पूर्वार्द्ध में भारतीजी 'धर्मयुग' के संपादक बन गए। हम लोगों को हार्दिक प्रसन्नता हुई। जुलाई '६० में भारतीजी कलकत्ता आए 'धर्मयुग' के संपादक के रूप में। एक चाय पार्टी में उन्होंने कलकत्ता के जिन साहित्यकारों को आमंत्रित किया उनमें मैं भी था। उन्होंने 'धर्मयुग' के लिए हम लोगों का लेखकीय सहयोग माँगा। मुझे यह देखकर बहुत अच्छा लगा कि संपादक के रूप में भी भारती के भीतर का प्रध्यापक सक्रिय था। वे अब छोटी सी कक्षा के स्थान पर पाठकों के अखिल भारतीय मंच को संबोधित कर रहे थे। परंपरा और आधुनिकता के समन्वय के द्वारा वे विशाल हिंदी पाठक वर्ग को प्रशिक्षित करना चाहते थे, उसके रुचिबोध को परिमार्जित करना चाहते थे। कलकत्ता आने के पहले ही १० जून, १९६० के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था— 'अभी तक आपकी कोई रचना मेरे आने के बाद 'धर्मयुग' को नहीं प्राप्त हुई। आपने इधर पाया होगा कि 'धर्मयुग' की रूपरेखाओं और सामग्री में काफी परिवर्तन हो गये हैं। आपकी रचना हमें 'धर्मयुग' संबंधी अपनी योजनाओं को सफल बनाने में अनिवार्यतः सहायक होगी। आपसे निवेदन है कि कृपया अपनी एक उत्कृष्ट रचना तुरंत भेजें और निरंतर भेजते रहें।' कलकत्ता में भी उन्होंने मुझसे स्नेहपूर्ण अनुरोध किया कि मैं धर्मयुग के लिए लिखूँ, लिखता रहूँ। मैंने उनसे कहा, 'मैं जितना वाक्शूर हूँ उतना ही लेखनी-भीरु हूँ। लिखने बैठता हूँ तो लेखनी मानिनी नायिका की तरह रूठ जाती है; बहुत मनाने से भी नहीं मानती।' पर वे कतई कायल नहीं हुए। अनुरोध पर अनुरोध के पत्र भेजते ही रहे। मैं सचमुच हृदय से आभारी हूँ धर्मवीर भारती और नामवर सिंह का, जो मेरे बहानों को दरकिनार कर मुझे लिखने के लिए विवश करते रहे। इस सूची में और भी नाम जोड़े जा सकते हैं, पर मुझे लेखक बनाने का प्रमुख श्रेय इन्हीं दोनों को प्राप्य है।

'धर्मयुग' में मैं छिटपुट लिखता भी रहा और भारतीजी से पत्राचार भी करता रहा; किन्तु उनकी निकटता का सुख १९६४ के अंतिम सप्ताह में मिला। २५ दिसम्बर से ३१ दिसम्बर, १९६४ तक कलकत्ता की प्रख्यात नाट्य संस्था 'अनामिका' ने हिन्दी नाट्य महोत्सव का आयोजन किया था। इसमें हिन्दी के विख्यात नाटकों के मंचन के साथ-साथ मेरे संयोजकत्व में नाट्यकार संगोष्ठी, नाट्य निर्देशक संगोष्ठी और नाट्य समीक्षक संगोष्ठी के रूप में त्रिदिवसीय विचार गोष्ठी भी हुई थी। इस पूरे महोत्सव पर धर्मवीर भारती की छाप बहुत गहरी पड़ी। उनके प्रसिद्ध काव्य नाटक 'अंधा युग' का बहुत सफल अभिनव सत्यदेव दुबे के निर्देशन में हुआ। नाट्यकार संगोष्ठी के प्रधान वक्ता के रूप में धर्मवीर भारती ने बहुत विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया। पुरानी शैली के नाट्यकारों और निर्देशकों से तीव्र असहमति प्रकट करते हुए उन्होंने नाट्य सर्जना और प्रस्तुतिकरण, दोनों स्तरों पर आधुनिकता के समावेश की जोरदार वकालत की। उनके व्यंग्य बड़े सुचिन्तित और पैने थे। पृथ्वीराज, लक्ष्मीनारायण मिश्र और आचार्य सीताराम चतुर्वेदी जैसी हस्तियाँ उनके व्याख्यान से तिलमिला उठी थीं। भारतीजी की स्थापनाओं से असहमति हो सकती है, इसे मानते हुए भी मैं इसका कायल हो गया था कि उनकी बातों में सार है। विचार इतने आक्रामक हो सकते हैं, इसका अनुभव इसके पहले मुझे नहीं हुआ था। मैंने और बहुतों ने भारतीजी को हार्दिक बधाइयाँ दीं। मुझे इसी समारोह में एक और रूप दिखा भारतीजी का। चिंतक भारती की विचारप्रवणता जितनी मर्मबेधी थी उतनी ही आह्लादजनक थी विनोदी भारती की उत्फुल्लता। उस दिन हम सबका रात्रि भोज साहू जैन निलय में था। वहाँ से सभी आमंत्रित नाट्यकार, निर्देशक, समीक्षक विश्वरूपा थिएटर गए, एक बँगला नाटक देखने एक ही बस में। पैंतालीस मिनट की यह बस यात्रा ठहाकों भरी थी। भारतीजी एक के बाद एक लतीफा सुना रहे थे और हम सब लोग हँस-हँसकर लोट-पोट हुए जा रहे थे। वैदुष्यपूर्ण चिंतन का ताप भारती की विनोद-मुखर तरलता को सुखा नहीं पाया था। विश्वविद्यालय का पूर्व प्राध्यापक, धर्मयुग का संपादक अपने पर, दूसरों पर हँस भी सकता था, हँसा भी सकता था—यह अनुभव मेरे लिए बहुत प्रीतिकर था। बंबई (मुंबई) लौटकर उन्होंने मुझे एक बहुत मीठा पत्र लिखा, जिसमें उनके शरारती और आत्मीय, दोनों रूप झलक उठे। एक तरफ तो मीठी चुटकी लेते हुए उन्होंने पूछा 'लक्ष्मीनारायण मिश्रजी कब तक टिके? उनका जन्मदिन कलकत्ता में मनाया गया या नहीं? विरोध के बाद वे मुझे बहुत प्यार करते हैं और मैं भी उनका बहुत आदर करता हूँ।' दूसरी तरफ उनकी अंतरंगता उजागर हुई थी इन शब्दों में— 'इस बार कलकत्ता से लौटा तो मीठी-सी कसक थी कि इस सब शोरगुल में अलग आपके साथ, अन्य बंधुजन के साथ कुछ निजी क्षण नहीं बिताए। चौरंगी के बुक स्टॉलों का चक्कर, लाइट हाउस के पान, दक्षिणेश्वर का

प्रातर्दर्शन— यह सब भी नहीं हो पाया। केवल चलते-चलते शाम को कालीघाट हो आया। लेकिन फिर भी आप सबसे मिल लेने से ही मन बड़ा ताजा हो गया।'

भारतीजी को नास्तिक वैष्णव कहा जाता है; किन्तु उनकी कथित नास्तिकता और अनास्था के पीछे कहीं बड़ी गहरी आस्था छिपी थी, जो बार-बार उनकी कृतियों में, चिट्ठियों में और रहनी में भी झलकती थी। 'अंधा युग' में बहुतों को अश्वत्थामा ही हावी नजर आता है; पर सच्चाई यही है कि यह कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से। इसीलिए श्रीकृष्ण का मरण नहीं होता, मात्र रूपांतरण होता है और वे जीवित तथा सक्रिय हो उठते हैं बार-बार— *'मर्यादा युक्त आचरण में/नित नूतन सृजन में/निर्भयता के, साहस के, ममता के, रस के क्षण में।'* वे केवल आस्था ही नहीं लेते, समर्पित अनास्था को भी स्वीकारते हैं। याद आ रही है भारती की एक बहुत अच्छी कविता—

'जाने क्यों कोई मुझसे कहता
मन में कुछ ऐसा भी है रहता।
जिसको छू लेनेवाली कोई भी पीड़ा
जीवन में फिर जाती व्यर्थ नहीं।
अर्पित है पूजा के फूलों-सा जिसका मन
अनजाने दुख कर जाता उसका परिमार्जन
अपने से बाहर की व्यापक सच्चाई को
नतमस्तक होकर वह कर लेता सहज ग्रहण
ये सब बन जातीं पूजा गीतों की कड़ियाँ
इनमें से क्या है, जिसका कोई अर्थ, नहीं।
यह पीड़ा, यह कुंठा, ये शामें, ये घड़ियाँ
कुछ भी तो व्यर्थ नहीं।'

इसी संदर्भ में उद्धृत कर सकता हूँ उनके पत्रों की कुछ पंक्तियाँ। भारतीजी कलकत्ता आते तो मेरे घर भी पधारते। मेरा परिवार आस्तिक परिवार है। हम लोगों का एक ठाकुर घर है, जिसमें हम लोगों के कुलदेवता श्री राधा-कृष्ण की भव्य प्रतिमाएँ हैं। भारतीजी वहाँ जाकर अवश्य माथा टेकते थे। उन्होंने अपने एक पत्र में मुझे लिखा था— 'इस बार आप सबसे बातें करके, आपके कुलदेवता के सम्मुख नमन करके बहुत अच्छा लगा। पाँव का सारा कष्ट और कलकत्ता की भीड़भाड़ की थकन बिलकुल जाती रही।' अपने एक और पत्र में उन्होंने लिखा था— 'मैं अपराधी हूँ कि एक बार कलकत्ता पहुँचकर भी आपसे भेंट करने नहीं पहुँच पाया। हावड़ा जाते समय घर को हसरत से देखता रहा और मन-ही-मन सबसे ऊपरवाले पूजाकक्ष को प्रणाम करता चला गया।' क्या ये पंक्तियाँ कुछ गंभीर अर्थ वहन नहीं करतीं? वे मेरे साथ भगवती कामाख्या के दर्शन करने भी उत्साहपूर्वक गए थे।

एक बार मैंने उनसे पूछा था कि क्या आपको कभी कोई अलौकिक अनुभव नहीं हुआ? उन्होंने मुझे बताया— 'एक अनुभव जरूर मुझे ऐसा हुआ है जिसकी मैं बौद्धिक व्याख्या नहीं कर पाता। महादेवीजी ने ताकुला में लेखकों का एक शिविर आयोजित किया था। मैं भी उसमें गया था। एक दिन सुबह घूमते-घूमते मैं रास्ता भूल गया और एक ऐसी जगह पर पहुँचा जहाँ आबादी बिलकुल नहीं थी; पर हनुमानजी का मंदिर बना हुआ था। मुझे अचरज हुआ कि यहाँ यह मंदिर किसने बनाया, क्यों बनाया! कभी वह मिलेगा तो उससे पूछूँगा। बात आई-गई हो गई। मैं इलाहाबाद लौट आया। मेरी बगिया में एक दिन गुलाब का एक बहुत सुन्दर फूल खिला। मेरी इच्छा हुई कि मैं इसे कविवर पंतजी को भेंट करूँ। मैंने उसे करीने से डाली के साथ काटकर एक ठोंगे में रखा और साइकिल से पंतजी के घर पहुँचा। पंतजी बाहर खड़े थे. बोले, 'भारती, तुम आ गए। गुलाब का फूल लाए हो?' मैं चकित रह गया। मैंने कहा, 'मैं गुलाब का फूल तो लाया हूँ, पर आपको कैसे पता चला?' वे बोले, 'बाबा ने तुम्हें बुलाया है न, उन्होंने ही बताया।' मैंने कहा, 'मैं अपनी इच्छा से आया हूँ, किसी बाबा के बुलाने पर नहीं।' वे हँसे। मुझे भीतर ले गए। भीतर एक बाबाजी बैठे थे। उन्होंने मुझसे पूछा, 'तुम मुझसे मिलना चाहते थे न! पूछो, क्या पूछना है?' मैंने कहा, 'मैं तो आपको जानता तक नहीं, मैं क्यों आपसे मिलना चाहने लगा!' वे बोले, 'तुमने ताकुला में हनुमानजी के मंदिर के सामने बैठकर संकल्प किया था न, कि कभी यह मंदिर बनानेवाला मिलेगा तो उससे पूछूँगा कि इस निर्जन स्थान में यह मंदिर क्यों बनवाया? मैंने ही वह मंदिर बनवाया है। मैंने सोचा, तुम जो जानना चाहते हो वह तुम्हें बता दूँ। इसीलिए मैंने तुम्हें बुलाया है।' मैं तो दंग रह गया। कैसे उन्हें मेरे मन की बात पता चल गई, कैसे उन्होंने मुझे यहाँ आने की प्रेरणा दी, कैसे उन्हें पता चल गया कि मैं पंतजी को देने के लिए गुलाब का फूल ला रहा हूँ। मैंने उनसे कुछ पूछा तो नहीं, पर इस अलौकिक अनुभव की मैं बुद्धिसंगत व्याख्या नहीं कर पाया। अब भी नहीं कर पाता।'

मैं यहाँ इतना जोड़ दूँ कि मैंने सुमित्रानंदन पंतजी से यह पूछा था इलाहाबाद में कि भारतीजी ने मुझे यह बात सुनाई थी, क्या यह सच है? उन्होंने कहा, 'हाँ, बिलकुल सच है। नीम करोली के बाबाजी के लिए यह साधारण बात थी। वे इलाहाबाद आते तो प्रायः मेरे घर ठहरते थे। उन दिनों ऐसे प्रसंग बराबर घटा करते थे। बाबा की असाधारण आध्यात्मिक शक्ति के लिए ऐसे प्रसंग बहुत साधारण हैं।' मुझे याद आता है कि भारतीजी के टेबल पर मैंने श्रीकृष्ण का चित्र देखा था, जिसके प्रति उनके मन में पूज्य भाव था। वे आस्था-अनास्था के द्वंद्व को भी स्वीकार करते थे और इनके परे के सत्य को भी। कम-से-कम मेरी मान्यता यही है।

बाँगलादेश के मुक्ति युद्ध के समय मुझको कई बार यह देखने को मिला कि भारतीजी राजपुरुषों की सोहबत कम पसंद करते थे। वे न उनकी हाँ में हाँ मिला सकते थे, न उनके लंबे प्रवचन सुन सकते थे। वे उतनी ही देर उनके साथ रहना चाहते थे जितनी देर बैठना काम की दृष्टि से आवश्यक होता था। प्रशासकीय अधिकारियों की तुलना में वे सैनिक अधिकारियों को अधिक पसंद करते थे; क्योंकि वे अधिक स्पष्ट वक्ता होते थे और जो आश्वासन देते थे, उसका पालन करते थे। उनके लिए बाँगलादेश के राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री से भेंट करना जितना महत्त्वपूर्ण था उतना ही महत्त्वपूर्ण था रमना पार्क में घास पर बैठकर कवि शमशुर्रहमान से काव्य-चर्चा करना या विध्वस्त शाँखारी पट्टी के उत्पीड़ित हिंदुओं की व्यथा-कथा सुनना।

राजनेताओं को भी खरी-खरी सुनाने का माद्दा उनमें था। १४ सितंबर, १९७४ को हिंदी दिवस पर लखनऊ में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री हेमवतीनंदन बहुगुणा की उपस्थिति में भाषण करते हुए वे बोले, 'हिंदी दिवस पालन करना अब रस्म-अदायगी की बात रह गई है । हिंदी राजभाषा होने का दंड भोग रही है । हर बहका हुआ राजनीतिज्ञ हिंदी पर हमला करता है और हिंदी के नेता उसका प्रतिवाद तक नहीं कर पाते।' उनके स्वर की तेजी बहुगुणाजी को अच्छी न लगी। उन्होंने अपने व्याख्यान में कहा, 'हिंदी में सुर्खाब के पर नहीं लगे हैं, न उसका साहित्य ही अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों से अच्छा है। केवल हिंदीभाषियों के संख्याधिक्य के कारण उसे राष्ट्रभाषा कहा जाता है। यह भी याद रहे कि संविधान सभा में सिर्फ एक मत अधिक होने के कारण उसे राजभाषा बनाने का प्रस्ताव पारित हो सका था।' तब मुझसे नहीं रहा गया। मैंने खड़े होकर उन्हें रोका और कहा, 'आपका यह बयान गलत है। संविधान सभा में तो हिंदी को राजभाषा बनाने का प्रस्ताव प्रचंड बहुमत से पारित हुआ था। हाँ, कांग्रेस पार्टी की बैठक में जब राजभाषा के प्रश्न पर मतदान हुआ था तब हिंदी को राजभाषा बनाने के पक्ष में एक मत अधिक पड़ा था।' मुख्यमंत्रीजी को आशा नहीं था कि उनकी बात को काटने की जुर्रत कोई करेगा। वे थोड़ा सिटपिटा गए। पर फिर बोले, 'कांग्रेस पार्टी ही उस समय निर्णायक पार्टी थी, अतः उसकी बैठक में जो हुआ वही सच्ची स्थिति का द्योतक है।' उस दिन मुझे सचमुच बहुत कष्ट हुआ। सबसे प्रमुख हिंदी प्रदेश का मुख्यमंत्री हिंदी दिवस के उत्सव में हिंदी के संबंध में ऐसे अपमानजनक ढंग से बोल सकता है। मैंने उस दिन मान लिया कि राजनेताओं से हिंदी को अधिक आशा नहीं रखनी चाहिए। हिंदी को अपने बलबूते पर, अपने साहित्यकारों के और विविध विषयों के लेखकों के सर्जनात्मक कृतित्व पर तथा अपने प्रेमियों के रचनात्मक प्रयासों पर निर्भर रहकर अपना समुचित स्थान ग्रहण करना होगा । उस दिन कार्यक्रम के बाद भारतीजी ने मुझे गले लगाकर बधाइयाँ दी थीं।

भारतीजी का आत्मीय साहचर्य बाँगलादेश की यात्राओं के बाद मुझे मिल पाया प्रथम विश्व हिंदी साहित्य सम्मेलन के व्याज से नागपुर में। हम लोग ८ जनवरी, १९७५ से १४ जनवरी, १९७५ तक प्रतिदिन कई घंटों तक साथ रहे। एक महत्प्रसंग के व्यापक परिवेश में आंतरिकता के उन मूल्यवान् क्षणों का मैं आभारी हूँ, जिनमें अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में मैंने भारतीजी की प्रतिक्रियाओं को निकटता से देखा और उनके स्वभाव को, चरित्र को एक सीमा तक कुछ गहराई से पहचाना।

विश्व हिंदी सम्मेलन में चौंतीस देशों के साहित्यकार, विद्वान् और राजनेता सम्मिलित हुए थे। चूँकि आयोजन केंद्रीय सरकार और महाराष्ट्र सरकार की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहायताओं पर बहुत दूर तक निर्भर था, अतः उसके कई अधिवेशनों में राजनेताओं की भरमार थी। ये राजनेता विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन द्वारा हिंदी को विश्वभाषा के रूप में प्रतिष्ठित कराने का मोहक स्वप्न दिखाकर जहाँ एक ओर हिंदीप्रेमियों, हिंदीभाषी राज्यों की जनता के हृदयों को जीतकर अपनी स्थिति सुदृढ़ करना चाहते थे वहीं दूसरी ओर देश के सरकारी कामकाज में हिंदी के प्रयोग के संबंध में मौन साधकर अंग्रेजी के एकच्छत्र राज्य को कायम रखने का आश्वासन प्रकारांतर से अंग्रेजी भक्तों और अहिंदीभाषी राज्यों के नेताओं को देकर उन्हें भी संतुष्ट रखना चाहते थे। भारतीजी ने इस द्वैध को पहचाना था और मुझसे इसकी बेबाक चर्चा की थी।

इस महासम्मेलन में दो प्रकरणों के कारण भारतीजी की भूमिका विशिष्ट थी। 'विश्व मानव का मूल्यगत संकट तथा भाषा और लेखन के संदर्भ में युवा पीढ़ी की मानसिकता' विषय पर आयोजित गोष्ठी के वे विषय प्रवर्तक थे। गोष्ठी आरंभ होने से पहले ही मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से प्रभावित कुछ युवा लेखकों और विद्यार्थियों ने उत्तेजक नारे लगाए। अपने वक्तव्य में उन्होंने धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव व अमृतराय को पूँजीवादी, स्वार्थी एवं शासन के दलाल तथा बिके हुए लेखक बताकर और युवा मानसिकता के बारे में बातचीत करने के लिए अयोग्य ठहराकर गोष्ठी का बहिष्कार करने की अपील की। लॉ कॉलेज के ठसाठस भरे हॉल से मुश्किल से बीस-बाईस लोग गोष्ठी छोड़कर बाहर गए। उल्लेखनीय है कि इस गोष्ठी के संचालक कमलेश्वर थे, अमृतराय और राजेन्द्र यादव फीजी के श्री विवेकानन्द शर्मा के साथ इस संगोष्ठी के अध्यक्ष मंडल के सदस्य थे। मुझे यह देखकर प्रीतिकर संतोष हुआ कि भारतीजी ने बिना किसी कटुता के विषय प्रवर्तन करते समय अपनी भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहा, 'मैं युवा पीढ़ी के प्रवक्ता के रूप में नहीं, नौकरी, आजीविका या दलाली के आधार पर नहीं, अपनी धरती के रस से परिपुष्ट अपने चिंतन-मनन, लेखन के आधार पर बोल रहा हूँ।' 'अपनी धरती के रस से परिपुष्ट' इस वाक्यांश को मैं रेखांकित करना चाहता हूँ। अपने अध्ययन में वे सच्चे अर्थों में अंतर्राष्ट्रीय थे। विदेशों

के महान् साहित्य और दर्शन से उन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया था; किन्तु उसे अपनी धरती के रस से परिपुष्ट करके ही आत्मसात् किया था। उनके विचारोत्तेजक वक्तव्य का एक विशिष्ट अंश उद्धृत करना चाहता हूँ— 'आधुनिक मनुष्य का चिंतन एक बड़ी हद तक नीत्शे, फ्रायड और मार्क्स से प्रभावित है। अतिमानव (सुपरमैन) की रचना के लिए नीत्शे ने अच्छे और बुरे के परे जाने के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया। वर्तमान मनुष्य की; उसके यम, नियम, संस्कार की उपेक्षा कर अवर्तमान मनुष्य की चिंता ने मूल्यों को विश्रृंखल और विघटित कर दिया। फ्रायड के अनुसार, मनुष्य अपनी अंतश्चेतना से परिचालित है अर्थात् मूलतः पशु है। मार्क्स मनुष्य को बाह्य परिस्थितियों से नियंत्रित मानता है, अर्थात् उसे यंत्र के निकट पाता है। इन दोनों दृष्टियों के आधार पर व्यक्ति पूर्ण मनुष्य के रूप में विकसित नहीं हो पाया। इस तरह विश्व स्तर पर चिंतन एक अंधी गली में जाकर रुक गया। भारत में गांधीजी ने साध्य और साधन की पवित्रता एवं एकता पर बल देकर मूल्यों के विघटन को रोका था। किन्तु उनके उत्तराधिकारी बात त्याग की करते हैं, दृष्टि भोग पर रखते हैं; बातों से अमीरी-गरीबी का भेद मिटाते हैं, कार्यों से बढ़ाते हैं। फलतः युवा पीढ़ी के मन में क्षोभ तथा व्यक्ति और समाज के बीच की खाई बढ़ती जा रही है।'

भारतीजी के वक्तव्य ने श्रोताओं पर गहरी छाप छोड़ी । उन्होंने स्पष्ट किया कि अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर चिंतन और व्यवहार के बढ़ते विच्छेद के कारण ही मूल्यगत संकट बढ़ा है और युवा पीढ़ी क्षुब्ध और हताश हुई है ।

इस सारस्वत कुंभ मेले को भारतीजी के प्रभामंडल से अनुरंजित करनेवाला दूसरा महत्वपूर्ण प्रकरण था मॉरिशस के कलाकारों द्वारा मोहन महर्षि के निर्देशन में भारतीजी के कालजयी काव्य नाटक 'अंधा युग' का अत्यंत प्रभावशाली प्रस्तुतिकरण। अभिनय, उच्चारण, आलोक एवं ध्वनि-संयोजन की दृष्टि से इस मंचन की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। स्वाभाविक रूप से धर्मवीर भारती और मोहन महर्षि, दोनों का विद्वत् समाज ने हार्दिक अभिनंदन किया।

भारतीजी ने इन दोनों प्रकरणों को बहुत सहज रूप से ग्रहण किया । पहले प्रकरण के कारण तो श्री महावीर अधिकारी जैसे कुछ मित्रों ने भोजन के समय भारती, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव की हूटिंग का रस लेकर बखान किया। भारतीजी हँसते रहे और व्यंग्यों को झेलते रहे। भीतर से वे कुछ आहत हुए होंगे, पर बाहर से उन्होंने कोई तीखी प्रतिक्रिया नहीं की । उनका यह संयम मुझे बहुत अच्छा लगा। 'अंधा युग' के मंचन के बाद भारतीजी रंगकर्मियों से मिलने गए और नाटक की सफलता का पूर्ण श्रेय उन्होंने कलाकारों एवं निर्देशक मोहन महर्षि को दिया। उसके बाद वे बच्चूप्रसाद सिंह, कन्हैयालाल नंदन, विष्णुकांत शास्त्री तथा दो-तीन मित्रों के साथ नील गगन के तले,

नागपुर की मीठी सर्दी में देर तक मुक्त मन से बतियाते, कहकहाते रहे। उनका यह वार्तालाप रसिक रूप कवि सम्मेलनवाली रात को भी उजागर हुआ । सच कहा जाए तो कवि सम्मेलन जम नहीं पाया; पर रात के सवा तीन बजे तक चलता रहा । जब कवि सम्मेलन को झेलना उन्हें भारी लगने लगा तो हम लोगों को लेकर वे बाहर निकल आए और फिर देर तक हँसते-बोलते, लतीफे सुनते-सुनाते रहे । सुप्रतिष्ठित सर्जक, साहित्यकार और संपादक के भारी भरकम लबादों से मुक्त उनका यह सहज जीवंत रूप सचमुच बहुत मोहक था ।

देर रात तक सर्दी में खुले में टहलने के कारण उन्हें ठंड लग गई और घर लौटकर वे कुछ अस्वस्थ हो गए । ३१ जनवरी, १९७५ के अपने पत्र में उन्होंने लिखा – 'नागपुर में गला खराब हो गया था । लौटकर भी तबीयत कुछ ढीली रही । वहाँ का खाना और व्यतिक्रम कुछ नुकसान कर गया; लेकिन मजा बहुत आया । मैं तो अपने जीवन में पहली बार किसी ऐसे सम्मेलन में गया, जहां हिंदी साहित्यकार, लेखक, प्रचारक वगैरह जुटे हों । हिंदी का संसार भी अद्‌भुत संसार है । उसका उद्धार होना संभव नहीं ।' मैंने उन्हें लिखा कि कवि सम्मेलन की रात को सवा तीन बजे तक खुले में घूमने के कारण ही आपकी तबीयत खराब हुई, तो २५ फरवरी, १९७५ के पत्र में उन्होंने इसका प्रतिवाद करते हुए लिखा— 'नहीं, कवि सम्मेलन की रातवाली घुमक्कड़ी ही तो एक असली उपलब्धि रही नागपुर सम्मेलन की, जिसका जिक्र हम लोग गंभीर टिप्पणियों में कर ही नहीं पाए। मेरी तबीयत खराब हुई वहाँ के भोजन से और सुबह सात बजे से आ धमकनेवाले प्रशंसकों एवं ऑटोग्राफ मँगतों के कारण एक क्षण को न मिलनेवाले विश्राम की कमी से। आप जानते हैं, मित्रों के साथ चौबीस घंटे घूमना मुझे तरोताजा रखता है—साहित्यिक भीड़ मुझे बिलकुल बरदाश्त नहीं होती।' यह सच है कि कवि सम्मेलन की रात को की गई मटरगश्ती की याद आज भी मन को पुलकित कर देती है। प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन उदात्तता और हास्यास्पदता के दो छोरों को बारी-बारी से छूता रहा, यह भी हम लोगों का साँझा अनुभव था।

२५ जून, १९७५ को इंदिराजी ने आपातकाल की घोषणा की। लोकतंत्र के ऊपर किया गया यह क्रूर आघात भारतीजी को असह्य लगा। यही अपेक्षित था। उन्हें इसका दृढ़ विश्वास था कि मैं भी इस स्वैराचार का प्रबल विरोध करूंगा। उन्होंने अपनी पीड़ा में मुझे शामिल करते हुए एक सर्वथा निजी पत्र लिखा। मैं पहली बार इस लेख के माध्यम से उस पत्र को सार्वजनिक बना रहा हूँ; क्योंकि इसके बिना उनके चरित्र के एक विशिष्ट पहलू को—विचार स्वातंत्र्य के प्रति उनकी निष्ठा को इतनी प्रामाणिकता के साथ उजागर नहीं किया जा सकता। उद्धृत है, अक्षरशः उनका वह पत्र—

भाई!

आज १५ दिन हुए जिस दिन से विचार-स्वातंत्र्य पर वज्रपात हुआ है, मैं किस मानसिक यातना से गुजर रहा हूँ, आप समझ सकते हैं।

जब यह आदेश आया, ६ जुलाई का अंक तैयार था। पर उसमें अनेक समस्याओं पर पक्ष-विपक्ष की दृष्टि से वस्तुनिष्ठ विवेचन था। जब बताया गया कि हम इसमें से बहुत कुछ नहीं छाप सकते–यानी सेंसर करवाने के पहले–घोर आत्ममंथन के बाद तय किया कि ६ जुलाई का अंक ही हम नहीं छापेंगे।

पर भयंकरतम यातना हुई यह देखकर कि दैनिकों (हिंदी, अंग्रेजी दोनों) के वरिष्ठ संपादकों को कोई क्षोभ नहीं था। केवल एक व्यक्ति इस यातना में मेरे साथ था--खुशवंतसिंहजी। उन्होंने भी ६ जुलाई का अंक इसी विरोध में नहीं छापा। लेकिन हिंदीवालों का घिनौना रूप यह था कि अक्षयकुमार जैन जाकर कई मंत्रियों से मेरी और खुशवंत की शिकायत कर आए और अभी कल उनका समाचार आया है कि सैंतालीस अन्य संपादकों के साथ जाकर उन्होंने प्री. सेंसरशिप लागू करने पर बधाई दी थी।

आज पंद्रह दिन हो गए, एक वक्त खाना खाता हूँ, वह भी हर कौर कड़वा लगता है। नींद नहीं आती। अपने जीवनकाल में हम यह देखेंगे, क्या कभी सोचा था ? सन् '४२ के विद्रोह से सन् '७१ के बाँगलादेश मुक्ति संग्राम तक क्या इतिहास इस बिंदु पर पहुँचा रहा था हमें ?

आप तो आस्तिक हैं। ईश्वर मुझे बहुत पहले भूल चुका और मैं उसे। पर अब आपके ही ईश्वर का भरोसा करूँ क्या? आपको तुलसी का वह दोहा कुछ ज्योति दिखाता हो तो मेरे हिस्से की भी ले लीजिए। मुझे तो भयावह अंधकार दिख रहा है।

सस्नेह,

भारती

पत्र लिखिए और घर के पते पर।

उन्हें इस बात की खुशी थी और थोड़ा गर्व भी कि उनका यह छोटा भाई बाँगलादेश मुक्ति संग्राम की ही तरह अपने देश के भी विचार स्वातंत्र्य संग्राम में उनके साथ था। न केवल कलकत्ते में बल्कि जयपुर और बंबई में आयोजित विचार गोष्ठियों में भी मैंने आपातकाल को देश के ऊपर थोप देने का विरोध किया था। बंबई जाने पर उनसे मिलना स्वाभाविक था। उन्होंने आपातकाल विरोधी अपनी कई कविताएँ मुझे सुनाईं। उनकी 'मुनादी' शीर्षक कविता भी काफी प्रसिद्ध हुई थी; पर मुझे उससे भी अधिक प्रभावित किया था उनकी 'पर्व' शीर्षक कविता ने। मैंने उनकी यह कविता उन दिनों कई निजी गोष्ठियों में सुनाई थी। यहाँ भी उसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। यह कविता शुरू होती है आपातकाल की घोषणा के

पहले चल रहे इंदिरा विरोधी आंदोलन की स्मृति से, जो आपातकाल के सरकारी आतंक के कारण करीब-करीब समर्पण में बदल चुका था—

'तरेरी हुई भौंहें, तने हुए सीने, कसी हुई मुट्ठियाँ कहाँ गईं ?
भीख माँगते हाथ, झुकी हुई आँखें,
खुशामदी अदा, कटी हुई पाँखें,
अदृश्य हथकड़ियों को कंगन की तरह खनकाते हुए
बेड़ियों को पैंजनी की तरह झनकाते हुए–
ये कौन ठुमुक-ठुमुककर नाच रहे हैं
ये कौन सिले हुए ओठों से अविराम अभिनंदन बाँच रहे हैं
ये कैसा अजीब त्योहार है मेरे मालिक
मैं इसमें कहाँ हूँ..... '

इस कविता का शीर्षक 'पर्व' विनोबाजी द्वारा आपातकाल को शुरू में 'अनुशासन पर्व' की संज्ञा दिए जाने पर करारा व्यंग्य है। इस 'पर्व' में देश की अपमानजनक समर्पणमूलक स्थिति की विडंबना का चित्रण करने के अनंतर कवि ने बाह्य असहाय-सी स्थिति के बावजूद समर्पण की माँग को ठुकराते हुए अपनी आंतरिक दृढ़ता का प्रमाण इस कविता के समापन की पंक्तियों में दिया है—

'तो/परवरदिगार/ये तुम्हारा बुजदिली का त्योहार/मुबारक हो तुम्हें,
मुझे अपने एकांत में लौट जाने दो
और जो झुके नहीं टूट गए, उनकी
पराजय का विजयगान मन-ही-मन गुनगुनाने दो।'

इसी वर्ष उन्हें और मुझे एक और कड़ी चोट लगी, बंगबंधु शेख मुजीब की क्रूर हत्या के कारण। कौन सोच सकता था कि पाकिस्तानियों के शिकंजे से छूट आनेवाले शेख मुजीब को उन्हीं के देशवासी पूरे परिवार के साथ कत्ल कर देंगे। कटे पर नमक छिड़कने के समान यह संवाद लगा कि मुजीब के चुने हुए उनके परम विश्वासभाजन उनके मंत्रिमंडल के सोलह वरिष्ठ सदस्य स्वार्थ या भय के कारण हत्यारों के साथ हाथ मिलाकर नया मंत्रिमंडल बनाने के लिए राजी हो गए। मानव के इसी रूप से क्या सभी मूल्य पाने की कल्पना मानववादी चिंतकों ने की थी? मुजीब यदि भ्रष्टाचारी थे तो उनके ये सोलह मंत्री क्या दूध के धोए थे? क्या ये ही लोग नया सोनार बाँगला बनाएँगे? मैंने एक भावावेशपूर्ण पत्र इस घटना को लेकर भारतीजी को लिखा था। उनका उत्तर उन्हींके अनुरूप था। उद्धृत कर रहा हूँ उसकी भी कुछ पंक्तियाँ—

प्रिय भाई,

बहुत पहले जब १५ अगस्त को आजादी मिली थी तब बी.बी.सी. के एक प्रतिनिधि ने गांधीजी से कलकत्ते में पूछा था कि आपको कैसा लग रहा है, तो उन्होंने कहा था– My heart has dried up. (मेरा हृदय सूख गया है।) उस समय यह अनुभव जाना नहीं था, अतः इस वाक्य की मार्मिकता समझ नहीं पाया था; लेकिन अब जानता हूँ कि हृदय सूख गया है और आँखें बस खुली हैं, लेकिन वे जो बिंब ग्रहण करती हैं वह कहीं हृदय के बंद दरवाजों से लौट आता है, उसे छूता भी है तो वह उकठे काठ जैसा हृदय जड़वत् पड़ा रहता है।'

हम लोग एक पिक्चर देखकर निकले थे (सपरिवार) और एक रेस्तराँ में खाना खा रहे थे, जब रेडियो पर मुजीब साहब की गिरफ्तारी का समाचार सुना। मृत्यु की खबर तो बाद में आई और पल भर में तेंतुलिया से लेकर अपने और आपके मुजीब साहब से मिलने के कितने दृश्य आँखों के आगे कौंध गए–और जब दूसरे दिन सुबह दफ्तर पहुँचा तो सेंसर का आदेश मिला कि इस घटना के समाचार के अलावा कोई Comment न छापा जाए। मन जैसे दुबारा मर गया.....इस विचित्र दौर में कितने लोग क्या-क्या रंग बदल रहे हैं, देखकर बस चुप रह जाना पड़ता है।'

हृदय सूखता है, सूखा हुआ हृदय फिर आवेग से भर उठता है और सर्जनारत हो जाता है; पर कितनी बड़ी कीमत चुकाकर, इसे जान पाना बहुत कठिन है।

१९७७ का वर्ष भारत के राजनीतिक इतिहास का निर्णायक वर्ष था। आपातकाल के अतिरेकों का बदला देश की साधारण जनता ने श्रीमती इंदिरा गांधी, संजय गांधी और उनकी कांग्रेस को चुनाव में परास्त करके लिया। एक बार फिर हम लोग साँझे अभियान में शामिल थे; पर अपने-अपने क्षेत्र और अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिका में। धर्मवीर भारती ने 'धर्मयुग' के माध्यम से इस परिवर्तन के लिए उपयुक्त भूमिका भी बनाई और इस परिवर्तन का जोरदार स्वागत भी किया। मैं पश्चिम बंगाल में जनता पार्टी की जीत के लिए खुलकर राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय हो गया था। दिलीप चक्रवर्ती और विजय सिंह नाहर की जीत में मेरा भी विनम्र योगदान था। जनता पार्टी स्पष्ट बहुमत से जीती। मोरारजी भाई के नेतृत्व में केन्द्र में पहली बार गैर-कांग्रेसी सरकार बनी। कुछ ही समय बाद गृहमंत्री चौ. चरण सिंहजी ने नौ राज्यों की कांग्रेसी सरकारों को बरखास्त कर राष्ट्रपति शासन के अंतर्गत उन राज्यों में पुनः चुनाव कराने की घोषणा कर दी। लोकसभा के चुनाव के समय किया गया मेरा राजनीतिक कार्य अनदेखा नहीं गया था। फलतः जब पश्चिम बंगाल की विधानसभा का चुनाव घोषित हुआ तो मेरे कृपालु मित्रों ने मुझे जनता पार्टी के प्रत्याशी के रूप में जबरदस्ती खड़ा

कर दिया। मैं कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापन कर्म को क्षतिग्रस्त कर सक्रिय राजनीति में आना नहीं चाहता था; पर मित्रों ने मेरी समस्त आपत्तियों को अनसुना कर अपना निर्णय मुझपर थोप दिया। मैंने अपनी पीड़ा और दुविधा एक पत्र में भारतीजी को लिख भेजी; किन्तु उन्होंने भी मेरे मित्रों का ही समर्थन किया। २५.५.१९७७ के अपने पत्र में उन्होंने लिखा—

परम प्रिय भाई,

मैं तो जम्मू के पते पर आपको पत्र लिखकर डाल चुका था कि आपका यह पत्र मिला। विमल लाठ यहाँ पहले खबर दे चुके थे कि आपको बड़ी कठिनाई से राजी किया गया, नामांकन के लिए।

शास्त्रीर जय, शास्त्रीर जय, होबे, होबे, होबे निश्चय!!!

हम सबकी अनेकानेक शुभकामनाएँ। बँगला बोलनी आती होती तो आपके चुनाव क्षेत्र में आकर आपके चुनाव अभियान में सम्मिलित होने की बहुत इच्छा थी–

सस्नेह,

भारती

पश्चिम बंगाल में वामपंथी पार्टियों के साथ जनता पार्टी का चुनावी तालमेल नहीं हो सका। जनता पार्टी के नेता प्रफुल्लचंद्र सेन और अशोक दत्त ने जब ज्योति बसु की पैंतालिस प्रतिशत सीटों की माँग भी ठुकरा दी तो हम लोगों को लगा कि गलती हो रही है; पर 'को कहि सके बड़ेन सों लखे बड़ीयो भूल'। और सब जगह जनता पार्टी जीती, किन्तु पश्चिम बंगाल में बुरी तरह हारी। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को स्पष्ट बहुतम मिला, किन्तु उसने चतुराईपूर्वक वामपंथी मोरचे की सरकार बनाई। जनता पार्टी को कुल उनतीस सीटें मिलीं। प्रभु कृपा से जनसाधारण का स्नेहाशीर्वाद मुझे मिला और मैं जीत गया। तुरंत भारतीजी का पत्र आया– 'अनेकानेक बधाइयाँ! कभी कलकत्ता के विधानसभा भवन में आपका भाषण सुनूँ, यह कामना है। अपने चुनाव संबंधी अनुभव डेढ़ हजार शब्दों में अपने चित्र सहित तुरंत भेज दें।' नए बने विधायक की यंत्रणा (यदि वह सचमुच जनता के संपर्क में रहता हो तो) दूसरों के लिए समझ पाना बहुत कठिन है। कहाँ विश्वविद्यालय का शांतिमय जीवन, कहाँ सुबह से रात तक काम कराने के लिए आनेवालों का अविच्छिन्न ताँता! इस भँवर में पड़कर उबरना बहुत मुश्किल है। मैं उन्हें चुनावी अनुभवों का विवरण तो नहीं भेज सका, कृतज्ञता-ज्ञापन का एक पत्र अवश्य भेज दिया। तुरंत भारतीजी का जवाब आया— 'इस समय की खुशी आपके सम्मिलित हुए बिना कैसे मनाई जा सकती थी। आपका पत्र आ गया

तो सम्मिलित होने का स्वाद मिल गया। अब पता नहीं इस समय आप ऋषिकेश में हैं, जम्मू में हैं या कुरुक्षेत्र रवाना हो गए हैं। कुछ अता-पता चले तो विस्तार में लिखूँ।'

अता-पता मुझे ही अपना नहीं चल रहा था तो उन्हें क्या लिखता ! विधानसभा का काम तो मुझे उतना कठिन नहीं लगता था जितना त्रास भोगना पड़ता था दर्शनार्थियों से। उससे अधिक वेदना होती थी पार्टी की भीतरी लड़ाई से। जनता पार्टी में संगठन कांग्रेस, भारतीय जनसंघ, समाजवादी पार्टी, लोकदल और सी.एफ.डी. का विलय हुआ था। कहने के लिए एक पार्टी बन गई थी, पर भीतर-भीतर प्रत्येक घटक अपने प्राधान्य के लिए प्रयासशील रहता था। मेरा संबंध जनसंघ घटक से था, जिसके कुल दो विधायक थे—हरिपद भारती और मैं। कड़ुआ अनुभव यही था कि वार्ड स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक घटकों की रस्साकशी चलती रहती थी। अंततोगत्वा पार्टी टूट गई, केंद्रीय सरकार का पतन हो गया। बहुत ही क्षोभ और पीड़ा के साथ भारतीजी ने २३.९.१९७९ के अपने पत्र में मुझे लिखा—

'जनता सरकार ने जो निकम्मापन दिखाया और जिस प्रकार से पार्टी टूटी उसने तो हम लोगों को कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रखा। समूचे हिंदी प्रदेश का ऐसा बिला शर्त संपूर्ण समर्थन कितनी बड़ी ऐतिहासिक उपलब्धि थी। अगर ये लोग चाहते तो एक हजार वर्षों से चला आता भारतीय समाज का पतनोन्मुख ढाँचा बदल सकते थे। लोग बड़े-से-बड़े परिवर्तन के लिए मनसा तैयार थे। पर इन्होंने बागडोर सौंपी मोरारजी को और उनके बाद चरण सिंह को, जिनके व्यक्तित्व में कहीं नाम मात्र को जनोन्मुखता या क्रांतिकारिता नहीं थी। और खुद कैसे भ्रष्टाचार की गोद में आसानी से चले गए—सबके सब। देश की जनता के साथ ऐसा क्रूर विश्वासघात तो श्रीमती गांधी ने भी नहीं किया। उन्होंने तो जो किया वह तब किया जब जनता उनके अनुकूल नहीं थी.....इन्होंने तब किया जब जनता ने इन्हें निश्छल विश्वास सौंपा हुआ था।'

इस पत्र का एक-एक शब्द उनकी वेदना को उजागर करता है। वैसे वे यह मानने लगे थे कि जनसंघ घटक का काम जनता पार्टी के अन्य घटकों की तुलना में अच्छा था। मैं ६ मार्च, १९७९ को उनके घर में देर तक इस मुद्दे पर उनके साथ बात करता रहा। अटलजी और आडवाणीजी मंत्री के रूप में अच्छा काम कर रहे हैं, इसे उन्होंने स्वीकारा था। उन दोनों के प्रति उनका सम्मान उत्तरोत्तर बढ़ता गया। विशेषतः अटलजी के साथ तो उनका संपर्क आत्मीयतापूर्ण हो गया था बाद में।

जब दोहरी सदस्यता के प्रश्न पर जनसंघियों को जनता पार्टी से हटाया गया तब भी उन्हें क्षोभ हुआ था। ६ अप्रैल, १९८० को भारतीय जनता पार्टी बनी। मैं ५-६ अप्रैल को दिल्ली में हुए उस कार्यकर्त्ता सम्मेलन में शामिल हुआ था, जिसमें भारतीय जनता पार्टी बनाने का फैसला किया गया। मेरा सौभाग्य कि मुझे भाजपा की राष्ट्रीय

कार्यकारिणी में सम्मिलित किया गया। भारतीजी को यह जानकर अच्छा लगा। पार्टी का पहला राष्ट्रीय अधिवेशन बंबई (मुंबई) में होने वाला था। उन्होंने ३०.११.१९८० के अपने पत्र में मुझे लिखा— 'सुना है, दिसंबर में भारतीय जनता पार्टी का अधिवेशन है। उसमें आएँगे या नहीं?' न आने का सवाल ही नहीं उठता था। बंबई में भाजपा का अधिवेशन बहुत धूमधाम से संपन्न हुआ। श्री मुहम्मद करीम छागला ने उस अधिवेशन को संबोधित करते हुए भावविह्वल शब्दों में कहा था कि भारत का भविष्य भाजपा के हाथों में सुरक्षित है।

मुझे यह देखकर अत्यंत सुखद आश्चर्य हुआ कि भारतीजी ने ३१ दिसंबर १९८० को अपने घर में मुसलिम बुद्धिजीवियों की एक बैठक रखी और उसमें अटलजी, आडवाणीजी को आमंत्रित किया। मैं तो घरवालों की तरह उसमें काम कर रहा था। राही मासूम रजा, जावेद आलम, अशरफ साहब आदि कई मुसलिम बुद्धिजीवियों ने खुलकर अटलजी, आडवाणीजी से भाजपा के कार्यक्रम के बारे में, अल्पसंख्यकों के प्रति उसके रवैए के बारे में बातचीत की और वे लोग काफी संतुष्ट हुए। मैं यहाँ यह जोड़ना चाहता हूँ कि भारतीजी के अभिन्न मित्र शशिभूषण वाजपेयी संघ के पुराने स्वयंसेवक रहे हैं और भारतीजी को भाजपा के निकट लाने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पुष्पाजी तो बाद में भाजपा की सदस्या ही बन गई थीं।

राजनीति न उन्हें, न मुझे पूरी तरह रास आती थी; किन्तु उससे तटस्थ न वे रह पाते थे, न मैं। मैं तो खैर सक्रिय राजनीति में आ ही गया था, पर फिर भी हम लोगों की चर्चा के केन्द्र में साहित्य ही रहता था, राजनीति नहीं। १९८३ में दिल्ली में तीसरा विश्व हिन्दी सम्मेलन हुआ। दूसरे विश्व हिन्दी सम्मेलन में मैं मॉरीशस नहीं जा पाया था। आपातकाल की मुझपर वक्र दृष्टि थी, अतः आमंत्रित होने पर भी मुझे वीसा नहीं दिया गया। तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में वे नहीं आए थे। मुझे भी जाकर सुख नहीं मिला था। एक तो उसमें घोर अव्यवस्था थी, दूसरे राजनेताओं की चाटुकारिता भी उसमें अत्यधिक थी। सम्मेलन के बाद मैंने 'धर्मयुग' को इस सम्मेलन के संबंध में एक विस्तृत पत्र लिखा। भारतीजी ने पत्र छाप दिया और १२ दिसम्बर, १९८३ के अपने पत्र में उस सम्मेलन के बारे में मुझे लिखा—

'विश्व हिंदी सम्मेलन के बारे में आपकी जो राय है, वही मेरी भी है । मेरा सिर्फ एक विचारऔर बनता है कि हम हिंदीवाले शायद इस प्रकार के आयोजन कर पाने की क्षमता ही नहीं रखते हैं। आप किसी को भी यह काम सौंपिए, घूम-फिरकर ये सभी बातें किसी-न-किसी रूप में उस आयोजन में आ ही जाएँगी । पता नहीं हम सब हिंदीवालों की विवेक-बुद्धि को क्या हो गया है! अब तो सम्मेलनों और विशद आयोजनों के बजाय चुपचाप अपनी जगह जो ठोस काम किया जा सकता है वही यदि

करने का अवसर मिल जाए तो यथेष्ट समझना चाहिए।'

भारतीजी की ये पंक्तियाँ मुझे कुछ पीड़ित कर गईं, क्योंकि भारतीजी परिमल के द्वारा आयोजित सम्मेलनों और विशद आयोजनों के माध्यम से ही उभरे और आगे बढ़े थे, प्रगतिवादियों से मोरचा ले सके थे। उनका उत्कृष्ट साहित्यिक प्रदेय भी द्वंद्व और संघात से गुजरकर ही निखरा था। तो क्या भारतीजी अब थकने लगे थे या उनकी मनोभूमिका पुनः किसी गंभीर सर्जना की ओर उन्मुख हो रही थी?

भारतीजी के साथ साहित्यिक चर्चा मैं बराबर करता रहता था, किंतु ३०.५.१९८७ को उनके घर में एक लंबी बैठक में कई महत्त्वपूर्ण बातें उभरीं । अतः उस बैठक के विशिष्ट मुद्दों को मैंने उसी दिन रात को लिपिबद्ध कर लिया था। भारतीजी नई कविता के प्रमुख उन्नायकों में से एक थे; किंतु बाद में उसकी गतिविधि से वे संतुष्ट नहीं थे। उनके मतानुसार, नई कविता की स्थापना का एक बड़ा कारण यह था कि अधिकांश नए कवि अच्छे आलोचक भी थे । अतः तर्क के बल पर उन्होंने नई कविता को प्रतिष्ठित कर दिया था। उसमें नएपन पर ही जोर ज्यादा था, कवितापन पर कम । फलतः नई कविता के बिंब विधान या कथन भंगिमा की नवीनता तो स्वीकृत हुई, किंतु उसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि उसकी लोकप्रियता कम हो गई । रस, छंद आदि से संबंध तोड़ लेना भी अंततः हानिकर सिद्ध हुआ। पहले भी इस विषय पर मेरी उनसे काफी बातचीत हुई थी। मैंने कहा था कि सच्ची कविता की सहज अनुभूति और चतुराई तथा शिल्पगत चमत्कार में बहुत अंतर होता है। मुझे सर्वेश्वर की कविता में सच्चाई अधिक लगती थी और श्रीकांत वर्मा तथा रघुवीर सहाय की कविताओं में चतुराई तथा शिल्पगत चमत्कार की अधिकता प्रतीत होती थी। भारतीजी चाहते थे कि मैं इस विषय पर विस्तार में लिखूँ। मैंने सर्वेश्वर की कविता पर एक लेख लिखा भी था और वह 'धर्मयुग' में प्रकाशित भी हुआ था, किंतु मैं तुलनात्मक लेख नहीं लिख पाया। बहुधंधीपन का अभिशाप मेरे लेखन को बार-बार झेलना पड़ा है।

उस दिन मैंने उनसे यह भी पूछा था कि अज्ञेयजी से आपके संबंधों में तनाव क्यों आ गया था? मैं अज्ञेयजी का भी स्नेहभाजन था उनके पिछले दिनों। अतः मैं जानता था कि अज्ञेयजी और भारतीजी के संबंध अब उतने मधुर नहीं रह गए हैं। इसकी मुझे तकलीफ थी । मैं चाहता था कि दोनों के बीच की गलतफहमी दूर हो। बाद में मुझे पता चला कि दोनों में बातचीत हो गई है और गुत्थी सुलझ गई है । मेरी जिज्ञासा का उत्तर भारतीजी ने विस्तार से दिया । इसे भारतीजी का पक्ष कहा जा सकता है। अज्ञेयजी से इस विषय पर मेरी बात नहीं हुई, अतः उनका पक्ष मुझे ज्ञात नहीं है। प्रस्तुत है संक्षेप में भारतीजी का पक्ष।

भारतीजी ने बताया कि 'एक हलकी-हलकी टकराहट तो परिमल के समय ही हुई थी, जब 'राज्य और साहित्यकार' विषय पर परिमल की तरफ से अखिल भारतीय

विचार गोष्ठी आयोजित की गई थी । अज्ञेयजी के साथ उस अधिवेशन में 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' की भारतीय शाखा के मंत्री श्री पाध्ये भी आए थे। पाध्येजी चाहते थे कि उक्त कांग्रेस की एक पुस्तिका समागत साहित्यकारों में वितरित की जाए। मैंने उनसे कहा, 'आप यदि बाँटना चाहें तो स्वयं उक्त पुस्तिका बाँटें, परिमल की ओर से वह पुस्तिका नहीं बँटेगी।' उसी आयोजन के अंत में अज्ञेयजी चाहते थे कि एक प्रस्ताव पारित कर सरकार से कुछ समितियाँ आदि बनाने की माँग की जाए। हम लोगों ने उनके इस आग्रह को भी नहीं स्वीकारा, क्योंकि पहले ही घोषणा कर दी गई थी कि इस आयोजन में केवल विचार-विमर्श होगा, कोई प्रस्ताव पारित नहीं किया जाएगा। अज्ञेयजी के इस आग्रह को सम्मेलन के अध्यक्ष ताराशंकर बंद्योपाध्याय बाबू भी स्वीकार करने की मुद्रा में नहीं थे । हो सकता है, इससे अज्ञेयजी को बुरा लगा हो।

'दूसरा प्रसंग' 'अंधा युग' की सफलता और 'उत्तर प्रियदर्शी' की विफलता से जुड़ा हुआ हो सकता है। सत्यदेव दुबे और अलकाजी, दोनों ने 'अंधा युग' को बहुत सफलता के साथ मंचित किया। दोनों मंचनों को अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त हुई । अज्ञेयजी चाहते थे कि उनके काव्य नाटक 'उत्तर प्रियदर्शी' को अलकाजी मंचित करें; पर उन्होंने उसे मंचन के लिए अनुपयुक्त ठहराकर लौटा दिया। बाद में उसका मंचन डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने किया, जो सचमुच असफल रहा। अज्ञेयजी इससे भी आहत हुए होंगे।

'तीसरा प्रसंग' 'धर्मयुग' की लोकप्रियता और स्तरीयता से संबद्ध है । अज्ञेयजी ने धर्मयुग की पत्रकारिता पर कुछ व्यंग्य किए थे, जिनके विरुद्ध एक टिप्पणी मैंने लिखी थी । 'दिनमान' में आते समय अज्ञेयजी ने दावा किया था कि वे उसे 'धर्मयुग' से बेहतर निकालेंगे। दुर्भाग्य से वह दावा पूरा नहीं हुआ। एक लेख के प्रकाशन को भी लेकर कुछ गलतफहमी हुई थी । मैंने वह लेख 'धर्मयुग' में नहीं छापा था, उन्होंने धर्मयुग पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी के साथ उस लेख को 'दिनमान' में प्रकाशित किया था। बेनेट कोलमैन के प्रबंधक इससे असंतुष्ट हुए थे । यह भी उन्हें अच्छा नहीं लगा था।

'धर्मयुग' में कभी-कभी विनोद के स्वर पर कुछ टिप्पणियाँ जैसे औरों पर निकलती थीं वैसे ही अज्ञेयजी पर भी निकली थीं। इसका भी शायद उन्होंने बुरा माना था।

'मैं बराबर सुनता रहता था कि अज्ञेयजी मुझपर नाराज हैं। डॉ. कर्ण सिंह, विद्यानिवास मिश्र, शंकरदयाल सिंह, चंद्रकांत बांदिवडेकर ने मुझे इस संबंध में समय-समय पर कहा था । इस बार जब मैं अस्वस्थ हुआ तो लंबे व्यवधान के बाद वे मुझे देखने आए। तब मैंने उनसे पूछा, 'आप मुझसे क्यों नाराज हैं?' उन्होंने कहा, 'मुझे अपमानित करने का कोई अवसर आप छोड़ते हैं क्या ?' इससे मुझे तकलीफ हुई ।

मैंने उनसे कहा, 'आप कोई ऐसा प्रकरण बताइए, जिसमें मैंने आपको अपमानित करना चाहा हो।' उन्होंने कोई प्रसंग तो नहीं बताया, पर कहा, 'यदि आप कहते हैं कि आपने मुझे कभी अपमानित नहीं करना चाहा तो मैं मान लेता हूँ।' मैंने आग्रहपूर्वक कहा, 'आप मेरी तरफ से आश्वस्त रहें। मैं आपका बराबर सम्मान करता रहा और करता रहूँगा।' इसपर वे खुश हुए । जाते समय पुष्पाजी से और चंद्रकांत बांदिवडेकर से भी कह गए कि अब भारतीजी से मुझे शिकायत नहीं रही। इस घटना के कुछ अरसे बाद ही उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु से पहले यह सफाई हो गई थी, यह सोचकर मुझे राहत मिली, नहीं तो बहुत कष्ट होता। मैं हृदय से उनका सम्मान करता रहा हूँ और अब भी करता हूँ । बीच में आई यह गलतफहमी सचमुच दुर्भाग्यजनक थी।'

१९८९ के लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरी। भारतीजी इससे प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने पत्र में भाजपा की शक्ति को स्वीकारते हुए इस उत्कर्ष के समय सजग रहने की आवश्यकता पर भी बल दिया था। उनके सुविचारित मत को उद्धृत कर रहा हूँ – 'भारतीय जनता पार्टी इस चुनाव के बाद जिस तरह शक्तिशाली बनकर उभरी है उसपर अधिकांश वामपंथी ही नहीं, मध्यमपंथी भी स्तंभित हैं। पर सफलता का यही क्षण बहुत नाजुक होता है; पर मुझे विश्वास है कि आप सबके सफल नेतृत्व में पार्टी को अधिकाधिक सफलता और सार्थकता मिलेगी।' इस पत्र के प्रत्येक शब्द से भाजपा के प्रति उनकी सद्भावना झलकती है।

१९९२ में मैं उत्तर प्रदेश विधानसभा से राज्यसभा के लिए निर्वाचित हुआ। भारतीजी सचमुच गद्गद हो गए अपने छोटे भाई की इस उपलब्धि से । अपने पत्र में उन्होंने लिखा – 'लाख-लाख बधाइयाँ! राज्यसभा में आपके जाने से कितने लोगों को कितना संतोष और सुख मिला है, उसकी आप कल्पना कर सकते हैं। मूल्यभ्रष्टता की राजनीति, संस्कृतिच्युत भाषा नीति और सर्वतोमुखी नैतिक ह्रास के वातावरण में आप सही बात सही ढंग से कह पाएँ और उसका सही असर हो, यही शुभकामना है।

'यह यात्रा का नया मोड़ है। हर मोड़ पर आप विजयी हुए हैं। इस मोड़ पर भी अवश्य अपनी आस्थाओं की विजय-छाप छोड़ेंगे। आपकी मूल्यनिष्ठा, संकल्प शक्ति, जन-मन को समझने की संवेदनशीलता दिनोंदिन निखरती जाए।' समसामयिक राजनीति की कुरूपता को तो उन्होंने इस पत्र में रेखांकित किया ही है, उन गुणों को भी संकेतित किया है, जिनके सहारे इस भ्रष्ट राजनीति का मुकाबला कर इसे बदला जा सकता है। उनके छोटे भाई में ये गुण विकसित हों, इसका आशीर्वाद भी उन्होंने सहज हृदय से दिया है।

तब तक मध्य प्रदेश में भाजपा की सरकार बन चुकी थी और मैं भारत भवन (भोपाल) का न्यासी नियुक्त हो चुका था। मैं भारत भवन में पहले आयोजित हुए 'अज्ञेय

प्रसंग' में आमंत्रित था, जिसमें उनके साहित्य के विविध पक्षों पर तीन दिनों तक अच्छी सुविचारित चर्चा हुई थी। मुझे यह प्रक्रिया अच्छी लगी थी। स्वभावतः मेरे मन में यह आया कि भारत भवन में 'भारती प्रसंग' का आयोजन किया जाए, जिसमें उनके कवि, नाटककार, कथाकार, आलोचक, पत्रकार आदि विविध रूपों पर विस्तृत विचार हो। भारत भवन के तत्कालीन निदेशक श्री दयाप्रकाश सिन्हा को यह विचार अच्छा लगा। पर मुझे आश्चर्य हुआ कि भारतीजी को यह बात पसंद नहीं आई। उन्होंने अपने २१.५.१९९२ के पत्र में लिखा—

प्रिय भाई,

आपका पत्र बहुत दिनों बाद मिला। अभी तुरंत आपको इसलिए लिख रहा हूँ कि भारत भवन द्वारा 'धर्मवीर भारती' प्रसंग की योजना आगे किसी वर्ष के लिए स्थगित कर दें। एक तो अक्तूबर से दिसंबर तक का समय अनिश्चित है मेरे कार्यक्रम की दृष्टि से, दूसरे एक और बात संकेत रूप में ही लिख रहा हूँ। पहले माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' पर समारोह होने चाहिए, जो मध्य प्रदेश के थे और अशोक वाजपेयी ने जिनको सर्वथा उपेक्षित किया। फिर पत्रकारिता में सप्रेजी से राजेंद्र माथुर तक की परंपरा है। शरद जोशी उपेक्षित चले गए। इनका परिहार होना अत्यावश्यक है। मेरा प्रसंग बिलकुल स्थगित कर दें। मेरी ओर से यह निश्चित मनाही है।

सदा आपका

भारती

मैं भारतीजी की भावनाओं का आदर करता रहा हूँ। मुझे यह भी ठीक लगा कि माखनलालजी चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि के प्रसंग भी आयोजित हों। शरद जोशी के बारे में भारतीजी ने अलग से भी एकाधिक पत्र मुझे लिखे थे और मैंने उनकी मृत्यु के बाद यथासंभव उनके लिए कुछ करने की चेष्टा भी की थी; किन्तु मैं इससे सहमत नहीं था कि भारती प्रसंग का आयोजन इन सबके बाद ही किया जाना चाहिए। मैंने उन्हें पत्र लिखकर आश्वस्त करना चाहा कि अन्य श्रेष्ठ साहित्यकारों के प्रसंग भी भारत भवन द्वारा आयोजित किए जाएँगे और यदि दिसम्बर तक उन्हें असुविधा हो तो 'भारती प्रसंग' जनवरी में आयोजित किया जा सकता है। उसे स्थगित करने पर वे जोर न दें और कृपापूर्वक स्वीकृति भेजें।

इस पत्र के उत्तर में उन्होंने मुझे सात पृष्ठों का लंबा पत्र लिखा, जिसमें 'भारती प्रसंग' को स्थगित करने के पक्ष में कई कारण तो दिए ही थे, अत्यंत आकुल अनुरोध भी किया था कि मैं इस प्रसंग को स्थगित करने का निर्णय लौटती डाक से उन्हें सूचित

करूँ। मुझे ज्ञात नहीं है कि किसी दूसरे शीर्षस्थ साहित्यकार ने अपने सम्मान के प्रकरण को स्थगित करने के लिए इतने बलपूर्वक ऐसे तर्क दिए हों। ९ अगस्त, १९९२ का यह पत्र कई दृष्टियों से बेजोड़ है। मैं इसके महत्त्वपूर्ण अंश उद्धृत कर रहा हूँ—

प्रिय भाई,

आपका पत्र पाकर मैं एकदम घबरा उठा हूँ। इस बीमारी के बाद से कुछ ऐसा हुआ कि साधारण चिंता भी तनाव पैदा कर देती है, फिर यह तो गहरी चिंता की बात है। कृपया भारत भवन द्वारा 'भारती प्रसंग' का विचार फिलहाल त्याग ही दें और लौटती डाक से मुझे लिखें कि इसे फिलहाल कैंसिल कर रहे हैं, ताकि मैं स्वस्थचित्त हो सकूँ।

'मैं जानता हूँ, इस आग्रह के पीछे आपका मेरे प्रति अगाध स्नेह और गहरा सम्मान है। आपकी इस भावना के प्रति नतमस्तक होकर भी मैं भारत भवन द्वारा 'भारती प्रसंग' के आयोजन को सर्वथा अनुचित मानता हूँ। इसके अनेक कारण विस्तार में पहले भी लिख चुका हूँ। संक्षेप में दो मुख्य कारण फिर लिख रहा हूँ–

'(१) मध्य प्रदेश के माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्रा कुमारी चौहान जैसों की स्मृति का भारत भवन के पूर्व निदेशक अशोक वाजपेयी द्वारा पूर्ण तिरस्कार किया गया है। ये व्यक्ति मध्य प्रदेश के ही नहीं, सारे भारतीय साहित्य के गौरव हैं। भारत भवन द्वारा पहले इसका परिहार होना चाहिए। इनके प्रसंग मनाए जाने चाहिए। उसके बाद वर्तमान गिरिजा कुमार माथुर, अंचल, नरेश मेहता को समुचित सम्मान मिलना चाहिए। यह सब न करके सबसे पहले 'भारती प्रसंग' आयोजित कर ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी जाएगी जिससे मैं स्वयं को अपराधी अनुभव करूँगा, वह भी अपने गुरु तथा पिता तुल्य दादा माखनलालजी आदि के प्रति।'

'(२) दूसरा कारण मैंने यह लिखा था कि केवल दो व्यक्ति थे, जिन्होंने अशोक वाजपेयी की अपसंस्कृति का खुलकर और लगातार विरोध किया था– शरद जोशी और धर्मवीर भारती। शरद रहे नहीं, लोग कहेंगे, अशोक वाजपेयी का विरोध धर्मवीर भारती इसलिए कर रहे थे कि वे भारत भवन से इस प्रकार के सम्मान आदि के इच्छुक थे–इसीलिए मध्य प्रदेश के इतने बड़े व्यक्तियों को भूलकर सबसे पहले अपना उत्सव मनवा रहे हैं।'

'ये दोनों कारण, जो मैंने पहले आपको बताए थे, वे आज भी अपनी जगह उतने ही संगत हैं और इसीलिए 'भारती प्रसंग' की मेरी अस्वीकृति भी अपनी जगह उतनी ही उचित और संगत है। यह मेरा अंतिम निर्णय है और आपको मानना ही होगा, इसकी प्रार्थना हाथ जोड़कर कर रहा हूँ।'

'मैं जानता हूँ कि आपके आग्रह के पीछे कितना प्यार और कितना सम्मान है। आप यह भी जानते हैं कि छोटे भाई और सहकर्मी मित्र के नाते आप मेरे मन में कहाँ, कितनी गहराई में बसे हैं–आपका आग्रह टालते हुए मुझे कितनी पीड़ा हो रही होगी। वही पीड़ा मेरा दंड समझ लें और मुझे मुक्त मन से क्षमा कर दें।'

इसके बाद चार पृष्ठों में अपनी अस्वस्थता, कुछ वैयक्तिक घटनाओं की चर्चा कर अंत में उन्होंने लिखा– 'पोस्टकार्ड इसलिए रख रहा हूँ कि तुरंत लिखें लौटती डाक से कि 'भारती प्रसंग' का विचार त्याग दिया है, ताकि मन पर से तनाव का बोझ हटे। मुझे बहुत घबराहट होने लगती है।

सदा आपका,
धर्मवीर भारती

इसके बाद मेरे लिए कोई विकल्प ही नहीं रह गया। मैंने दुःखी मन से मान लिया कि 'भारती प्रसंग' को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया जाए। इस निर्णय की सूचना जब भारतीजी को मिली तो उन्होंने २४.८.९२ के पत्र में संतोष प्रकट करते हुए लिखा— 'आपने अपनी प्रबल इच्छा के बावजूद 'भारती प्रसंग' न आयोजित करने का मेरा आग्रह मान लिया, मैं कितना आभारी हूँ। एक व्यर्थ के तनाव से मुक्ति दिलाकर आपने मुझे कितना सुख दिया है।'

यहाँ जोड़ना सिर्फ इतना ही चाहता हूँ कि सर्वथा प्राप्य सम्मान को एक बड़े आदर्श की रक्षा के लिए बलि चढ़ानेवाले इस आधुनिक साहित्यकार ने अपने इस त्याग की भनक तक किसी को नहीं लगने दी। मैं भी उनकी इच्छा की मर्यादा से बँधा था; किन्तु उनके चले जाने के बाद भी यदि मैं इस प्रसंग को उजागर न करता तो अपने को अपराधी अनुभव करता। भारतीजी के इस पूरे प्रसंग से यह सच्चाई प्रतिपादित होती है कि बड़ा काम करनेवाले के चरित्र में बड़प्पन अंतर्निहित होता है।

लंबे अंतराल के बाद भारतीजी की उत्तरवर्ती कविताओं का संकलन प्रकाशित होने जा रहा था, १९९४ के आरंभ में 'क्योंकि हे सपना अभी भी' शीर्षक से। मैंने उनकी यह कविता उनके मुँह से सुनी थी। अपनी डायरी में लिख ली थी। याद कर कई गोष्ठियों में सुनाई भी थी। मुझे यह कविता आधुनिक परिवेश और भारतीजी की तत्कालीन स्थिति, दोनों को मूर्त करनेवाली लगती है। भारत के पुनर्निमाण का ही नहीं, मानवीयता को उसकी पूर्णता में पुनः प्रतिष्ठित करने का जो सपना उन्हें जीवन भर संघर्षशील बनाए रख सका था वह इस घनघोर बदले हुए स्वार्थी और भ्रष्ट परिवेश में भी उनके ढहते हुए स्वास्थ्य के बावजूद उन्हें युद्धभूमि से हटने नहीं दे रहा था। कितनी मार्मिक आरंभिक पंक्तियाँ हैं इस कविता की—

क्योंकि है सपना अभी भी
इसलिए तलवार टूटी, अश्व घायल
कोहरे डूबी दिशाएँ,
कौन दुश्मन, कौन अपने लोग
सबकुछ धुंध-धूमिल
किन्तु कायम युद्ध का संकल्प है अपना अभी भी!
क्योंकि है सपना अभी भी!!

२ मार्च, १९९४ को भारतीजी दिल्ली आए, डोंगरी की प्रख्यात कवयित्री पद्मा सचदेव के यहाँ ठहरे। उन्होंने मुझे फोन कर कहा कि मैं उन्हें शाम को माननीय अटलजी के घर ले चलूँ। वे उन्हें 'सरप्राइज' (विस्मय) देना चाहते थे। भारतीजी की तबीयत ठीक नहीं चल रही थी। मुझे लगा कि यदि मैं उन्हें अटलजी के घर ले जाऊँ और अटलजी संसद् के या पार्टी के काम से उस समय कहीं चले गए हों तो भारतीजी को अकारण कष्ट होगा। अतः अच्छा होगा कि मैं अटलजी से फोन कर पूछ लूँ कि शाम को उनका कोई कार्यक्रम तो नहीं है। उन्होंने कहा, 'नहीं, कोई कार्यक्रम तो आज शाम को नहीं है; पर आप पूछ क्यों रहे हैं? तब मुझे बताना पड़ा कि भारतीजी उन्हें 'सरप्राइज' देने के लिए आना चाहते थे। अटलजी का कवि जागा। वे बोले, 'चलिए, हमीं लोग उनके घर जाकर उन्हें 'सरप्राइज' दें। मुझे बिलकुल लगा कि यह लोकसभा में प्रतिपक्ष का नेता नहीं बोल रहा है, एक कवि बोल रहा है, जो दूसरे कवि की भावनाओं का समादर करते हुए उसे गुदगुदाना चाहता है।

मैं जब अटलजी को साथ लेकर पद्मा के घर पहुँचा तो वहाँ आनंद का ज्वार आ गया। भारतीजी तो भावविभोर हो गए। उसी समय भारतीजी के नए काव्य संकलन 'क्योंकि है सपना अभी भी' की दस प्रतियाँ प्रकाशक के कार्यालय से आईं। भारतीजी ने पहली प्रति अटलजी को भेंट की और दूसरी मुझे। सरदार सुरेंद्र सिंहजी तो गृहपति ही थे। कन्हैयालाल नंदन पहले से ही वहाँ भारतीजी से मिलने आए हुए थे। थोड़ी ही देर में विद्यानिवासजी मिश्र भी आ गए। फिर तो अच्छी-खासी साहित्यिक गोष्ठी जम गई। पुष्पाजी और पद्मा तो हम लोगों के लिए जलपान की व्यवस्था में जुट गईं और हम सब लोग साहित्य-चर्चा करते रहे। सचमुच उस दिन बहुत आनंद आया। 'बतरस' किसे कहते हैं, इसका साक्षात् अनुभव हुआ। कई कविताएँ सुनाई गईं। कुछ मीठी बहस भी हुई। उठते समय सभी अपने को तरोताजा अनुभव कर रहे थे।

३० नवंबर, १९९५ को राष्ट्रपति संग्रहालय सभागार, नई दिल्ली में के. के. बिड़ला फाउंडेशन द्वारा धर्मवीर भारती और कुँवर नारायण को 'व्यास सम्मान' से सम्मानित किया गया। सौभाग्य से मैं उस समारोह में उपस्थित था। जहाँ तक मेरी

जानकारी है, भारतीजी के जीवन में वह अंतिम बड़ा समारोह था, जिसमें उन्होंने अपने साहित्यिक, सांस्कृतिक विश्वासों को शब्दबद्ध किया था। मुझे यह देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि जो वैष्णवता उनके साहित्य में अंतर्निहित थी, आधुनिकता के दबाव के कारण जिसे कभी-कभी नास्तिक विशेषण प्रदान किया जाता रहा, वह उस वक्तव्य में उभरकर अभिव्यक्त हुई—और पूर्णतः आस्तिकता के साथ। उन्होंने बताया कि उनका सपना था और है 'मानवीयता को मुक्त' कराने का। इसीके चलते वे आज भी सबकुछ धुंध-धूमिल हो जाने के बावजूद उस षड्यंत्र के विरुद्ध युद्धरत हैं जो मनुष्य के उदात्त अंतर्जीवन को ध्वस्त कर देना चाहता है। इस षड्यंत्र का पर्दाफाश करते हुए उन्होंने कहा था— 'आज अंधी लालसा की चूहादौड़, भौतिक समृद्धि को ही अंतिम ध्येय मान लेने का छद्म परितोष, इंद्रिय-सुख और अधिकार-सुख को ही सच्चे आंतरिक आनंद मान लेने का आत्मछल, मानवीय रिश्तों में पारस्परिक सद्भाव, स्नेह, करुणा और मैत्री के बजाय एक-दूसरे को पराभूत कर उनका शोषण करने की राक्षसी वृत्ति—कुल मिलाकर मनुष्य की सारी बाहरी और अंदरूनी जिन्दगी में मनुष्य को खत्म कर डालने का व्यापक षड्यंत्र।'

वे कविता के माध्यम से इसी षड्यंत्र के विरुद्ध लड़ रहे थे। उन्होंने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है इस वक्तव्य में कि इसकी प्रेरणा उन्हें महाभारत के रचयिता व्यास से मिली है, जिनके पास न कोई राजसिंहासन था, न सेना, न ब्रह्मास्त्र, न भंडार। फिर भी हजारों साल से वे प्रेरणा के स्रोत बने रहे हैं संपूर्ण मानव समाज के; क्योंकि उनकी अमोघ शक्ति थी उनकी 'काव्य-संवेदना, जीवन-दृष्टि और शब्द-शक्ति!' महाभारत ने, विशेषतः गीता ने पुराने इतिहास को ही नहीं, आधुनिक इतिहास को भी गंभीर रूप से प्रभावित किया है। उसने लोकमान्य तिलक, क्रांतिकारियों, महात्मा गांधी और विनोबा के माध्यम से 'देश की नियति बदल दी; सारे अफ्रीका और एशिया का इतिहास ही नहीं, भूगोल भी बदल दिया।' उन्होंने इस वक्तव्य में यह भी प्रतिपादित किया था— 'सच तो यह है कि यह देश जिसमें हम पैदा हुए— उसकी सीमाएँ राजवंशों ने नहीं बाँधीं, एक कवि ने ही बाँधी, जिसका नाम था—व्यास। .....अब अनजान क्षितिजों में खोते हुए इस देश का पुनर्निमाण, इसकी पुनः प्रतिष्ठा भी व्यास के उत्तराधिकारियों का दायित्व है।'

विनम्रतापूर्वक अपनी भूमिका और कामना को स्पष्ट करते हुए उन्होंने इस वक्तव्य में कहा था— "मैं तो बहुत छोटा हूँ; व्यास तो दूर महादेवी, पंत, प्रसाद और निराला के पाँवों की धूल भी नहीं। पर इतना जरूर है कि उनके ऋण को चुकाने के लिए जिस धरती ने जन्म दिया, जिस संस्कृति ने दृष्टि और संस्कार दिए, उनके प्रति पूर्ण समर्पण व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द ही हैं—कविता के शब्द। उन शब्दों का

खरापन बना रहे, वे अंतरात्मा के संकेतों पर संयोजित हों, कोई निंदा मुझे विचलित न करे, कोई सम्मान मुझमें मिथ्या अहंकार न जगाए; अंत तक सच की खोज करता रहूँ, पाए हुए सत् को आप तक सही-सही संप्रेषित करता रह सकूँ, इसीका आशीर्वाद ईश्वर से माँगता हूँ।'

इसके दो वर्षों बाद ही वे चले गए। क्या उन्हें इसका पूर्वाभास हो गया था ? क्या इसीलिए वे इस वक्तव्य के माध्यम से आनेवाली साहित्यिक पीढ़ियों के नाम अपना वसीयतनामा लिख गए? कौन जाने ! शोकार्त्त मन वीरेंद्र मिश्र के शब्दों में कहना चाहता है—

एक सपना सो गया है
सो गया है साथ उसके
एक युग, पूरा जमाना।

पर शायद यह सच नहीं है। सपना देखनेवाला सो गया है, सपना जाग रहा है और उनको प्रतीक्षा कर रहा है जो उसे सच बनाने के लिए व्यास का उत्तराधिकार ग्रहण करेंगे। ●

प्रखर मेधा, अडिग विश्वास : राम विलास शर्मा

तत्त्वबोध के प्रति गंभीर जिज्ञासा एवं निष्ठा, अपने मत पर दृढ़ विश्वास और छोटों के प्रति स्नेह — मेरी दृष्टि में डॉ. रामविलास शर्मा का यही सहज रूप है। उनका एक रूप और है "प्रतिवादी भयंकर" का, किन्तु उसका परिचय उन्हें ही मिलता है जो "लोकधर्म" के मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लंघन करते हैं, फिर वे चाहे किसी भी राजनीतिक दल या विचारधारा के अनुयायी क्यों न हों। मैं उनसे बहुत छोटा हूँ, सैद्धान्तिक दृष्टि से मैं उनके मत का विरोधी भी हूँ – वे मार्क्सवादी हैं और मैं सांस्कृतिक राष्ट्रवादी किन्तु फिर भी मुझे उनका स्नेह-समादर प्राप्त रहा है। इसका मूलभूत कारण यही है कि हमलोगों के मिलन बिन्दु भी अनेक हैं, तुलसी, निराला, रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य में अन्तर्निहित लोकधर्म पर आस्था जिनकी आधार शिला है। मेरा अनुभव यही है कि व्यापक सामान्य आधार लेकर चलने वालों में विचार भिन्नता के रहते हुए भी पर्याप्त मात्र में सद्भाव रहता है ।

डॉ. शर्मा के साहित्य से तो मेरा परिचय छात्र जीवन में ही हो गया था किन्तु उनसे साक्षात् परिचय जून १९५५ में हुआ । बंगीय हिन्दी परिषद में मैंने उनका व्याख्यान सुना । उनके आत्मविश्वासपूर्ण वक्तव्य, उनकी आँखों की चमक और अकृत्रिम मुस्कुराहट ने मुझे प्रभावित तो किया किन्तु उस बार मैं उनके निकट सम्पर्क में नहीं आ सका । उनसे निकटता हुई जून १९५९ में। वे १८५७ के स्वातंत्र्य युद्ध के संबंध में अनुसंधान करने के सिलसिले में कलकत्ते की नेशनल लाइब्रेरी का उपयोग करने के लिए आये हुए थे । वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में भी पधारे । उन्हीं दिनों आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर उनकी पुस्तक प्रकाशित हुई थी जिसमें उन्होंने शुक्लजी को वस्तुवादी अर्थात् भौतिकवादी सिद्ध करने की चेष्टा की थी । उस पुस्तक की इस स्थापना से मैं असहमत था । उनके व्याख्यान के बाद उनसे इस विषय को लेकर मेरी काफी बातचीत हुई । बातचीत के अंत में उन्होंने मुस्कुराकर कहा, "हमलोगों के मत भले न मिलते हों पर मैं इतना समझ गया हूँ कि आप यदि कुछ लिखेंगे तो वह हमारे

पत्र "समालोचक" के काम का होगा । आप शुक्ल जी और तुलसी के दार्शनिक पक्ष पर लिखिये।" उनके इस कथन ने मुझे जीत लिया। उस समय तक वे समर्थ आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे और मैंने अभी लिखना ठीक से शुरू भी नहीं किया था। उनकी यह शालीनता, छोटों को स्नेह-सम्मान देने की यह भावना मुझे असाधारण लगी। उनकी सज्जनता और सहृदयता का मैं कायल हो गया। मैंने उन्हें वचन दिया कि मैं शुक्लजी पर तो बाद में लिखूँगा, पहले आपकी शुक्लजी सम्बन्धी स्थापना पर लिखूँगा। वे बोले, "चलिये, वही सही, आप लिखना तो शुरू कीजिये।"

दूसरे दिन श्रद्धेय कल्याणमल जी लोढ़ा के घर शर्माजी के साथ मैं भी भोजन पर आमंत्रित था। भोजन के बाद हमलोग चाँदनी रात में लेक के किनारे सैर करने गये। थोड़ा घूमने के बाद हमलोग लेक के किनारे बैठ गये। काव्य चर्चा तो चल ही रही थी। मैंने उस मनोहर परिवेश में निराला, पन्त, बच्चन आदि की अनेकानेक कविताएँ सुनायीं। दोनों गुरुजन मुझपर प्रसन्न हो गये। शर्माजी बोले, "अरे आपको निरालाजी की इतनी कविताएँ याद हैं और उन्हें आप इतने अच्छे ढंग से सुनाते हैं। मैं आपके सात खून माफ कर सकता हूँ।"

शर्माजी नेशनल लाइब्रेरी में देर तक पढ़ते रहते थे । उन्होंने मुझसे कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से उनके विषय की कुछ पुस्तकें ला देने को कहा था। एक दो दिन बाद पुस्तकें लेकर उनसे मिलने मैं नेशनल लाइब्रेरी गया। वे साढ़े छह बजे तक पढ़ते रहे । फिर मुझे साथ लेकर पैदल ही गिरीशचन्द्र अस्थाना के घर गये। वहीं जलपान के साथ-साथ हमलोग गपशप करते रहे। मैंने उन्हें बताया कि श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र ने प्रसादजी पर कई अनुचित आक्षेप किये हैं, अपने नाटकों की भूमिकाओं में। उनके इस अन्याय का प्रतिवाद करने के लिए मैंने एक लेख लिखना शुरू किया था, पर वह अधूरा छूट गया । आप उस अधूरे लेख को सुनकर मुझे सुझाव दें कि मैं उसे पूरा करूँ या नहीं। वे बोले, "मैं सुनूँ या न सुनूँ, आपके चारित्रिक विकास के लिए यही उचित है कि आप अधूरे कार्य को पूरा कर दें।" फिर उन्होंने कहा भर्तृहरि का वह श्लोक तो आपने सुना ही होगा —

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहताः विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति ।।

(तुच्छ लोग विघ्नों के भय से कार्य शुरू ही नहीं करते। मध्यम कोटि के लोग विघ्नों से टकराने पर काम छोड़ देते हैं किन्तु उत्तम जन विघ्नों के द्वारा बार-बार क्षतविक्षत किये जाने पर भी काम शुरू करने पर पूरा करके ही दम लेते हैं।)

मैंने यह श्लोक पढ़ा भी था और मुझे यह याद भी था। बात मुझे चुभ गयी। दो दिनों में ही मैंने उस लेख को पूरा कर दिया। पहले मैंने वह लेख लोढ़ा जी को सुनाया। प्रसाद जी के प्रति उनकी श्रद्धा मुझ से भी अधिक थी। उन्होंने उस लेख का समर्थन किया, हाँ, एक दो व्यंग्योक्तियों को कुछ नरम करने का सुझाव भी दिया, जिसे मैंने तत्काल मान लिया।

दूसरे दिन मैंने वह लेख रामविलासजी को सुनाया। उन्होंने उसकी कई सच्चाइयों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। विचार करने पर लगा कि उनकी बात ठीक है। फिर उन्होंने कहा, "मिश्रजी आपसे उम्र में भी बड़े हैं और प्रतिष्ठा में भी। आप उनपर व्यंग्य करके अपने को और छोटा साबित करेंगे। आपकी मूल बातों में काफी दमखम है। अकारण व्यंग्य करने से क्या लाभ?" मेरी मूल प्रवृत्ति व्यंग्य करने की या बड़ों का असम्मान करने की नहीं है। प्रसाद जी पर किये गये अनुचित आक्षेपों के कारण मैं क्षुब्ध हो गया था। मैंने शर्माजी से कहा, "आपकी बात ठीक है, मैं पूरा लेख दुबारा लिखूँगा।" वे खुश हुए बोले, "संशोधित लेख 'समालोचक' में छपने के लिए भेज दीजियेगा।" "समालोचक" के सम्पादक शर्माजी ही थे। मैंने उसी दिन से उन्हें अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया। वैचारिक मतभेद तो बना रहा, यथास्थान लेखों में और व्याख्यानों में उनका प्रकाशन भी होता रहा किन्तु मैं अन्तःकरण से उन्हें अपना शुभांकाक्षी गुरुजन मानने लगा। उन्होंने उस लेख के संशोधित रूप को तो "समालोचक" में छापा ही, साथ ही जोरदार तगादा किया कि मैं आचार्य शुक्ल पर भी अपना लेख तुरन्त भेजूँ ।

अब मैं थोड़ी उलझन में पड़ गया। मैं उनकी पुस्तक की स्थापनाओं से असहमत था। शुक्लजी पर स्वतंत्र लेख लिखने के पहले मैं उनकी पुस्तक पर लिखना चाहता था। मैंने बड़े संयम से किन्तु दृढ़ता से अपने विचारों के अनुरूप लेख लिखा। उस लेख को भेजते समय मैंने उन्हें जो पत्र लिखा था, उसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ। "मुझे इस बात का खेद है कि इसमें आपके मत का खंडन करना पड़ा है किन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" की भावना के आप समर्थक हैं। शुद्ध विचार बुद्धि से लिखे इस लेख में अपनी तरफ से मैंने संयम बरता है, फिर भी यदि कहीं कोई न कही जाने लायक बात कह दी हो तो क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं नया लेखक हूँ, कच्चा लेखक हूँ, आपको पूरा अधिकार है कि अभिव्यंजना की कच्चाइयों को आप दुरुस्त कर दें। सीखने में मैं पश्चात्पद नहीं हूँ, इसका प्रमाण दे चुका हूँ।"

लौटती डाक से शर्माजी का दिनांक ७-११-५९ का उत्तर आया "आपका लेख मिल गया, धन्यवाद। दिसंबर अंक में जा रहा है। मेरे मत के खंडन पर खेद करना अनावश्यक है। मैं आपके विचारों को पहले ही जानता था और इस पर भी लेख भेजने

का आग्रह किया था । उसमें कोई संशोधन किये बिना ज्यों का त्यों प्रेस में दे रहा हूँ।" लेख अविकल्प रूप में छपा। रामविलासजी के प्रति मेरी श्रद्धा और बढ़ गयी। उसी पत्र में उन्होंने लिखा था, "आप अपना दूसरा लेख भी तैयार कर लें। ७ दिसम्बर तक मिला तो शायद 'समालोचक' में उसका उपयोग कर सकूँ, नहीं तो अन्यत्र भेज दीजियेगा।" मुझे यह समझ में नहीं आया कि 'समालोचक' बन्द हो रहा है या शर्माजी उससे दिसम्बर के बाद अलग हो रहे हैं । मैंने इस संबंध में जिज्ञासा तो की ही, नये लेखक के रूप में यह भी पूछा कि मेरे लेखों के बारे में उनकी क्या राय है, लेखन में मुझे किस-किस बात का ध्यान रखना चाहिए। मैंने ७-१२-५९ को उन्हें पत्र लिखा था, १२-१२-५९ को ही उत्तर देते हुए उन्होंने सूचित किया कि 'समालोचक' का प्रकाशन बन्द हो रहा है और अभी कोई दूसरा पत्र निकालने की योजना सामने नहीं है। मेरे लेखों के सम्बन्ध में स्नेहपूर्ण सम्मति देते हुए उन्होंने लिखा, "आपके लेख मुझे अच्छे लगते हैं। उद्धरणों का उपयोग विषय और तर्क पद्धति पर निर्भर है, इसके बारे में कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता कि उद्धरण हों ही या न हों । आपकी शैली आपके वक्तव्य को उपस्थित करने में पूर्ण समर्थ है। त्रुटियाँ हो सकती हैं तो वक्तव्य में, न कि शैली में। ये त्रुटियाँ विषय को सर्वांगीण रूप से न समझने के कारण होती हैं। हाँ, भाषा कुछ संस्कृतगर्भित अधिक होती है। शुक्लजी पर दूसरा लेख छपे तब सूचित करें, विलंब हो तो कोई बात नहीं। जल्दी में ऐसे लेख लिखने ही न चाहिये।" मैंने उनके निर्देश को शिरोधार्य करते हुए इसके बाद गंभीर लेख लिखते समय पूरी चेष्टा की कि विषय को अधिकाधिक कोणों से समझकर ही लेखनी उठाऊँ। मालूम नहीं, मेरे परवर्ती लेख शर्माजी की कसौटी पर कितने खरे उतरे किन्तु कई बार मेरे लेखों पर उन्होंने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। कुछ लेख उन्होंने मुझसे आग्रहपूर्वक लिखवाये भी। पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र और डॉ. रामविलास शर्मा से मैंने सचमुच बहुत कुछ सीखा है। इन तीनों विद्वानों को साहित्यिक क्षेत्र में मैं अपना गुरु मानता हूँ।

रामविलास जी मई १९६२ में पुनः कलकत्ता पधारे पश्चिम बंगाल युवसम्मेलन के आमंत्रण पर । वास्तव में वे निरालाजी की जीवनी पर उन दिनों काम कर रहे थे । कलकत्ते में निराला जी का आरंभिक साहित्यिक जीवन बीता था। पं. परमानन्द शर्मा तथा कुछ और निराला प्रेमियों से वे उनके जीवन के उस काल की प्रामाणिक सूचनाएँ भी प्राप्त करना चाहते थे और बंगाल की तत्कालीन साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों का अध्ययन भी करना चाहते थे। वे करीब १५ दिनों तक कलकत्ते रहे। मैं उनके अध्ययन-लेखन में बाधा दिये बिना उनसे मिलता-जुलता रहा । कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से तथा अन्य पुस्तकालयों से भी उनके काम में आने वाली पुस्तकें उन्हें पहुँचाता रहा। मैंने उन्हें निष्ठापूर्वक कार्य करते हुए

निकट से देखा है। वे बड़े गजब के पढ़ने वाले हैं । दिनभर किसी को पास फटकने नहीं देते थे, कोई फटक भी जाये तो उसे बोलने नहीं देते थे, कोई बोलता भी रहे तो खुद नहीं बोलते थे। कैसे ऐसे आदमी को समवनाशक कीटाणु गण छू पाते। शाम को अवश्य ही मजलिस जमती थी, वह भी नित्य नियम से नहीं । उनके साथ रहकर पढ़ने-लिखने की बहुत प्रेरणा मिली। मुझे वे बड़े सरल, स्पष्ट, दृढ़, परम्परा का उचित गौरव रखनेवाले, शीलवान विद्वान लगे । तुलसी के प्रति उनकी भक्ति को देखते हुए मुझे सचमुच आश्चर्य होता था कि वे कम्युनिस्ट कैसे बन गये। उनका बड़ा मन था महिषादल जाने का । वहाँ जाकर निराला के जन्म स्थान को, उनके बचपन के परिवेश को, उनके विद्यालय को देखने का, उनके सम्बन्ध में यथासंभव प्रामाणिक सूचनाओं के संग्रह का। लेकिन उस यात्रा में वे यह कार्य नहीं कर सके।

कलकत्ते के राम मन्दिर में हमलोग प्रतिवर्ष किसी बड़े विद्वान की अध्यक्षता में तुलसी जयन्ती मनाते हैं। मैंने शर्माजी से अनुरोध किया कि इस वर्ष अगस्त में वे पधारें तुलसी पर अपना सुचिन्तित व्याख्यान देने के लिए। उन्होंने मेरी प्रार्थना एक शर्त के साथ स्वीकार की कि तुलसी जयन्ती के बाद हमलोग महिषादल की यात्रा पर भी जायेंगे। जुलाई १९६२ में उन्होंने मुझे चार पत्र लिखे, महिषादल की यात्रा की तैयारी के बारे में। उन्होंने मुझे महिषादल के राजकुमार श्री देवप्रसाद गर्ग, श्रद्धेय लोढ़ा जी, श्री शिवनारायण शर्मा आदि से मिलकर इस यात्रा की पक्की व्यवस्था करने का निर्देश दिया। निराला जी एंट्रेंस की परीक्षा में बैठे थे या नहीं, बैठे थे तो उनके क्या-क्या विषय थे, जन्म तिथि उन्होंने क्या लिखवायी थी आदि आदि बातों की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करने को भी उन्होंने कहा था । सात अगस्त १९६२ को तुलसी जयन्ती पर बहुत अच्छा व्याख्यान रामविलास जी ने दिया। वे व्याख्यान लिखकर लाये थे । बाद में बंगीय हिन्दी परिषद से मेरे सम्पादन में "तुलसी : आधुनिक सन्दर्भ में" ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, उसमें वह लेख संकलित किया गया है। मार्क्सवादियों में तुलसी के प्रति इतनी आन्तरिक श्रद्धा मुझे और किसी में नहीं दिखी।

दुर्भाग्य से कुछ पारिवारिक असुविधाओं के कारण मैं उनके साथ महिषादल नहीं जा सका । उनके साथ लोढ़ाजी और शिवनारायण शर्माजी महिषादल गये थे । निराला सम्बन्धी प्रामाणिक जानकारी जितनी उन्हें वहाँ मिल सकी, उन सबका परिश्रम पूर्वक संकलन उन्होंने किया।

कई वर्षों की कठोर साधना के बाद उनके द्वारा लिखित 'निराला की साहित्य साधना' के प्रथम खंड के रूप में निराला का जीवन चरित १९६९ के आरंभ में प्रकाशित हुआ। जून के प्रथम सप्ताह में मैंने उसे आद्यन्त पढ़कर उन्हें पत्र लिखा, "पिछले अढ़ाई दिन आपकी लेखनी के साथ तन्मयतापूर्वक रहा हूँ, नहीं जानता किन

शब्दों में अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करूँ। सच, आपने निराला को मूर्त कर दिया है। आत्मीयतापूर्ण श्रद्धा के साथ कैसे तटस्थता बरती जा सकती है, इसे कोई सीखना चाहे तो आपके लिखे निराला के जीवन चरित से सीखे।" उसी पत्र में मैंने यह भी लिखा था कि कहीं-कहीं आपके द्वारा निकाले गये निष्कर्षों से मैं सहमत नहीं हूँ किन्तु उनका विशेष ध्यान आकर्षित किया था तथ्य सम्बन्धी दो त्रुटियों की ओर । बंगाल की शिक्षा प्रणाली में पहले पहली कक्षा को दसवीं कक्षा कहा जाता था और फिर क्रमशः नवीं, आठवीं, सातवीं....आदि के क्रम से आज कल जिसे दसवीं कक्षा कहा जाता है उसे पहली कक्षा कहा जाता था और उसे उत्तीर्ण करने को ही एंट्रेंस परीक्षा में उत्तीर्ण होना कहा जाता था । इस तथ्य की जानकारी न होने के कारण शर्माजी ने लिखा था कि निरालाजी को "आठवें से दसवें तक पहुँचने में छह साल लग गए ।" अर्थात् वे कई बार परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण हुए अर्थात् वे अच्छे विद्यार्थी नहीं थे । जबकि सच्चाई यह है कि आज की दृष्टि से वे तीसरी कक्षा में पढ़ते हुए थे और छह वर्षों में ही दसवीं कक्षा में पहुँच गये थे । इसका अर्थ यह था कि वे कभी परीक्षा में अनुत्तीर्ण तो हुए ही नहीं किसी परीक्षा में अच्छा परिणाम करने के कारण उन्हें "डबल प्रमोशन" मिला होगा । इसी तरह निरालाजी की एक बंगला कविता का अर्थ समझने में भी उनसे भूल हो गयी है, इस ओर भी मैंने उनका ध्यान आकर्षित किया था । मैंने यह भी लिखा था कि मैं इस ऐतिहासिक महत्ता के ग्रन्थ की विस्तृत आलोचना लिखने की बात सोच रहा हूँ।

तुरन्त उनका उत्तर आया, "आपका पत्र पाकर परम प्रसन्नता हुई । कलकत्ते में आपके साथ घूमना, गप लगाना याद आ गया।" 'समालोचक' नहीं है वर्ना उसी में आपका लेख छापता। जहाँ भी छपे, सूचित करें।

कृपया पता लगाकर यह सूचित कीजिये कि शिक्षापद्धति में उल्टी पद्धति कब खत्म हुई और सीधी गिनती कब चालू हुई।"

मैं यहाँ यह भी लिखना चाहता हूँ कि डॉ. शर्मा ने अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में मेरा उल्लेख करते हुए इन दोनों त्रुटियों को सुधार दिया । उनके सहज बड़प्पन का यह भी एक प्रमाण है।

१९७१ का पूरा वर्ष मैंने बांगला देश की मुक्ति के यज्ञ में स्वाहा कर दिया। कलकत्ता विश्वविद्यालय की तरफ से चटगाँव विश्वविद्यालय के विताड़ित कुलपति अजीजुर्रहमान मल्लिक के नेतृत्व में अध्यापकों का एक शिष्ट मंडल जून १९७१ में इलाहाबाद, अलीगढ़, दिल्ली, आगरा के विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों और विद्यार्थियों के मध्य बांगला देश के मुक्ति युद्ध के प्रति सहानुभूति जगाने के लिए भेजा गया था। मैं भी इस शिष्टमंडल का एक सदस्य था। आगरा जाने पर स्वाभाविक रूप से मैंने डॉ. शर्मा से सम्पर्क स्थापित किया। उन्होंने हमलोगों द्वारा आयोजित सभा को पूरा सहयोग

दिया । मेरे अनुरोध पर उन्होंने बाद में स्थानीय पत्रों में प्रकाशित सभा के विवरण की प्रतियाँ तो भेजीं ही, बांगला देश की समस्या के बारे में अपना संक्षिप्त मन्तव्य भी लिखा, जो इस प्रकार है, "बांगला देश की समस्या भारत के उस गतिरुद्ध साम्राज्य विरोधी आन्दोलन की समस्या है जिसकी धुरी किसानों की सामन्त विरोधी क्रान्ति है। इस क्रान्ति से कांग्रेसी नेता कतराये, विरोधी दल भी, पहले और आज भी। बांगला देश में सशक्त किसान आन्दोलन से यह समस्या हल होगी – ऐसा मेरा विश्वास है।"

इन सब सामाजिक-राजनीतिक प्रसंगों के बीच मेरे प्रति शर्माजी का स्नेहपूर्ण अन्तःकरण ढँका ही रह गया । उसका दर्शन मैं कर पाया १२-७-७१ के उनके पत्र में जिसमें उन्होंने लिखा था, "लिखित साहित्य के रस के समतुल्य है बतरस । आप बहुत थोड़ी देर के लिए मिले, हम बतरस के लिए तरसते रह गये खैर ।

आप में काम करने की बड़ी क्षमता है । योजना बनाकर मनोयोग से काम कीजिये, बहुत कर सकेंगे । मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ स्वीकार करें । आशीर्वाद देने का मैं अधिकारी नहीं ।"

यह पत्र पाकर मैं पुलकित हो गया। मुझे लगा कि उनके कलकत्ता आने पर जो लम्बी चर्चाएँ मैं उनसे करता रहा हूँ, वे उन्हें प्रीतिकर लगती रही हैं। मेरे प्रति उनकी ये शुभकामनाएँ यदि आशीर्वाद नहीं हैं तो मैं नहीं जानता, आशीर्वाद किसे कहते हैं।

रामविलास जी को लगा कि बांग्ला देश के विद्वानों के साथ मेरा अच्छा संबंध है अतः मुझे इसका साहित्यिक उपयोग करना चाहिए। १४-७-७१ के अपने पत्र में उन्होंने लिखा, "मैं चाहता हूँ कि आप एक विस्तृत निबन्ध इस विषय पर लिखें कि बांगला देश के विद्वानों ने संयुक्त बंगाल की भाषा और साहित्य के अध्ययन, प्रचार-प्रसार आदि के लिए क्या किया । वैष्णव कवियों से लेकर रवीन्द्रनाथ तक उन्होंने जो अध्ययन की पद्धति अपनाई, इसका विवरण हिन्दी पाठकों के लिए रोचक होगा।" तब तक वे कन्हैयालाल मुंशी हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ के कार्यकारी निदेशक बन चुके थे और मैं विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका "भारतीय साहित्य" के लिए निरन्तर लिखता रहूँ, ऐसी उनकी इच्छा थी।

मैं उन दिनों बंगाल की संस्कृति पर गंभीर अध्ययन कर रहा था। मैंने उन्हें लिखा कि मैं भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में बंगाल की संस्कृति के विकास पर तीन खंडों में एक लम्बा लेख लिखना चाह रहा हूँ। पहले खंड में बंगाल की प्राचीन एवं मध्यकालीन संस्कृति के विवेचन, दूसरे खंड में आधुनिक युग के आरंभ से लेकर स्वाधीनता की प्राप्ति तक के सांस्कृतिक विकास का निरूपण और तीसरे खंड में पश्चिम बंगाल और पूर्वी पाकिस्तान में रचित बंगला साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने की मेरी योजना है। पहला खंड मैं करीब-करीब पूरा कर चुका हूँ। वह आकार में

करीब ४० पृष्ठों का होगा । उसे शीघ्र पूरा कर अन्य दो खंडों पर काम करना शुरू करूँगा। डॉ. शर्मा ने २८-७-७१ के पत्र में लिखा, "बंगाल की संस्कृति पर आपने जो लेख लिखा है, वह हमारे लिए उपयोगी होगा। ४० पृष्ठ का है, इसमें भय की कोई बात नहीं।" उन्होंने उस लम्बे लेख को भारतीय साहित्य के वर्ष १४ के अंक १-२ में प्रकाशित किया। मेरा दुर्भाग्य कि बहुधंधीपन के कारण विस्तृत टिप्पणी लेने के बाद भी मैं इस लेख माला को आगे नहीं बढ़ा पाया।

इस बीच निराला साहित्य का उनका विस्तृत विवेचन "निराला की साहित्य साधना" के दूसरे खंड के रूप में प्रकाशित हुआ। मैंने बहुत मनोयोगपूर्वक उसका अध्ययन कर कुछ स्थलों पर मतभेद की बात कहते हुए उन्हें इस बड़े कार्य के लिए बधाइयाँ देते हुए पत्र लिखा। १६-४-७४ के पत्र में उन्होंने लिखा, "निराला वाली पुस्तक का दूसरा खंड पढ़ डाला – इस पर बधाई। बहुत कम लोग – मेरे मित्रों में – यह योग साध पाये हैं।"

१९७५ के पूर्वार्ध में मुझे "बांगला देश के सन्दर्भ में" शीर्षक पुस्तक के लिए उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का पुरस्कार मिला। संयोग से उसी समय मेरी पदोन्नति भी रीडर के रूप में हो गयी। डॉ. शर्मा ने इन उपलब्धियों के लिए बधाई देने के साथ-साथ अपनी यह स्नेहपूर्ण टिप्पणी भी जोड़ दी, "तुलसी वाली पुस्तक की प्रतीक्षा करूँगा।"

तुलसीदास को आधुनिक सन्दर्भ में प्रस्तुत करने वाले निबन्धों का संकलन कर मैं बंगीय हिन्दी परिषद से एक पुस्तक प्रकाशित करने की योजना पर कुछ महीनों से काम कर रहा था । शर्माजी का भी एक निबन्ध उस पुस्तक के लिए मैंने प्राप्त कर लिया था । उस पुस्तक के लिए मैं स्वयं एक लम्बा लेख लिख रहा था "आधुनिकता की चुनौती और तुलसीदास"। कई उलझनों के कारण मैं लेख पूरा नहीं कर पा रहा था, अतः पुस्तक भी अटकी हुई थी । शर्माजी के इस निर्णायक तगादे ने मेरे आलस्य को झकझोर दिया । लगन के साथ उस पर मैं जुट गया । लेख पूरा कर मैंने शर्माजी को उसकी सूचना दी । उन्होंने प्रसन्न होकर २-७-७५ के अपने पत्र में लिखा, "तुलसीदास वाले लेख के सफलतापूर्वक पूरे होने के लिए मेरी शुभकामनाएँ ।"

इसी पत्र में उन्होंने अपनी कार्य-योजना के सम्बन्ध में भी कुछ विस्तार से लिखा था। मैं उस अंश को इसलिए उद्धृत कर रहा हूँ कि यह बात उजागर हो कि शर्माजी कितनी व्यापक दृष्टि से अध्ययन-लेखन की योजना बनाते थे और कितनी तपस्या के साथ उसे क्रियान्वित करते थे "ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की एक लंबी योजना-तीन पुस्तकें लिखने की है :

(१) भारत के प्राचीन भाषा परिवार और इंडो यूरोपियन (ईरान और यूरूप की भाषाओं के निर्माण में भारतीय आर्य, द्रविड़ आदि परिवारों के योगदान का विवेचन)

(२) भारत के प्राचीन भाषा परिवार और द्रविड़ (आर्य, द्रविड़, नाग, कोल आदि भाषा परिवारों की परस्पर संबद्धता, उनकी भारतीयता, मध्य-पश्चिमी-दक्षिण पूर्वी एशिया में उनकी भूमिका का विवेचन)

(३) भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी (भारत की प्राग्वैदिक आर्य भाषाएँ, संस्कृत से इनका संबंध, इनसे हिन्दी-जनपदीय उपभाषाओं के संबंध का विवेचन)

'मति अतिनीच, ऊँच रुचि आछी' – वाली बात है। देखें क्या बन पाता है। प्राचीन भारत को जानने का यह मेरा दीर्घकालीन अति श्रमसाध्य प्रयास है।" इस तपस्या के कालखंड में ही वे रुग्ण पत्नी की तीमारदारी भी पूरी जिम्मेदारी के साथ कर रहे थे। फलतः उन्होंने बाहर जाना, किसी और विषय पर लिखना, बोलना एकदम बन्द कर दिया था।

निराला के पत्रों का संकलन वे पहले ही कर चुके थे । "निराला की साहित्य साधना" के तृतीय खंड के रूप में उसका मुद्रण इसी काल में चल रहा था। संयोग से अपने पिता पं. गांगेयनरोत्तम शास्त्री की एक पुरानी फाइल को देखते समय उसमें से मुझे पिता जी के नाम लिखा निराला जी का एक पत्र मिला। मैंने २५-६-७६ को लिखे अपने पत्र के साथ निरालाजी का उक्त पत्र शर्माजी को भेज दिया । २९-६-७६ को ही उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा, "२५/६ का पत्र और उसके साथ निरालाजी का पत्र देखकर परमानन्द प्राप्त हुआ । निराला जी का कोई भी पत्र होता, उसे देखकर चित्त प्रसन्न होता, यह पत्र तो अनोखा है – निरालाजी की आपके पिताजी के प्रति आत्मीयता का साक्षी । पत्र संग्रह वाला खंड काफी छप गया है। यथा स्थान न बन पड़ा तो इसे परिशिष्ट में दे दूँगा।"

उसी पत्र में उन्होंने अपनी तपस्या का संकेत देते हुए, लिखा था, "मैं नियमित रूप से भाषा विज्ञान छोड़कर और कुछ नहीं पढ़ पाता।"

निरालाजी के पत्रों का संकलन प्रकाशित हुआ। परिशिष्ट में मेरा स्नेहपूर्ण उल्लेख करते हुए उन्होंने पिताजी के नाम निरालाजी का पत्र छापा था । इस संकलन की उच्छ्वसित प्रशंसा करते हुए मैंने उन्हें २५-१०-७६ को पत्र लिखा। ३१-१०-७६ को उन्होंने उसके उत्तर में लिखा, "आपका पत्र पहला पत्र है जिसमें किसी ने तीसरे खंड के बारे में मुझे अपनी प्रतिक्रिया लिखी है। निराला के प्रेमियों को उनपर किया हुआ मेरा काम पसन्द आये, यह सदेह स्वर्ग जाने का सा सुख है।" मेरे प्रति उनके प्रेम के मूल में तुलसी, निराला, रामचन्द्र शुक्ल के प्रति मेरी श्रद्धा है, इसका मैं बार-बार अनुभव करता रहा हूँ।

'तुलसीदासः आधुनिक सन्दर्भ में' का प्रकाशन हो चुका था। मैंने 'हिन्दी

साहित्यकारों की दृष्टि में 'महाराणा प्रताप' शीर्षक एक लेख भी उन्हीं दिनों लिखा था। उस पुस्तक के साथ यह लेख मैं उन्हें पहले ही भेज चुका था। अपने इसी पत्र में उन्होंने उनके बारे में भी लिखा, "तुलसीदास वाली पुस्तक बढ़िया है, राणा प्रताप पर आपका लेख बढ़िया है। इसके बाद कुछ और कहने के लिए समय चाहिए, मुझे लंबा पत्र लिखना चाहिए। यह सब संभव नहीं है। भाषा वाली पुस्तक के अन्तिम चरण में हूँ। पत्नी का स्वास्थ्य डाँवाडोल रहता है। अपना काम जल्दी समाप्त करना चाहता हूँ। इससे स्थिति समझ लें।"

भाषा विज्ञान के ग्रन्थों को लिखने की योजना पाँच वर्षों से अधिक समय की एकनिष्ठ तपस्या से पूर्ण हो सकी। १३-१०-८० के अपने पत्र में उन्होंने मुझे लिखा, "भाषा विज्ञान वाला कार्य समाप्त हो गया। बहुत थक गया हूँ। कुछ दिन विश्राम करूँगा। फिर अंग्रेजी राज में भारत के आर्थिक, राजनीतिक विकास की समस्याओं पर कुछ लिखने के लिए सामग्री जुटाना आरंभ करूँगा।"

इन पंक्तियों को लिखते समय मुझे अपने दीक्षा गुरू स्वामी अखंडानन्द सरस्वती का एक कथन याद आ रहा है, "एक काम करते करते थक जाओ तो दूसरा शुरू कर दो।" "रामकाज कीन्हें बिनु मोहिं कहां विश्राम" तथा "श्रम-विश्राम क्षितिज-बेला से, जहाँ सृजन करते मेला से" का व्यावहारिक उदाहरण है डॉ. रामविलास शर्मा का उपर्युक्त कथन। आज कितने विद्वान इस निष्ठा से अपना कार्य कर रहे हैं?

१९८३ के मध्य तक मैं प्रोफेसर हो गया। मैंने उन्हें इसकी सूचना दी तो २६-७-८३ के पत्र में उन्होंने लिखा, "प्रोफेसर हो गये। बहुत अच्छा हुआ, बधाई। किन्तु लिखाई पढ़ाई ? पहले से कम ही समय मिलेगा। अस्तु। आप मूलतः लेखक हैं। आपका अधिक से अधिक समय लेखनकार्य में बीते, मेरी मंगलकामना है।" मैं १९७७ से सक्रिय राजनीति में प्रविष्ट हो गया था। उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी थी। उनका कहना था कि राजनीतिक विचार के अनुसार लिखना-पढ़ना-बोलना अलग बात है और सक्रिय राजनीति करना अलग बात है। उनकी धारणा थी कि राजनीति में और लोग भी जुट जायेंगे पर जो गंभीर अध्ययन लेखन कर सकते हैं, उनकी संख्या विरल है। मालूम नहीं क्यों उनके मन में यह विश्वास बद्ध-मूल हो गया था कि मैं अच्छा लिख सकता हूँ और लेखन कार्य के प्रति समर्पित न होकर अन्याय कर रहा हूँ। अतः वे मुझे याद दिलाते रहते थे कि मैं मूलतः लेखक हूँ। सच, जो थोड़ा बहुत लिख पाया हूँ वह ऐसे ही गुरुजनों और कुछ मित्रों के अनुल्लंघनीय आदेश/अनुरोध से ही लिख पाया हूँ।

१९८६ में डॉ. नामवर सिंह ने आलोचना में रामविलासजी के खिलाफ तीन चार लेख छापे। मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने नामवरजी से इसका कारण पूछा। उन्होंने बताया कि रामविलासजी ने 'लोक जागरण और हिन्दी साहित्य' की भूमिका में आ.

हजारी प्रसाद द्विवेदी और मुझपर अनुचित आक्षेप किये हैं, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य में बहुत सी तथ्य विरुद्ध बातें लिखी हैं अतः खंडन करना आवश्यक है । मुझे यह बात जरा अटपटी सी लगी पर मैंने इसको तूल नहीं दिया।

२१ सितंबर १९८६ को बांदा में कविवर केदारनाथ अग्रवाल का अभिनन्दन था। केदारजी की कुछ कविताएँ मुझे प्रीतिकर लगती थीं । उनसे मेरा पत्राचार भी था। अतः मेरी सहज इच्छा हुई कि मैं कवि के अभिनंदन में सम्मिलित होऊँ । मुझे वहां देखकर कुछ मार्क्सवादी मित्र अचकचाये किन्तु केदारजी बहुत प्रसन्न हुए । डॉ. रामविलास शर्मा बड़ी आत्मीयता से मिले । बातचीत छिड़ी तो उन्होंने कहा "आलोचना के नये अंक के कई लेखों में मुझपर आक्रमण किया गया है। यह अच्छा ही है। इनका उत्तर देकर क्या होगा। इन लेखों के कारण मेरी पुस्तक मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य की बिक्री बढ़ जायेगी । इससे तो मुझे लाभ ही होगा।"

रामविलासजी बहुत प्रसन्न मुद्रा में देर तक मुझसे बातें करते रहे । मुझे यह देखकर विस्मयजनक आनन्द हुआ कि रामविलासजी मार्क्सवाद की व्याख्या में स्वतंत्र बुद्धि से काम लेते हैं, पिछलगुआ की तरह अंग्रेज या रूसी विचारकों की हाँ में हाँ नहीं मिलाते। उन्होंने बड़े आत्मविश्वास से कहा, "मार्क्स की गलत व्याख्या कर यूरोपीय मार्क्सवादियों ने यही प्रतिपादित किया था कि भारत ग्रामीण देश है, अतः पूँजीवाद की रचनात्मक भूमिका अंग्रेजी राज के कारण भारत में विकसित हुई । यह मत भ्रान्त है। अंग्रेजों के आने के पहले भारत में पूँजीवाद विकसित हो चुका था। यहाँ से यूरोप को सूती वस्त्र भेजे जाते थे। उसके लिए बड़े-बड़े उत्पादन केन्द्र थे, मंडियाँ थीं । अंग्रेजों ने उन्हें नष्ट कर भारत को ग्रामीण समाज की स्थिति में ढकेल दिया । मैंने अपनी पुस्तक मार्क्सवाद और भारत में अंग्रेजी राज में सप्रमाण यह बात प्रतिपादित की है।"

इसी तरह पश्चिमी बौद्धिकों ने एक कल्पित भाषा को यूरोपीय भारतीय आर्यभाषाओं के मूल के रूप में घोषित किया है। इसका खंडन करने के लिए मैंने भारतीय भाषाओं पर अपनी पुस्तक लिखी । आजकल मैं भारतीय दर्शन के विकास पर काम कर रहा हूँ। पश्चिमी बौद्धिक मानते हैं कि भारत का दर्शन कर्मतत्त्व पर ज्यादा आधारित है, बुद्धि, युक्ति पर कम। उनकी यह धारणा भी गलत है।"

मुझे यह देखकर बहुत प्रेरणा मिली कि रामविलास जी की योद्धामूर्त्ति अब भी बरकरार है और अब वे भारत के विरुद्ध किये गये पश्चिमी बौद्धिकों के अप-प्रचारों का खंडन करने पर जुटे हुए हैं ।

केदारजी की वन्दना के स्वरों में अपना स्वर मिलाते हुए मैंने कहा कि केदारजी की बहुत सी कविताओं में ईमानदारी के साथ मानवीयता की प्रतिष्ठा का आग्रह, झलकता है अतः वे मुझे प्रिय लगती हैं। मैंने उनकी कई कविताएँ सुनाकर अपनी

स्थापना को पुष्ट किया। मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई कि श्रोताओं को और स्वयं केदारजी को मेरा वक्तव्य अच्छा लगा । रामविलासजी ने मेरी पीठ थपथपाकर कहा, 'तुम आये और अच्छा बोले, इससे मैं खुश हूँ।'

जनवरी १९८७ में सरदार पटेल विश्वविद्यालय, आनन्द की गोष्ठी में मुझे यह देख कर सचमुच आश्चर्य हुआ कि नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र, रमेश कुन्तल मेघ जैसे मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा की इस स्थापना के खंडन पर एकमत हैं कि १८५७ के स्वातंत्र्य युद्ध का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा था और उसी समय से हिन्दी साहित्य में नवजागरण का आरंभ मानना चाहिए। मुझे रामविलास जी की स्थापना सही लगती थी अतः मैंने उस गोष्ठी में जमकर उनका समर्थन किया । बाद में नामवरजी ने आलोचना (७९) के अग्रलेख में रामविलासजी की स्थापना का खंडन किया। मुझे लगा कि मुझे इसका प्रतिवाद करना चाहिए। मैंने एक लम्बा लेख लिखकर रामविलास जी की इस स्थापना का प्रमाणपुष्ट समर्थन किया कि १८५७ का प्रभाव निश्चय ही हिन्दी नवजागरण पर पड़ा है। हिन्दी साहित्य की इस विशेषता से यह स्पष्ट है कि नवजागरण के क्षेत्र में उसे बंगला साहित्य में आये नवजागरण का केवल अनुकर्त्ता बताना गलत है। मेरा लेख धर्मयुग के १० से १७ मई १९८७ के अंकों में प्रकाशित हुआ। संयोग से जुलाई १९८७ में मैं दिल्ली गया। डॉ. रामविलास शर्मा से मिलने मैं उनके घर विकासपुरी पहुँचा ।

मुझे लगा कि रामविलास जी कुछ दुबले हो गये हैं, उम्र की छाप भी झलकने लगी है किन्तु गंभीर अध्ययन के प्रति उनके आग्रह में रंचमात्र भी कमी नहीं आयी है। वे उन दिनों ऋग्वेद के अध्ययन पर जुटे हुए थे। उनकी अभीप्सा थी भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की । लोकायत दर्शन और वेदान्त दोनों के प्रति उनकी गहरी जिज्ञासा थी। उनकी दृष्टि में भारतीय दर्शन यूनानी दर्शन से कहीं श्रेष्ठ था। वे यह भी प्रतिपादित करने के लिए ग्रन्थ लिखना चाहते थे कि आर्य भारत के मूल निवासी थे, बाहर से नहीं आये थे। वे कतिपय मार्क्सवादियों की इस स्थापना को भी नकारते थे कि तुर्कों ने भारत में अखिल भारतीय बाजार का विकास किया था। उनकी मान्यता थी कि तुर्क तो जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने कहर ढाहा। यह तो भारतीयों की प्रतिभा थी कि तुर्कों के विध्वंस को झेलकर भी उन्होंने उद्योग व्यापार का विकास किया।

बातचीत की रौ में १८५७ सम्बन्धी मेरे लेख की बात भी उठी । वे मुस्कुरा कर बोले, अच्छा लिखा है। पर इसकी ज्यादा चर्चा नहीं की। इतना उन्होंने जरूर कहा कि उनके निर्देशन में श्री भगवान दास माहौर ने '१८५७ का स्वातंत्र्य संग्राम और हिन्दी नवजागरण' पर शोध किया है। उसके प्रकाशन पर बहुत सी बातें साफ हो जायेंगी।

फिर बातचीत अमृतलाल नागर की ओर मुड़ गयी । उनकी कई विशेषताओं का निर्देश उन्होंने किया। नागरजी की एक बड़ी विशेषता उन्होंने यह बतायी कि वे गैर मानक हिन्दी बोलियों को जाति और पेशे के आधार पर पात्रों के संवादों में उतार लेने में बेजोड़ थे। उनके पात्र अत्यन्त सजीव और प्रामाणिक हैं, हिन्दू और मुसलमान दोनों। बहुत कम हिन्दू लेखकों को मुसलमानों की बोलचाल, मानसिकता को सही सही झलकाने में सफलता मिली है। नगरांचलों को मूर्त्त कर देना उन्हीं का काम है। इसी तरह तथाकथित पिछड़ी जातियों को जैसी सहानुभूति उन्होंने दी है, वह भी अपूर्व है। पतिता मानी जाने वाली महिलाओं के प्रति भी उन्होंने पूरी सहृदयता बरती है, आदि, आदि।

उपनिषद् में स्वाध्याय और प्रवचन को सबसे बड़ा तप कहा गया है। रामविलास जी के इस धारा प्रवाह प्रवचन को सुनते समय मैं उसके पीछे के प्रगाढ़ स्वाध्याय का अनुमान कर रहा था, सच, उनके पास बैठकर मुझे पवित्रता का अनुभव हुआ। पश्चात्ताप भी हुआ कि मैं पढ़ने-पढ़ाने के पवित्र क्षेत्र के प्रति अपना पूरा कर्तव्य नहीं निभा पा रहा हूँ। उन्होंने लिखने के लिए अधिक समय देने के लिए बार-बार मुझसे आग्रह किया। वे जानते हैं कि मैं जो लिखूँगा वह मार्क्सवादियों के प्रतिकूल होगा लेकिन इसकी उन्हें रत्ती भर चिन्ता नहीं थी। उनका अभीष्ट यही था कि मैं गंभीर विचारपूर्ण लेखन के लिए पूरा या अधिक से अधिक समय दूँ। अपनी दूसरी जिम्मेदारियों के कारण मैं हामी नहीं भर पाया। मन ही मन यह जरूर तै किया कि व्यापक टिप्पण लेता रहूँगा और कभी अनुकूल समय आने पर उनका उपयोग करूँगा। मुझे इस बात की खुशी भी हुई कि अब रामविलासजी मुझे आप की जगह तुम कहने लगे हैं।

इसके बाद मुझे उनकी दो, तीन चिट्ठियाँ मिलीं जिनमें उनके विषय के संबद्ध और कलकत्ते से प्रकाशित ग्रंथों के नाम लिखे होते थे और यह संकेत रहता था कि उन्हें प्राप्त कर मैं उनके पास भेज दूँ। कुछ पुस्तकें अलभ्य थीं कुछ मिलीं। रामविलास जी बराबर इसका ध्यान रखते थे कि पुस्तकों के दाम मुझे न देने पड़ें। यह दृढ़ता भी उनके चरित्र के अनुकूल ही थी।

१९८८ की मई में मेरी पत्नी का देहान्त हो गया। ८-६-८८ के पत्र में रामविलासजी ने लिखा, "यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि तुम्हारी पत्नी नहीं रहीं। घटना एक दिन की है, यह वियोग सदा के लिए है। अपनी मृत्यु उतनी भयावह नहीं होती, जितनी प्रियजन की। जीवन की स्वीकृति का अर्थ है, मृत्यु की स्वीकृति। जो पीछे रह गये हैं, उनमें तुम्हारी पत्नी जियें, उन्हें कर्मपथ पर प्रेरित करें।" क्रूर यथार्थ की भयावहता की स्वीकृति के साथ-साथ उससे ऊपर उठने की दिशा दिखायी थी रामविलासजी ने इस पत्र के माध्यम से। जो पीछे रह गये हैं वे दिवंगता की स्मृति के पाथेय के बल पर कर्मपथ पर अग्रसर हो रहे हैं।

१९८९ की मई में मित्रों ने कलकत्ते में मेरी षष्टिपूर्ति का उत्सव मनाया । उसके लिए रामविलास जी का सन्देश आया, "मैं श्री विष्णुकान्त शास्त्री की षष्ठिपूर्ति के अवसर पर उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूं और आशा करता हूं वह शेष जीवन में सारा समय साहित्य को देकर अपनी रचनात्मक क्षमता को पूर्णतः विकसित होने का अवसर देंगे।" स्पष्ट है कि रामविलास जी की दृष्टि में मैं राजनीति में समय लगाकर अपनी रचनात्मक क्षमता को कुंठित कर रहा हूं । उन्हें यह भी लगता है कि मेरी संभावनाएँ अभी निःशेष नहीं हुई है, अतः "तदपि कही गुरु बारहिं बारा" की परिपाटी के अनुसार वे मुझे चिताते रहते हैं। मैं भी "समुझि परी कछु मति अनुसारा" के अभिधार्थ के अनुसार अपनी मति मन्दता का प्रमाण देते हुए "सारा" के स्थान पर जितना भी संभव हो पाता है उतना समय लगाकर बीच बीच में साहित्य देवता की आरती उतारता रहता हूँ।

१९९२ में डॉ. रामविलास शर्मा ने उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से प्राप्त सम्मान की एक लाख रुपये की राशि साक्षरता प्रसार के लिए अर्पित कर दी। के.के. बिड़ला फाउंडेशन के व्यास सम्मान की निधि भी सार्वजनिक सेवा के लिए समर्पित कर दी। सरस्वती के इस साधक सपूत को लक्ष्मी मोह नहीं पायी। तुलसीदास कह गये हैं, "जो कछु कहिय, करिय भवसागर तरिय वत्स पद जैसे" अर्थात् जो कहें, वही करें तो भवसागर को गाय के बछड़े के खुर के गढ्ढे के समान आसानी से लांघ सकते हैं। कितनी कठिन है कथनी और करनी की एकता। रामविलास जी उन विरले तुलसी भक्तों में से एक हैं जिन्होंने तुलसी की इस उक्ति को जीवन में चरितार्थ करके दिखा दिया है।

अगस्त १९९२ में उनका प्रोस्टेट का सफल ऑपरेशन हुआ। स्वस्थ होते ही वे फिर अपने लेखन धर्म पर जुट गये । निराला जन्मशती के अवसर पर हमलोग श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, की ओर से कई बड़े आयोजन करने वाले थे, निराला साहित्य के पुनर्मूल्यांकन के लिए एक प्रामाणिक ग्रन्थ निकालने की योजना बना रहे थे। इस सम्बन्ध में हमलोग डॉ. शर्मा को कलकत्ता भी बुलाना चाहते थे। इन सब मुद्दों पर विचार करने के लिए और उन्हें कलकत्ता आने का निमंत्रण देने के लिए १२ सितम्बर १९९६ को मैं रामविलास जी से दिल्ली में उनके घर जाकर मिला। वे बहुत प्रेम से मिले, हमलोगों के आयोजनों की सूचना से बहुत प्रसन्न हुए। कई अच्छे सुझाव भी उन्होंने दिये पर कलकत्ता आने के लिए वे राजी नहीं हुए। उन्होंने कहा "मैंने सभा समितियों में जाना छोड़ दिया है। यदि तुम्हारे कार्यक्रम में कलकत्ता चला गया तो दिल्ली वालों को कैसे ना करूंगा। तुमलोग अच्छा काम कर रहे हो। मेरी शुभकामनाएँ तुम्हारे साथ हैं। तुम्हारे ग्रंथ के लिए मैं अपना एक नया लेख दूँगा पर कलकत्ता नहीं आऊँगा।" मैंने उनकी इस कृपा का हृदय से आभार माना।

उन्होंने यथासमय "निराला के साहित्य में जातीय चेतना" शीर्षक अपना सुचिन्तित निबन्ध भेजा जो "महाप्राण निराला: पुनर्मूल्यांकन" में पहले निबन्ध के रूप में सादर संगृहीत हुआ। कहे हुए को निभाना हमलोग रामविलासजी से सीख सकते हैं।

इसी पुस्तक के लिए मैंने भी एक लेख लिखा "बन शरण का उपकरण मन : निराला" जिसमें मैंने निराला के शरणागतिपरक काव्य का पुनर्मूल्यांकन किया है। निराला के इस काव्य का जो मूल्यांकन डॉ. रामविलास शर्मा समेत मार्क्सवादी आलोचकों ने किया है, मैं उससे पूर्णतः असहमत हूँ । अतः उनके मतों का निराकरण करना मेरे लिए आवश्यक हो गया। मेरी इस धृष्टता को भी रामविलास जी ने "सात खून माफ करने के दिये वचन" के अनुसार सहज ही झेल लिया।

रामविलास जी अब भी सारस्वत साधना में निरत हैं । पिछली बार जब मैं उनसे मिला था तब वे "भारतीय साहित्य की भूमिका" नामक एक बड़े ग्रन्थ की रचना पर जुटे हुए थे । वे उसी के विविध पहलुओं की मुझसे चर्चा करते रहे । समस्त भारतीय साहित्य की आधारभूत एकता पर बल देते हुए वे उसके विविध पक्षों को रूपायित करने के लिए संकल्पबद्ध थे । बिना किसी सरकारी या संस्थाई सहायता के उन्होंने कितने बड़े-बड़े काम किये हैं, यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है । फिर सोने में सुगन्ध यह है कि इतने काम का अहंकार उनकी वाणी को बोझिल नहीं बनाता। आज भी वे सहज रूप में अपने छोटों से बातें कर सकते हैं, उनकी बातें सुन सकते हैं। वे सहज में अपनी स्थापना से हटते नहीं किन्तु दूसरे को अपनी स्थापना पर खड़े रहने की छूट अवश्य देते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा की उपस्थिति एक तरफ जहाँ अपनी बात को प्रमाण पुरस्सर रूप में उपस्थित करने के लिए सतर्क करती है, वहीं यह प्रेरणा भी देती है कि निर्भीकतापूर्वक कुछ ठोस बात कहने पर उनसे स्नेह और सम्मान तो मिलेगा ही भले समर्थन न मिले।

ईशावास्योपनिषद में कहा गया है, "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" अर्थात् मनुष्य काम करते हुए ही इस लोक में सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । प्रभु से प्रार्थना है कि रामविलास जी नये-नये विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना करते हुए शतायु हों । ●

ध्यातव्य : यह संस्मरण डॉ० रामविलास शर्मा के जीवनकाल में लिखा गया था।

श्रद्धा और बुद्धिवाद की रस्साकशी : बच्चन

बच्चन जी की आत्मकथा के पहले खंड 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' को पढ़कर मैं अभिभूत हो गया था। सामान्य आत्मकथाओं से कितनी भिन्न है वह। आत्मकथा लेखन के बँधे-बँधाये नियमों से बाहर भी और क्रम को नकारने के दिखावटी विक्रम से विरत भी। उसके कुछ अंश तो मुझे इतने मार्मिक लगे थे कि बच्चन की लेखनी के सम्मोहन से आत्मविस्मृत हो मैं उनके जीवन की आग, आह और आदमीयत में डूब सा ही गया था। मुझे लगा कि उनकी सच्चाई और हिम्मत की दाद देनी चाहिए। उनकी इस पुस्तक ने असन्दिग्ध रूप से प्रमाणित कर दिया था कि 'मैं किससे भेद छिपाऊँ सब तो अपने हैं' उनकी कविता की पंक्ति मात्र नहीं, उनका जीवन्त विश्वास है। पुस्तक समाप्त कर भावावेश में १४.२.७० को जो पत्र मैंने उन्हें लिखा, उसका आरंभ इस प्रकार हुआ था :

प्रिय एवं आदरणीय बच्चन जी,

देखिये, कैसा गजब है कि आपको पत्र लिखते समय अपनी उम्र और आपका रुतबा सब भूलकर आपको प्रिय लिख बैठा, फिर बुद्धि ने बिगड़ी बात बनायी और आदरणीय शब्द भी जोड़ दिया। मालूम नहीं, आपको भावना प्रिय है या बुद्धि .....चेष्टा आजीवन आप दोनों के समन्वय की करते रहे हैं किन्तु लगता यही है कि संयमन पर प्रस्फुरण को आपने मन ही मन वरीयता दे रखी है, अतः आप इस सम्बोधन से नाराज नहीं होंगे।"

फिर इसी पत्र में मैंने 'सतरंगिनी' की 'नागिन' और 'मयूरी' के बारे में कुछ प्रश्न किये थे। कुछ बातें भी लिखी थीं। २०.२.७० का लिखा उनका छोटा सा उत्तर मिला—

नमस्कार, पत्र के लिए ध. (धन्यवाद)।

'सतरंगिनी' के चौथे संस्करण की भूमिका देख लें। शेष 'नीड़ का निर्माण फिर..... ' में।

शु. का. (शुभकामनाएँ)

बच्चन

मेरे भावावेग-पूर्ण पत्र के त्वरित उत्तर के रूप में उनका यह संक्षिप्त संयत पत्र उनकी बुद्धिसम्मत व्यवहार-कुशलता का प्रमाण है। मेरा विश्वास है कि बच्चन जी के जीवन का ताना यदि भावना है तो बाना बुद्धि है। उनके काव्य में यदि भावना प्रधान है तो उनके व्यवहार में बुद्धि। इससे उन्हें एक सीमा तक तो लाभ अवश्य हुआ, कविता और जीवन दोनों में वे पर्याप्त सफल रहे किन्तु उसके बाद वे वह पगली छलांग नहीं लगा सके जो महानता के लिए अनिवार्य होती है जिसके लिए रवीन्द्रनाथ ने लिखा है 'निर्भावनाय झाँप दिये पड़ अजानितेर पथे' अर्थात् अनजान के पथ पर बिना चिन्ता के कूद पड़ो। बच्चन जी का युक्तिवाद सदा इसके विरुद्ध रहा।

बच्चन जी से मेरा परिचय तो सितम्बर १९५४ में ही हो गया था। वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से ईट्स पर पी-एच.डी. प्राप्त करके लौटे थे। कलकत्ते में कई संस्थाओं द्वारा उनका सम्मान किया गया था। कुछ स्थानों पर मैं भी उनके सम्मान में बोला था किन्तु उनसे मेरी निकटता १९६७-६८ में ही हुई जो क्रमशः इतनी बढ़ी कि बच्चनजी ने तेजी जी से कहा कि 'शास्त्री जी से मेरी बेतकल्लुफी है'। तेजी जी का स्नेह भी मुझे कुछ मात्रा में प्राप्त था। एक बार कलकत्ते में साहू जैन निलय में आयोजित एक गोष्ठी में मैंने उनकी उपस्थिति में बच्चन जी की कई कविताएँ सुनायी थीं। वे कुछ चकित भी हुई थीं और प्रसन्न भी, मुझसे बोलीं कि आपने बच्चन की कविताएँ बहुत अच्छे ढंग से सुनायीं।

बच्चन जी के साथ मिलना पहले तो कलकत्ते में ही होता रहा। कलकत्ते में उनके प्रशंसकों की बड़ी अच्छी संख्या थी। विभिन्न संस्थाओं द्वारा आयोजित कवि सम्मेलनों में वे आमंत्रित होते रहते थे। दाँव लगने पर मैं उनके आतिथेयों के यहाँ उनसे मिलता रहता था। जब मैं उनका स्नेहभाजन हो गया तो दिल्ली, बम्बई में भी उनसे गपशप करने उनके घर पहुँचने लगा था। बाद में तो वे अपने पत्रों में भी लिखने लगे थे कि बहुत दिनों से आपसे भेंट नहीं हुई। मैं उनकी कविताओं का रसिक पाठक था। वे भी मेरे लेखों के बारे में अपनी सुचिन्तित सम्मति देते रहते थे। फलतः हम लोग सहज ही घनिष्ठ हो गये थे। कभी-कभी मैं उनसे असहमत होने की भी धृष्टता करता था किन्तु उससे भी हमलोगों के सम्बन्धों में दरार नहीं पड़ी। इसका पूरा श्रेय बच्चन जी की उदारता को ही दिया जाना चाहिए।

ऐसा ही एक अवसर आया था फरवरी १९६८ में हुई दिल्ली के अध्यापकों की हड़ताल को लेकर। मैं बच्चन जी से उनके दिल्ली के आवास में बातें कर रहा था। उसी समय उनसे मिलने दो अध्यापक आये। वे उनके छात्र रह चुके थे। दूसरे दिन से होने वाली अध्यापकों की हड़ताल में वे शामिल होने वाले थे। वे चाहते थे कि बच्चन जी उनलोगों का समर्थन करें किन्तु बच्चन जी ने दो टूक शब्दों में कहा, 'हड़ताल गलत है, अध्यापकों को धैर्य रखना चाहिए, कोठारी प्रतिवेदन को दो वर्ष हो गये तो क्या हुआ,

उनलोगों को तो अर्थव्यवस्था नहीं करनी पड़ती अतः उनकी बात मान्य कैसे हो सकती है। जब देश की हालत सुधरेगी तब अध्यापकों की भी व्यवस्था और अच्छी हो जायेगी। वैसे जेल जाना कोई बुरी बात नहीं है, उससे चिन्तन का अवसर मिलता है। उसके लिए मैं मुक्त हृदय से आशीर्वाद दे सकता हूँ।'

बात जितनी रूखी थी, उसका कहने का ढंग मुझे और रूखा एवं व्यंग्यात्मक लगा। मेरा चित्त क्षुब्ध हो गया। स्वयं अध्यापक होने के कारण मेरी सहानुभूति अध्यापकों के प्रति थी। अध्यापक हड़ताल करने पर विवश हों, यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। मुझे लगा एक सहृदय कवि और अध्यापक को — जो स्वयं किसी समय अभावों को झेल चुका है — अपने संघर्षशील विद्यार्थी अध्यापकों से ऐसे रूखे ढंग से इतनी कड़ी बात नहीं कहनी चाहिए। माना कि बच्चन जी सांसद होने के नाते अपनी पार्टी के निर्णय से बँधे थे लेकिन बात तो प्रेम से कर सकते थे। मैंने उन अध्यापकों का पक्ष लेकर बच्चन जी से कहा, देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति में भी मंत्रियों, सरकारी अफसरों और सांसदों के ठाटबाट में तो कोई कमी नहीं दिखती। क्या अध्यापक ही त्याग, तपस्या करें और सत्तारूढ़ जन केवल उपदेश देते रहें।' बच्चनजी के लिए मेरा कथन अप्रत्याशित था पर वे उसे झेल गये।

इसी तरह एक बार भाषा सम्बन्धी आन्दोलनों को लेकर भी हम दोनों में मतभेद हुआ था। बच्चन जी हिन्दी विरोधी और हिन्दी समर्थक दोनों आन्दोलनों की भर्त्सना कर रहे थे। इसी सन्दर्भ में उन्होंने हिन्दी के उन साहित्यकारों को भी गलत ठहराया था जिन्होंने सामयिक क्षोभ के वशीभूत हो राष्ट्रीय सरकार के दिये अलंकारों को लौटा दिया था। मैंने उन साहित्यकारों का समर्थन करते हुए कहा था कि राष्ट्रभाषा के अपमान को रोकने में असमर्थ सरकार के अलंकरणों को लौटाकर उन्होंने राष्ट्रभाषा के प्रति अपनी निष्ठा प्रमाणित की है। मैं तो हिन्दी के समर्थक उन कांग्रेसी सांसदों से खिन्न हूँ जिन्होंने राजकीय सत्ता के भय एवं प्रलोभन के कारण हिन्दी का साथ नहीं दिया। बच्चन जी मेरी इस मान्यता से बिल्कुल असहमत थे। बातचीत के सिलसिले में उस दिन मैंने यह भी कहा था कि हिन्दी भाषी प्रदेशों की यह बहुत बड़ी गलती है कि उन्होंने बीस वर्षों में अन्य प्रादेशिक भाषाओं को सीखने-सिखाने में कोई दिलचस्पी नहीं ली। इसी के फलस्वरूप अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी की स्थिति कमजोर हो गयी है। बच्चन जी ने इस बात का पूर्णतः समर्थन किया था।

मार्च, १९६८ में बच्चन जी का कलकत्ते में अभिनन्दन किया गया। मेरे स्नेहभाजन एवं सुकवि चन्द्रदेव सिंह ने 'बच्चन : एक पहेली' नामक पुस्तक लिखी थी। उसकी प्रथम प्रति भी उन्हें भेंट की गयी। उसके बाद बहुत अच्छी कवि गोष्ठी हुई। बच्चन जी की पुरानी कविताएँ बहुत जमीं पर उनकी नयी मुक्तछन्द में लिखित कविताएँ

श्रोताओं को बहुत रुचिकर नहीं लगीं। लगता है जनता जिस कवि से जो सुनने की आदी रही है, उससे वही सुनना चाहती है। यहाँ जनता का अर्थ उस कवि के सराहने वालों से है। वे तो अपनी पुरानी प्रिय कविताओं को या उन्हीं की शैली की नयी कविताओं को सुनना चाहते हैं। कवि की बदली मानसिकता के साथ वे जुड़ नहीं पाते। नयी मानसिकता वाले पुराने और शैली विशेष के लिए प्रसिद्ध कवियों को सुनने कम आते हैं। फल यह होता है कवि की बदली मानसिकता की नयी शैली में रचित कविताएँ प्रायः अपने प्राप्य से वंचित रह जाती हैं। बच्चन जी भी इस सामान्य नियम के व्यतिक्रम नहीं बन सके।

मैंने इस विषय पर ता० १३ मार्च, १९६८ को साहू जैन निलय में उनसे जमकर बात की। मैंने उनसे सीधा प्रश्न किया कि 'सतरंगिनी, मिलनयामिनी, प्रणयपत्रिका आदि की कविताओं के बाद आजकल आप 'ईर वीर फत्ते और हम' जैसी कविता क्यों लिख रहे हैं। उनका उत्तर था, 'ईर वीर फत्ते और हम' तो व्यंग्य कविता है जो नयी विरूप कविताओं की बाढ़ के प्रति मेरी झुँझलाहट को ही व्यक्त करती है। मेरी रचना प्रक्रिया ऐसी है कि मन में उमड़ी बात यदि रचना का रूप नहीं ग्रहण करती तो मैं बीमार पड़ जाता हूँ। वह रचना लोगों को अच्छी लगे या बुरी यह अलग बात है। गाँधी जी की हत्या के बाद तीन महीनों तक मैं अस्वस्थ रहा। अपने उस प्रचंड मानसिक आघात से उबरने के लिए ही 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' की कविताएँ मैंने लिखी थीं। अन्यथा मैं और अस्वस्थ हो जाता । इस हकीकत को मेरा या किसी का कोई तर्क कैसे काट सकता है।

मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि वे अपनी रचनाएँ बीच-बीच में भेजते रहते थे। इसी बैठक में उन्होंने मुझसे कहा था कि 'सतरंगिनी' के नये संस्करण में एक लम्बी भूमिका जोड़कर उन लोगों को मैंने जवाब दिया है जो मयूरी के नाचने का विरोध कर मुझे भारतीय साहित्य परम्परा से अनभिज्ञ घोषित कर रहे थे। कुछ और महत्त्वपूर्ण बातें भी मैंने उसमें कही हैं। उनका आग्रह था कि मैं उस भूमिका को पढ़कर अपने विचार उन्हें लिखूँ। दिल्ली जाकर उन्होंने 'सतरंगिनी' का नया संस्करण मुझे भेज दिया।

'सतरंगिनी' दीर्घकाल तक मेरी सर्वाधिक प्रिय कविता पुस्तक रही है। जब मैंने पहली बार उसे पढ़ा था तब जीवन के सत्रहवें वसन्त की प्रतीक्षा कर रहा था। सतरंगिनी की कविताओं को पढ़ते ही मुझे लगा कि ऐसी ही कविताओं की मुझे तलाश थी। दो ही तीन दिनों में उसकी अनेक कविताएँ मुझे कंठस्थ हो गयीं। बन्धु बान्धवों की गोष्ठी में मैंने बहुत बार 'नीड़ का निर्माण, फिर फिर' 'जो बीत गयी सो बात गयी,' 'तुम गा दो मेरा गान' आदि कविताएँ सुनाकर आनन्द पाया और बाँटा है। अतः जब मुझे सतरंगिनी का नया संस्करण मिला तो किसी पुराने मित्र से मिलने जैसा सुख मिला। भूमिका पढ़ने के पहले मैं कविताओं को ही पुनः पढ़ गया। उसकी कई कविताओं ने फिर मुझे गुदगुदाया।

'सतरंगिनी' की भूमिका मैंने ध्यान से पढ़ी। उसके आरंभ में कविता पढ़ने के ढंग के बारे में लिखकर और अन्त में मयूरी के नाचने के प्रमाण संस्कृत साहित्य से देकर बच्चनजी ने प्रमाणित किया था कि वे कोरे कवि ही नहीं साहित्य के प्राध्यापक और शोधकर्त्ता भी रहे हैं। अपनी उपलब्धियों के प्रति आश्वस्त होने के कारण वे छिद्रान्वेषी आलोचकों के दर्शनों की उपेक्षा करते रहे हैं। इसमें तो उन्होंने उन्हें करारा जवाब दिया था जिसकी मैंने मुक्त कंठ से सराहना की। पर इस भूमिका की जिस बात ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया था वह कुछ और ही थी। २९.३.६८ के अपने लम्बे पत्र में मैंने बच्चन जी को लिखा था, "आपकी यह भूमिका बहुत ही सहृदयता के साथ किन्तु प्रमाणपुष्ट रीति से प्रतिपादित करती है कि अन्धकार से ज्योति की ओर आते हुए आपको कितने प्रखर अन्तर्द्वन्द्व झेलने पड़े। निर्माण के प्रतिनिधि होने के कारण आप केवल अवसाद, सूनापन, तमिस्रा, मरण की आधी कहानी ही सुन-सुनाकर कैसे संतृप्त हो सकते थे। भगवान् की कृपा कि आपको जीवन मिला और सतरंगिनी उसी नवजीवन की उल्लासपूर्ण स्वीकृति एवं आह्लादपूर्ण प्रशस्ति है। अपनी अगली रचनाओं में आप जीवन से संजीवन की ओर बढ़े हैं और यह उचित ही है।"

मैं मानता था और मानता हूं कि वास्तविक संजीवन जगत् से जुड़कर नहीं जगत्पति से जुड़कर ही प्राप्त किया जा सकता है। बच्चन जी ने अपनी कुछ कविताओं में उस दिशा की ओर मुड़ने का संकेत भी दिया था अतः मैंने अपने उसी पत्र में उन्हें यह भी लिखा था, "बिलकुल आजकल की रचनाओं में आपके स्वर में फिर उदासी थकान और शायद कुछ-कुछ निराशा भी झलकने लगी है। शायद परिवेश और समसामयिक परिस्थितियाँ आप पर हावी होती जा रही हैं। आप उनका प्रतिरोध करने के लिए उन पर व्यंग्य कर रहे हैं, उनसे अब भी जूझ रहे हैं किन्तु शायद पराजय की आशंका आपको झकझोर रही है। आपने लिखा था—

प्रेरित होने वाले मन की प्रेरक शक्ति अकेली कब थी,
मूक पड़े गन्धर्वों के सुर, कूक रही कोयल मस्तानी।

पर अब शायद आपको लगने लगा है कि चारों ओर कौए ही काँव काँव कर रहे हैं। गीत लिखना बन्द कर देना इसकी करुण स्वीकृति है। आप अपने पाठकों की प्रतिक्रिया से अपने जीवन का दिशा-निर्देश नहीं लेते, ठीक ही करते हैं। अपने अन्तरतम से परिचालित होना आपकी सबसे बड़ी विशेषता रही है। मेरी कामना है कि यह बनी रहे। फिर भी मुझे लगता है कि इस समय आपके कवि जीवन की चरितार्थता नयी विनय पत्रिका लिखने में ही है, 'काठ का घोड़ा' 'रूस की गुड़िया' या 'ईर बीर, फत्ते' लिखने में नहीं।"

अगले ही महीने वे पुनः कलकत्ते पधारे। मेरा पत्र उन्हें मिल चुका था। उन्होंने मुझे फोन करके बातचीत के लिए बुलाया। १६.४.६८ को जब मैं साहू जैन निलय पहुँचा तो वे पूजा करने जा रहे थे। मैंने आग्रहपूर्वक कहा आप पूजा कर लें, बातचीत तो होती ही रहेगी। उनकी दैनिक पूजा में मानस और गीता के पाठ की प्रमुखता थी। वे गीता के अपने अनुवाद 'जन गीता' का ही पाठ करते थे। मानस की कुछ चौपाइयों का संकलन उन्होंने कर रखा था अपने दैनिक पाठ के लिए। उनमें एक अर्धाली थी। *'राम कीन्ह चाहे सोइ होई, करे अन्यथा अस नहिं कोई'*। मुझे उनकी इस निष्ठा से बहुत आनन्द हुआ। उसके बाद उनसे देर तक बातचीत होती रही।

उन्होंने मुझे बताया कि वे यह मानते हैं कि कविता या किसी साहित्यिक रचना की सृष्टि के लिए मानसिक तनाव आवश्यक है। जितना गहरा यह तनाव होगा और उसे उदात्त कर रचना में ढालने की जितनी क्षमता होगी, सृष्टि उतनी ही सार्थक होगी। मैंने यह तो मान लिया कि हाँ, एक पद्धति यह भी हो सकती है किन्तु आनन्द की अनुभूति भी तो उच्छलित हो कर रचना बन जा सकती है। मैंने उन्हीं की दो कविताओं का हवाला देते हुए कहा कि 'नर्तन कर नर्तन कर नागिन....., में तो तनाव की अनुभूति स्पष्टतः परिलक्षित होती है किन्तु 'मयूरी नाच मगन मन नाच' की स्निग्धता में भी क्या तनाव ही काम कर रहा है। वे मुस्कुरा पड़े।

बातचीत को मैंने दूसरे सिरे से आगे बढ़ाया। मैंने कहा मुझे आपसे यह शिकायत है कि श्रेयसी और प्रेयसी के युगपत् आकर्षण में *'विचरण को सौ ठौर बसेरे को केवल गल बाँह तुम्हारी'* कहकर आपने श्रेयसी को भले रिझाने की चेष्टा की हो किन्तु जिसकी मुस्कानों में आपने सौ सौ तूफानों का अनुभव किया है वह प्रेयसी ही है। अब 'नागिन' और 'मयूरी' इन्हीं दोनों कविताओं को ले लीजिये। कहाँ 'नागिन' के चित्रण में आपका उद्दाम आवेग, अभिभूत मुग्ध समर्पण, उच्छ्वसित प्रशस्ति, सहज ही में थम जाने से इन्कार करने वाला विस्तार और कहाँ मुग्धा मयूरी को दिया गया संक्षिप्त सा, मीठा सा मान पत्र! नागिन कवि को नचा देती है, मयूरी स्वयं नाचती रहती है कवि की कृपा दृष्टि पाने के लिए। अब आप ही बताइये कि पूरी गरिमा नागिन को देते हुए पुस्तक की भूमिका में जो महिमा आपने मयूरी को प्रदान की है क्या वह विश्वसनीय मानी जा सकती है।' वे बोले "वह बिलकुल सच है महिमान्वित तो मयूरी ही है जीवन में। मैंने तो दिनकर की 'उर्वशी' की भी वास्तविक नायिका औशीनरी को ही माना है। मैंने इस पर लिखा भी है।" मैंने कहा, 'ऐसा करके आपने पुरुष की बढ़ी हुई उम्र के विवेक को ही प्रतिध्वनित किया है। अब आप ही बताइये, काव्य का नाम 'उर्वशी', सर्वत्र जयघोष उसका और नायिका औशीनरी। कोई मानेगा इस बात को। बुद्धि के स्तर पर वरीयता देना कवि का लक्षण नहीं, विचारक का है। भावना के स्तर

पर, रागात्मक आवेगों के स्तर पर आपने और दिनकर ने जिसे तरजीह दी है कविरूप में, आपलोगों की दी हुई तरजीह उसे ही प्राप्त है। वे फिर मुस्कुराकर बोले, 'यह अनुभव की बात है, बहस की नहीं।'

१९६८ की तुलसी जयन्ती पर राममन्दिर के पुस्तकालय में बोलते समय बच्चन जी का मर्मस्पर्शी श्रद्धालु रूप प्रकट हुआ। तुलसी साहित्य अत्यन्त कल्याणकारी है, जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाला है आदि बातें तो सोदाहरण उन्होंने कहीं ही, अपने जीवन पर पड़े रामचरित मानस के प्रभाव का भी उन्होंने उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि मुझे मानस के प्रति श्रद्धा अपने पिता से प्राप्त हुई है। वे घर में प्रत्येक बड़े काम के समय मानस का पाठ किया करते थे। किसी बच्चे का जन्म हो, विवाह हो, कोई भी मांगलिक कार्य हो वे अनिवार्य रूप से मानस का अखंड पाठ करते थे। किसी के अस्वस्थ होने पर वे दवा से भी अधिक जरूरी समझते थे मानस का पाठ। मानस के प्रति उनकी यह भक्ति मुझमें भी संक्रमित हो गयी। मैंने भी अपने जीवन के कई महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर रामचरित मानस का अखंड पाठ किया है। मैं मानस का पाठ सस्वर करता हूँ। मानस का अखंड पाठ करने में मुझे बीस घंटे लगते हैं। उससे मुझे बहुत शान्ति मिलती है। इसके बाद उन्होंने 'नीम के दो पेड़' शीर्षक एक कविता सुनायी जिसमें उन्होंने एक जन-श्रुति अंकित की थी कि यात्रा करते हुए तुलसी दास एक रात के लिए एक स्थान पर ठहरे। सुबह उन्होंने नीम की दतुअन की, फिर उसे चीरकर उन्होंने जीभी की। उनके जाने के बाद उनके भक्तों ने उनकी दतुअन के दोनों टुकड़ों को बो दिया, जिससे नीम के दो पेड़ उग आये और अब भी वे विशाल नीम के पेड़ वहाँ विद्यमान हैं। बच्चनजी ने उस स्थान की यात्रा अपने पिता के साथ की थी। उन्होंने उस कविता में लिखा है कि मेरे पिता ने यह कथा सुनकर उन पेड़ों को सीस नवाया था और मैं अविश्वास से मुस्कुराया था। आज यदि मैं अपने बच्चों के साथ उस स्थान की यात्रा करूँ तो मैं श्रद्धापूर्वक उन वृक्षों को नमन करूँगा और शायद मेरे बच्चे अविश्वास से मुस्कुरायेंगे। जिस भक्त कवि की वाणी पूरे राष्ट्र को नवजीवन दे सकती है, उसकी की हुई दतुअन के दो टुकड़ों से दो वृक्ष उग आयें, इसमें असंभव क्या है। श्रोतागण विस्फारित नेत्रों से उनको सुनते रहे।

२ दिसम्बर, १९६८ को बच्चन जी ने अपनी कविता पुस्तक 'कटती प्रतिमाओं की आवाज' मुझे भिजवायी। मुझे उसकी कुछ कविताएँ प्रीतिकर नहीं लगीं। मैंने ईमानदारी से अपनी बातें उन्हें लिख दीं। ३.१.६९ के अपने पत्र में उन्होंने लिखा, "अच्छा दुकानदार ग्राहक की राय को गलत नहीं कहता और अच्छा लेखक पाठक की राय को। मैं अपने से विवश हूँ। जो लिखा उसी को लिखने को विवश था। 'जो किया उसी को करने की मजबूरी थी।'

आपने मेरी कविताओं को अपना अमूल्य समय दिया, आभारी हूँ। 'उभरते प्रतिमानों के रूप' भी समय से पहुँचेगा।"

अपने प्रति आत्मविश्वास बड़े साहित्यकारों का स्वाभाविक गुण है। फिर भी यह सच है कि कभी कभी यह विश्वास तटस्थ मूल्यांकन के आड़े आता है। इतिहास साक्षी है कि बच्चन जी की उत्तरकालीन अधिकांश कविताएँ न जनता द्वारा समादृत हो पायीं, न आलोचकों के द्वारा। हाँ, उनके उत्तरकालीन गद्य ने विशेषतः आत्मकथा के पहले दो खंडों ने साहित्य के इतिहास में अपने लिए विशिष्ट स्थान बनाने में सफलता प्राप्त की।

१९७० की जनवरी के अन्तिम सप्ताह में मैं दिल्ली गया हुआ था। इस यात्रा में बच्चन जी के साथ कई लम्बी बैठकें जमीं। उन्होंने अपनी नवीनतम पुस्तक 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' मुझे भेंट की। उसमें उन्होंने एक स्थान पर मेरे पिताजी का भी उल्लेख किया था। वह अंश उन्होंने मुझे दिखाया। फिर उन्होंने मुझे बताया कि आत्मकथा लिखते समय मैंने घिसी-पिटी परम्परा नहीं अपनायी है। जो जो बात याद आती गयी है, उसे ही मैं लिखता चला गया हूँ। सरल रेखा में कालक्रमिक विकास न दिखाकर मैं दायें बायें भी जाता रहा हूँ, अतः अतीत के साथ वर्तमान की बातें भी कहीं कहीं जुड़ गयी हैं। कहीं-कहीं मैं लेखन क्रम से पीछे भी चला गया हूँ। उन्होंने यह भी कहा कि पुस्तक को पढ़कर मैं अपनी प्रतिक्रिया उन्हें अवश्य लिखूँ। मैं यहाँ यह जोड़ सकता हूँ कि उन्हीं की पद्धति का अवलम्बन कर मैंने यह संस्मरण 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' पर अपनी प्रतिक्रिया से ही शुरू किया है। बीच-बीच में भी दायें-बाँये जाता रहा हूँ।

१९६९ में मेरे कई यात्रा वृत्तान्त धर्मयुग में प्रकाशित हुए थे। बच्चन जी को वे अच्छे लगे थे। उन्होंने अपनी कविसुलभ शैली में उनकी सराहना करते हुए कहा कि आपके यात्रा सम्बन्धी लेखों में दुहरी यात्राओं के कलात्मक वर्णन हैं, एक बाहरी एक भीतरी। आँखें बाहर जो देखती हैं सुसंस्कृत हृदय उसमें अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ देता है, काव्य से, संस्कृति से ले लेकर। इसीलिए वे इतने अच्छे बन पड़े हैं। मैं इसे अपने लेखन के प्रति उनकी मंगल कामना ही मानता हूँ।

थोड़ी चर्चा राजनीति की भी हुई। बच्चन जी का मानना था कि गांधी जी ने राजनीति में नैतिकता का जो मान स्थापित किया था, उसे इन्दिरा जी ने शुद्ध डिप्लोमेसी (कूटनीति) पर उतार दिया है। यह स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती। मेरे इस कथन से वे सहमत थे कि इन्दिराजी की वर्तमान स्थिति बहुत सुरक्षित नहीं कही जा सकती। चह्वाण और जगजीवन राम अब उन पर अधिक हावी हैं। पर वे यह भी बोले कि इन्दिराजी अधिक प्रगतिशील तत्त्वों के साथ हैं अतः "मैंने उनकी कांग्रेस में शामिल होकर उन्हें अपना नैतिक समर्थन दिया है। राजनीतिक बैठकों में मैं जाता नहीं। हाँ, मत

देने की अपनी स्वतंत्रता मैंने इन्दिराजी को सौंप दी है। बस इतना ही अर्थ है कांग्रेस में मेरे शामिल होने का।"

उन्होंने अपने ननिहाल से प्राप्त मानस के फारसी लिप्यन्तर की तीन सौ साल पुरानी प्रति भी मुझे दिखायी। वे इस पर काम करके मानस चतुःशती के अवसर पर एक बड़ा लेख लिखना चाहते थे। मुझे मालूम नहीं वे लिख पाये या नहीं।

एक दिन उन्होंने मुझे अपने बंगले और लॉन में किये गये अपने योगदान के बारे में विस्तार से बताया। पहले भूमिका बाँधते हुए वे बोले, "देखिये, हमलोगों के जीवन का एक बड़ा दोष यह है कि हमलोग बहुत गंभीर हो गये हैं। खेल को तो हमलोग जैसे भूल ही गये हैं। मैं खेल को बहुत जरूरी समझता हूँ और यह सब मेरा खेल ही है।" मैंने मोटी टिप्पणी जड़ी, यानी 'लीला' है।

एक वृक्ष के नीचे उन्होंने शिवमन्दिर बना रखा था। पूरा मन्दिर उन्होंने खुद बनाया था, एक-एक पत्थर को जोड़कर। वे मानते थे कि उनके द्वारा स्थापित प्रस्तर, शिवलिंग न होकर शिवजी के मुख का आभास देता है, लंबोतरे मुख का। फिर बोले, 'दाहिनी तरफ के प्रस्तर पर ध्यान दें तो लगेगा कि वे ध्यान मग्ना पार्वती हैं, बांयी ओर गजानन हैं। मैंने कहा, 'पार्वतीजी को तो बाँयी ओर होना चाहिए था' तो वे लगे कहने, 'भाई, शिव तो सर्वत्र हैं अतः उसमें दायाँ बायाँ क्या? फिर मुस्कुराकर बोले, 'तर्क तो यही है यानी नहीं है'। फिर उसी रौ में यह भी बोले, 'यह सब खेल है अतः इनकी प्राण प्रतिष्ठा नहीं हुई है, यह केवल मेरा भाव है।' मैंने इस पर उन्हें यह श्लोक सुनाया—

न देवो विद्यते काष्ठे, न पाषाणे न मृन्मये।
भावे हि विद्यते देवः तस्मात् भावो हि कारणम्।।

(अर्थात् देवता न काठ में है, न मिट्टी में। देवता तो भाव में होते हैं अतः मुख्य बात तो भाव ही है।)

वे बोले, 'आप पंडित हैं, जो कहें सो ठीक है। मैं तो इस शिला को भाववश ले आया था।' मैंने फिर एक श्लोकार्ध पढ़ा, '*अर्चकस्य प्रभावेण शिला भवति शंकरः।*' वे बोले, 'भाई श्लोक तो मैं नहीं जानता, लेकिन संस्कार से यह सब जानता हूँ।' शिवजी की बाँई ओर उन्होंने हनुमानजी को बैठाया था। बड़ी श्रद्धा से रोज स्वयं फूल चुनकरके सब देवी देवताओं को चढ़ाया करते थे। उन्होंने एक ओर की शिला के रूप में सम्पाती की भावना भी कर रखी थी। सम्पाती का प्रतीक उन्हें बहुत प्रिय है। भले उसके पंख जल गये किन्तु वह साहसपूर्वक सूर्य के निकट तक उड़ा तो। अपने अध्ययन कक्ष में भी उन्होंने सूर्य, सम्पाती और जटायु के प्रतीक लगा रखे थे।

फिर वे अपने बंगले में बनाये लघु 'क्रीड़ा शैल' का वर्णन करने लगे। उसमें भी एक तरफ उन्होंने शिव मन्दिर बनाया था और दूसरी तरफ मृत्यु के प्रतीक को रख छोड़ा

था। मृत्यु को दिखाकर बोले, "इसको रोज देख लेता हूँ ताकि स्मरण रहे।" मैंने कहा, काल के बगल में प्रतिष्ठित महाकाल के भी तो आप रोज दर्शन करते हैं अतः मृत्यु का आपको भय क्यों हो। फिर आपने ही तो लिखा है, 'भेद अतीत एक स्वर उठता नैनं दहति पावकः'। उन्होंने बहुत प्रेम से मेरी ओर देखा।

फिर उन्होंने अपने ड्राइंग रूम के बाहर जो प्रतीकात्मक सृष्टि रच रखी थी, उसे समझाना शुरू किया। एक कोने में उन्होंने स्वर्ग का उद्यान बनाया था, उसमें आदम, ईव और सर्प के प्रतीक भी थे। उनके पीछे था जीवन का प्रतीक, नारी प्रतिमा का संकेत देने वाला लम्बा सा कैक्टस। नीचे बिछे पत्थर नाना जीव जन्तुओं के .....आदिम सृष्टि के जीवों के प्रतीक थे। ये पत्थर वे भारत के कोने कोने से लाये थे। कोई कोणार्क का था, कोई पुरी का, कोई रामेश्वरम् का। प्रत्येक पत्थर उनका भली भाँति जाना-पहचाना था। एक बड़े से पत्थर को उन्होंने गरुड़ की शक्ल दे रखी थी। उन्होंने बताया कि वे तीन-तीन, चार-चार मील से ढोकर पत्थर लाये हैं। सिसिफस और हनुमान की अनुभूति का आंशिक अनुभव करने के लिए। फिर बहुत मगन होकर बोले, 'अगल बगल के सभी लोग जानते हैं कि पत्थर ढोने वाला साहब इसी बंगले में रहता है।'

बात जब सिसिफस और हनुमान की उठी तो मुझे सहज रूप से उनकी सुप्रसिद्ध कविता 'दो चट्टानें' याद आ गयी। मैंने उनसे कहा, मेरी समझ के अनुसार 'दो चट्टानें' कविता आपको पहली बार भावुकता के साथ-साथ चिन्तन और पुनर्व्याख्या की ऊँची भूमिका पर प्रतिष्ठित करती है। पश्चिम के सिसिफस को सहृदयता के साथ समझते हुए भी हनुमान के रूप में भारत के चिन्तन और आदर्श को आपने जो नवीन कलेवर दिया है और उससे जिस प्रकार आधुनिक समस्याओं को सुलझाने का संकेत ग्रहण किया है, वह अत्यन्त स्तुत्य है। आपकी मनःस्थिति में आज भी मुझे 'दो चट्टानें' की इन पंक्तियों की झलक मिली—

इसीलिए ऊँचाई की अन्तिम उठान पर / शक्ति नहीं रे भक्ति चाहिए।
भक्ति विनत है / और उसी का किसी जगह अवरुद्ध न पथ है।

वे बहुत खुश हुए, बोले, एक बात बताऊँ, जब मैं 'दो चट्टानें' लिख रहा था तो सचमुच एक वानर मेरे कमरे में आया था। उसके प्रकाशन के बाद एक हनुमान भक्त स्वामीजी भी मुझे उसके लिए बधाई दे गये थे। पर ऐसी कविताएँ चाहने मात्र से तो नहीं लिखी जा सकतीं। उनके लिए ..... , और फिर वे चुप हो गये।

मैं सोचने लगा, 'प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर' लिखने वाला कवि भीतर से कितना आस्थावान और श्रद्धालु है। पर उस दिन इस विषय पर और बात नहीं हो सकी।

उनसे इस विषय पर जमकर बातचीत हुई उन्हीं के बंगले पर ३१ जनवरी १९७० को। उस दिन जब शाम को बच्चन जी के घर पहुँचा तो तेजी जी कहीं बाहर जा रही थीं। जाते-जाते वे आग्रह कर गयीं कि हमलोग जल्दी खा लें।

बच्चनजी उस दिन बहुत प्रसन्न मनःस्थिति में थे। पहले उन्होंने मुझे ढेरों कविताएँ सुनायीं, फिर बहुत प्रेम से भोजन कराया। खाते समय एक बेवकूफी मैंने की। बाँधा गोभी और मटर की तरकारी को पुलाव समझकर मैंने कुछ ज्यादा मात्रा में ले लिया। बात खुलने पर बच्चनजी हँसने लगे, मैं भी अपने ऊपर ठहाका मारकर हँसा। बच्चनजी को मेरा ठहाका बहुत प्रीतिकर लगा। बच्चनजी ने उस समय तो उसकी तारीफ की ही बाद में तेजी जी से भी कहा कि शास्त्री जी की हँसी बहुत अच्छी है। बच्चन जी की आत्मीयता मुझे बहुत प्रिय लगी।

उस दिन बच्चन जी के काव्य पर बहुत जमकर बातें हुईं, उन्होंने मुझे बताया, "मैं बहुत गहरे मानसिक तनाव से ग्रस्त रहता हूँ। एक तरफ मुझे आस्तिक श्रद्धाशील संस्कार मिले हैं, दूसरी तरफ मुझ पर रेशनलिज्म का, तर्कसंगत बुद्धिवाद का भी गहरा प्रभाव है। इसी द्वन्द्व में मैं रह गया, एक ही बात को पूरी तरह नहीं मान सका। मेरी कविताओं में इसीलिए इन दोनों भावों के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। 'प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर' भी इतनी ही गहराई से लिखा गया गीत है जितनी आस्था से यह पंक्ति लिखी गयी थी, 'काम जो तुमने कराया कर गया, जो कुछ कहाया कह गया। 'मेरी प्रारंभिक रचनाएँ मुझे समझने के लिए कुंजी का काम कर सकती हैं।' उनमें अभिव्यंजना की कच्चाई हो सकती है, पर उनमें प्रयुक्त भावों, प्रतीकों को मैंने अलग-अलग सन्दर्भों में कई बार दुहराया है। श्यामा जी सवा दो सौ दिनों से भी अधिक दिनों तक अस्वस्थ रही थीं। उस समय मेरे ऊपर चारों तरफ से प्रहार भी हो रहे थे किन्तु मैं अपने मन को साहस बँधाता उनका उत्तर दे रहा था। श्यामाजी की मृत्यु के बाद मेरे जीवन का बहुत कठिन समय आरंभ हुआ। एक वर्ष तक मैंने कुछ नहीं लिखा। फिर मैंने वेग से लिखना शुरू किया। यदि मैं नहीं लिख पाता तो पागल हो जाता। लोग समझते हैं कि 'निशा निमंत्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर' में केवल अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद का व्यक्तिगत दुःख ही अभिव्यक्त हुआ है। यह ठीक नहीं है। उसमें मैं अँधेरे से जूझा हूँ, बार-बार अँधेरे से निकलने की चेष्टा की है। इस प्रक्रिया में दुःख के आधारभूत प्रश्नों से टकराया हूँ। उनको अपनी दृष्टि से हल करने की चेष्टा की है। मेरी समझ के अनुसार यह हल अँधेरे और दुःखों के लिए संगत है। मैं तो यह मानता हूँ कि 'निशा निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' जैसी चीजें लिखाने के लिए ही मुझे यह दुःख दिया गया था। किसी न किसी को तो भोगना ही पड़ता। उसके लिए यदि मैं ही चुन लिया गया तो उसकी शिकायत क्या करूँ।"

उनकी दृष्टि में हिन्दी में रचनात्मक आलोचना का बहुत अभाव है। कवि को सहानुभूतिपूर्वक समझकर उसकी बात को स्पष्ट करने के स्थान पर आलोचक उसे रगड़ डालने का दंभ करते हैं। यह अत्यन्त आपत्तिजनक है, हानिकर है। उन्होंने यह भी बताया कि किस प्रकार अनेक कविताओं में उन्होंने आलोचकों को उत्तर दिया है।

बातचीत फिर अध्यात्म की ओर मुड़ गयी। वे बोले, "मैं चाहता हूँ कि मुझे कोई ऐसा गुरु मिले जो मेरे द्वन्द्व को शान्त कर दे। किन्तु मैं उनकी तलाश भी नहीं करना चाहता। मैं चाहता हूँ कि वे ही मुझे कृपाकर अपना लें। गोरखपुर के स्वामीजी का मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। उन्हीं के प्रभाव से मैंने गीता का अनुवाद 'जनगीता' और 'नागर गीता' के रूप में किया है। वे मुझसे कहते हैं, या तो तुम पूर्ण श्रद्धावान् बनो या पूर्णतः बुद्धिवादी, किन्तु मैं इनमें से किसी का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता। यही मेरी ट्रेजेडी है और यही मेरे लेखन की शक्ति है, प्रेरणा है।"

मैंने कहा, "मुझे तो यह ट्रेजेडी ही अधिक लगती है। कबीर, सूर, तुलसी जैसे महान भक्त कवियों की रचनाएँ क्या द्वन्द्व मुक्त हुए बिना उभर सकती थीं? आप भी अपनी जिन रचनाओं में बड़ी ऊँचाई को छू पाये हैं क्या उनमें इनमें से किसी एक ही वृत्ति की प्रधानता नहीं है? जबतक गुरु नहीं मिलते तब तक आप प्रभु से ही द्वन्द्वशमन की प्रार्थना क्यों नहीं करते?" वे इस पर कुछ बोले नहीं।

बात बदलते हुए उन्होंने कहा, "मेरा तो यह विश्वास हो चला है कि मुक्ति तो शब्दों के प्रति राग छोड़ने पर ही मिलेगी।" मैंने मौन की महिमा को स्वीकारा और यह श्लोक सुनाया—

चित्तं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।।

(इस विचित्र संसार रूपी वटवृक्ष के नीचे बैठा गुरु तो युवा है, शिष्यगण बूढ़े हैं। गुरु के मौन व्याख्यान से ही शिष्यों के संशय नष्ट हो जाते हैं।) बच्चन जी को यह श्लोक इतना अच्छा लगा कि उन्होंने इसे लिख लिया। उन्होंने यह धारणा भी व्यक्त की कि तुलसीदास चूँकि अन्तिम दम तक काव्य रचना करते ही रहे अतः उन्हें मुक्ति नहीं मिली होगी, भले ही नारद योनि मिल गयी हो। मेरा कहना था "तुलसीदास ने कभी मुक्ति की याचना ही नहीं की। वे तो 'जनम-जनम रति राम पद' ही चाहते थे। इसे यदि आप भरत की उक्ति मानें तो विनय पत्रिका में भी तुलसीदास ने कहा है,

"चहौं न सुगति, सुमति, सम्पति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई।"

फिर यह बात भी है तुलसी ने भव तरने का मार्ग भी रामगुण गान को ही माना था, "तरे

तुलसीदास भव तव नाथ गुनगन गाइ।" यह ठीक है कि मौन की साधना बड़ी साधना है किन्तु शब्द की साधना भी अपनी दृष्टि से पूर्ण साधना है।

उस दिन उन्होंने एक विचित्र बात अपने बारे में मुझे बतायी थी। उन्होंने कहा था, 'कभी कभी सोने के पहले मैं उपनिषद्, गीता, रामायण, बाइबिल, श्री अरविन्द के ग्रन्थों को अपने मस्तक पर धारण कर लेता हूँ, इस विश्वास के साथ कि रात को इनमें से कुछ तत्त्व झरकर मेरे मस्तिष्क में आ जायेंगे और मेरी वाणी को पवित्र करेंगे।" आश्चर्य तो इसी बात पर किया जा सकता है कि इतने विश्वास के बीच भी उनमें शंका, तार्किकता कभी कभी प्रबल हो उठती थी।

अपनी रचना प्रक्रिया की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था, 'बीच-बीच में मुझ में ज्वार आता है। उस ज्वार के साथ मैं बहुत ऊँचाई पर चला जाता हूँ किन्तु उसके उतर जाने पर मैं फिर नीचे उतर आता हूँ। अक्सर रचनाएँ इसी ज्वार के साथ आती हैं। 'बंगाल का काल' की रचना ३६ घंटों के भीतर हुई थी। मुझे कभी-कभी अपने लेखन में इस बात की कमी का अनुभव होता है कि वह तटस्थ चिन्तन से प्रेरित नहीं है। जैसे "एक ईंट रख दी, फिर दूसरी रख दी, फिर कुछ काल बाद भी रचना को वहीं से आगे बढ़ाया, उस पर तीसरी ईंट रखकर। मैं ऐसा नहीं कर पाता।" मैंने कहा, 'आप मूलतः रोमांटिक.....स्वच्छन्दतावादी हैं। जिस सिद्धि का आपने उल्लेख किया वह क्लासिकल.....श्रेण्यतावादी कवियों को ही सुलभ होती है।' वे इससे सहमत हुए।

फिर उन्होंने शिकायत की, 'आप बहुत कम लिखते हैं।' मैंने अपने बहुधंधीपन की आड़ लेनी चाही पर उन्होंने इसे संगत कारण नहीं माना। उन्होंने मुझे सलाह दी, "आपको नियमित रूप से प्रतिदिन लिखना चाहिए। ऐसा होना चाहिए कि आप कुर्सी पर बैठें तो कलम उठायें ही और लिखना शुरू कर दें। आपको इस प्रकार कंडीशंड (अनुकूलित) हो जाना चाहिए कि कलम हाथ में आते ही मस्तिष्क सोचना और हाथ लिखना शुरू कर दे।" यह सिद्धि मुझे अभी तक तो प्राप्त नहीं हुई, अभी तक तो काफी मान मनौवल के बाद ही और रचना के आरंभ में तो रुक रुक कर ही मेरी कलम आगे बढ़ पाती है किन्तु चाहता जरूर हूँ कि ऐसा संभव हो।

बच्चनजी ने यह भी बताया था कि वे स्वयं प्रायः नियम से लिखते हैं और एक ही रचना को दो बार लिखते हैं। पहले वे पेंसिल से लिखते हैं। फिर उसे दुहराते समय काटते छाँटते हैं। अन्तिम रूप दे चुकने पर उसकी स्वच्छ प्रतिलिपि वे स्वयं करते हैं। तब उसे प्रेस में भेजते हैं। उन दिनों वे आत्मकथा के दूसरे खंड पर काम कर रहे थे। मुझे लगा मुझे उनसे यह गुर सीखना चाहिए कि पहले प्रारूप को माँज माँजकर कैसे चमकाना चाहिए।

मेरे आग्रह पर मेरे उठने के पहले उन्होंने 'प्रिय शेष बहुत है रात अभी मत जाओ' गीत गाकर सुनाया। साढ़े तीन घंटों के बाद भी मैं अतृप्त चित्त से ही उठा। बच्चन जी मुझे बाहर तक छोड़ने आये। बिदा देते समय बोले, "आपके गले का छोटा मफलर मुझे बहुत पसन्द आया है। कलकत्ते आऊँगा तो आपके घर अवश्य आऊँगा और आपकी श्रीमती जी को कविताएँ सुनाकर उनसे अनुरोध करूँगा कि मेरे लिए भी ऐसा मफलर बुन दें।" मैंने कहा, "आप मेरे घर पधारें तो। एक क्या अनेक मफलर आपकी बहू आपके लिए बुन देगी।" बिदा देते समय बच्चन जी ने मुझे आमंत्रित किया अपने पुत्र अमिताभ की पहली फिल्म 'सात हिन्दुस्तानी' का प्रथम निजी प्रदर्शन देखने के लिए जो अगले दिन ही होनेवाला था। मैंने आमंत्रण सहर्ष स्वीकार करते हुए कहा– आपके घर ही आ जाऊँगा और साथ ही चलूँगा। वे बोले ठीक है। सचमुच यह बैठक बहुत प्रीतिकर और प्रेरणाप्रद रही।

दूसरे दिन निश्चित समय पर जब बच्चन जी के घर पहुँचा तो वे बिलकुल तैयार थे। मुझे देखकर खुश हुए। कुछ अतिथि तेजी जी के भी थे। हमलोग शीघ्र ही 'सात हिन्दुस्तानी' देखने चले। तेजी जी चाहती थीं कि बच्चन जी श्री यशवन्तराव चव्हाण का स्वागत करने के लिए बाहर खड़े रहें। पहले बच्चन जी नहीं नुकुर करते रहे, पर बाद में उनको मानना पड़ा। मुझे लगा राजनीतिक कारणों से मिलने वाली सुविधाओं के मूल्य के रूप में आत्म सम्मान खोकर वे दरबारदारी नहीं करना चाहते। हो सकता है कि कई बार वे अपनी अड़न न छोड़ते हों पर कई बार उन्हें झुकना भी पड़ता होगा। उनके मन पर इससे उपजे तनाव का भी असर पड़ता ही होगा। तेजी जी उच्चस्तरीय राजनीति में घोर रूप से लिप्त थी। इंदिरा जी की विश्वासपात्र होने के कारण उनकी बहुत प्रतिष्ठा थी। उनके आमंत्रण पर चव्हाण साहब आ रहे थे अमिताभ की फिल्म देखने। अतः बच्चन जी उनके स्वागतार्थ द्वार पर खड़े रहें मुझे यह उचित ही लगा। पर यह भी लगा कि बच्चन जी को असाहित्यिक बड़े राजनेताओं की उपस्थिति में अपनी स्थिति सम्मानजनक नहीं लगती थी अतः वे उनकी सोहबत से बचना चाहते थे। राजनीतिक सुख सुविधाओं के उपभोग की लालसा और कवि के स्वाभिमान का द्वन्द्व बच्चन जी को सताता होगा। कभी-कभी समझौता करने के बावजूद, बच्चन जी ने घुटने नहीं टेके थे यह भी कम बात नहीं थी। मैं उनके साथ ही लगा रहा क्योंकि अधिकांश सभागतों को तो मैं जानता ही नहीं था। बच्चन जी ने अपने इस अंतर्द्वन्द्व के सन्दर्भ में मुझे एक घटना सुनायी। वे बोले, "एक बार मैं नेहरू जी से मिलने गया था। स्वाभाविक रूप से नेहरू जी कई लोगों से घिरे हुए थे। इसी समय एक फोटोग्राफर नेहरूजी के चित्र उतारने लगा और लोग लालसापूर्वक नेहरूजी के आसपास आ खड़े हुए। मैं नहीं गया। इस पर नेहरूजी ने कहा, 'बच्चन आ जाओ।'

मैंने उत्तर दिया, 'पंडितजी, मैं आगे ही छोटा आदमी हूँ, आपके साथ खड़ा होकर और छोटा हो जाऊँगा।" मुझे उनकी एक पंक्ति याद आ गयी 'मंत्री होने को तुतुआऊँ क्या कुत्ते ने काटा है।' कवि का स्वाभिमान मुझे प्रेरक लगा।

चह्वाण साहब आये, अपनी पूरी गरिमा के साथ। बच्चनजी ने नमस्कार किया। उनकी मुद्रा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वे उसी ऐश्वर्य भाव से भीतर चले गये। बच्चन जी ने उनके निकट बैठने का कोई प्रयास नहीं किया। हम दोनों उनसे अलग और पीछे बैठे।

'सात हिन्दुस्तानी' में अमिताभ का अभिनय मुझे अच्छा लगा पर कहानी बहुत हवाई, बहुत रोमांटिक लगी। सात नौजवान पुर्तगाल सरकार की सात पुलिस चौकियों पर निहत्थे भारतीय झंडा फहरा देते हैं और उनकी बन्दूक राइफल धरी रह जाती है। पुर्तगाली पुलिस को चकमा देते हुए वे ऐसे बढ़ते जाते हैं, जैसे पिकनिक मना रहे हों। मुझे अब्बास साहब का यथार्थ बोध अतिशय रोमानी और बड़ी हद तक अवास्तविक लगा। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अमिताभ के उज्ज्वल भविष्य की पूर्व सूचना इस फिल्म से मिलती है। मैंने बच्चन जी और तेजी जी को हार्दिक बधाइयाँ दीं।

संगीत कला मन्दिर के कवि सम्मेलन में भाग लने के लिए बच्चन जी उसी साल नवम्बर के पहले सप्ताह में कलकत्ते आये। मैं कवि सम्मेलन में अपनी बेटी भारती और भतीजी जया के साथ गया था। कवि सम्मेलन में बच्चन जी के साथ सुमन, नीरज, काका हाथरसी आदि भी थे। स्वभावतः कवि सम्मेलन खूब जमा। रात के भोजन के लिए बच्चन जी रामनिवास ढंढारिया के घर आमंत्रित थे। वे मेरे घनिष्ठ मित्रों में थे। हमलोग भी बच्चन जी के साथ उनके घर भोजन करने गये। मुझे यह देखकर बहुत आनन्द मिला कि बच्चन जी भारती, जया से देर तक न केवल बातचीत करते रहे बल्कि उन लोगों के अनुरोध पर उन्होंने लोक धुनों पर लिखे अपने दो गीत भी सुनाये, 'जाओ लाओ पिया नदिया से सोन मछरी' और 'महुआ के नीचे मोती झरे'। दोनों बेटियाँ गद्‌गद् हो गयीं। पर कार्यक्रमों की बहुलता के कारण वे मेरे घर नहीं पधार सके।

उन्हीं दिनों उनकी आत्मकथा का दूसरा खंड 'नीड़ का निर्माण फिर' प्रकाशित हुआ। मैं उसे पढ़कर प्रभावित हुआ। मैंने १८-११-७० को उन्हें एक लम्बा पत्र लिखा। यह स्वाभाविक ही था कि मैं आत्मकथा के प्रथम खंड से उसकी तुलना कर उसकी विशिष्टता निरूपित करता। उद्धृत हैं उस पत्र के कुछ अंश—

"यह सही है कि 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' की सी तरल भावुकता इसमें नहीं है। उसकी घटनाएँ इतनी हृदय द्रावक हैं कि पाठक के चित्त का एक अंश तरल होकर बार-बार आँखों से बह निकलता है । आरंभिक परिचयात्मक वर्णनात्मक अंशों को छोड़ देने के बाद वह पूरी पुस्तक 'द्युतिकाव्य' का उत्कृष्ट उदाहरण है । 'नीड़ का निर्माण फिर' अपने द्रवणशील प्रसंगों के बावजूद मुख्यतः दीप्तिकाव्य है । एक दग्ध हृदय के

विदग्ध चिन्तन, मनन, विश्लेषण तथा महत्वाकांक्षी कार्यों का प्रतिफलन अद्भुत आत्मीयता (और एक हद तक तटस्थता के साथ भी) इसमें हुआ है । निश्चय ही इसके अन्तरंग तक पहुँचने के लिए अधिक परिणत बुद्धि एवं परिष्कृत रुचि अपेक्षित है ।''

'क्या भूलूँ.....' में आपका कथाकार उभरा है, इसमें आपका विवेचक। उसके प्रसंगों का आपने चित्रण किया है, स्वयं अतीत में अभिगमन कर, उस समय को अपनी मनः स्थितियों को पुनः जोकर करीब-करीब अपने मूल रूपों में ही उन्हें उकेरने का प्रयास कर। इसमें भी आपने अतीत को पुनः जिया है और इसके भी कई प्रसंग अपनी छविमयता में सजीव हो उठे हैं, जैसे देहरादून में शमशेर से मिलने का, प्रथम सुरापान का और सर्वोपरि तेजी जी से संवेदनामय प्रथम मिलन का (आपके शब्दों में वास्तविक प्रथम सुहाग रात का....क्योंकि वैसे आपके लिए तो हर निशा, 'आज ही पहली निशा मनभावनी है') किन्तु मुझे लगा इसमें आपने अपने विगत को वर्तमान परिप्रेक्ष्य से ही देखा है, वर्तमान मनःस्थिति से ही उनका विश्लेषण, मूल्यांकन किया है। परिणामतः इस पुस्तक में कथा गौण और विवेचन प्रमुख है। यह आपके तत्कालीन मनोभावों से अधिक समकालीन 'उदार' क्षमाशील, सहिष्णु दृष्टि को झलकाती है। तभी तो आप आइरिस के प्रति इतने सद्भावनापूर्ण, आकाश गंगा के प्रति इतने अपराध बोध से ग्रस्त और चहबच्चों से इतने तटस्थ हो सके हैं। कथाकार के रूप में इसमें भी आपको पाने की आकांक्षा जिन्होंने 'क्या भूलूँ....' को पढ़कर अपने मन में पाली होगी, उन्हें शायद इससे परितृप्ति न हो। किन्तु वे आपके व्यक्तित्व से अपरिचित पाठक ही होंगे। 'मैं जहाँ खड़ा था कल, उस थल पर आज नहीं' को यह पुस्तक प्रमाणित करती है और मेरा विश्वास है कि 'हंस का प्रवास' में आप सहज ही किसी अन्य वैशिष्ट्य के साथ अवतीर्ण होंगे।'

पत्र और काफी लम्बा है। उसे पूरा उद्धृत करना उचित नहीं लगता किन्तु उसकी समाप्ति के बाद पुनः के अन्तर्गत जो जिज्ञासा मैंने प्रकट की थी, उसे इसलिए उद्धृत कर रहा हूँ कि पाठकों को इसका अनुमान हो सके कि बच्चन जी से मिले स्नेह के कारण मैं कितना धृष्ट हो गया था । मैंने लिखा था—

"पुनः एक जिज्ञासा भी। क्या आइरिस ही है नागिन के पीछे ? शायद नहीं, उसे आप नागिन नहीं कह सकते। शायद वह एक या अनेक चहबच्चों से प्राप्त अनुभवों पर गढ़ा गया प्रतीक है। जो हो, बाणभट्ट के शब्द का प्रयोग करूँ तो आप भी पूरे 'भुजंग' हैं।"

बच्चन जी ने इसके उत्तर में बहुत ही संयम बरता.....मौन के स्तर का, पर एक शुभ सूचना बहुत अच्छे ढंग से दी। उद्धृत है उनका २८-१२-७० का पत्र —

"प्रियवर, आपके दोनों पत्र मिले। मैं पूजा पर बैठ गया हूँ यानी तीसरा खंड लिखने पर। सो सब ओर से मन हटा लिया है । पूरा होने पर फिर कुछ करूँगा। मुझे

आपकी शुभकामना चाहिए। यज्ञ पूरा हो । यज्ञ विध्वंस करने वाले राक्षस दूर रहें।" --बच्चन।

मैं समझ गया कि यज्ञ की दीक्षा ले लेने के कारण ही उन्होंने मेरे पत्र में उठाये गये मुद्दों का जवाब नहीं दिया क्योंकि उसके कारण उन्हें यज्ञ कार्य से मन को हटाकर (चाहे थोड़ी देर के लिए सही) दूसरी दिशा में लगाना पड़ता। किन्तु उनके इस वाक्य ने मुझे गुदगुदाया कि उन्हें मेरी शुभकामना चाहिए। मैं उनसे बाईस साल छोटा हूँ फिर भी वे मुझे इतना मान देते हैं, इसका अनुभव कर मुझे रोमांच हो आया। मुझे यह भी बहुत अच्छा लगा कि वे अपने लेखन कार्य को पूजा की, यज्ञ की संज्ञा देते हैं। निश्चय ही इसके पीछे गीता के अनुशीलन की अनुगूँज है। गीता का यह श्लोक मुझे याद आ रहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। (१८/४६)

(अर्थात् जिस परमात्मा से प्राणियों की प्रवृत्ति होती है, जो सर्वत्र व्याप्त है, अपने कर्मों के द्वारा उसकी पूजा कर मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।)

बच्चन जी ने गीता के दो अनुवाद किये थे अतः किसी बड़े कर्म में प्रवृत्त होने को वे पूजा कहें, यज्ञ कहें यह उचित ही है। मैंने भगवान से प्रार्थना की कि उनका यह यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हो।

पर अच्छे कामों में विघ्न न आयें, यह कैसे संभव है । बच्चन जी का लेखन मन्द पड़ने लगा । काम से उनका मन उचटने लगा। ९-११-७१ के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा, "अपने गिरते स्वास्थ्य के कारण मैं एक विचित्र मनःस्थिति में हूँ। आपने पूछा है क्या लिख रहा हूँ। लेखन भी तो इसीलिए है कि एक दिन लेखन से मुक्त हो जाया जाए। जीवन भी उसी लिए है। शायद मेरे लिए वह दिन आ गया है या निकट है। उस स्थिति को सौभाग्यपूर्ण के अतिरिक्त और क्या कहा जाएगा।"

मुझे पढ़कर धक्का लगा। वे काफी बीमार पड़े जनवरी ७२ में। मैं देखने गया था। उन्हें देख ही पाया, उनसे बातचीत करने की इजाजत नहीं मिली । फिर वे धीरे-धीरे अच्छे हुए। दिसम्बर ७२ के पहले सप्ताह में मैं बम्बई में उनसे मिला। वे अब भी काफी कमजोर लगे। बातचीत में भी कमजोरी झलकती थी। फिर भी बड़ी आत्मीयता से उन्होंने मेरा स्वागत किया।

सबसे पहले मैंने उनसे यही पूछा "आपने यह क्यों घोषित कर दिया कि अब आप कविता नहीं लिखेंगे ।" पहले तो उन्होंने टालना चाहा पर धीरे-धीरे खुले और अपनी तत्कालीन मनःस्थिति के कारण एक-एक कर बताते गये।

वे बोले, "पिछले डेढ़ दो वर्षों में मुझे बहुत जबर्दस्त धक्का बल्कि कई धक्के

लगे हैं। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के कारण श्रीमती यशपाल ने मेरे विरुद्ध एक परचा छपवाया जिस पर मेरे कई मान्य साहित्यकारों ने हस्ताक्षर किये, स्वयं पन्तजी ने भी। श्रीकृष्ण सूरी ने भी मेरी बातों को गलत बताते हुए एक वक्तव्य दिया। मैं यही कह सकता हूँ कि अपनी तरफ से मैंने कोई बात नहीं गढ़ी थी। जो मुझे लगा था वही मैंने लिखा था। तथ्य तो एकदम ठीक थे। फिर जब पन्तजी ने अपने पत्रों के संकलन के कारण मुझ पर मुकदमा चलाया तो मैं बहुत व्यथित हुआ।

आदमी अपने जीने के लिए दुनिया पर एक प्रकार का सुन्दर आवरण चढ़ा लेता है। मैंने भी दुनिया के सम्बन्ध में कई भ्रम पाल रखे थे....कई लोगों को बहुत विशिष्ट और उच्च मान रखा था...उनमें पन्तजी भी थे। मेरे बहुत से मोह...भ्रम टूटे किन्तु पन्त जी के व्यवहार से मेरा डिसइल्यूजनमेंट...मोह भंग इतना अधिक हुआ कि मैं सह नहीं सका और बीमार पड़ गया। मेरा सारा क्षोभ, दुःख, कष्ट तेजाब बनकर मेरी आँतों में उतर आया। एसिडिटी इतनी बढ़ गयी थी कि मैं क्या बताऊँ। उसी के कारण मैं सख्त बीमार पड़ गया।"

श्रीमती इन्दिरा गाँधी की तरफ से भी मैं डिसइल्यूज्ड (हताश) हुआ। उनसे हमलोगों के सम्बन्ध पारिवारिक थे। उन्होंने अन्त तक मुझे या तेजो को नहीं बताया कि इस बार वे मेरा एम.पी. का कार्यकाल समाप्त कर रही हैं। उन्होंने जरूर पहले से इस सम्बन्ध में निश्चय कर लिया होगा। इसीलिए वे हमलोगों से कतराती रहीं। मुझे एकदम अन्त में पता चला कि मुझे अब जाना है। पहले से आभास मिलने पर मैं उसके लिए तैयार हो सकता था।

जो हो, मुझे लगता है कि इन घटनाओं के कारण..... (कुछ कारण और भी हैं और शायद काफी दिनों से) मेरा भीतरी स्रोत सूख गया। मैंने बहुत कष्ट से इनकी प्रतिक्रिया के रूप में तीन कविताएँ लिखीं। तीनों धर्मयुग में प्रकाशित हुई हैं। कविता लिखने के ढंग हो सकते हैं। हर कवि बल्कि हर मनुष्य अलग है अतः उसकी अभिव्यक्ति का कोई ढंग भी अलग है। मेरा ढंग यही था कि मैं अपनी भीतरी प्रेरणा से अपने अनुभवों को कल्पना का स्पर्श देकर...एक हलका सा सुन्दर आवरण देकर व्यक्त किया करता था। किन्तु वास्तविकता इतनी नंगी और असह्य है कि मैं यदि उस पर आवरण डालकर उसे न देखूँ तो फिर मैं कविता नहीं लिख सकता। मुझे बीच-बीच में लगता रहता था कि अब मुझे कविता से छुट्टी पा लेनी चाहिए....कविता इसीलिए होती है कि अन्त में वह कविता से भी छुट्टी दे दे।

शेक्सपियर ने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में कुछ नहीं लिखा था। वे कविता से मुक्त हो गये थे। टेम्पेस्ट में उनका एक पात्र कहता है, 'आई थ्रो अवे माई पेन' यह शेक्सपियर ही अपनी कलम के लिए कह रहे हैं। 'त्रिभंगिमा' में मैंने भी एक कविता

लिखी थी, *'जाल समेटा करने में भी/समय लगा करता है माँझी/मोह मछलियों का अब छोड़।'* वही भाव इस समय मेरे मन में प्रबल हो उठा है ।

एक बात और है । यदि मैं अब कविताएँ लिखता तो शायद फिल्म के लिए गीत भी लिखने लगता । अब तक जो मैंने नहीं लिखा, उसे अब क्या लिखूँ । इसीलिए मैंने उसकी जड़ ही खत्म कर दी । अब कविता ही नहीं लिखूँगा । उनकी पीड़ा मुझे छू रही थी । वे प्राय: एकालाप की तरह बोलते चले गये । अपने के हाथ से लगी चोट बहुत करारी होती है, यह क्रूर सच्चाई कुछ-कुछ समझ में आयी ।

फिर भी मैंने जोर लगा कर पूछा, 'यदि फिर भीतर का स्रोत उभर आये तब तो आप लिखेंगे ?' वे अविश्वास से मुस्कुराकर बोले, 'तब देखा जायेगा । अभी तो मैंने अपनी कविताओं का अन्तिम संग्रह तैयार करके भेज दिया है....छोटी सी भूमिका लिखी है, संग्रह का नाम रखा है, 'जाल समेटा' । शायद २४ जनवरी तक आ जाये । वह मेरा विवाह दिवस है । उस दिन तेजी को उसे अर्पित कर कहूंगा, तुमने कवि रूप में मुझे पाया था, अब वह समाप्त होता है ।'

मैंने पूछा, 'आप अब कुछ लिखना नहीं चाहते ?' उन्होंने हसरत भरे स्वर में कहा, "एक गीति नाट्य पढ़ा था मार्लो का डॉ. फॉस्ट्स, जिसमें वह अपनी मृत्यु की रात में अपने सारे जीवन का विश्लेषण करता है ।....तिष्यरक्षिता के माध्यम से मैं भी ऐसी एक रचना देना चाहता था । कुणाल के साथ अन्याय करने का संवाद पाकर अशोक ने तिष्यरक्षिता को जीवित जलवा दिया था । उस रात तिष्यरक्षिता ने क्या सोचा होगा....अपने असीम सौन्दर्य के बारे में....कुणाल और अशोक के साथ अपने सम्बन्ध के बारे में....वह कहानी तिष्यरक्षिता की होती और चूँकि मैं लिखता इसलिए मेरी भी होती....यानी जीवन के अन्तिम छोर पर पहुँचे मनुष्य की होती....पर शायद अब उसे नहीं लिख सकूँगा । मैंने अशोक से सम्बद्ध बहुत सामग्री एकत्र की है....कुछ लिखा भी है....पर अब उसे छूने का जी भी नहीं करता ।"

मैंने कहा, ठीक है, कविता का स्रोत सूख गया है अत: कविता नहीं लिख सकते पर अपनी आत्मकथा तो पूरी कर सकते हैं । तीसरा खंड तो आपने लिखना शुरू भी कर दिया था । वे बोले, "वह भी बेकार का काम लगता है । अपने साधारण से जीवन को कितना फैलाऊँ। फिर यह भी है कि तीसरे, चौथे खंड में जो कुछ जिन लोगों के बारे में लिखना चाहता हूँ। वह बहुतों को बहुत बुरा लगेगा। ....यदि वह न लिखूँ तो फिर लिखकर क्या होगा ? मैं जीवित विशिष्ट व्यक्तियों के बारे में अब अधिक लिखकर विवेंडा खड़ा करना नहीं चाहता। इस पर मैंने कहा, "आप लिख तो डालिये भले मौ. आजाद की तरह निर्देश दे जाइयेगा कि इसका प्रकाशन मेरी मृत्यु के २५-३० वर्षों बाद हो। वे बोले, यदि लिखूँगा तो ऐसा निर्देश अवश्य दे जाऊँगा।" फिर दर्द भरे स्वर में

बोले, "अब मैं जीना नहीं चाहता । डेथविश (मरणेच्छा) मुझे घेर रही है। मेरे जीवन का अब कोई कारण या आधार मुझे प्रतीत नहीं होता । दोनों लड़के बड़े हो गये हैं.....अपने-अपने क्षेत्र में सुप्रतिष्ठित हैं, उनके लिए अब मैं अनावश्यक हूँ।" मेरे यह कहने पर 'किन्तु तेजी जी के लिए...' वे गमगीन स्वर में बोले, "मेरी उम्र पर पहुँच कर आपको भी शायद लगे कि एक उम्र के बाद नारी भी अनावश्यक हो जाती है....नारी के लिए शायद पुरुष भी आवश्यक नहीं रहता ।....हाँ, यदि आध्यात्मिक उपलब्धि हो तो शायद मेरे लिए जीने का अर्थ बन सकता है । पर मेरा जैसा स्वभाव है, उससे मुझे लगता है कि न तो मैं पूर्णतः विश्वास कर सकता हूँ, न आत्म समर्पण ही। बड़े-बड़े विज्ञापित, प्रचारित महात्माओं से मिलकर मुझे लगता है कि ये लोग धर्म का व्यवसाय ही करते हैं । सच्चे महात्माओं तक मेरी पहुँच नहीं है । जो हो, बहुत जी चुका, अब जी कर क्या करूँगा ।....शब्द अब मेरे लिए काफी नहीं हैं, इसीलिए लिखना मुझे निरर्थक लगने लगा है ।"

मैंने उनसे पूछा, "दिल्ली में तो आपके पास बहुत पुस्तकें थी...अच्छा खासा पुस्तकालय ही था । क्या वे सब पुस्तकें आप बम्बई ले आये ?" वे बोले, "नहीं, मैंने सारी पुस्तकें प्रियजनों में बाँट दी । आते समय मैंने अपना आवास भी बिलकुल साफ सुथरा करके छोड़ा है । नये आने वाले के लिए उनको कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए । ऐसा ही मैंने इंगलैंड में भी किया था ।" फिर उन्होंने बहुत दर्द के साथ कहा, "दिल्ली में तभी तक रहना चाहिए जब तक आदमी की कोई हस्ती हो । खाली साहित्यकार के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है ।"

मैंने पूछा, "यहाँ आपकी दिनचर्या क्या रहती है ?" वे बोले, "समुद्र मुझे प्रिय है। रोज सुबह शाम घूमने जाता हूँ । किनारे बैठकर उसे देखता रहता हूँ । उसका आकर्षण अनन्त है । अज्ञेय ने भवन्ती में लिखा है कि समुद्र के प्रति इतना आकर्षण भी डेथविश (मरणेच्छा) का ही रूपान्तर है ।" मैंने इसका तीव्र प्रतिवाद किया । मैंने कहा, "मुझे नहीं मालूम कि अज्ञेय जी ने किस आधार पर समुद्र के प्रति आकर्षण को मरणेच्छा का रूप बताया है । गीता में तो श्रीकृष्ण ने कहा है 'सरसामस्मि सागरः' जलाशयों में मैं समुद्र हूँ । इस दृष्टि से तो समुद्र के प्रति आकर्षण को भगवान के प्रति आकर्षण मानना चाहिए । वे बोले, "ठीक है, आप ही की बात मान लेता हूँ । पर अपने मन की बात तो मैंने आपको बता ही दी ।" वे मेरे आने से और मुझसे बातचीत कर खुश हुए, यह बिलकुल स्पष्ट था। उन्होंने पत्र लिखते रहने और अपनी पुस्तकें भिजवाने को कहा । परिवार के प्रति मंगल कामनाएँ दीं।

प्रभु कृपा से बच्चन जी अपने इस अवसाद से उबर सके । उनके पुत्रों के विवाह हुए। हमलोगों का पत्राचार चलता रहा। रमोला-अजिताभ के विवाह पर मेरी मंगल

कामनाओं के लिए आभार स्वीकारते हुए उन्होंने यह सूचनादी कि 'टूटी छूटी कड़ियाँ' के नाम से उनका अन्तिम निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो गया है। उसके बाद उनका एक छोटा सा प्यारा सा पत्र मिला, '१७-३-७४ को कन्या रत्न के जन्म पर जया-अमिताभ ने मातृ पितृ पद प्राप्त किया । आशीष दें । अनुगृहीत करें ।' मुझे अच्छा लगा कि बच्चन जी का मन फिर व्यवहार में रम रहा है । वे फिर से कुछ पढ़ने-लिखने भी लगे थे।

१९७६ के सितम्बर में मैं बम्बई गया था कुछ साहित्यिक काम भी था, कुछ पारिवारिक काम भी था । बच्चन जी वहीं थे । मैंने फ़ोन किया तो बोले, 'आ जाइये।' १३-९-७६ को मैं अपनी बेटी भारती और जामाता विनोद के साथ उनसे मिलने गया।

बच्चन जी बहुत प्रेम से मिले। तेजी जी कहीं गयी हुई थीं। हमलोगों का स्वागत सत्कार जया भादुड़ी जी ने किया । भारती और विनोद इससे बहुत प्रसन्न हुए। उनलोगों की गोष्ठी अलग जमी। जयाजी अपनी नयी फिल्म 'डागदर बाबू' के सम्बन्ध में उन लोगों को बताती रहीं। उन्होंने ही हमलोगों को जलपान भी कराया। बच्चन जी ने बताया, "जया सोमवार को व्रत करती है । शिवजी को दूध से स्नान कराती है और अपने बच्चों को *"अजर अमर गुननिधि सुत होहु करहुँ बहुत रघुनायक छोहू"* कहकर आशीर्वाद देती है। बच्चन जी ने अमिताभ के बंगले में एक तरफ छोटा सा मन्दिर भी बनवाया है। हमलोगों को ले जाकर उन्होंने शिवजी, रामजी, सीताजी, हनुमानजी के दर्शन भी कराये। मुझे बहुत अच्छा लगा। मैंने जया को बताया कि शिवजी को दुग्ध स्नान कराने के बाद शुद्धोदक स्नान-शुद्ध जल से भी स्नान कराना चाहिए। वह बोली, "अरे मैं तो दूध से स्नान कराने के बाद जल से स्नान नहीं कराती थी। अब कराया करूँगी ।"

बच्चन जी आत्मकथा के तीसरे खंड पर काम कर रहे थे । मुझे बहुत आनन्द मिला यह देखकर कि बच्चन जी फिर साहित्य सृजन पर जुट गये हैं । कविताएँ तो उन्होंने अधिक नहीं लिखीं किन्तु 'जाल समेटा' के बाद भी वे कभी-कभी कविताएँ लिख लेते थे। उनकी ये कविताएँ उनकी रचनावली के तीसरे खंड में 'असंकलित कविताएँ' शीर्षक के अन्तर्गत छपी हैं।

आपातकाल की घोषणा से बच्चन जी प्रसन्न नहीं थे किन्तु इन्दिराजी से व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण उस सम्बन्ध में कुछ बोलते नहीं थे । उस विषय पर चुप ही रहते थे। मैं आपातकाल का डटकर विरोध करता रहा। बम्बई की साहित्यिक गोष्ठी में भी मैंने आपातकाल के विरोध में अपना वक्तव्य दिया था। बच्चन जी मेरा मत जानते थे पर हम दोनों ने एक दूसरे के मनोभावों का आदर कर इस पर बातचीत नहीं की। १९७६ में वे फिर दिल्ली चले गये । मुझे उन्होंने दो-तीन पत्र लिखे कि दिल्ली आऊँ तो उनसे जरूर मिलूँ ।

१९७७ के चुनाव में कांग्रेस बुरी तरह हारी । नयी सरकार ने नौ राज्यों के चुनाव

भी करवाये। मित्रों के अतिशय दबाव के कारण मैं प. बंगाल विधान सभा के चुनाव में खड़ा हुआ । प्रभु कृपा से जीत भी गया । बच्चन जी को यह खबर मिली तो उन्होंने ३-८-७७ के अपने पत्र में मुझे लिखा—

भैया,

तुम राजनीति क्षेत्र में पहुँच गए । मैंने भगवान से प्रार्थना की तुम्हारी रक्षा करें । शेष सामान्य । शुभ कामनाएँ ।

सस्नेह, बच्चन

मैं सचमुच मानता हूँ कि बच्चन जी और कुछ अन्य गुरुजनों की प्रार्थना का ही यह सुफल है कि मैं राजनीति में रहकर भी ज्यादा नहीं बिगड़ा । बच्चन जी के इस पत्र को मैं अपने लिए बहुत बड़ा आशीर्वाद मानता हूँ । प्रभु कृपा से मैं अपने गुरुजनों और मित्रों की सद्भावना का पात्र बना रह सकूँ ।

१९७७ के अन्त में उनका आत्मकथा का तीसरा खंड प्रकाशित हुआ 'बसेरे से दूर'। मैंने उसे बहुत ध्यान से पढ़ा। उसके कई अंशों से प्रभावित भी हुआ। पर पहले दो खंडों की सी प्रभविष्णुता उसमें नहीं लगी। १९७२ के अन्त में जब उन्होंने इसका लेखन स्थगित कर दिया था, तब उन्होंने मुझसे कहा था कि मैंने तीसरा, चौथा खंड लिखना स्थगित कर दिया है क्योंकि यदि सच सच लिखूँगा तो बहुतों को बुरा लगेगा और यदि सच न लिखूँ तो लिखकर क्या होगा। प्रकाशित पुस्तक में किसी के बारे में (एक राक्षस को छोड़कर उसका भी उन्होंने नाम नहीं लिखा) उन्होंने ऐसा नहीं लिखा, जिससे कोई वितंडा खड़ा होता। पर पुस्तक के अन्त में उन्होंने यह भी जोड़ दिया, "मैं कहना चाहूँगा कि जीवन के सत्य और शब्द के सत्य में कोई साम्य नहीं है और जीवन की दृष्टि से शब्दों का सत्य एक बहुत बड़ा लेकिन बहुत सुन्दर झूठ है। मुझे मालूम नहीं उन्होंने यह उद्‌गार क्यों प्रकट किया । मैंने उनकी आत्मकथा के तीसरे खंड के बारे में अपना मनोभाव उन्हें लिख भेजा। पर इस विषय पर उन्होंने मुझे कुछ नहीं लिखा।

१९७९ को फरवरी में मैं लम्बी विदेश यात्रा पर गया। पारामारिबो (सुरीनाम) में आयोजित सूरपंचशती में भाग लेने के लिए भारत सरकार ने मुझे भेजा। लौटते समय में अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली का चक्कर लगाकर ५ मार्च, १९७९ को बम्बई उतरा। बच्चन जी से मिला तो उन्होंने खोद खोद कर सुरीनाम, गयाना, ट्रिनिडाड के भारतीय मूल के नागरिकों के बारे में पूछा। उन देशों में रामचरितमानस, हनुमान चालीसा की लोकप्रियता का विवरण सुनकर उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई। मैं लंदन में कवि दम्पति ओंकार श्रीवास्तव और कीर्तिजी से मिला था। ओंकार जी बीबीसी के हिन्दी विभाग में

कार्य करते थे । उनके सौजन्य से बी.बी.सी. से मेरी वार्ता भी प्रसारित हुई थी। ओंकार जी बच्चन जी के अत्यन्त स्नेहभाजन छात्र रहे हैं। उन्होंने विस्तार से उनके और कीर्तिजी के बारे में पूछताछ की। बहुत आग्रहपूर्वक उन्होंने मुझसे कहा, आप इस यात्रा का विस्तृत वृतान्त लिख डालें। पर मैं उनके आदेश का आधा पालन ही कर सका। केवल सूरीनाम, गयाना, ट्रिनिडाड का यात्रा विवरण ही लिख पाया। सचमुच राजनीति बहुत कम समय देती है दूसरे कामों को करने के लिए।

बच्चन जी उन दिनों अपनी आत्मकथा का चौथा खंड लिखने का मन बना रहे थे पर निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि इधर की घटनाओं का यथातथ्य विवरण लिख पाना संभव हो पायेगा कि नहीं । मैंने कहा, 'जितना लिख सकते हैं उतना लिख दीजियेगा बाकी छोड़ दीजियेगा । बंगला में एक कहावत है, नाइ मामा थेके काना मामा भालो (मामा हो ही नहीं, इससे तो काना मामा हो यह भी अच्छा है) वे हंस पड़े, बोले 'बात तो ठीक है ।'

१९८२ में शूटिंग के दौरान अमिताभ जी बहुत घायल हो गये । देशभर में उनके लिए सहानुभूति की लहर उमड़ पड़ी । उनके स्वास्थ्य के लिए जगह जगह पूजन, आराधना, यज्ञ आदि भी हुए । मैंने भी एक पत्र बच्चन जी को लिखा कि प्रभु कृपा से अमिताभ जी स्वस्थ हो जायेंगे । ५-८-८२ को उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा, अमिताभ की दशा में सुधार है । चिन्ता, शुभकामना, प्रार्थना, आशीष के लिए चिर आभारी । बच्चन।

नवम्बर १९८४ में मैं दिल्ली में था । बच्चन जी भी उन दिनों वहीं थे, गुलमोहर पार्क के अमिताभ के बँगले में । मैं १५ नवम्बर को उनसे मिलने गया। वे प्रेमपूर्वक मिले। इन्दिराजी की नृशंस हत्या का उन्हें बहुत बड़ा धक्का लगा था। जीवन की अस्थिरता और अघटन के घटने की आशंका का उन्होंने जैसे फिर से साक्षात्कार किया था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि उन्हें लगा कि उन्हें अपने अवशिष्ट कार्यों को यथाशीघ्र पूर्ण कर देना चाहिए। वे आत्मकथा के चौथे खंड के लेखन पर जुट गये थे। उनकी कार्यनिष्ठा के प्रति मेरे मन में श्रद्धा जागी । इस बड़े आघात के बाद सतहत्तर वर्ष की उम्र में अस्वस्थता के बावजूद नियमपूर्वक लेखन कार्य पर वे जुटे हुए थे । मुझे लगा कि हमलोग जो कई प्रकार के बहाने बनाकर काम टालते रहते हैं, ऐसा कर वस्तुतः अन्याय करते हैं। मैंने उनसे कहा, "मैं आपके इस मनोबल से प्रेरणा लूँगा और अपने कई बकाया कामों को पूरा करने की चेष्टा करूँगा।" वे खुश हुए—

उन्होंने एक और सुखद आश्चर्य से मुझे पुलकित कर दिया। वे कविता न लिखने की घोषणा कर चुके थे। पर 'छुटती नहीं ये काफिर मुँह से लगी हुई'। इधर उन्होंने भक्ति का एक गीत लिखा था। मुझे बहुत ही अच्छा लगा जब उन्होंने उसे गाकर सुनाया। मैंने उसे लिख लिया और याद भी कर लिया । उद्धृत है वह गीत—

अब मैं केवल जोग तुम्हारे ।
दर्पन हंसकर बोला, बावरा जो तुझ पर तन वारे ।
अन्दर पैठा, बैठ गया मन, लाज हया के मारे ।
साधन करते सब दिन बीते, जीते जो सो हारे ।
जैसा हूँ, वैसा ही मुझको, ऐसा कौन दुलारे ।
अब मैं केवल जोग तुम्हारे ।

मुझे लगा, हृदय में प्रगाढ़ भक्ति हुए बिना ऐसा गीत कैसे लिखा जा सकता है। कितनी सहज स्वीकृति है अपनी करुण स्थिति की । जिस तन पर पहले बहुत से लोग रीझते थे, अब वह कैसा जर्जर हो गया है। दर्पण सच्चाई का दर्शन भी कराता और हँसकर कहता भी है कि ऐसा बावरा कौन होगा जो तेरे इस श्रीहीन तन पर अपना तन वारे। कवि को अपने मन पर थोड़ा गुमान हुआ होगा, कभी उसने कहा भी था *'अर्थ और आखर के बल का, कुछ मैं भी अधिकारी'* उसे लगा होगा न सही तन पर, उसके मन की विशदता पर तो लोग रीझ सकते हैं। पर जब उसने भीतर बैठकर विवेक की दृष्टि से मन को देखा और उसे हीन लालसाओं से भरा पाया तो शर्म के मारे वह सिर झुकाकर बैठ गया। साधनों का क्या भरोसा किया जाये। बड़े-बड़े साधकों को वह देख चुका है, साधनों पर विजय पाने का अहंकार ही उन्हें डुबा देता है । और फिर इस उम्र में इस स्थिति में साधन कैसे किये जा सकते हैं। मैं जैसा हूँ अब तो वैसा ही हूँ कल तो शायद वैसा भी न रह पाऊँ.....कौन है इस दुनिया में जो इस प्रकार के दीन हीन को अपना दुलार दे.....तभी उसका संस्कारी मन, तुलसी भक्त मन से बताता है कि राम ही हैं जो अशरण शरण हैं, जो दीनबन्धु हैं, पतित पावन हैं और वह कह उठता है अब मैं केवल जोग तुम्हारे। अब तुम्हीं मुझे आश्रय दो, अपना लो।

मैं उनसे पिछली बार दिल्ली में ही मिला २८ अक्टूबर १९८६ को । मैंने फोन कर दिया था कि मैं आ रहा हूँ । कहीं उलझ जाने के कारण मुझे कुछ देर हो गयी । वे प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्होंने देर से आने का उलाहना भी दिया । मैंने देखा वे अशक्त होते जा रहे थे । हाथ, पैर और मुँह में थोड़ी सूजन भी थी । सेवक का हाथ पकड़कर चल रहे थे । मैंने आगे बढ़कर उनका हाथ पकड़ लिया तो खुश हुए । उनकी आत्मकथा का चौथा खंड 'दशद्वार से सोपान तक' प्रकाशित हो चुका था । उसकी एक प्रति उन्होंने मुझे भेंट में दी। बेटे, बहुएँ, पोते पोतियाँ विदेश में थे। तेजी जी की तबीयत भी ठीक नहीं थी। अकेले रहना उनको अनुकूल नहीं लग रहा था । वे बोले, 'पर निर्भर हो गया हूँ। प्रभु उठा लें तो अच्छा है।' मैंने प्रतिवाद करते हुए कहा, 'ऐसा क्यों कहते हैं । प्रभु का स्मरण करते रहें तो अच्छा है।' 'स्वस्थ शरीर के बिना उनका स्मरण कैसे होगा।' उन्होंने जिस दृष्टि से मुझे देखा, उसमें निःस्पृहता ही अधिक थी, कातरता कम। वे अधिक बात

भी नहीं कर पा रहे थे। उन्हें लगा और मुझे भी लगा कि उन्हें अधिक बोलना रास नहीं आ रहा है। मैंने श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर विदा ली।

उसके बाद दो तीन बार बम्बई में मैंने उनसे मिलने की चेष्टा की पर परिवार के नियंत्रण के कारण उनसे मिलना, यहाँ तक कि टेलीफोन पर बात करना भी संभव नहीं हो सका। मैंने नहीं जानता कि इन दिनों वे किस मनःस्थिति में हैं, कुछ लिख-पढ़ रहे हैं या नहीं। पर मुझे उनकी प्रकृति पर भरोसा है। वे अब भी जीवन का कुछ न कुछ शुभ पक्ष निकाल कर उसके प्रति समर्पित होंगे। अपनी अभी तक की अन्तिम कविता पुस्तक 'जाल समेटा' में उन्होंने अपने इस सम्बल की ओर संकेत किया है । उस कविता को उद्धृत कर मैं अपनी श्रद्धा उन्हें पुनः निवेदित करता हूँ —

मैं जीवन की हर हलचल से
कुछ पल सुखमय
अमरण-अक्षय
चुन लेता हूँ ।
मैं जग के हर कोलाहल में
कुछ स्वर मधुमय
उन्मुक्त-अभय
सुन लेता हूँ ।
हर काल कठिन के बन्धन से
ले तार तरल
कुछ मृद मंगल
मैं सुधि-पट पर
बुन लेता हूँ । ●

विधायक की यातना

"शास्त्री जी, आपोंक मेरे साथ मेरी ससुराल चलना ही होगा !"

"क्यों भाई, आज वहाँ दावत है क्या ?"

"जी नहीं, मेरे ससुर जी कल एक विधायक को ले कर मेरे घर आये थे । विधायक का रोब डाल कर वे अपनी बेटी को मेरी इच्छा के विरुद्ध अपने घर ले गये । आज मैं...."

बड़ी मुश्किल से मैंने उस विक्षुब्ध नौजवान को शान्त किया । वह मेरे एक कार्यकर्ता का मित्र था और उसी के साथ आया था । धीरे-धीरे बात साफ हुई । ससुर-जमाई में किसी बात को लेकर खटपट हो गयी थी । तब से वह अपनी पत्नी को उसके मायके नहीं भेजता था । वह माँ बनने वाली थी, आठवाँ महीना चल रहा था । घर में और कोई महिला नहीं थी । अतः उसकी तीमारदारी होना तो दूर रहा, उसे काफी परिश्रम भी करना पड़ता था । यह समाचार पा कर उसका पिता एक विधायक को साथ लेकर आया और अपनी बेटी को ले गया । विक्षुब्ध जामाता जी चाहते थे कि एक अदद विधायक को ले कर वे अपनी ससुराल जायें, ससुर जी पर रोब गालिब करें कि वे बी एक विधायक को ला सकते हैं, चाहे एक दिन के लिए ही क्यों न हो, अपनी पत्नी को घर लायें और फिर स्वयं उसे उसके पीहर छोड़ आयें । विधायक का ऐसा उपयोग भी हो सकता है, यह मेरी कल्पना के बाहर की बात थी । भगवान् की कृपा ही इसे मानता हूँ कि बेटी के बाप की हैसियत से जब मैंने उसे समझाया तो वह मान गया और मन में भले मुझे पर नाराज हुआ हो, प्रत्यक्षः तो शान्त हो कर ही वापस गया ।

कैसा अद्‌भुत है अपना यह देश, कैसी-कैसी अपेक्षाएँ लोग विधायकों से रखते हैं । नौकरी, कोटा, परमिट, सरकारी प्लॉट, स्कूल-कॉलेज में प्रवेश, सच्चरित्रता का प्रमाण-पत्र, रेल, हवाई जहाज में आरक्षण, राशनकार्ड, पासपोर्ट, सरकारी अस्पतालों में इलाज, पुलिस की वैध-अवैध सहायता और राम जाने किस-किस समस्या का समाधान पाने की इच्छा से लोग विधायकों, सांसदों को घेरे रहते हैं । घाघ लोग इसमें

काफी रस लेते हैं, काम करवायें या न करा पायें, लोगों को बुलाते-लौटाते रहते हैं....और इसी तरह अपना भी ऊल्लू सीधा करते रहते हैं ।

मैं ठहरा प्राध्यापक, वह भी साहित्य का, व्यावहारिक राजनीति से एकदम कोरा! शुरू-शुरू में इन हमलों से आतंकित हो उठा था । पर मैंने शीघ्र ही अपने को सम्हाला और नियम बना लिया कि किसी को अकारण दुबारा नहीं बुलाऊँगा । इसी के चलते जो काम मेरे अधिकार-क्षेत्र के भीतर होता उसे तुरन्त कर देता, जो मेरे अधिकार के बाहर होता या मेरी दृष्टि से गलत होता उसके लिए दो-टूक जवाब दे देता । इससे भी कई लोग नाराज होते, कहते, "साहब, काम यदि कानून के अनुसार सीधे-सीधे हो जानेवाला होता तो आपके पास आते ही क्यों ? आपके पास तो आये ही इसलिए हैं कि.....।" अब इस 'इसलिए' का मेरे पास एक ही जवाब था, "भाई, 'इसके लिए' तो आपको किसी और के पास जाना होगा ।" ऐसे लोग प्रायः सम्पन्न वर्ग के होते और नाराज हो कर जाते । किन्तु शीघ्र ही यह बात फैल गयी कि शास्त्री जी के पास 'ऐसे कार्यों' के लिए जाना बेकार है और उत्तरोत्तर ऐसे लोगों का आना कम होता गया ।

फिर भी हर सुबह दो-ढाई घंटे मुझे लोगों के अभाव-अभियोगों की बातें सुनने में, अनेक प्रकार के आवेदन-पत्रों को संस्तुति करने में तथा पुलिस और सरकारी दफ्तरों के अधिकारियों को फोन करने में बिताने पड़ते थे । शुरू-शुरू में मुझे यह बात भी अखरती थी कि जिनका 'श्रीमुख' पहले कभी देखा ही नहीं था, उन्हें भी सच्चरित्रता का प्रमाण-पत्र देते समय लिखना पड़ता था कि मैं उन्हें तीन या पाँच या अधिक सालों से जानता हूँ । बाद में तो मैंने मन को समझा लिया था कि एम.एल.ए. एक व्यक्ति ही नहीं होता, किसी पार्टी का और किसी इलाके का प्रतिनिधि भी होता है। अतः यदि आपका कोई कार्यकर्ता या परिचित किसी को जानता है तो आप भी उसे जानते हैं । विधायक-काल के पाँच वर्षों में मुझे सच्चरित्रता के इतने प्रमाण-पत्र देने पड़े हैं कि लगता है कि अब मेरे इलाके में कोई दुश्चरित्र व्यक्ति रह ही नहीं गया है।

संस्कृत की एक कहावत है : 'अर्थी दोषं न पश्यति', जरूरतमन्द अपनी इच्छा या व्यवहार के दोषों को नहीं देख पाता । इसकी सत्यता का अनुभव पिछले पाँच वर्षों में पग-पग पर हुआ। बहुत बार बहुत-से लोग स्थान, काल, क्षमता आदि का विचार किये बिना अपनी जरूरतें पूरी कराने के लिए विधायक के पीछे पड़ जाते हैं और बहुत से विधायक भी ऐसे होते हैं, जिन्हें अपनी सार्थकता का बोध ऐसे लोगों से घिरे रहने पर ही होता है। मैं सोचा करता था कि विधायक का मुख्य कार्य विधान सभा में प्रस्तुत विधेयकों या लोकहित के विषयों पर युक्तियुक्त प्रभावशाली व्याख्यान देना है किन्तु अनुभव ने बताया कि लोक-दृष्टि में ही नहीं, बहुत से प्रवीण माने जानेवाले विधायकों की दृष्टि में भी वह कार्य नितान्त गौण है, मुख्य है लोगों के गलत काम करवाते रहना

या सही कामों में अड़ंगे डालते रहना। सही काम करनेवाला विधायक श्रेय का भागी नहीं होता । आजकल के जमाने में विधायक का प्रभाव इस पर निर्भर करता है कि वह कितने गलत काम करवा सकता है और आतंक उसका तभी व्यापता है जब अपनी पूजा न होने पर वह सही काम भी न होने दे। सही काम करने करानेवाला विधायक अधिक योग्य और गुणी हो सकता है किन्तु स्वार्थी लोग तो पूजा उसी की करते हैं जो उनकी अनुचित स्वार्थ-सिद्धि करा सके या रुष्ट होने पर उनके स्वार्थ को धक्का पहुँचा सके। आखिर लोग भय के कारण नागों की पूजा करते हैं, अनिष्ट न करनेवाले गरुड़ की पूजा कोई नहीं करता! राजकाज का व्यावहारिक अनुभव रखनेवाले बिहारी का बड़ा मार्मिक दोहा है—

बसै बुराई जासु तन ताही को सनमान।
भलो भलो कहि छाँड़िये खोटे ग्रह जपदान।।

पर 'सूरदास कारी कमरी पै चढ़त न दूजो रंग!' सो मुझ पर रंग चढ़ नहीं पाया, इसीलिए राजनीतिक अर्थों में सफल (?) विधायक भी नहीं बन सका। पर मुझे उसके लिए अफसोस नहीं है। मेरे इलाके की जनता मुझसे आतंकित न हो कर आश्वस्त रही, मैं इसे ही अपने लिए श्रेयस्कर समझता हूँ।

विधान सभा के भीतर का काम भी मेरे लिए पूरी तरह सुखद रहा, ऐसा नहीं कह सकता। मैं जनता पार्टी के टिकट पर चुना गया था जो नाम के लिए ही एक पार्टी थी, काम के लिए नहीं। पाँच दलों के गठजोड़ से बनी यह पार्टी भीतर से एक हो कर बहुत कम मुद्दों पर काम कर सकी। फिर भी यह सच है कि पश्चिम बंगाल में जनता पार्टी के मूल संगठन की तुलना में विधानसभाई दल में कहीं ज्यादा एकता और बन्धुत्व की भावना थी। हम लोगों की संख्या तो २९ थी किन्तु अच्छा बोलनेवाले ५-६ व्यक्ति ही थे, जिनमें एक मुझे भी माना जाता था । फिर भी मुझे बोलने के अवसर अपेक्षाकृत कम ही मिले। एक तो मैं अपनी ओर से बोलने का आग्रह नहीं करता था, दूसरे मुझे लगता था कि दलीय सन्तुलन बनाये रखने के लिए भी मुझे कुछ कम बोलना चाहिए । दल के सर्वाधिक प्रभावशाली वक्ता थे हरिपद भारती और काशीकांत मैत्र । काशी बाबू दल के नेता थे, भारती जी सचिव थे। उप नेता थे प्रबोध चन्द्र सिन्हा, सचेतक थे प्रद्योत महन्ती, कोषाध्यक्ष मैं था। जनसंघ मूल के दो ही विधायक थे – भारती जी और मैं। भारती जी को पार्टी के सुयश के लिए बोलने का अवसर देने के लिए पार्टी बाध्य थी। मेरे अधिक बार बोलने पर पार्टी के भीतर अन्य दलों के विधायकों को लग सकता था कि भूतपूर्व जनसंघी अपनी शक्ति की तुलना में बहुत अधिक प्रमुखता पा रहे हैं। हम दोनों के दलीय पदाधिकारी बन जाने पर भी अस्फुट स्वर में यह शिकायत हुई थी। अतः मैं अधिक शिकायतों का मौका नहीं देना चाहता था। फिर भारतीय जनता पार्टी में

चले आने पर हम लोग सिर्फ दो जन ही रह गये थे। छोटी पार्टी होने के कारण हम लोगों को समय भी कम मिलता, जिसका अधिक उपयोग भारती जी करें, पार्टी की दृष्टि से यही इष्ट था।

मैंने गौर किया कि बहुत कम विधायक अपने विषय का समुचित अध्ययन कर युक्तियुक्त शैली में अपनी बात कहते थे। अधिकतर विधायक मैदानी सभाओं के भाषणों और विधान सभा के वक्तव्यों में अन्तर नहीं करते थे। उसी प्रकार जोश के आरोह-अवरोह के साथ मुट्ठी बँधे हाथों का उठना-गिरना, उग्र भाषा में अपर पक्ष की भत्सर्ना करना, नाटकीय आक्रामक भंगिमा से तथ्यों की दरिद्रता को ढाँकना बहुतेरी विधानसभाई वक्तृताओं में भी परिलक्षित होनेवाले करतब थे। कुछ लोग तो विधान सभा के नियम के विरुद्ध बीच-बीच में बन्धुगण या कॉमरेड भी कह देते थे। कुछ लोग ऐसे भी थे जो विधान सभा को अखाड़ा बनाने पर तुले हुए थे। इन्दिरा कांग्रेस के सुनीति चट्टराज, सत्य बापुली और रजनी दोलुई, जनता पार्टी के किरणमय नन्द और जन्मेजय ओझा, गोरखालीग के श्री देवप्रकाश राइ और श्रीमती रेणुलीना सुब्बा 'युद्धं देहि' की मुद्रा में ही रहते। वे लोग बात-बात पर मन्त्रियों से झगड़ते, अपनी बात पर अड़े रहते, शोरगुल मचाते, एक साथ कोरस में अपनी बात कहते रहते, कभी-कभी तो स्पीकर को घेर भी लेते। डॉ. अशोक मित्र, कमल गुल, जतीन चक्रवर्ती जैसे मन्त्रियों का व्यवहार कभी-कभी उनके विक्षोभ के लिए ईंधन भी जुटा देता था। यह सब मुझे बड़ा अटपटा, नकली और अखबारों में नाम छपवाने का सस्ता नुस्खा लगता। सरकारी पक्ष के किसी बड़े अन्याय को उजागर करने के लिए कभी-कभी विरोधी दलों की सामूहिक उग्रता आवश्यक हो सकती है, यह मैं मानता हूँ किन्तु यह भी मानता हूँ कि कभी-कभी ही ऐसी भूमिका निभाने का सच्चा प्रयोजन होता है। ज्यादातर ऐसी चीख-पुकारें और युद्ध-मुद्राएँ नकली और यश-लिप्सा से प्रेरित होती हैं। मैं अपने स्वभाव और पेशे के संस्कार के कारण भी इस प्रकार की हरकतें नहीं कर सकता था, नहीं करता था। फलतः अखबारों में मेरा नाम उन लोगों की तुलना में बहुत कम आता था। मुझे यह देख कर ग्लानि होती थी कि अखबारों में अपना नाम, वक्तव्य छपाने के लिए कुछ विधायक संवाददाताओं को न केवल खिलाते-पिलाते रहते थे, बल्कि उनकी खुशामद भी करते थे। ऐसे लोगों के नाम जरूर छपते रहते थे पर पत्रकार उन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे।

विधान सभा में बोलने के बारे में मैंने अपने लिए कुछ नियम बना रखे थे। मैं विधान सभा में सदा बंगला में ही बोला। हिन्दी में बोलना मना नहीं था। कुछ गैर-बंगाली विधायक हिन्दी में बोलते भी थे किन्तु मैं प. बंगाल की विधान सभा में अपने को बंगाली के रूप में प्रस्तुत करना चाहता था, गैर-बंगाली के रूप में नहीं। मेरी बंगला साहित्यिक

संस्कारों से युक्त और व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध तो होती किन्तु मेरा उच्चारण शत-प्रतिशत बंगालियों जैसा नहीं होता, कहीं-कहीं उसमें झलक जाता कि बंगला मेरी मातृभाषा नहीं है। फिर भी मुझे इस बात का हर्ष है कि विपुल-संख्यक बंगाली मित्रों और पत्रकारों का स्नेह मुझे बंगला में बोलने का सत्साहस के कारण मिला।

विधान सभा में मैं जब जिस विषय पर बोला, पूरी तैयारी के साथ बोला। मैंने काशी बाबू से कह रखा था कि बोलने के दो-तीन दिन पहले मुझे सूचना मिलनी चाहिए। वे दो-तीन मेरे लिए कष्ट के दिन होते। पहली बार विधायक बना था। मेरी जो थोड़ी-सी जानकारी थी, वह साहित्य, संस्कृति, शिक्षा तक सीमित थी। बोलना पड़ता था पुलिस बजट, ऊर्जा संकट, भूमि राजस्व, बस्ती उन्नयन, विक्रय कर सम्बन्धी संशोधन जैसे विषयों पर! कहाँ सूर, तुलसी, पंत, निराला, बच्चन, दिनकर आदि की कविताएँ और कहाँ ये रूखे-सूखे, पेचीदे पित्तमार विषय! किन्तु 'आगे को चरण बढ़ा रण में पीछे न हटाने वाले हैं' की वृत्ति के कारण उन पर पिल पड़ता। विधान सभा पुस्तकालय से उन-उन विषयों की पुस्तकें निकलवा कर पढ़ता, उन विषयों के विशेषज्ञों का माथा चाटता, नोट्स लेता, उन्हें क्रमबद्ध करता और फिर पूरा व्याख्यान लिख डालता। अपने घर में इसके लिए अवकाश नहीं मिलता तो बिटिया के घर भाग जाता। अपना लिखित व्याख्यान पाँच-छह बार पढ़ लेता, तब विधान सभा में बोलता। सरकारी पक्ष को गालियाँ ही नहीं देता, उनकी उपलब्धियों-अच्छाइयों को स्वीकार भी करता, त्रुटियों-विफलताओं को निर्मम भाव से उजागर भी करता, उनके पाखंड का पर्दाफाश भी करता और कुछ रचनात्मक सुझाव भी देता। इसे मैं प्रभु की कृपा ही मानता हूँ कि विधान सभा में दिये गये मेरे व्याख्यानों की सदन के भीतर और बाहर प्रायः सराहना हुई।

मेरे व्याख्यानों की एक विशेषता यह भी होती कि मैं बंगला कविता के उपयुक्त उद्धरणों का उनमें मुक्त प्रयोग करता था। रवीन्द्रनाथ के उद्धरण तो कुछ और लोग भी दिया करते थे किन्तु मैंने जीवनानन्द दास, शंख घोष, सोमनाथ भट्टाचार्य जैसे आधुनिक कवियों की रचनाओं के प्रभावशाली अंशों को अपने वक्तव्य के समर्थन में उद्धृत कर न केवल विधायक बन्धुओं को बल्कि पत्रकारों को भी कई बार चमत्कृत कर दिया था।

३०-०६-७७ को प्रदत अपने पहले व्याख्यान में ही आपातकाल की भर्त्सना करते हुए मैंने जीवनानन्द दास की एक चुटीली कविता सुनायी थी, जिसकी पहली चार पंक्तियों का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है : *"अद्भुत अन्धकार उतरा है धरती पर आज/ जो सबसे ज्यादा अन्धे हैं वे ही देख रहे/जिनके उर में प्रेम नहीं है, प्रीति नहीं है, करुणा का भी लेश नहीं है/पत्ता तक न आज हिल सकता बिना उन्हीं की शुभ सम्मति के।"* दूसरे दिन सभी पत्रों ने मेरी वक्तृता और इस कविता की चर्चा की। एक न तो यह भी

लिखा कि शायद पहली बार पश्चिम बंगाल की विधान सभा में जीवनानन्द दास की कविता सुनाई गयी और उस पर तुर्रा यह कि सुनाने वाला था एक गैर-बंगाली।

विधानसभा में दिये गये अपने कुछ रोचक व्याख्यानों का उल्लेख करना चाहता हूँ। वामफ्रंट में सम्मिलित सभी दल विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता (ऑटोनॉमी) के समर्थक थे किन्तु उनकी सरकार ने एक-एक कर प. बंगाल के सभी विश्वविद्यालयों की निर्वाचित सेनेट, सिंडिकेट भंग कर उनका अधिग्रहण कर लिया था। इस पर स्वभावतः अधिकांश शिक्षाविद् क्षुब्ध थे । उच्च शिक्षा मन्त्री थे शंभु घोष जो बहुत मृदुभाषी और शान्त स्वभाव के थे। ८ मार्च'७८ को शिक्षा के बजट पर बोलते हुए मैंने कहा, "एक ओर व्यवहार के स्तर पर शान्त, शिष्ट शम्भु बाबू द्वारा रुद्र वेश धारण कर ऑर्डिनेंस के त्रिशूल से एक-के-बाद-एक विश्वविद्यालयों को विद्ध करते जाना और दूसरी ओर सिद्धान्त के स्तर पर विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता का समर्थन करना मूंछ रखकर रावण और मूँछ मुँडवा कर मन्दोदरी का अभिनय करने जैसा है। मैं इस दोमुँहेपन की तीव्र निन्दा करता हूँ।" मैंने तो एक बंगला लोकोक्ति का सहज भाव से इस्तेमाल किया था किन्तु संयोग से शंभु बाबू ने उसी दिन मूँछ मुँडवायी थी। विधान सभा में यार लोगों ने इसका खूब मजा लिया । दूसरे दिन कई अखबारों में इस चुटकी को प्रमुखता दे कर छापा गया।

वामफ्रंट सरकार के खिलाफ जनता पार्टी के वयोवृद्ध नेता प्रफुल्ल सेन ने करीब चार हजार अभियोग-पत्र राज्यपाल के पास भिजवाये थे। मुख्यमन्त्री ज्योति बाबू कई बार कह चुके थे कि प्रफुल्ल सेन का नाम अब अभियोग सेन रख देना चाहिए । ज्योति बाबू के अधीनस्थ एक विभाग में घटी अनियमितताओं का हवाला देते हुए मैंने कहा, "यदि ज्योति बाबू प्रफुल्ल सेन को अभियोग सेन पुकारते हैं तो बंगाल की जनता ज्योति बोस को अभियुक्त बोस कह कर पुकारेगी।" प्रफुल्ल बाबू एवं जनता पार्टी के अन्य मित्र इस उक्ति पर बहुत प्रसन्न हुए थे।

विरोधी दल के नेता ज्योति बोस और मुख्यमन्त्री ज्योति बोस में स्वाभाविक रूप से बहुत अन्तर था। कहां तो हर गलती के लिए कांग्रेसी सरकार को दोषी करार दे कर उसे ठीक करने का, जनता की हर आवश्यकता की पूर्ति करने का दावा, कहाँ जिम्मेदारियों को निभाते समय अपने दल और शासन के हितों को दृष्टिगत रखते हुए कदम उठाने का विवशता। १९६९ और '७१ के अनुभव भी उनके सामने थे। सच कहा जाये तो ज्योति बाबू की सरकार ने इस बार कोई बड़ा क्रान्तिकारी कदम उठाने के स्थान पर नगरों में पूँजीपतियों, शिक्षकों और सरकारी कर्मचारियों का तथा गाँवों में बटाईदारों का व्यापक सहयोग पाने की चेष्टा ही की, मजदूरों और खेतिहर मजदूरों को अपने संगठनों द्वारा नियन्त्रित रखा, उनका कोई बड़ा आन्दोलन चलने नहीं दिया। पूर्व बंगाल के

शरणार्थियों को दंडकारण्य में बसाने का विरोध वामपंथी दल बराबर करते रहे और माँग करते रहे कि उन्हें पश्चिम बंगाल में ही बसाया जाये। वामफ्रंट सरकार के गठन के बाद उसके एक मन्त्री के आमन्त्रण पर जब हजारों शरणार्थी सुन्दरबन में बस गये तो ज्योति बोस की सरकार ने नाकेबन्दी के द्वारा उन तक खाद्यान्न एवं पीने का पानी पहुँचना रोक कर, मरिचझाँपी में गोली चला कर नृशंसतापूर्वक उन्हें पुनः दंडकारण्य में वापस जाने के लिए बाध्य किया था। बिगड़ती कानून-व्यवस्था, बढ़ती महँगाई और बेरोजगारी, विद्युत्-संकट के कारण बन्द होते छोटे और मँझोले उद्योग, शिक्षा के क्षेत्र में मनमाने प्रयोग – इन सबने मिल कर बहुतों को, विशेषतः मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को, एक बड़ी सीमा तक वामफ्रंट सरकार के प्रति विक्षुब्ध कर दिया था। विरोधी दलों की समस्त आलोचनाओं का पेटेंट उत्तर ज्योति बोस एवं उनके अनुयायियों के पास यही था कि सारी खराबियाँ केन्द्रीय सरकार की गलत नीतियों के कारण हैं, सीमित क्षमता के कारण राज्य सरकार विशेष कुछ नहीं कर सकती, फिर भी बिहार, उत्तर प्रदेश आदि कांग्रेस-शासित राज्यों की तुलना में पश्चिम बंगाल की स्थिति बेहतर है। सारा दोष केन्द्रीय सरकार पर थोप कर, राज्यों के लिए अधिक क्षमता का नारा लगाकर वे एक सीमा तक साधारण जनता को बरगलाने में तो सफल हुए किन्तु कई बुद्धिजीवियों ने पश्चिम बंग सरकार की विफलता को भी रेखांकित किया। साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त बंगला के सशक्त कवि शंक घोष ने ज्योति बोस पर एक तीखी व्यंग्य कविता लिखी 'तुमि आर नेई से तुमि' (तुम अब वह पहले वाले तुम नहीं रहे)। ज्योति बोस द्वारा पेश किये गये बिजली विभाग के बजट का विरोध करते हुए १६-३-७९ को मैंने अपने व्याख्यान में यह कविता सुनायी तो विधान सभा में हलचल मच गयी। न केवल विरोधी दलों के सदस्यों ने बल्कि सरकारी दल के कई सदस्यों ने भी मुझसे यह कविता लिखने के लिए ली । उसी दिन शाम को विधान सभा की कार्यवाही की रेडियो पर आलोचना के प्रसंग में यह पूरी कविता पढ़ी गयी । उद्धृत हैं उसकी कुछ पंक्तियाँ—

तुमि बललें मानवता, आमि बललें पाप,
बन्ध करे दियेछे देश, समस्त तार झाँप ।
होक ना जीवन शुकनो खरा, बन्ध्या वा निष्फला ।
आमि बललें सेपाइ दिये उपड़े नेवे गला ।।
तुमि बललें दंडके नय, आपन देशेइ चाइ ।
आमि बललें भंड केवल, लोक खेपाबार चाइ ।।
चोखेर सामने धुंकले मानुष, उड़िये दिबि टिया ।
तुमि बललें बिप्लव, आर आमि प्रतिक्रिया.....
तुमि आर नेई से तुमि।

अर्थात् तुम कहो तो मानवता है वही बात, मैं कहूँ तो 'पाप' है, (यह अचम्भा देख कर) देश ने अपने दरवाजे बन्द कर लिये हैं। (तुम्हारे शासन में) जीवन भले ही सूखा, बाँझ या निष्फल क्यों न हो यदि मैं उसे वैसा कह दूँ तो तुम अपने सिपाही से मेरा गला मरोड़वा दोगे। कहा था न तुमने कि (पूर्व बंगाल के शरणार्थियों को) दंडकारण्य में नहीं, अपने प्रदेश में ही बसाना होगा, वही बात मैं कहता हूँ तो लोगों को भड़कानेवाला पाखंडी घाघ करार दिया जाता है। आँखों के सामने हाँफते हुए आदमी को देख कर भी तुम तोते उड़ा देते हो । तुम कहो तो उसका अर्थ है 'विप्लव', मैं वही कहूँ तो वह 'प्रतिक्रिया' है। सचमुच अब तुम पहले वाले 'तुम' नहीं रहे।

कहावत है न, कि ढेंकी यदि स्वर्ग में जायेगी तो भी धान ही कूटेगी, सो मैं प्रसंग-संगत कविताएँ सुनाते रहने की अपनी आदत से विधान सभा में भी बाज न आया। शीशे से पत्थर तोड़ने का दावा तो नहीं करता किन्तु तुमुल कोलाहल कलह के राजनीतिक वातावरण में हृदय की भाषा में बात करने के कारण विरोधियों का भी स्नेह प्राप्त कर सका, यह सच है।

स्वाधीन भारत में बहुत-से पदों, मूल्यों, सिद्धान्तों का अवमूल्यन हुआ किन्तु जैसा शोचनीय अवमूल्यन लोक-दृष्टि में राजनेताओं का हुआ है, वैसा शायद ही किसी अन्य क्षेत्र में हुआ होगा। इसका तीखा अहसास मुझे लखनऊ में हुआ। उत्तर प्रदेश के अपने कुछ विधायक मित्रों से मिलने के लिए मैं वहाँ के विधायक निवास 'दारउलशफा' जाना चाहता था। हजरगंज में एक अपरिचित सज्जन से उसका रास्ता पूछने पर उन्होंने रास्ता तो बता दिया पर यह टिप्पणी भी जड़ी : 'नटबरलाल की साली सब औलादें वहीं बसती हैं।' ट्राम, बस, रेल या रेस्तराँ आदि में लोगों के मुँह से अक्सर सुनने को मिलता है, 'सब साले एम.एल.ए., एम.पी. चोर हैं।' किसी लेख या कहानी में पढ़ा था एम.एल.ए. का मतलब होता है 'महा लफंगा आवारा'! 'आया राम गया राम', 'लिया राम दिया राम' से आगे बढ़ कर जो विशेषण इस बार के हरियाणा-प्रसंग के बाद विधायकों को जनता ने देने शुरू किये हैं, उन्हें न लिखना ही बेहतर है। इसलिये अब अच्छे लोगों का राजनीति में बड़ी संख्या में पुनः प्रवेश बहुत आवश्यक लगता है किन्तु लक्षण ऐसे नहीं दिखाई पड़ते कि निकट भविष्य में ऐसा हो सकेगा। इसका एक प्रमाण यही है कि १९८२ में चुनाव में हार जाने के बाद मुझे अपनी साहित्यिक मित्र-मंडली से जो पत्र मिले उनमें से एक में भी अफसोस जाहिर नहीं किया गया था । बिना किसी अपवाद के सबने यही लिखा कि 'खैर मनाइए, एक बला छूटी, अब फिर जम कर पढ़ना-लिखना शुरू कर दीजिए।' जम कर लिखता रहूँगा कि नहीं, यह तो राम ही जानें, पर यह लेख उस दिशा में शुरुआत तो है ही। इस जमाने में विधायक पद 'दिल्ली का लड्डू' बन चुका है, जिसे खा कर या बिना खाये पछताने के लिए आप स्वतन्त्र है। ●

आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी : कश्मीर

कवियों के अनुसार प्रकृति कश्मीर में बैठकर अपना श्रृंगार करती है । हिमधवल श्रृंगों से घिरी यह रमणीय उपत्यका मुझे तो प्रकृति के रंगमहल की क्रीड़ा वाटिका सी लगती है। वसन्त या शरद् में यदि आप पीरपंजाल के उन्नत शिखर को माथा नवाकर बनिहाल की जवाहर सुरंग से कश्मीर में प्रवेश करें तो आपको लगेगा कि आप सुषमा की जादूपुरी में आ गये हैं। वैसे जाने को तो हवाई जहाज से भी वहाँ जा सकते हैं किन्तु तब कैसे देख पायेंगे आप वह घूमघुमौवा ऊँचा-नीचा रोमांचक पहाड़ी रास्ता जिसके एक ओर आकाशचुम्बी पर्वत है और दूसरी ओर अतलस्पर्शी खाई, जो अपनी भयंकरता में भी मोहक है, अपनी विशाल देवदारु वनराजि के कारण, आकर्षक जलप्रपातों के कारण, सघन शीतल छाया और उज्ज्वल प्रकाश की आँखमिचौनी के कारण, नयनाभिराम दृश्यों के कारण। रास्ता ही बता देता है कि इस पहाड़ी दीवार के उस पार जो शोभाशालिनी भूमि है, उसकी एक ही झलक आपके समस्त श्रम को सार्थक कर देगी। सचमुच आश्चर्य होता है कि उत्तर में २६, १८२ फुट ऊँचे नंगापर्वत और दक्षिण में १५, ५२३ फुट ऊँचे पीरपंजाल के बीच हिमालय के आँगन के समान करीब ८५ मील लम्बा और २५ मील चौड़ा वृहत् समतल क्षेत्र कैसे बन गया। प्रकृति के इसी शान्त एकान्त सुरम्य-स्थल में मन्दमन्द गति से प्रवाहित होनेवाली झेलम और उसकी शाखा नदियाँ हैं, डल, बुलर, मानसबल जैसी विशाल झीलें हैं, नीले जल और सफेद, लाल कमलों वाले कुण्ड हैं, निशात, शालामार जैसे उद्यान हैं, धान के हरे-हरे लहराते हुए खेत हैं, फूली हुई केसर की पीली-पीली क्यारियाँ हैं और ऊपर बना नीला, ममता भरा आकाश है। मेरा सौभाग्य है कि मैं वसन्त और शरद् दोनों ऋतुओं में कश्मीर के उदात्त सौन्दर्य के दर्शन कर चुका हूँ। शीतकालीन हिमक्रीड़ा के प्रेमियों के लिए भी कश्मीर आदर्श स्थान है किन्तु गरीब कश्मीरियों के

अनुसार शीत ऋतु में कश्मीर सफेद और ठंडा नरक बन जाता है । मैं इस ऋतु के उसके रूप रंग से परिचित नहीं हूँ अतः उसका वर्णन नहीं कर सकता । अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर ही प्रस्तुत कर रहा हूँ इस सौन्दर्यमय घाटी की कुछ झलकियाँ।

सपरिवार श्रीनगर पहुँचकर जब कश्मीर भ्रमण की योजना बनाने लगा तो मेरी आस्तिक भावना ने सुझाया कि कश्मीर परिदर्शन का श्रीगणेश आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित भगवान् शिव के दर्शन के द्वारा ही करना चाहिए । हम लोग यानी तोषी भाभी, दर्शन (मेरी पत्नी), भारती, अनू (दोनों लड़कियाँ) और मैं सुबह स्नान कर साढ़े आठ बजे ही शंकराचार्य जी की पहाड़ी के तले पहुँच गये। आद्याशक्ति का मन्दिर नीचे ही है, उनकी कृपा से ही तो शिव के दर्शन होते हैं।

श्रीनगर के एक किनारे अवस्थित यह पहाड़ी छोटी ही है और चढ़ाई भी सुगम है। किन्तु दर्शन का तो घर की सीढ़ी चढ़ने में ही दम फूलने लगता है, वह तो हजार छोटी हो, पहाड़ी ही थी। भारती सबसे आगे थी, कुछ दूर तक अनू उसके साथ रही फिर तोषी भाभी के साथ चलने लगी, कभी-कभी उनका सहारा लेकर। भाभी स्वस्थ गति से चढ़ रही थीं, जैसे बाग में टहल रही हों। दर्शन दस कदम चलकर दम लेने के लिए रुक जाती थी, मैं उसी के साथ था और एक तरह से क्रेन का काम कर रहा था। मुझे याद आया पिछली बार मेरे साथ कुमार, रवीन्द्र और सुरेन्द्र थे। एक तरह से दौड़ते हुए हम लोग पहाड़ी पर चढ़ गये थे। इस बार धीरे-धीरे हँसते बोलते, चारों तरफ के सुहाने दृश्य देखते हम लोग चोटी पर जा पहुँचे। कुछ दर्शनार्थी, कुछ विदेशी भ्रमणार्थी वहाँ हमलोगों से पहले ही पहुँच चुके थे। भगवान् शिव की पूजा तो की ही, भारत के दक्षिणतम छोर केरल के उस महान् आचार्य शंकर की मानस पूजा भी की जिसने दक्षिण उत्तर पूरब पश्चिम के भेद में अभेद की प्रतीति कराने के लिए चारों धामों की एवं उनके अतिरिक्त भी कितने ही तीर्थ स्थानों की स्थापना की जिनमें से एक के दर्शन हमलोग उस समय कर रहे थे। जम्मू कश्मीर धर्मार्थ ट्रस्ट ने मन्दिर के निकट ही शंकराचार्य जी की मूर्ति की प्रतिष्ठा कर प्रशंसनीय कार्य किया है।

भगवान् के दर्शन के बाद स्वाभाविक रूप से हमलोग देर तक चारों तरफ के दूर तक के दृश्य देखते रहे । डल झील में खड़े हाऊस बोटों एवं शिकारों की कतारें, चार-चिनारी के चारों तरफ फैले हुए डल का विशाल वक्ष, झेलम की टेढ़ी-मेढ़ी धारा और जगह-जगह उस पर बँधे हुए पुल, कुहासे में छिपे हुए ढालुआ छतवाले श्रीनगर के छोटे बड़े मकान, हरिपर्वत, श्रीनगर विश्वविद्यालय और कश्मीर घाटी का हरा-भरा सुन्दर परिवेश.....आँखों के सामने एक अत्यन्त भव्य, आकर्षक, विशाल परिदृश्य था। मेरा महानागरिक मन अपनी केंचुलें उतार कर अपने सहज मानवीय रूप को....प्रकृति

के अंगभूत रूप को मुक्त करने लगा । आह, इसी के लिए तो मैं बार-बार कलकत्ते से भागकर कभी पहाड़, कभी समुद्र, कभी जंगल की शरण में चला जाता हूँ।

x x x

श्रीनगर के सुप्रसिद्ध मुगल उद्यान-चश्माशाही, निशात, शालामार, हारवन । निशात सबसे सुन्दर है, शालामार सबसे प्रशस्त, चश्माशाही का सबसे बड़ा आकर्षण उसके झरने का निर्मल, सुस्वादु और स्वास्थ्यकर जल है तो हारवन की विशिष्टता है उसकी ऊँचाई पर अवस्थित झील, जिससे श्रीनगर को पानी पहुँचाया जाता है ।

निशात और चश्माशाही की अवस्थिति बहुत अच्छी है खासकर निशात की जिसके पीछे है ऊँचा-सा पहाड़ और सामने है दर्पण के समान डल की स्वच्छ जलराशि! चश्माशाही तो उस छोटी सी पहाड़ी के बिलकुल शिखर पर ही है। जहाँगीर की कला-सज्जित प्रकृति-प्रियता ने इन पहाड़ियों को कई तलों वाले उद्यानों में बदल दिया। चश्माशाही के बीच के तल के सामने देखने पर फैला हुआ मायामय सौन्दर्य दिखता है, विस्तृत डल पर राजहंसों की तरह तिरने वाले शिकारे, जलराशि के पार वही हरियाली, तुषारमंडित पर्वत शिखरों से मिला क्षितिज....और पीछे देखने पर दृष्टि की अवरोधिका, उदास सी पहाड़ी । आह्लाद और अवसाद के सम्पुट में खड़ा मैं दोनों दृश्यों को पारी-पारी से कुछ देर देखता रहा।

ये उद्यान बहुत अच्छी तरह अनुरक्षित हैं। करीने से सजी हुई फूलों की क्यारियाँ....विशेषतः रंग-बिरंगे गुलाबों की, कतार के कतार फुहारे, घास के छोटे-छोटे मैदान। इस मोहक परिवेश में प्रियजनों का साथ। बच्चियों की चंचल प्रसन्नता, बच्चियों की माताओं की पुलकित आनन्दमयी दृष्टि, अपना हर्षित रोमांचित मन। लेकिन हमलोग और दूसरे सहपर्यटक भी अपने साथ महानगर भी तो ले गये थे। कल्पना कीजिये चश्माशाही के सबसे ऊपर के तल के हरे मखमली मैदान में बैठे आप कुछ समय के लिए अपने को उस वातावरण का अंग बना लेना चाहते हों और चारों तरफ बजते हुए डेढ़ दर्जन ट्रांजिस्टर बारबार आप पर सीलोन या विविध भारती के फिल्मी गीतों के गोले दाग रहे हों तो आपकी क्या स्थिति होगी। भारती का ट्रांजिस्टर तो मैंने बन्द करवा दिया था किन्तु औरों पर मेरा क्या वश चलता।

x x x

डल झील में शिकारे की सैर ऐसी ही प्रिय लगती है जैसे बच्चन के मुँह से 'मिलनयामिनी' के गीतों की स्वर लहरी । शिकारे काफी सजे भी होते हैं और आरामदेह भी, पीछे गद्दी तकिये लगे रहने से आराम से बैठ या लेटकर अगल-बगल का मनोरम दृश्य देखने का सुखद अवसर मिलता है। शिकारा खेने के लिए हाथ मचल उठते हैं, अपटु, अनभ्यस्त होते हुए भी भाभी और दर्शन ने हठपूर्वक शिकारा खे कर उस सैर के

मजे को दूना कर दिया। फिर भारती और अनु ही क्यों पीछे रहतीं । इन शौकीन नौसिखुए खेवैयों द्वारा हल्के-हल्के चप्पुओं (डाँड़ों) के उल्टे सीधे प्रयोग से शिकारा तो कम आगे बढ़ा, हाँ पानी के हलकारों से हमलोगों का अभिषेक खूब हुआ। ऐसे में हुआ सूर्यास्त । चारों ओर लाली बिखर गयी, डल के पानी में भी घुल गयी। जाता हुआ सूर्य सचमुच कह गया कि इस सुन्दर सुहाने समय को जितना हो सके उतना रंगीन बना लो।

चारचिनारी और नेहरू पार्क डल झील के दो सुरम्य टापू। पहला पुराना, दूसरा आधुनिक, पहला शहर से काफी दूर, दूसरा शहर के बिलकुल निकट। स्वभावतः चहल-पहल नेहरू पार्क में अधिक है, फिर रंग-बिरंगी रोशनियों के कारण रात को वह खूबसूरत खिलौने सा लगता है। शिकायत सिर्फ यही है कि भीड़ उस समय वहाँ इतनी अधिक होती है कि कलकत्ते के अनुभव दुहराने की इच्छा नहीं होती। भले ही चारचिनारी में चमक-दमक न हो किन्तु रहस्यमयी शान्ति और ऊँचे-ऊँचे चार-चिनारों की मायामयी ऐतिहासिकता से वह गरिमा मंडित तो है ही।

डल के नगीन, नसीम अंचल आजकल वीरान रहते हैं। कभी अंग्रेज पर्यटकों के तम्बुओं से उसके किनारे आबाद और गुलजार रहते थे। हाँ, दिन के समय जलक्रीड़ा के प्रेमियों का रागरंग वहाँ देखा जा सकता है क्योंकि यहाँ झील का घाट काफी चौड़ा और जल अत्यन्त स्वच्छ है। शिकारों पर तैरती फलों, फूलों की दुकानों की शोभा निराली ही है। जहाँ खेत भी तैरते हों, वहाँ तैरती दुकानें क्यों न हों।

झेलम का लहराता, बलखाता मन्द प्रवाह श्रीनगर की शोभा को और बढ़ा देता है। सात आठ पुल इसके दोनों किनारों पर बसे शहर को जोड़ते हैं। झेलम और डल का अपूर्व संयोग श्रीनगर को अन्य भारतीय शहरों से बहुत विशिष्ट बना देता है। अनेक रेस्तराँ, होटल इनके किनारे इस प्रकार अवस्थित हैं कि आप जलीय शोभा का आनन्द सहज ही ले सकते हैं। फिर भी इस दिशा में और विकास की गुंजाइश है। हाउस बोटों की शोकीनी भी भारत में शायद केवल श्रीनगर में ही सुलभ है। अमीरों कदल को श्रीनगर की चौरंगी या कनाटप्लेस समझिये। लेकिन सच्चाई यही है कि अनेक आकर्षणों से युक्त होता हुआ भी श्रीनगर शहर मुझे उतना प्रिय नहीं लगा, जितना शहर के चारों ओर का स्वाभाविक प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त रम्य प्रदेश।

x x x

हिमालय के इस विस्तृत आँगन में कई 'सौन्दर्यपीठ' हैं। सब जगह तो हमलोग जा भी नहीं सके और जहाँ-जहाँ गये भी उन सबका वर्णन एक ही लेख में असम्भव है, अतः केवल तीन चार झाकियाँ और।

गुलमर्ग के मार्ग के दोनों ओर की सफेदे की कतारें बड़ी मनमोहक हैं। इकहरे बदन का लम्बा ऊँचा यह वृक्ष बहुत प्यारा लगता है। छायादार लम्बा चौड़ा चिनार दुहरे

कद के हृष्ट पुष्ट प्रौढ़ की तरह लगता है तो सफेदा उल्लास चपल छरहरे नौजवान की तरह। टंगमर्ग तक ही बस जाती है। उसके बाद गुलमर्ग पहुँचने के लिए या तो अपने चरणदास काम आते हैं या वहाँ मिलने वाले लद्दू घोड़े। मुझे दोनों प्रकार के अनुभव हैं। कुमार, रवीन्द्र आदि के साथ गुलमर्ग तक मैं पैदल ही गया था। पैदल चढ़ाई भी सुखद लगती है क्योंकि हरे भरे पेड़ों की छाया निरन्तर मिलती रहती है। चौड़ी सड़क छोड़ पगडंडी का मार्ग अपनाने पर चढ़ाई कुछ कड़ी जरूर हो जाती है किन्तु कुमार के नेतृत्व में हमलोग आसानी से डेढ़ घंटे के भीतर गुलमर्ग पहुँच गये थे। महिलाओं और बच्चों का साथ रहने पर घोड़े पर जाना ही बुद्धिमानी है। ये घोड़े नौसिखुओं को तुरन्त भाँप जाते हैं और भले ही वे छड़ी फटकारते रहें ये एक दूसरे के पीछे धीरे-धीरे ही चलते हैं, भला ऐसी घुड़सवारी में मजा कैसे आ सकता है। घुड़सवारी का मजा तो गुलमर्ग की समतल भूमि पर है। जाते समय हमलोग दोनों बार सीधे खिलनमर्ग ही चले गये थे । जो लोग गुलमर्ग तक पैदल आते हैं, वे भी खिलनमर्ग जाने के लिए घोड़ा कर ही लेते हैं।

करीब दस हजार फुट की ऊँचाई पर है खिलनमर्ग का मैदान। सभी ऋतुओं में हिममंडित उसकी चोटी अढ़ाई हजार फुट और ऊँची है जिस पर बर्फानी झील अलपत्थर है, जिसका आकर्षण साहसी यात्रियों के लिये चुम्बक का काम करता है। खिलनमर्ग तक पहुँचते-पहुँचते हमलोग थक चुके थे पर वहाँ के वातावरण में कुछ ऐसा जादू था कि काफी और पावरोटी का भोग लगाते ही हम लोग अपने को तरोताजा पाने लगे। जून का प्रथम सप्ताह था किन्तु खिलनमर्ग की चोटी पर कुछ दिन पहले भी बर्फ गिरी थी। उसका कर्पूर धवल हिमशिखर हमलोगों को खींच रहा था। अवश्य ही स्लेजवालों की चतुराई भरी बातों का भी प्रभाव हम पर पड़ा और हमलोगों ने अलपत्थर जाने का फैसला कर लिया।

बर्फ पर चढ़ने का हमलोगों के लिए यह पहला ही मौका था। चारों तरफ कोमल चमकदार सफेदी और सफेदी । जगदीश गुप्त की पंक्तियाँ सही जान पड़ीं, "हिम नहीं यह इन मनस्वी पत्थरों पर निष्कलुष हो जम गया सौन्दर्य।" रोमांच हो आया। ताजी बर्फ कच्ची और कोमल होती है। उस पर फिसलते पाँवों को जमाते हमलोग ऊपर चढ़ते रहे किन्तु शीघ्र ही भावुकता की सीमाएँ प्रकट होने लगीं। नासमझी के कारण, कुछ अपने कुछ बच्चियों के उत्साह के कारण, बिना पर्याप्त विश्राम और भोजन किये, बिना बर्फ पर चढ़ने के विशेष जूते पहने हमलोग स्लेजवालों के भुलावे में आकर अलपत्थर जाने का हठ कर बैठे थे। भारती, अनु कपड़े के फ्लीट जूते पहने थीं। ताजी बर्फ में बार-बार धँसने के कारण वे भीग गये थे। उनके मोजे भी भींग गये थे। ठंड के कारण अब उनके पाँव ठिठुरने लगे थे। अतः यथार्थ भावुकता पर

हावी हो ही गया। धीरे-धीरे उनकी सहनशक्ति समाप्त हो गयी। स्लेजवालों ने बड़ी सेवा की, जूते मोजे उतारकर उनके पाँवों को मला, उन्हें अपनी लोइयों से लपेटा, आराम मिलने पर दोनों कुछ ऊपर और चढ़ी किन्तु फिर हार मानकर बैठ गयीं। उनके स्लेजवालों के साथ उन्हें नीचे भेज दिया। स्लेज पर बैठकर वे सर से नीचे उतर गयीं।

आधे से अधिक ऊपर चले थे कि दर्शन की शक्ति ने जवाब दे दिया। उसे बड़ा दिलासा दिया, एक तरफ से मैंने, दूसरे तरफ से स्लेज वाले ने सहारा देकर उसे ऊपर चढ़ाया किन्तु जब भीतर की शक्ति चुक जाये तब बाहर वाले क्या कर सकते हैं । वह कातर हो गयी, उसने कहा आप दोनों जायें, मैं तो अब नीचे चली । वह भी स्लेज से नीचे उतर गयी, कैसे सरसर-सरसर स्लेज उतरती है नीचे ।

तोषी भाभी के दमखम में कोई फर्क नहीं पड़ा था। हमलोगों को जिद चढ़ गयी थी ऊपर पहुँचने की। हमलोग ऊपर चढ़ते रहे, चढ़ते रहे । साथ में एक पर्यटक और हम तीनों स्लेज वाले थे। हमलोग काफी ऊँचाई पर पहुँच गये थे। स्खिलनमार्ग के मैदान में चलने फिरने वाले लोग चीटियों के आकार के लग रहे थे । ठंड भी बढ़ रही थी और बर्फ की फिसलन भी । तीसरे साथी की भी हिम्मत टूट गयी, उसने हमलोगों को 'गुडलक' कहा और वह भी स्लेज से सर से नीचे उतर गया। अलपत्थर की चोटी दिख रही थी और प्रतिचरण निकट आती जा रही थी किन्तु अब स्लेजवालों ने दुष्टता आरम्भ की। एक स्थान पर दोनों स्लेजवाले बैठ गये और बोले – इसके ऊपर स्लेज नहीं जाती है। उनकी बात सच थी या झूठ, नहीं कह सकता किन्तु हमलोग रुके नहीं। एक स्लेजवाला दोनों स्लेज लेकर वहीं बैठ गया दूसरा हमलोगों के साथ चला। अब उसने शल्य की तरह हमलोगों का संकल्प बल क्षीण करना शुरू किया, शाम होने लगी है, आप लोगों को ठंड लग जाएगी, आप बीमार पड़ जाएँगे आदि। सूरज जब सचमुच शिखर के दूसरी ओर चला गया तो हमलोगों की ओर धूप नहीं रह गयी। सर्दी बढ़ने लगी। श्रीनगर से हमलोग सुबह सात बजे चले थे और अब शाम के पाँच से ऊपर हो चुके थे । जूते भींग कर मन-मन भर के हो गये थे, शिखर करीब ही था फिर भी तीस पैंतीस मिनट की चढ़ाई तो थी ही । बड़ी हसरत भरी निगाह से उसे "मैंने आँख भर देखा, दिया मन को दिलासा पुनः आऊँगा, भले ही बरस दिन, अनगिन युगों के बाद।" ये शब्द भले अज्ञेय के हों, भाव बिलकुल मेरे हैं। भाभी थक गयी थीं, और सच कहा जाय तो मैं भी हाँफ गया था। फिर भी इतनी मेहनत के बाद असफल होकर लौटना अच्छा नहीं लग रहा था। धूप होती तो हमलोग कभी नहीं लौटते।

कच्ची, कोमल, ताजी, बर्फ में उतरना कितना आनन्ददायक है । पाँव फिसल भी जाये तो चोट नहीं लगती, आदमी फिसलते हुए ही नीचे सरकता रहता है। और जब उस ऊँचाई से तीर की तेजी की तरह हमलोगों की स्लेजें नीचे की ओर दौड़ीं तब

तो जो आनन्द आया उसका वर्णन किया ही नहीं जा सकता । बर्फ के छोटे-छोटे कणों की तेज बौछार से मेरी सारी गोदी भर गयी। जिस ऊँचाई तक पहुँचने में चार घंटे से अधिक समय लगा था उससे स्लेज से उतरने में मुश्किल से १५-२० मिनट लगे । स्लेज का सुख भी उपभोग्य है।

x x x

गुलमर्ग का अर्थ है फूलों का मैदान । चारों तरफ ऊँची-ऊँची पर्वतमालाओं के मध्य यह विशाल मैदान प्रकृति की विलक्षण सृष्टि है । इसकी घास में ही पीले से रंग के अद्‌भुत सुन्दर छोटे-छोटे फूल खिलते हैं। सारा मैदान फूलों से भरा लगता है । इस मैदान के किनारे-किनारे घुड़सवारी कीजिये, गोल्फ खेलना आता हो तो इसमें गोल्फ खेलिये। संसार के सर्वोत्तम गोल्फ कोर्ट गुलमर्ग में ही हैं। वस्तुतः गुलमर्ग का आकर्षण मुख्यतः उन लोगों के लिए है जो नितान्त एकान्त एवं शान्त स्थान पसन्द करते हैं। यहाँ की आबादी बहुत कम है, होटल काफी महँगे हैं। गुलमर्ग में रौनक अधिकतर यूरोपियन पर्यटकों की ही रहती है। भारतीय भ्रमणार्थी तो प्रायः सबेरे आकर शाम तक लौट जाते हैं। हमलोग भी एक दिन रहने की योजना बनाकर आये थे किन्तु गुलमर्ग की महिमामयी कान्ति और गरिमामयी शान्ति इतनी भा गयी कि तीन दिन रह गये। विश्राम कितना सुखद हो सकता है, गुलमर्ग ने ही यह समझाया।

सुबह का कार्यक्रम रहता घुड़सवारी, कुछ देर पैदल चढ़ाई-उतराई, पहाड़ी नालों से छेड़छाड़, चीड़ की छाया में चायपान। पूर्वाह्न के बाद धूप इतनी कड़ी हो जाती कि बाहर रहना अप्रिय लगने लगता। दोपहर भर ताश पिटती, मैंने अपने जीवन में इतनी ताश नहीं खेली होगी जितनी गुलमर्ग में खेली। बच्चियों की माताओं को मेरी किताबों से चिढ़ थी अतः उन्हें खोल ही नहीं पाया। हाँ, सुबह शाम घूमते समय मैं अपनी प्रिय कविताओं की आवृत्ति करता। एक दिन घूमते-फिरते तीन चार कविताएँ मैं सुना चुका था, अचानक हिमाच्छादित शिखर पर पड़ी बादल की छाया को देखकर मेरे मन में जगदीश गुप्त की पंक्तियाँ फूटीं –

पंक्ति बद्ध देवदारु
रोमिलश्लथ दीर्घ चारु
चन्दन पर श्यामल कस्तूरी की गन्ध सी
जलदों की छाया हिम-श्रृंगों पर छायी
आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी ।

मैंने उमंग कर जैसे ही और लोगों को सुनाना चाहा, वैसे ही अनू भारती से बोली, दीदी, चलो भाग चलें, बाबूजी फिर कविता सुनाने लगे हैं। और बच्चियों की माताओं की हँसी में मेरी कविता बह गयी।

जून में भी गुलमर्ग में रात को कड़ाके की सर्दी पड़ती है । एक बार जोश में आकर मैं गुलमर्ग का रात्रि सौन्दर्य देखने (बिना ओवरकोट पहने —वह ले ही नहीं गया था) बाहर निकल गया तो कुछ ही देर में कँपकँपी छूट गयी और फिर लिहाफ के भीतर घुसने पर भी काफी देर तक दन्तवीणा बजती रही।

मुझे गुलमर्ग बहुत अच्छा लगा। जीवन भर मैं उन तीन दिनों को याद रखूँगा जिनमें मैं गुलमर्ग का प्रगाढ़ दुलार पा सका था।

x x x

सोनमर्ग में बर्फ के दृश्य खिलनमर्ग से भी ज्यादा प्यारे हैं, वहाँ तो बर्फीली चढ़ाई भर है, तीन ओर से खुला मैदान है, जो सूना-सूना लगता है। यहाँ तीन तरफ बर्फ के पहाड़ हैं, उनके बीच से बहने वाली बड़ी सुन्दर, प्यारी सी नदी है, उसके किनारे छोटा-सा किन्तु लम्बा सा बड़ा खूबसूरत मैदान है। हमलोगों ने नदी के किनारे भोजन किया और फिर बर्फ से खेलते रहे। खिलनमर्ग में भारती, अनू को अफसोस रह गया था कि वे लोग मन भर कर अपने आप बर्फ पर फिसल नहीं पायी थीं, यहाँ वह अफसोस दूर हो गया। हमलोग ऊपर चढ़-चढ़कर खूब फिसले, एक दूसरे पर बर्फ की गेंद फेंकते रहे, बर्फानी नदी को छेड़ते रहे, उन्मुक्त हिममयता का आनन्द लेते रहे।

एक स्थान पर बर्फ का ही पुल बन गया था, उसके नीचे से वह वेगवती नदी बह रही थी। पन्द्रह-पन्द्रह, बीस-बीस फुट मोटी बर्फ की चट्टानों को भेदकर नदी कलकल, छलछल स्वर में गाती चली जा रही थी। काश, हमलोगों का जीवन भी रूढ़ियों के अवरोध को तोड़कर इसी तरह प्रवाहित हो सकता। आँखें जिधर जाती थीं; उधर ही टिक जाना चाहती थीं। कैसे आश्चर्य की बात है, पहाड़ों पर पूरे के पूरे झरने जमे हुए थे। किन्तु कितनी प्राणवन्त होती है नन्हीं सी घास, जो जीवन की हरियाली उस हिमशीतल क्षेत्र में भी छिटकाये हुए थी।

x x x

अवन्तिपुर के विशाल मन्दिर का ध्वंसावशेष । कश्मीर के गौरवोन्नत अतीत का निश्चित किन्तु धूलि लुंठित प्रमाण। जिस कश्मीरी मेधा ने साहित्य और कला, ज्ञान और विज्ञान, साधना और दर्शन के विविध क्षेत्रों में अपने कीर्तिमान स्थापित किये थे, उसी ने अवन्तिपुर, मार्त्तण्ड आदि क्षेत्रों में भक्ति और स्थापत्य के आश्चर्यजनक निदर्शन के रूप में इन मन्दिरों का निर्माण किया था। मेरा मन शताब्दियों का व्यवधान चीरकर आठवीं शताब्दी के काश्मीर केशरी ललितादित्य के समय में चला गया। उनके बाद भी जयापीड़, अवन्तिवर्मन, जैनुल आबदीन जैसे प्रतापी शासक हुए थे कश्मीर में। कभी कश्मीर को शारदापीठ कहा जाता था क्योंकि क्षेमेन्द्र, मंखक, बिल्हण, जगद्धरभट्ट जैसे कवि, भामह, वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट, अभिनवगुप्त,

कुन्तक जैसे आचार्य, महाभाष्य प्रदीपकार कैय्यट और वेद भाष्यकार उव्वट जैसे महापंडित की मनीषा से भारतीय वैदुष्य समृद्धतर हुआ था । प्रत्यभिज्ञादर्शन जैसे गम्भीर दार्शनिक चिन्तन और तन्त्र-साधना जैसी गुह्य उपासना का विकास भी इसी कश्मीर में हुआ था। उन खंडहरों के बीच खड़े-खड़े मेरा मन व्यथा, करुणा, क्षोभ, क्रोध और घृणा से भर उठा। कैसे उठे होंगे उन बर्बर आततायियों के हाथ धर्म और कला के इन प्रतीकों को तोड़ने के लिए । सच है, 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचर्चा प्रवर्त्तते' —शस्त्र रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र और कला आदि की चर्चा संभव है।

X X X

सैलानियों का दुलारा पहलगाम । पहाड़ की तलहटी में बसा होने के कारण सब प्रकार के लोगों के उपयुक्त है यह सौन्दर्य पीठ । जो पहाड़ चढ़ने का आनन्द लेना चाहते हैं उनके लिए तीन तरफ पहाड़ हैं, जो समतल पर घूमना पसन्द करते हैं, उनके लिए अच्छा मैदान है, जो शहराती मजे चाहते हैं उनके लिए अच्छे क्लब हैं, होटल हैं, रेस्तरां हैं। जल का सान्निध्य चाहने वालों के लिए लिद्दर और शेषनाग दो-दो पहाड़ी नदियाँ हैं। उनके संगम की शोभा जितनी निराली है, उतनी ही प्रशस्त है उनके बीच की भूमि जिस पर लोग तम्बू डालकर रहते हैं, गर्मियों में।

हमलोगों को तो पारिवारिक स्नेह भी सुलभ था। देवराज चाचा जी यदि हम लोगों के घूमने फिरने की योजना बनाते थे तो लीला बुआ ऐसा स्वादिष्ट गर्मागर्म खाना खिलाती थीं कि मजा आ जाता था। एक सप्ताह कैसे बीत गया मालूम ही नहीं पड़ा। चाचा जी की कोठी जरा सा ऊपर चढ़कर है, इसलिए उसमें एकान्त पर्वतीय आवास का पूरा सुख मिलता है।

चीड़ के जंगलों से झाँकते हुए रजत शिखर, माँ की गोद से छिटक कर दौड़ जानेवाली नटखट बालिका की हँसी के समान उल्लसित लिद्दर की कल-कल ध्वनि, गुदगुदी-सी मीठी सुनहली धूप, प्राणों को स्निग्ध कर देनेवाली स्वच्छ हवा। दिन से भी अधिक सुन्दर यहाँ की रातें होती हैं। गुलमर्ग की तरह ठंड भी नहीं पड़ती कि रात को निकला ही न जा सके। यदि बादल न छाये हों तो चाँदनी रात को घर में रहने की इच्छा ही नहीं होती। एक प्रकार की कैसी रहस्यात्मकता होती है जंगल में खिली चाँदनी रात में। मौन सचमुच मधु हो जाता है। बरसती हुई उस शुभ्र कान्ति में न बोलने की इच्छा होती है, न डोलने की। चुपचाप बैठे बैठे उसे आँखों से पी जाने को मन करता है।

चन्दनबाड़ी पहलगाम से दसेक मील दूर है। हमलोग घोड़ों पर ही गये, आये। साथ में विजय और शारदा भी थे। विजय सचमुच शहसवार है। पूरे काफिले का नेता था वह। दर्शन पीछे छूट गयी तो विजय घोड़ा दौड़ाते पीछे जा रहा है, भारती घोड़ा भगाकर आगे बढ़ गयी तो विजय उसके पास पहुँच कर उसे रोक रहा है, नौसिखुओं

को घुड़सवारी सिखा रहा है, गप्पें सुना सुनाकर सबको हँसा रहा है। उसके साथ के कारण यात्रा और प्राणवन्त हो उठी।

पहाड़ी रास्ते की मोहकता उसकी दुर्गमता को भी आकर्षक बना देती है। हमलोगों के साथ-साथ चल रही थी शेषनाग नदी। कई स्थलों पर तो उसके घूमते, झूमते प्रवाह की शोभा को देखने के लिए हमलोग रुक जाते। रास्ते में पड़ते हैं दो खूबसूरत झरने। उनकी ही तरह हँसते हुए, हिम्मत के साथ यदि हमलोग भी अनजाने भविष्य में छलांग लगा पाते।

चन्दनवाड़ी में शेषनाग के ऊपर बर्फ का ही पुल है। यात्री काफी संख्या में थे और बर्फ पर खेल रहे थे, ऊपर चढ़-चढ़कर फिसल रहे थे। बहुतेरे पाँवों से रौंदी बर्फ कैसी कान्तिहीन हो जाती है, खड़िया मिट्टी की तरह चमक से हीन। शिखर की अकलुषित हिमराशि की दीप्ति ही कुछ और होती है। बर्फ में चढ़ते समय यदि एक हाथ में लाठी और दूसरे में छोटी कुल्हाड़ी हो तो बड़ा सहारा मिलता है। हमलोग काफी ऊँचाई तक चढ़ गये थे किन्तु ऊपर की ओर देखने से लगता था कि कहाँ, अभी तो कितना चढ़ना बाकी है, ऊपर उठने की भी कोई सीमा होती है क्या।

x x x

कितनी बातें अनकही रह गयीं, जैसे कितनी जगहें कश्मीर में अनदेखी रह गयीं। सच तो यह है कि मैं कश्मीर के वस्तुतः दुर्गम क्षेत्रों में गया ही नहीं, न अमरनाथ, न कौसरनाग, न कोल्हाई ग्लेशियर। विद्यानिवास जी के शब्द उधार लूँ तो कह सकता हूँ कि भीतर बनजारा मन होते हुए भी मैं आँगन का ही पंछी हूँ। सो हिमालय के आँगन में फुदकता रहा। ●

वैष्णो माता तूँ त्रिकुटा दी रानी

सौधेसादे डोगरे भक्त की श्रद्धा उमगी तो लोकगीत मुखरित हुआ 'वैष्णों माता तूँ त्रिकुटा दी रानी।' वैष्णवी माता, तू तीन शिखरों वाले इस त्रिकूट पर्वत की रानी है। इस लोकगीत को सुनते ही मुझे स्मरण हो आयी थी सप्तशती के अन्तर्गत शुंभवध के अनन्तर देवताओं द्वारा की गयी भगवती की स्तुति—

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या
विश्वस्य बीजं परमासि माया।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्
त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः।।

हे देवि, तुम अनन्त बल-सम्पन्न वैष्णवी शक्ति हो, विश्व की कारणभूता परा-माया हो, तुमने इस समस्त जगत् को मोहित कर रखा है और प्रसन्न होने पर तुम्हीं इस पृथ्वी पर मुक्तिदात्री हो, फिर बेचारे देवता अपनी अक्षमता पर लज्जित होकर बोल उठे थे "का ते स्तुतिः स्तव्यपराः परोक्तिः" माता, हम तुम्हारी स्तुति क्या कर सकते हैं, तुम तो स्तवन के परे परावाणी हो। कहाँ परमज्ञानी देवताओं की सुसंस्कृत स्तुति और कहाँ किसी भोले ग्रामीण भक्त का सहज उद्‌गार। लेकिन आत्मीयता का, विश्वास का जो रस इस पंक्ति में झलका है, वह उन ज्ञानगूढ़ स्तुतियों में कहाँ।

तो भगवती वैष्णवी देवी ममता से भरी हुई माँ हैं और हैं अक्षय भंडारवाली परम समर्थ, परम दानी रानी, जिनके दरबार से कभी कोई निराश नहीं लौटता। गद्‌गद कंठ से भक्त कहता है,

जय जयकार तेरी सत्या न्यारी,
मन्नन वाली खलकत सारी।
तूँ एँ माता आदकोआरी
त्रिकुटा दी रानी एँ।

तेरी जय जयकार हो, तेरी सत्ता.....शक्ति निराली है, सारी सृष्टि तुझे मानती है, ओ आदि कुमारी माता, तू त्रिकुटा की रानी है। माता के कुमारी रूप की उपासना देश के दक्षिणतम छोर पर स्थित कन्या कुमारी के मन्दिर में भी होती है किन्तु वहाँ भगवती कामारि शिव को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्यारत हैं और यहाँ.....यहाँ तो वे क्रीड़ारत हैं, राजकुमारी चन्द्रभागा के पति शांताकार को जीवनदान देकर भगवती कुमारी रूप में यहाँ खेला करती हैं, कभी देवनगर की क्वांरी कन्याओं के साथ, कभी ब्रह्मपुरी के हंसों के साथ। हाँ, यदि कोई कपटी योगी भैरोनाथ की तरह उन पर कुदृष्टि डालता है तो वे चण्डी रूप धारण कर उसका वध भी कर देती हैं। खेल ही खेल में सारी सृष्टि को रच देनेवाली महामाया का खेल किसकी समझ में आ सकता है किन्तु इसमें भक्तों को सन्देह नहीं कि इस परम खिलवाड़िन आदिकुमारी के लिए भक्तों का संकट दूर कर उनकी मनोकामना पूर्ण करना बाएँ हाथ का खेल है।

जब जब जम्मू जाता हूँ तब तब माता के दर्शन की लालसा मन में जागती है किन्तु हर बार दर्शन कहाँ मिलते हैं। फिर भी भगवती की कृपा से सर्वथा वंचित नहीं हूँ, पाँच बार उनके मंगलमय दर्शन पा चुका हूँ और अनेकानेक बार पाने की कामना करता रहता हूँ।

माता की मुख्य यात्रा तो नवरात्र में ही होती है, किन्तु दर्शन प्रायः वर्ष भर खुले रहते हैं। किसी किसी वर्ष जब बहुत अधिक बर्फ पड़ती है तो जनवरी, फरवरी में यात्रा करना खतरनाक हो जाता है। किन्तु कुछ ऐसे पक्के भक्त हैं जो प्रति पूर्णिमा को या प्रति संक्रान्ति को माता के दर्शन करने जाते ही हैं। नवरात्रों के दिनों तो प्रचण्ड भीड़ होती है। जम्मू, पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, पश्चिमी उत्तर प्रदेश से करीब एक लाख से भी अधिक यात्री प्रति वर्ष माता के दर्शन पाने के लिए आते हैं। ज्वालाजी (कांगड़ा) खीर भवानी (कश्मीर) और वैष्णोदेवी (जम्मू) धुर उत्तर भारत के तीन सर्वाधिक प्रसिद्ध शक्तिपीठ हैं जिनके दर्शनार्थ देश भर से भक्तों की गंगा उमड़ती रहती है।

जम्मू से इकतीस मील दूर है कटरा। बस या मोटर से जम्मू से रवाना होते ही रामनगर की सुन्दर सड़क, नदी का किनारा, ऊधमपुर के मार्ग की छोटी-छोटी हरी-भरी पहाड़ियाँ, कहीं-कहीं बहते नाले, झरने आपका मन मोह लेंगे। डोगरे लोक कवि के शब्दों में मैं आपसे कह सकता हूँ—

परबतें नाग सौं साधदे दिक्खी लै,
दुहै नेंई तबी नै खादे दे दिक्खी लै
नागनी आले पलेस।
ओमितरा, दिक्खी लै डोगरा देस।

देख ले, यहाँ के पर्वतों ने नागों की तरह बलखाते नदी-नालों को कैसे अपने

प्यार से बाँध रखा है, और नदी के दुध जैसे उज्ज्वल प्रवाह की यह नागिन जैसी लहराती गति भी देख ले। ऐ मित्र, मेरा यह डोगरा देश देख ले। करीब दो घंटों की यह छोटी-सी बस यात्रा काफी सुखद है। हाँ, जब आपकी गाड़ी नन्दिनी पहुँचे तो आप वहाँ के तले हुए पनीर की कतलियाँ खाना न भूलियेगा। ऐसा स्वाद अन्यत्र सचमुच दुर्लभ है।

कटरा एक छोटा-सा कस्बा है, जिसकी समृद्धि माता की यात्रा पर निर्भर है। यात्री यहाँ प्रायः एक या दो दिन ठहरते हैं। कई धर्मशालाओं और टूरिस्ट रिसेप्शन सेन्टर के अतिरिक्त पण्डों के घर हैं, जहाँ आप ठहर सकते हैं। यहाँ के दर्शनीय स्थान हैं भूमिका देवी का मन्दिर, विश्वायतन योगाश्रम और शालामार बाग। कश्मीर के शालामार बाग की आंशिक अनुकृति के रूप में बनाया गया यह उद्यान यों भी सुन्दर है, किन्तु माता के पर्वत की पृष्ठभूमि के कारण यह और भी सुन्दर लगता है। मैं अपनी विविध यात्राओं के अवसरों पर धर्मशाला में भी ठहरा हूँ, टूरिस्ट रिसेप्शन सेंटर में भी, योगाश्रम में भी किन्तु जो आनन्द शालामार बाग के क्वार्टर में ठहर कर मिला था, उसकी तुलना किसी से नहीं हो सकती। उन दिनों मेरे आत्मीय श्री करतारनाथ डोगरा कटरे के तहसीलदार थे, उनका क्वार्टर इसी बाग के किनारे था। मैं सपरिवार उन्हीं का अतिथि था। फाल्गुन शुक्ला द्वादशी की उन्मत्त चाँदनी, शालामार उद्यान का सजा सँवरा विस्तार, कहीं अँधेरा, कहीं उजाला लिये माता का विशालकाय पर्वत और भावों के समुद्र में डूबता-उतराता मैं। सच, विराट और उन्मुक्त के सम्पर्क में आकर कलकत्ते के अँधेरे बन्द कमरे का कैदी, संकीर्ण स्वार्थों और ईर्ष्या द्वेष की आग में झुलसता रहने वाला यह मन भी कितना मुक्त, कितना विशाल हो जाता है। उस उदार, स्निग्ध चाँदनी को देखते-देखते बच्चन की ये पंक्तियाँ अनायास उभर आयी थीं उस दिन—

चन्द्र निखरा, चाँदनी निखरी हुई है,
भूमि से आकाश तक बिखरी हुई है,
काश, मैं भी बिखर सकता यों भुवन में।
चाँदनी फैली गगन में चाह मन में।

बहुत रात तक उस दिन मैं बाग में घूमता ही रहा। वह शीतल प्रकाश वस्तुओं में कितना सम्मोहन भर देता है। सोयी हुई निस्तब्ध प्रकृति और जागती हुई चाँदनी और भावप्रवण बंगाली मन। नींद कैसे आती।

माता के पर्वत पर चढ़ने का कोई निश्चित समय नहीं है, प्रायः सभी समय लोग चढ़ते उतरते हैं किन्तु जो बाहर से जाते हैं और एक ही दिन में माता के दर्शन कर उतर आना चाहते हैं वे प्रायः बड़े तड़के पर्वत पर चढ़ने लगते हैं, जो आदि कुमारी या दरबार में एक रात रहना चाहते हैं, वे सन्ध्या के कुछ पूर्व आरोहण शुरू करते हैं।

मैं दोनों अनुभव प्राप्त कर चुका हूँ, दोनों का अलग-अलग आनन्द है। इसी तरह ऋतुभेद से भी आनन्द भेद होता है, दिसम्बर की सर्दी, मार्च की वसन्ती मस्ती और मई-जून की गर्म में की गयी यात्रायें एक ही जैसी तो नहीं थीं। और साथी भेद से तो 'सारा स्वाद बदल जाता है दुनियाँ में जीने का।' मैं पत्नी और बच्चों के साथ भी माता के दरबार में गया हूँ, भाभियों और सालियों के साथ भी एवं छडे छाँट नौजवान दोस्त के साथ भी। सबका रस अलग-अलग है, सबका सम्यक् वर्णन एक ही साथ कैसे हो सकता है। हाँ, सबका कुछ न कुछ मिश्रण इसमें अवश्य मिलेगा। किन्तु इन भेदों में अभेद की स्थापना करनेवाला माता का दरबार अपनी अलौकिक गरिमा और अखण्ड महिमा में सदा वही रहा है। कागभुशुंडिजी का अनुभव याद हो आया—

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखेउँ आन।।

कटरे से माता के दरबार तक पहुँचने के लिए सीढ़ियों के रास्ते करीब साढ़े चार मील की कड़ी पहाड़ी मंजिल तै करनी पड़ती है, जिसमें करीब सवा तीन मील चढ़ाई है और सवा मील उतराई। अब तो सरकार ने प्रशस्त घूमघुमौआ सुगम मार्ग भी बनवा दिया है, अपेक्षाकृत रूप से सुकुमार और अशक्त व्यक्ति उसी को अधिक पसन्द करते हैं किन्तु उससे मील डेढ़ मील अधिक चलना पड़ता है। बच्चों और अत्यन्त अशक्तों के लिए घोड़ों और पिट्ठुओं (पीठ पर लादकर ले चलने वाले कुलियों) की भी व्यवस्था है।

शौचादि से निवृत होकर प्रातः चार बजे अपने काफिले के साथ मैं रवाना होता रहा हूँ, सिर्फ एक बार को छोड़कर। यात्रा में कपड़े के जूते पहनना ज्यादा अच्छा है, उनसे न तो चिकने पत्थरों पर पाँव फिसलता है, न पैरों में छाले पड़ते हैं। प्रत्येक के हाथ में बाँस की हल्की लाठी अवश्य होनी चाहिये। इससे बड़ा सहारा मिलता है। 'लाठी में गुण बहुत हैं सदा राखिये संग' कम से कम पहाड़ी यात्रा के समय अवश्य । साथ में टॉर्च का होना इतने भोरे चलने वालों के लिए तो अनिवार्य है और यों भी उपयोगी है। यात्रा भर 'जय माता दी' 'जय माता दी' का मन्त्र दुहराते रहना कितना प्रेरणाप्रद है, कह कर समझा नहीं सकता, उसका अनुभव ही किया जा सकता है।

बाणगंगा से चढ़ाई की सीढ़ियाँ शुरू हो जाती हैं। प्रायः मैं महिलाओं और बच्चों के साथ गया हूँ और स्वभावतः उन्हीं की गति से, उनके साथ-साथ रुक-रुक कर सीढ़ियाँ चढ़ता रहा हूँ अतः मुझे विशेष थकावट नहीं होती रही है। वह तो एक बार अपने तरुण बन्धु कुमार के साथ जब अकेला गया था, और सीढ़ियाँ चढ़ने के अभ्यस्त उसके चंचल चरणों के साथ होड़ लगा बैठा था अपनी जवाँमर्दी साबित करने के लिए, तब मुझे पता चला था कि कलकत्ते का पानी इस बात की इजाजत नहीं देता कि एक

साँस में सौ सवा सौ से अधिक सीढ़ियाँ चढ़ी जायें। मेरी साँस धौंकनी की तरह चलने लगी थी और कुमार संयत भाव से मुस्कुरा रहा था। उस समय मनोविज्ञान की एक किताब में पढ़ी यह बात मस्तिष्क में कौंध गयी थी कि परिश्रम का काम करते समय लगातार काम करने की तुलना में थोड़ी-थोड़ी देर में थोड़ा-थोड़ा विश्राम करने से कम समय में अधिक काम किया जा सकता है। और मैं हर दस बारह सीढ़ी चढ़ने के बाद आधा मिनट पौन मिनट के लिए रुकने लगा। सच कहता हूँ, इससे मुझे बहुत लाभ हुआ और बिना विशेष थके साढ़े तीन घण्टों में ही मैं उस बार दरबार पहुँच गया था।

मैं पारिवारिक व्यक्ति हूँ, महिलाओं और बच्चों के साथ चलने में मुझे खीझ नहीं होती, अच्छा लगता है। पहली चढ़ाई अनभ्यास के कारण बहुत जल्दी थका देती है, महिलायें और बच्चे तो बहुत जल्दी कातर हो जाते हैं। उस समय उन्हें ढाँढस बँधाना, लतीफे सुनाना और सबसे बढ़कर 'जय माता दी' का जयकारा बुलवाना मेरी ही जिम्मेदारी रहती है। जयकारा बोलना, बुलवाना सबसे बड़ा साधन है यात्रा का। जयकार बोलते रहने से मन अपने शारीरिक कष्टों का चिन्तन करना छोड़ माँ की शक्ति से शक्तिमान होता रहता है। वातावरण में एवं हृदय में श्रद्धा छा जाती है और थकते, हारते हुए, दुर्बल मन को ढँक लेने वाले विषाद के अँधेरे को चीर कर नये उत्साह की ज्योति रेखा उषा-सी खिल उठती है। कामायनी में श्रद्धा के गीत की पंक्तियाँ कितनी सार्थक हैं, इसकी उपलब्धि ऐसे ही क्षणों में होती है। श्रद्धा की यह उक्ति सोलहों आना सच है—

चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की,
मैं उषा-सी ज्योति रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन।

और जयकारों में भी पूरी कविता ही है, जय माता दी, जय माता दी; प्रेम से बोलो, जय माता दी; मैं नई सुन्या, जय माता दी; उच्चे बोलो, जय माता दी; सब कोई बोलो, जय माता दी; घुल मिल बोलो, जय माता दी; पहाँड़ाँ वाली देवी तेरीऽ सदाऽऽ ई जय, शेरोंवाली देवी तेरीऽ सदाऽ ई जय। प्रेम से बोलो, मैं नई सुन्या आदि जयकारा बुलवाने वाला कहता है और सारे लोग जय माता दी, जय माता दी का नारा लगाते रहते हैं। अन्तिम दोनों ध्वनियाँ सब लोग मिलकर लगाते हैं। चढ़ने उतरने वाले भक्त भी मिलने पर एक दूसरे का अभिवादन 'जय माता दी' के द्वारा ही करते हैं।

पहाड़ चढ़ते समय ऊपर की ओर नहीं देखना चाहिए, उससे यह भाव जागता है, हाय, इतनी ऊँचाई अभी बाकी ही है, मैं तो अभी से थककर चूर हो गया हूँ, मुझसे नहीं चढ़ा जायगा। यह मानसिक दैन्य अत्यन्त हानिकर है। 'न दैन्यं, न पलायनम् !'

भगवती की कृपा से एक सीढ़ी चढ़ते-चढ़ते धीरे-धीरे अवश्य उनके दरबार तक पहुँच जाऊँगा, यह भावना ही रखनी चाहिए और साथियों में जगानी चाहिए। मानसिक भाव परिवर्तन मात्र से कैसा चमत्कार हो जाता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे इन यात्राओं में हुआ है।

एक बार की यात्रा में दर्शन (मेरी पत्नी), भारती (मेरी बिटिया) और गुग्गू, बुबली (मेरे भतीजे) मेरे साथ थे। भारती, गुग्गू, बुबली प्रायः समवयस्क थे, यही बारह तेरह वर्ष के रहे होंगे। अँधेरी रात थी और हमलोग पौने चार बजे सवेरे ही टूरिस्ट रिसेप्सन सेण्टर से निकल पड़े थे। घना अँधेरा था, टॉर्चों की रोशनी में हम बढ़े जा रहे थे। चरणपादुका से कुछ ही ऊँचाई पर पहुँचते न पहुँचते दर्शन और बच्चों का बुरा हाल हो गया। थोड़ा-थोड़ा चढ़कर वे लोग न केवल रुकने बल्कि बैठने लगे। यह बैठना ठीक नहीं है, उससे पाँव जुड़ जाते हैं और फिर खड़े होने में अतिरिक्त शक्ति लगती है। लेकिन कातर व्यक्ति तर्क तो सुनते नहीं, समझाने पर या तो नाराज हो जाते हैं या अत्यन्त आर्त्त। मैंने उनसे जयकारे बुलवाये और कहा कि बस सीढ़ी-सीढ़ी आदि कुमारी तक चले चलो, फिर वहाँ सुस्तायेंगे, चाय पियेंगे और आगे लम्बे रास्ते से जायेंगे। सब मान गये। हम अँधेरे में ही चले जा रहे थे अतः अनुमान नहीं हो पा रहा था कितना ऊपर आये और कितना चढ़ना बाकी है। अचानक एक सीढ़ी चढ़ते ही मालूम पड़ा कि हमलोग आदि कुमारी पहुँच गये हैं, अर्थात् एक तिहाई से अधिक चढ़ाई चढ़ चुके हैं हमलोगों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। उस समय तक प्रकाश नहीं हुआ था, दुकानें भी नहीं खुली थीं। मैंने कहा, लो अब बैठकर सुस्ता लो, किन्तु दर्शन और बच्चों का कहना था, नहीं, जब इतनी आसानी से आदि कुमारी आ गये हैं तो बस दर्शन कर ऊपर चढ़ते चलते हैं, साँझी छत पर ही रुकेंगे। मैं उनका यह उद्यम देख चकित रह गया।

और फिर यात्रा कितनी उल्लासपूर्ण, कितनी प्राणवान् हो उठी। बच्चों में तो होड़ लग गयी कि कौन पहले ऊपर पहुँचता है, कौन आगे रहता है। भारती यदि झाँसी की रानी थी तो गुग्गू जैनरल चौधरी और बुबली श्री चह्वाण। हम दोनों भी बच्चों का उत्साह देखकर प्रसन्न चित्त उनके पीछे-पीछे चलते रहे। धीरे-धीरे प्रकाश होने लगा बहुत प्यारी ठण्डी-ठण्डी हवा मन को गुदगुदाने लगी, कालिदास ने ऐसे ही गुदगुदाने वाले पवन को 'प्रार्थना चाटुकार' कहा होगा। जयकारों के बीच गपशप की मात्रा बढ़ने लगी। प्राकृतिक शोभा का निरीक्षण भी होने लगा, वह घाटी कैसी अलसायी-सी पड़ी है, कैसी शान्त और कितनी गहरी है, जरा इस पेड़ को तो देखो, सबसे अलग अकेला तना खड़ा है, अरे कटरे के मकान तो यहाँ से ऐसे लगते हैं जैसे जन्माष्टमी में सजाये जाने वाले छोटे-छोटे कागजी मकान हों, आदि, आदि।

किन्तु हाथीमत्थे की चढ़ाई आते-आते फिर सब पस्त हो गये। पूरी यात्रा में यह

सबसे कठिन, सबसे कड़ी खड़ी चढ़ाई है। गपशप रुक गयी, जयकारे भी मन्द पड़ने लगे, हँफनी और विकलता बढ़ने लगी, लाठियों की टेक ले लेकर चढ़ते हुए भी चढ़ना मुश्किल लगने लगा, दर्शन तो रुआसी हो गयी, शक्ति दो माता, शक्ति दो माता की उसकी रट भी रुँध गयी। मुझे याद आने लगी बच्चन की 'दो चट्टानें' कविता की ये पंक्तियाँ—

इसीलिए ऊँचाई की अन्तिम उठान पर
शक्ति नहीं रे, भक्ति चाहिए
भक्ति विनत है
और उसी का किसी जगह अवरुद्ध न पथ है।

और जय माता दी का जय निरन्तर चलने लगा। कदम-कदम जमा कर धीरे-धीरे हम लोग चढ़ते रहे, हाँफते, सुस्ताते, पसीने से लथपथ, परेशान..... किन्तु चढ़ते रहे। उड़ीसा के एक साधु से सुनी प्रार्थना याद आयी और मैंने जोर से नारा लगाया, 'जगदम्बेऽऽ कर दे हाथ लम्बे।' माँ ही अपने करुणाकलित हाथों से हमें पकड़ कर ऊपर खींच लें तो बात बने, हम भला उनका पर्वत क्या चढ़ सकते हैं। और माता ने सचमुच खींच ही लिया, भारती ने ऊपर पहुँच कर खुशी की किलकारी लगायी 'हमलोग साँझीछत पर पहुँच गये, चढ़ाई खत्म हो गयी।' बुरी तरह थक जाने पर भी सबके चेहरे खिल उठे। यह स्थान करीब सात हजार फुट की ऊँचाई पर है और कटरे की ऊँचाई तीन हजार फुट के करीब है, अर्थात् चार हजार फुट के लगभग की यह चढ़ाई हमलोग चढ़ चुके थे।

साँझी छत की चाय की दुकान खुल चुकी थी। हम लोगों से कुछ पहले पहुँचे भक्त चाय पी रहे थे। बच्चे मजे से चाय की चुस्कियाँ लगाने लगे, बिस्कुट आदि का प्रसाद पाने लगे। किन्तु दर्शन उर्फ श्रीमती इन्दिरा देवी जी चाय तो चाय, पानी तक पीने के लिए तैयार नहीं थीं, क्योंकि उनके विधान के अनुसार हमलोगों को 'सुच्चे मुँह' माता के दर्शन करने चाहिये थे। मैं उनसे परिचित हूँ, जानता हूँ 'अनुनय विनय नहीं सुनतो है विकट धार्मिकों की निष्ठा', और 'राजी हूँ मैं उसी में जिसमें तेरी रजा है' के अन्दाज से मैंने सिर झुका दिया। लेकिन सोचिये, चढ़ाई में सबसे अधिक कातर और आर्त्त हुई थी दर्शन, भोज्य पदार्थों की सबसे अधिक आवश्यकता थी उसे, विशेषकर पानी की, किन्तु इस समय सबसे अधिक दृढ़ वही निकली। मैं तो पापी आदमी हूँ, न जाने कितने पाप किये बैठा हूँ और करता रहता हूँ किन्तु इस समय भक्तिशिरोमणि के साथ था यानी 'गदेराह होकर भी आँधी के साथ था' अतः मैंने सोचा, चलो कुछ और पुण्य ही सही।

सुस्ताने के बाद हमलोग उठे और पीठ फेरते ही मैं कुछ क्षणों के लिए अभिभूत-सा खड़ा रह गया। सामने की हिमधवल गिरि श्रृंखला धूप से सुनहरी हो उठी

थी। मैं उस सौन्दर्य को आँखों से चुपचाप पीता रहा। अज्ञेय ने ऐसी ही अनुभूति को भाषा दी होगी इस कविता में—

धूप,
माँ की हँसी के प्रतिबिम्ब-सी शिशुवदन पर–
हुई भासित
नये चीड़ों से कँटीली पार की गिरि श्रृंखला पर।

किन्तु उन्होंने सूर्यास्त की धूप का वर्णन किया था और सिहर कर स्वीकार कर लिया था 'नहीं फिर आना नहीं होगा' पर मैं तो सूर्योदय की धूप का सौन्दर्य निहार रहा था और संकल्प कर रहा था फिर आऊँगा, बार-बार आऊँगा।

उतराई तो हँसते खेलते कट गयी। भैरों की घाटी से गुजरते समय कोई भैरों के दर्शन नहीं करता, माता पर उसने कुदृष्टि जो डाली थी। उसका धड़ तो माता के चरणों के निकट है उसी पर पाँव रखकर भक्त माँ के दर्शन करते हैं और शीश भैरों की घाटी के मन्दिर में है, जिसके दर्शन लौटते समय भक्त करते हैं। माता के दरबार के निकट कई छोटी बड़ी इमारतें बन गयी हैं, जिनमें लोग ठहरते हैं, दुकानें हैं, जिनमें सब प्रकार के वैष्णव भोजन सुलभ हैं। थोड़ा आराम करने के बाद हम लोग दर्शन के लिए चले। माता के चरणों से आने वाली जलधारा को नल के सहारे पुरुषों के लिए तीन और महिलाओं के लिए दो धाराओं में विभक्त कर दिया गया है। वहाँ स्नान कर अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। घोर सर्दी के दिनों में भी भक्त वहाँ स्नान करते हैं, उन दिनों जल अपेक्षाकृत रूप से कम ठण्डा रहता है। स्नान कर, स्वच्छ वस्त्र पहन, भेंट ले हम लोग मन्दिर की ओर चले। वास्तव में यहाँ कोई मन्दिर नहीं है, माता ने अपने त्रिशूल के आघात से पहाड़ फोड़ कर यह गुफा बना ली थी उसी के प्रवेश द्वार को मन्दिर का-सा रूप दे दिया गया है।

विचित्र अनुभूति होती है, गुफा में प्रवेश करते समय। लगता है जैसे पूर्ण निरापद मातृकुक्षि में ही पुनः प्रवेश कर रहे हों, सामने अँधेरा है किन्तु भय का कोई कारण नहीं, भीतर माँ जो है। आरम्भ में चार पाँच गज लेटकर रेंगते हुए भीतर जाना पड़ता है। फिर गुफा इतनी ऊँची हो जाती है कि जरा सा तिरछे होकर आप आराम से खड़े हो सकते हैं। माता के चरणों से होकर आनेवाली जलधारा आपके पैरों को ही नहीं मन को भी निर्मल करती रहती है। भक्तों के मुखों से स्तोत्र धारा प्रवाहित होती रहती है, धीरे धीरे भक्त आगे बढ़ते जाते हैं। करीब पचासेक गज भीतर जाकर चार पाँच सीढ़ियाँ चढ़कर आप माता के दरबार में पहुँच जाते हैं। वह स्थान इतना प्रशस्त है कि दस, बारह व्यक्ति आसानी से बैठ सकते हैं। जिस प्रकार यह गुफा-मन्दिर प्राकृतिक है, उसी प्रकार प्रतिमाओं के स्थान पर तीन प्राकृतिक प्रस्तर पिंडियाँ हैं जो

महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती के रूप में पूजित होती हैं। मुख्यता महालक्ष्मी की ही है इसीलिए यह वैष्णवी माता की गुफा कही जाती है। श्रद्धा भक्ति से सात सुपारी, ध्वजा, नारियल, मेवा, रोली, मौली का हार तथा सामर्थ्य के अनुरूप भेंट चढ़ाकर, भक्तगण माता की स्तुति और विनय करते हैं। मन पवित्रता से भर जाता है, दीपकों के मन्द प्रकाश में वातावरण और रहस्यमय हो उठता है। सृष्टि, स्थिति, संहार की कारणभूता, अव्याकृता, पराप्रकृति की मंगलमयी गोद में अपने सुरक्षित अस्तित्व की अनुभूति कर पुलकित चित्त से प्रार्थना करते हुए मैं यह याचना अवश्य करता हूँ कि माँ बार बार बुलाना। माँ की कृपा का भिखारी हूँ, बहुत कुछ माँगता हूँ किन्तु कैसा विरोधाभास है कि यह अनुभव भी होता रहता है–

तेरे दर्शन किते ओ माता
मिट गई तृष्णा सारी
ओ विच्च पहाड़ाँ दे

नारियल का प्रसाद, सुपारी; खजाने के पैसे और माता के चरणों से लगी मौली की माला लेकर भक्त गद्‌गद भाव से लौटते हैं।

कहते हैं पाँचों पांडव भी माता के दर्शनार्थ आये थे, बाहर उनकी प्रतिमाएँ हैं। माता के वाहन सिंह की मूर्ति गुफा के बाहर खड़ी है। और बाहर दुकानें हैं, प्रसाद के रूप में भोजन ग्रहण कर कुछ देर विश्राम कर यात्री लौटते हैं। जो रात को वहाँ रहना चाहते हैं, उन्हें राज्य के धर्मार्थ ट्रस्ट की ओर से कम्बल आदि मिल सकते हैं।

माता के दर्शन की मनोकामना की पूर्ति से उत्पन्न सन्तोष के कारण लौटते समय की सवा मील की चढ़ाई सहज ही कट जाती है, वह उतनी कड़ी भी नहीं है। भैरों की घाटी से साँझी छत तक तो अपेक्षाकृत रूप से सुगम चौड़ा रास्ता ही है। साँझी छत पहुँच कर चारों तरफ के पर्वतीय सौन्दर्य से परिपूर्ण स्थानों को आँख भर देखते समय जगदीश गुप्त की उक्ति की सत्यता की साक्षी देता हुआ मैं भी कह सकता हूँ कि वे स्थान

दृश्य से छन कर समाये आँख में,
आँख से मन में बसे, मन हो गये।

हाथीमत्थे की चढ़ाई ही नहीं उतराई भी कठिन है। उतरते समय थके पाँव काँपने लगते हैं और जरा सी जल्दबाजी के चलते भी पाँव फिसल सकता है। लेकिन लोगों को जम्मू जाने की अन्तिम बस पकड़ने की हड़बड़ी रहती है और वे बीच-बीच में गिरते पड़ते हुए भी जल्दी-जल्दी उतरते हैं। मुझे याद है कि जब पहली बार मैं दर्शन और अपने शालिग्राम बीरजी के साथ वैष्णों देवी की यात्रा पर गया था तो दर्शन को देर करते देख किस बेदर्दी से बीर उसका हाथ पकड़ कर स्वयं दौड़ते हुए और उसे

दौड़ाते हुए नीचे उतार लाया था। बस तो मिल गयी थी लेकिन जम्मू पहुँच कर दर्शन के दोनों पैरों के दर्सों नाखून छाले पड़ जाने के कारण निकल गये थे। अच्छा यही है कि जरा समय रहते उतरना शुरू कर दें या रात कटरे में रुक जायें।

सीढ़ियों की तुलना में घुमावदार रास्ते से उतरना निश्चय ही अधिक सुखद है। आदिकुमारी में उतरते समय भी रुक कर वहाँ के मन्दिर के लोग दर्शन करते हैं, सुस्ताते हैं, चाय शाय पीते हैं। सबसे कठिन लगती है पूरा पहाड़ उतर कर बाणगंगा से कटरे के दर्शनी दरवाजे तक की दो अढ़ाई सौ सीढ़ियों की चढ़ाई क्योंकि उस समय तक शरीर एक दम पस्त हो चुका रहता है।

जम्मू लौटने की जल्दी केवल यात्रियों को ही नहीं बस के ड्राइवरों को भी रहती है। वे उस घुमघुमौवे पहाड़ी रास्ते में इस तेजी से बस दौड़ाते हैं कि बकौल मेरे भतीजे टूटू के 'पेट में मिल्क शेक' बन जाता है। हाँ, दो घंटे की यात्रा सवा, डेढ़ घंटे में ही पूरी हो जाती है।

जम्मू से दिखता हुआ माता के पर्वत का त्रिकूट शिखर उस रस-रोमांच भरी यात्रा की स्मृति के साथ ही साथ ईशावास्योपनिषद् की उक्ति 'तदूदूरे तद्वन्तिके' (वह दूर भी है और निकट भी।) की याद भी जगाता रहता है। सचमुच अपनी-अपनी समझ के अनुसार माता दूर भी है और अन्तर के अन्तरतम में भी। ●

हिमालय की विरल श्रेणी तरल सी आँख में उलझी

दार्जिलिंग

वृद्ध निराला ने एक पंक्ति लिखी थी, 'स्मरण में है आज जीवन।' पुरानी यादों में खोये रहना बुढ़ापे की खास निशानी है किन्तु यादों के माध्यम से अपने को खोजने की भी एक प्रक्रिया हो सकती है जिसमें रम कर ताजगी पाना जवानों के लिए ही संभव है। जीवन के अँधेरे में निर्मम जमाने की क्रूरताओं के आघात झेलते समय यदि किसी उल्लासचपल स्मृति की बिजली कौंध जाये तो मन में जो फुरहरी सी उठती है, उससे जिजीविषा और बढ़ जाती है तथा संघर्ष की क्षमता भी। बादलों से घिरी इस उदास सी कलकतिया शाम का बन्दी मन देश और काल के बन्धनों को तुड़ाकर अचानक जंगपाना चाय बागान (जिला- दार्जिलिंग) के बँगले में जा पहुँचा है, जहाँ से मैंने दर्शन को पत्र में लिखा था, "इस समय प्राकृतिक वातावरण इतना मोहक और सुन्दर है कि बरबस तुम्हारी याद आ गयी और याद आ गयी मानस की चौपाई, 'घन घमंड गरजत नभ घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा'। तीन तरफ ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे पहाड़, सामने दूर तक फैला हुआ जंगल (जिसके बीच से मैदानी इलाकों की झलक भी मिल जाती है) बादलों से छाया हुआ आकाश, रिमझिम का मधुर संगीत, जिसमें तबले की थाप के समान मेघगर्जन, ठंडी, ठंडी गुदगुदाने वाली हवा और पूरे बँगले में अकेला मैं। किताबें (जिन्हें तुम अपनी सौत समझती हो) जरूर साथ हैं, किन्तु ऐसे में भला वे कितना सहारा दे सकती हैं....." मन अब क्या केवल जंगपाना में रुक सकता है, आँखों के सामने उभरती चली आ रही हैं तस्वीरें, एक के बाद एक, बिना रुके....कर्सियांग, घूम, दार्जिलिंग, गुमटी.....फिराक साहब ने ठीक ही कहा है—

नहीं आती, तो उनकी याद बरसों तक नहीं आती।
मगर जब याद आते हैं तो अक्सर याद आते हैं।।

अब निबाह नहीं हो सकता दार्जिलिंग यात्रा की कहानी कहे बिना।

दमदम से बागडोगरा पहुँचने में मुश्किल से डेढ़ घंटा समय लगता है, उतना ही जितना साधारण जाम रहने पर बस से मेरे घर से लोढ़ाजी के घर जाने में लगता है। कलकत्ते वाले समय बचाने के लिए हवाई यात्रा करते हैं, यह झूठ है, नहीं तो क्या वे कोई ऐसी व्यवस्था अपने शहर के लिए नहीं कर लेते कि प्रायः प्रतिदिन केवल जाम के फलस्वरूप (जो जुलूस निकलने के कारण हुआ हो या जल्दी पहुँचने की हड़बड़ी में मोटरवालों द्वारा ट्राफिक के नियम न मानने के कारण या किसी दुर्घटना के कारण!) अपनी जिन्दगी के डेढ़ दो घंटे उन्हें ट्राम, बस या मोटर में बैठे-बैठे अपने कर्मों को झींकते और सरकार को तथा दूसरों को (वे कौन होते हैं ?) गालियाँ देते नहीं बिताने पड़ते। खैर!

हवाई यात्रा करते समय कैसे-कैसे विचित्र विचार मन में उठते हैं। ऊँचे आकाश से पृथ्वी कितनी विशाल, कितनी विस्तृत लगती है। मनुष्य और उसके बनाये हुए झोंपड़े, घर, महल कितने तुच्छ, कितने क्षुद्र जँचते हैं जैसे बच्चों के खिलौने हों। उतने ऊपर से घरों की ऊँचाई निचाई में कोई खास फर्क नहीं मालूम पड़ता.....'बराबर है सब घर बुलन्दी से देख।' फिर भी मनुष्य कितना अहंकार करता है, दूसरों से अपने को बड़ा साबित करने के लिए क्या-क्या नहीं करता । विज्ञान के कारण ब्रह्माण्ड के कल्पनातीत विस्तार का जो आभास मिलता है, उसमें हमारी पृथ्वी बालू के एक कण के समान है....फिर उस ब्रह्माण्ड में एक व्यक्ति की क्या हैसियत....घमंड केवल संकीर्णता से अपने को सबसे अलग कर देखने से ही जागता है, वह मन की दुर्बलता का लक्षण है, सबलता का नहीं । हाँ, यह ठीक है कि मनुष्य अपनी क्षुद्रता में भी महत्ता छिपाये है। यह उसी की बुद्धि का चमत्कार है कि उसने आकाश के वक्ष को चीर कर बादलों और तूफानों से टक्कर लेकर उड़ने वाले हवाई जहाज बनाये....चाँद तक पहुँच जाने वाले यान बनाये... प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को समझ कर उसे अपने लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाया। किन्तु व्यक्ति में निहित प्रतिभा का उन्मेष भी सामूहिक सहयोग से ही हो पाता है अतः उसे वैयक्तिक अहं से फूल कर कुप्पा होने के स्थान पर विनम्र और सहयोगी ही होना चाहिए।

x x x

बागडोगरा से दार्जिलिंग साठ मील के करीब है । हम लोग चार व्यक्ति थे—सीताराम जी खेमका, मोती बाबू, अरुण और मैं। सीतारामजी बुजुर्ग थे, मोती बाबू मुझसे सात आठ साल बड़े होंगे, अरुण मुझसे सात आठ साल छोटा था। किन्तु सब

जिन्दादिल और उल्लसित थे । हवाई जहाज से उतरने के बाद ही पानी का एक हल्का दौगरा बरस गया था इसलिए मौसम बहुत सुहाना हो गया था । मई का अन्तिम सप्ताह था । मौसम के लिहाज से मार्च से मई ही दार्जिलिंग का सर्वश्रेष्ठ मौसम है, अक्टूबर में भी शारदीया प्रकृति आपका सप्रेम स्वागत करेगी, किन्तु वसन्त की तो बात ही और है । अन्य महीनों में वर्षा या शीत का इतना प्रकोप रहता है कि भ्रमण का पूरा सुख नहीं मिलता। यह हम लोगों का सौभाग्य था कि उस बार मानसून जरा विलम्ब से आया। वर्षा की रिमझिम का मजा तो कई बार मिला किन्तु कई-कई दिनों तक चलने वाली मूसलाधार वृष्टि का अत्याचार नहीं झेलना पड़ा।

दार्जिलिंग की चढ़ाई मसूरी की अपेक्षा लम्बी है अतः आसान भी है। यहाँ तो खिलौनेनुमा छोटी रेल भी चलती है, जिस पर सफर करना जरूर दिलचस्प होता होगा, जल्दबाजों को खीझ भी होती होगी क्योंकि उसकी गति बहुत मन्द है। हम लोग टैक्सी से गये थे इसलिए रास्ते में स्थान-स्थान पर इच्छानुरूप रुक भी सकते थे।

रास्ता बहुत ही रमणीक था । इतनी हरियाली कश्मीर के रास्ते में भी नहीं है, नैनीताल, मसूरी आदि का तो सवाल ही नहीं उठता। बात यह है कि यहाँ वर्षा उन प्रदेशों से कहीं अधिक होती है इसीलिए इसकी हरीतिमा भी उनसे कहीं अधिक है । जंगली फूलों की बहुतायत है, उनके कारण हरियाली हँसती हुई सी जान पड़ती है । कर्सियांग रास्ते में पड़ने वाला छोटा सा खुशनुमा पहाड़ी शहर है, जिसकी ऊँचाई करीब पाँच हजार फुट है। मध्यवर्ती अवस्थिति के कारण यह विशेषता आ गयी है इसमें कि उत्तर की ओर देखने पर यदि हिमधवल शिखरों और हरिताभ गिरिश्रृंखलाओं के दिव्य दृश्य दिखायी पड़ते हैं तो दक्षिण की ओर तराई और बंगाल की शस्यश्यामला समतल भूमि के भी भव्य दर्शन होते हैं। ऐसे ही किसी मनोरम रास्ते को देखकर किसी भावुक मन से यह उद्‌गार निकला होगा, *'रास्ता दिलचस्प इतना था कि मंजिल हो गया।'* हमलोग उतने भावुक नहीं थे, अतः बढ़ते चले गये । रास्ते का सर्वोच्च स्थान है घूम जिसकी ऊँचाई ७४१७ फुट है। यहाँ एक प्राचीन बौद्ध मन्दिर एवं विहार है। भगवान् बुद्ध के दर्शन किये, करुणा और अहिंसा की साकार प्रतिमा को नमन किया....आज सारी दुनिया में उन दोनों का कितना अभाव है और उसका दुष्परिणाम कितना भयावह है।

दार्जिलिंग....भारत की पर्वतीय विलासपुरियों में अग्रगण्य । कुछ लोग इसके नाम की व्युत्पत्ति 'दुर्जेय लिंग' से बताते हैं और भगवान शिव के प्राचीन मन्दिर से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं किन्तु राहुल बाबा के अनुसार यहाँ एक पुराना बौद्ध विहार था जिसे तिब्बती लोग दोर्जेलिंग अर्थात् वज्रद्वीप कहते थे । अंग्रेजों ने उस विहार को भी तोड़ा और उसके नाम को विकृत कर दार्जिलिंग बना दिया । जो हो, पहाड़ों से घिरा

पहाड़ पर बसा यह 'वज्रद्वीप' आज तो अपनी शोभा से 'पुष्प द्वीप' सा लगता है। महादेवी की एक पंक्ति याद आ गयी 'पुलक हूँ वह, जो पला है कठिन प्रस्तर में', सच कठिन प्रस्तरों के कोमल अन्तर के पुलक के सदृश है यह दार्जिलिंग, इसीलिए इतना मोहक इतना रमणीय है।

हमलोग मुख्य शहर से साढ़े तीन मील दूर रंगनीत टी इस्टेट की प्रशस्त एवं आरामदेह कोठी में ठहरे थे। एकदम पहाड़ की गोद में, शान्ति के साम्राज्य में, फुलवारी के बीचोंबीच यह सुरम्य कोठी है। कोठी के पीछे और अगल-बगल भी करीने से लगी और अनुरक्षित कई तलों की पुष्पवाटिका परिवेश को प्रियतर बना देती है। यहाँ गुलाब की लताओं, जी हाँ, लताओं में फूल इतने होते हैं, इतने होते हैं कि पत्तियाँ छिप जाती हैं। तरह-तरह के विलायती और देशी फूलों की क्यारियों से फूलों का अनमोल हास गुंजरित हो वहां की शान्ति में संगीत घोल देता है। सामने की ओर हरे मखमली गलीचों को मात करने वाले स्वागत में पलकें बिछाये दो छोटे छोटे लॉन हैं। तराई के जंगलों और छोटी छोटी पहाड़ियों के उस पार है संसार का द्वितीय सर्वोच्च शिखर कांचनजंघा।

शब्दातीत को शब्दों में बाँधने की चेष्टा भले असफल हो किन्तु अपने मन के भावों को अधूरी, अटपटी अभिव्यक्ति ही सही, दिये बिना छाती का उफान शान्त नहीं हो पाता। इसीलिए तो आदिम युग से कवियों, लेखकों और सामान्यजनों ने भी अज्ञेय को *'आज तुम शब्द न दो, न दो, फिर भी मैं कहूँगा'* जैसी मनःस्थिति में ऐसे अनुभवों, दृश्यों, तत्त्वों को वाणी के अर्घ्य चढ़ाये हैं। क्या लिखूँ कि कांचनजंघा मुझे कैसा लगा? प्रकृति के उस सात्विक, पावन, निष्कलुष विराट् ऐश्वर्य की शुभ्रता और उच्चता को मैं स्तब्ध भाव से देखता रहूँ, यही मन करता था किन्तु सत्य की ही तरह सौन्दर्य पर भी 'आवरण पर आवरण पर आवरण' पड़ा रहता है। बादलों का रंग-बिरंगा अवरोध उसकी झलक तक देखने को तरसा देता था। ईशावास्योपनिषद् के ऋषि की वह कातर प्रार्थना याद हो आती थी 'हे पूषन्, सत्य के मुख को ढाँकने वाले हिरण्यमय पात्र को तुम हटा दो, ताकि मैं सत्य के दर्शन कर सकूँ।' शायद इसी पुण्य स्मरण के प्रताप से अपने सात दिनों के निवास काल में दो बार मैं कांचनजंघा के दर्शन कर सका था। पांडव क्यों अपनी ग्लानि से मुक्त होने के लिए हिमालय में जा गले थे इसके रहस्य का कुछ-कुछ आभास उस 'पावनं पावनानाम्' की निर्मल कान्ति को देखने पर आज भी मिल सकता है। उस रहस्यावृत परम सुन्दर का आकर्षण आज भी तिल मात्र नहीं घटा है, उसे देखते रहने पर यह बात जान पड़ती है कि रमणीयता का रूप क्षण-क्षण में नवीन होता जाता है मैं उसके रूप को शब्द भले न दे पाऊँ, नेत्रों के माध्यम से मन में सदा-सदा के लिए ठौर अवश्य दे सका हूँ। कांचनजंघा के संदर्भ में शिवमंगल सिंह

सुमन की यह उक्ति मुझे अपनी ही लगती है, *'हिमालय की विरल श्रेणी, तरल सी आँख में उलझी'*। आँखों में स्मृति की नमी लिये उलझी यह हिमश्रेणी समय-समय पर नागिन के समान फण तान कर फुफकार उठनेवाली अनास्था भरी शंका के दाह को शीतल बनाती रहती है। नहीं, दिव्य सौन्दर्य की सत्ता झुठलाई नहीं जा सकती, उसका आभास हमारी धरती में स्थान-स्थान पर बिखरा है और यदि उसे पुंजीभूत रूप में देखना चाहते हो तो देखो न हिमालय की शुभ्र, उदात्त सौन्दर्य राशि को, सुमन के अनुसार 'जिसमें कहीं कोई कालिख या दाग तक नहीं, जिससे आँखों में खराश भी लगे।'

X X X

दार्जिलिंग की मोहकता में चार चाँद लगा देनेवाली उसकी हरियाली कुछ निराली ही है। निराला की ये पंक्तियाँ उसी के लिए लिखी जान पड़ती है :-

'हरियाली ने अति हर ली श्री
अखिल विश्व के नव यौवन की
मन्द गन्ध कुसुमों से लिख दी
लिपि जय की हँस के'

कुसुमों की विजयलिपि दार्जिलिंग में सर्वत्र अंकित है। केवल उद्यानों या बंगलों की क्यारियों में नहीं, होटलों, मकानों के बरंडों, दरवाजों और छतों पर भी फूलों की बहार देखी जा सकती है। मुझे ऐसे मकान कम दिखाई पड़े जिनमें फूलों के गमले न हों। यहाँ के निवासियों विशेषतः महिलाओं में पुष्पप्रेम इस सीमा तक है कि पत्थर तोड़नेवाली मजदूरिनें काम करते समय भी अपने जूड़ों में फूलों के गुच्छे खोंसे रहती हैं। स्वस्थ और हँसमुख नेपाली और लेप्चा जिन्दगी की कठोरता को फूलों से कोमल बना लेना चाहते हैं।

और यहाँ के बादल अनजान नदी को नावों की तरह पाल उड़ाते दूर ही दूर नजर नहीं आते; रूई के गालों समान आपको चारों ओर से ढँक लेते हैं। लुप्त हो जाता है सामने का दृश्य विस्तार। आप एक अनछुई गुदगुदी का अनुभव करते हैं और अपने को कुछ देर के लिए चंचल, सफेद तिलिस्म में बन्दी पाते हैं। ऊपर बादल, नीचे बादल, अगल बगल में बादल। बादलों से उलझ, बादलों से सुलझ जब मैं निकलता था तो चाहता था कि थोड़ी-थोड़ी देर में फिर कोई मुझे इसी प्रकार अपने स्नेह के पर्यावरण से ढाक ले, न मुझे किसी ओर देखने दे, न स्वयं किसी और को देखे। किन्तु ऐसा तो केवल कविता में ही होता है, जीवन में लोग नदी नाव संयोग की तरह जाने कहाँ-कहाँ से आ मिलते हैं और फिर बिछुड़ जाते हैं। अब इन्हीं बादलों को लें। सचमुच यहाँ के बादल बड़े प्यारे हैं, गुदगुदाते, रिझाते हैं, रसार्द्र करते हैं और कभी-कभी नटखटपन से खिझाते भी हैं किन्तु पकड़ में नहीं आते, अलग ही रहना चाहते हैं।

दार्जिलिंग के सैलानियों की दिनचर्या अन्य पर्वतपुरियों से बहुत भिन्न तो नहीं होती। नजाकत पसन्द, लोग तो 'आराम बड़ी चीज है, मुँह ढँक के सोइये' के कायल होने के कारण देर तक स्वप्नलोक में विचरते रहते हैं। पर कुछ तो हम लोग स्वयं कर्मठ थे और कुछ सीताराम जी का स्नेह अनुशासन सूर्योदय से पूर्व ही बिस्तर छुड़वा देता था। हम लोग सात आठ दिन दार्जिलिंग रहे होंगे किन्तु प्रतिदिन प्रभात बादलों से घिरा हुआ ही आया। इसीलिए हम लोग व्याघ्रगिरि (टाइगर हिल) नहीं गये, जहाँ से कहते हैं सूर्योदय के अद्भुत महिमामंडित दर्शन होते हैं। पर आधी रात से उठ कर तैयारी करने और कई मीलों की मंजिल मारने के श्रम के बावजूद अधिक संभावित निराशा की आशंका ने उस अभियान को अगली बार के लिए स्थगित करने के लिए हमलोगों को राजी कर लिया।

किसी दिन प्रातभ्रमण, किसी दिन घुड़सवारी अर्थात् दिन भर की सक्रियता के लिए शरीर को गरमाने की आवश्यकता की स्वीकृति एवं पूर्ति! शहर से दूर होने के कारण ये दोनों व्यायाम अधिक रुचिकर लगते थे। जाते समय तो सीताराम जी किसी को मुँह खोलने की इजाजत नहीं देते थे, लौटते समय जरूर पहाड़ी प्रकृति की निस्तब्ध शान्ति को हमलोग मुखरित कर देते थे बातचीत वहाँ की प्राकृतिक शोभा या विगत प्रेरणाप्रद अनुभवों पर ही थी। अनुभवों का खजाना सीताराम जी का ही सबसे समृद्ध था, स्वभावतः वे ही सबसे अधिक बोलते थे।

लौटकर आते तो मोती बाबू के छोटे भाई इन्द्रप्रकाश की पत्नी पुष्पाजी की कृपा से (वे लोग पहले से ही वहाँ आये हुए थे) जलपान की मेज सजी रहती। सोधे उसी पर जा जमते। तुलसी बाबा अपने अनुभवों के आधार पर ही लिख गये हैं, 'लागइ अति पहाड़ कर पानी' क्योंकि वहाँ मिले कलकत्ते के अन्य मित्रों में प्रायः सब ने पेट खराब होने की शिकायत की किन्तु हम सुबह से रात तक इस कदर सक्रिय रहते थे कि भोजन स्वाहा हो जाता भूख करारी लगती।

जलपान के बाद ही इन्द्रप्रकाश पुष्पाजी और अरुण स्केटिंग करने के लिए जिमखाना क्लब जाते। साथ में हमलोग भी रहते। पहले दिन तो मुझे संकोच हुआ। जिन्दगी में कभी स्केटिंग नहीं की थी। नौसिखुए जिस प्रकार भदाभद गिर रहे थे, उससे संकोच और बढ़ा, पर फिर मैंने सोचा तमाशाई बनने से तमाशा बनाना कहीं अच्छा है। मैं भी पाँवों में स्केट बाँध कर किशोरों और तरुणों के दल में जा भिड़ा। जैसा अपेक्षित था तीन चार दिन में धबाधब कई बार गिरा। आखिर चलने और पहियों के बल सरकने में बहुत अन्तर है। इस नयी विद्या में शरीर सन्तुलन करना आते-आते आता है। अपना लम्बा चौड़ा ढाई मन का शरीर लेकर जब मैं जोर से भद्द से काठ के फर्श पर गिरता था तो फर्श की आवाज के साथ-साथ लड़के लड़कियों की खिलखिलाहट

भी गूँज उठती थी। किन्तु मेरा स्वभाव ऐसा है कि किसी काम से चिपट गया तो फिर चिपट ही गया। पाँचवें दिन ही मैं सहज भाव से स्केट करने लगा उस प्रशस्त रिंक में सर्र...सर्र चक्कर काटते समय गति के पागलपन से प्रेरित आधुनिकता का संकेतात्मक अनुभव होता है। अपने में मस्त कहकहों और बातचीत के शोर की संगत करती हुई स्केटिंग की झनझनाती ध्वनि की निराली गूँज। कभी-कभी अनजाने, कभी-कभी शैतानी से टकराकर चार-चार पाँच-पाँच व्यक्तियों का सह-लुंठन। फिर एक दूसरे को हाथ पकड़ कर उठाना, फिर उसी में रम जाना। प्रवीणों द्वारा तरह-तरह की कलात्मक रचनाओं एवं मुद्राओं का सम्मिलित एवं एकल प्रदर्शन। एक नशा सा छा जाता है मन के ऊपर और उसी चकराघिन्नी में डेढ़ दो घंटा समय कैसे उड़ जाता है, पता ही नहीं चलता। नौजवानों को इसका आनन्द जरूर लेना चाहिए।

शाम को माल की सैर। दार्जिलिंग के चारों ओर जो सड़क गयी है उसे माल कहते हैं। यह सड़क एवं स्थान शौकीनों के आकर्षण का प्रधान केन्द्र है। शाम को तो यहाँ अन्तर्प्रान्तीय मेला सा जुड़ जाता है। कुछ गौरांग भी रहते ही हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ मानवीय सौन्दर्य की मोहक प्रदर्शनी भी लगी रहती है। देशी विदेशी पोशाकों की बहार देखने लायक रहती है। कहावत है रुपया रुपये को खींचता है किन्तु उससे कई गुने आकर्षण से आदमी आदमी को खींचता है। दिन भर अलग-अलग रहने के बाद शाम को उस चमकती दमकती मंडली में अपने को मिला देने की स्वाभाविक इच्छा पर्यटकों को वहाँ खींच लाती है। एक ही स्थान पर नये पुराने परिचितों से मुलाकात हो जाती है, गपशप का बाजार गर्म रहता है। महिलाओं की काकली और पुरुषों के कौआरोर का सम्मिलित स्वर बड़ा अद्‌भुत लगता है।

माल के पिछवाड़े अपेक्षाकृत रूप से एकान्त रहता है। वहाँ से चारों ओर के शोभाशाली दृश्यों की उन्मुक्त झाँकी भी मिलती है। कुछ जोड़े उधर बिचरते रहते हैं, भविष्य के इन्द्रधनुषी स्वप्नों में दार्जिलिंग की हरियाली और कान्ति का संयोग करते हुए। मैं तो भीड़ में भी अकेला ही था अतः कुछ देर एकान्त सेवन भी कर लिया करता था। पहाड़ मुझे भीतर से उल्लसित किन्तु बाहर से निस्तब्ध बनाते हैं। चुपचाप देर तक बैठकर उस गरिमामयी सुन्दरता को देखते रहना मुझे बहुत अच्छा लगता है। जब रोम रोम अपने हर्ष को व्यक्त करने के लिए आतुर हो उठे तब वाणी को विश्राम देना ही उचित नहीं है क्या?

दार्जिलिंग अमीरों की सैरगाह है। बसन्त और शरद् में तो सारे भारत के समृद्ध वर्ग को उसका सौन्दर्य आकृष्ट करता है जबकि आस-पास के चायबागानों के मालिक या उच्च पदस्थ कर्मचारी फुरसत पाते ही वहाँ तफरीह के लिए पहुँच जाते हैं। स्वभावतः पैसों से खरीदी जा सकने वाली सुविधाएँ एवं मौज मजे वहाँ यथेष्ट मात्रा

में सुलभ हैं जैसे होटल, रेस्तरां, बार, रेसकोर्स आदि आदि। हर मौसम में बड़े होटलों में सौन्दर्य प्रतियोगिताएँ भी होती हैं और मिस दार्जिलिंग का चुनाव भी। मुझे इसमें व्यवसायियों के षड्यंत्र की दुर्गन्ध आती है। पूंजीवादी प्रवृत्ति पैसा बटोरने को ही प्राथमिकता देती है, नैतिक, सांस्कृतिक मूल्यों को नहीं। पर अपना देश भेड़ियाधसान मार्का नकल को ही प्रगति और आधुनिकता मान बैठा है। उसका मोह-भंग कोई दूसरा कृष्ण ही कर सकता है।

शहर में और आसपास देखने लायक स्थान कई हैं। राजभवन, बोटेनिकल गार्डेन, अजायबघर इत्यादि किन्तु मुझे सबसे अधिक मोहा गुरौंस और मैग्नोलिया के फूलों से रंगीन हो उठे वनखण्डों ने। मानव अपनी कृति को सुकृति या संस्कृति भले कह ले प्रकृति का सम्मोहन और औदात्त्य उसमें कहाँ। पहाड़ों, जंगलों की आदिमता सह्य हो सके इतना भर मानव प्रयास तो उचित है किन्तु उन्हें कलकत्ता, बम्बई बना दे कर ही प्रसन्न हो जाने की प्रवृत्ति का समर्थन मैं नहीं करता। इसीलिए शहर से २६-२७ मील दूर गुमटी चायबागान में चार दिन रहने का सुयोग पाकर मैं सचमुच प्रफुल्ल हुआ।

गुमटी दार्जिलिंग की अपेक्षा दो हजार फुट नीचे है अतः वहाँ सर्दी उसी अनुपात में कम है। जून के प्रथम सप्ताह में तो तापमान की दृष्टि से वहाँ बिलकुल बसन्त ही रहता है किन्तु बीच-बीच में लगने वाली बारिश की झड़ी बरसात का भ्रम उत्पन्न कर देती है। चाय बागान के बंगले के लिए जगह चुनने वाले ने बहुत ही सुन्दर जगह चुनी थी। चारों तरफ पहाड़, हरे भरे पहाड़, बीच में बूढ़े दादा की गोद में बैठे हुए सुन्दर सलौने शिशु सा लगता था वह बंगला। बंगले के सामने छोटा सा लान, चारों तरफ करीने से लगी फूलों की क्यारियाँ। दृश्य-परिधि के विशाल होने से नेत्रों को कैसा सुख मिलता है।

इसी प्राकृतिक परिवेश में चार दिन रहा। कभी मोती बाबू के साथ कभी अकेले निकल जाता अगल बगल की भूमि में विचरण करने के लिए। छोटे-छोटे पहाड़ी झरने, बाँस के घने झाड़, चाय की झाड़ियाँ और मुस्कुराते हुए जंगली फूल, जाने, अनजाने पक्षियों की तरह-तरह की बोलियाँ.....मेरा मन तो उन सब में रम जाता। किसी झरने के किनारे, छाया में बैठकर अपनी प्रिय कविताओं की आवृत्ति करता रहता, रवीन्द्रनाथ, निराला, बच्चन तथा और भी कितने कवि मेरे भीतर से फूट निकलते, उसी झरने की तरह। कविताएँ पढ़ना, सुनना, याद करना, सुनाना मेरा सबसे बड़ा शौक है। शौक दिखाने के लिए नहीं किया जाता, मन के आनन्द के लिए किया जाता है। अतः मैं उन झरनों को, झाड़ियों को और उनके व्याज से अपने को कविताएँ सुनाता रहता। कभी-कभी सहृदय मोती बाबू भी उस प्रवाह के कुछ छींटे पा जाते।

किन्तु उन्हीं चार दिनों में मुझे इस बात का आभास भी मिला कि कैसी

हृदयहीन नई वर्ण-व्यवस्था प्रचलित है इन चाय बागानों में। चाय बागान के मालिक, मैनेजर या सहायक मैनेजर अंग्रेजों से मिली विरासत के अनुसार केवल अपने स्तर के लोगों से ही मिल-जुल सकते हैं, भले उसके लिए उन्हें मीलों की यात्रा कर अपने वर्ग के क्लबों में या समस्तरीय व्यक्तियों के बंगलों में जाना पड़े। बाकी के लोगों से मेलजोल बढ़ाना उनकी शान के खिलाफ है, वे पूँजीवादी वर्ण व्यवस्था के अनुसार अस्पृश्य जो ठहरे। और मालिक जब मालिक से मिलते हैं तो ऊपरी आवभगत के नीचे तीखी स्पर्धा की तलवार चमकती रहती है, जिसकी धार बातचीत के दाँव-पेंच में एक दूसरे को घायल करने से नहीं चूकती भले उस घाव के ऊपर फिर शिष्टता का मरहम लगाया जाता रहे। अपने ही भीतर अपने ध्वंस के कारण पालने वाली इस व्यवस्था को नष्ट होना ही है।

कलकत्ते की भीड़भाड़ और व्यस्तता के बीच गुमटी-जंगपाना के सम्मोहन में बिताये उन चार दिनों की स्मृति दार्जिलिंग की चमक-दमक से भी ज्यादा प्रिय लगती है। मैंने स्वीकार कर लिया है कि *'फूल से हँस बोल काँटों से छिदें राहियों का तो यही अधिकार है।'* कृतज्ञ हूँ उन फूलों का जिनकी स्मृति-सुरभि काँटों के दंश को सहनीय बना देती है। ●

शास्त्रैरपि शरैरपि

एन. सी. सी. शिविर

एन. सी. सी. शिविर, कल्याणी
दि० २८-४-६३

प्रिय इन्दु,

अशेष प्यार। आज रविवार है, छै दिनों के कठोर सैनिक शिक्षण के बाद अवकाश का दिन, शक्ति संचय का दिन! वैसे सच कहा जाय तो आज का दिन प्रतीक्षा और मोहक दिवास्वप्नों में ही बीत गया। कभी-कभी उपयोगिता एवं प्रयोजन की प्रेरणा से बनाये सब नियम कानून तोड़कर कुछ नहीं अर्थात् अनावश्यक अप्रयोजनीय किन्तु प्रिय.....कुछ करने की जो लालसा मन में जागती है, उसको दुलारता रहा। दिन भर सोचता रहा कि आज भी तुम आओगी, चलो, तुम नहीं आ पायी तो मैं ही भावना के माध्यम से तुम तक पहुँचने की चेष्टा करूँ।

पिछले तीन सप्ताहों में अपने जिस रूप का परिचय मुझे मिला है, उससे मैं स्वयं विस्मित हूँ। जब दिमागी कीड़ा काट-काट कर परेशान किये डाल रहा था कि वर्तमान राष्ट्रीय संकटकाल में केवल वक्तृताओं से ही तुम्हारा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता, किताब पकड़ने और कलम चलानेवाले हाथों में भी शस्त्रों के शोभित होने का समय आ गया है, जब विश्वविद्यालय के युवा प्राध्यापकों की बैठक में वाइस चांसलर के एन. सी. सी. में सम्मिलित होने के अनुरोध के उत्तर में मौन का अखण्ड राज्य देखकर मैंने अपनी सेवाएँ अर्पित की थीं तब भी मन के एक कोने में यह शंका बनी हुई थी कि क्या शरीर इतना कठोर परिश्रम सह पायेगा। और अब देखो सबेरे साढ़े चार बजे उठता हूँ, साथियों को उठाता हूँ (कम्पनी कमाण्डर जो बना दिया गया हूँ) और नित्यकृत्य से निवृत्त होकर पूरी कम्पनी के साथ पौने छै बजे राइफल लेने के लिए

मैदान में उपस्थित हो जाता हूँ। छै बजे से जो सैनिक शिक्षा शुरू होती है वह बारह बजे तक चलती रहती है। बीच में चालीस मिनट का अवकाश मिलता है, जलपान के लिए। फिर अपराह्न में तीन बजे से पाँच बजे तक शिक्षा का क्रम चलता है और उसके बाद खेल कूद का। कवायद, राइफल, संगीन, हथगोले और मशीनगन की शिक्षा दी जा रही है। आज्ञापालन में बिन्दुमात्र उल्लंघन या शैथिल्य भी जिसे असह्य है ऐसा सख्त और कड़ा वातावरण और ढीले ढाले लेक्चर झाड़ने में तेज प्राध्यापकगण; है न मजेदार वैषम्य, किन्तु मैं प्राणपण से चेष्टा कर रहा हूँ और तुम्हें यह जानकर खुशी होगी कि मेरी प्रगति अधिकारियों की दृष्टि में अत्यन्त सन्तोषजनक है। शरीर चुस्त होता जा रहा है और अधिक कष्टसहिष्णु भी। दुपहरिया की जलती बलती धूप में हाफ पैण्ट और सैण्डो गंजी पहने जब दुश्मन पर हमला करने की शिक्षा प्राप्त करते समय रेंगकर बढ़ने की आज्ञा मिलती है और जब कंकरीली, कँटीली धरती अक्सर कुहनियों और घुटनों को अपने स्नेहदान से रक्तरंजित कर देती है, तब भी एक प्रकार के पुलक का अनुभव होता है। याद हो आती है वह सूक्ति, 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचर्चा प्रवर्तते' शस्त्रों से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र चर्चा संभव होती है। मेरा विश्वास है कि शस्त्र चर्चा और शास्त्र चर्चा का समन्वय हो सकता है। महाभारत का श्लोक है—

'अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।
इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं शास्त्रैरपि शरैरपि।।"

ऋषि कहता है मेरे आगे चारों वेद हैं और पीछे बाणयुक्त धनुष, यह ब्राह्म तेज है और यह क्षात्र तेज–शास्त्रों और शरों दोनों के द्वारा लक्ष्यसिद्धि के लिए प्रस्तुत हूँ। यही परंपरागत भावना और हिमालय की बर्फ को अपने खून से लाल कर देनेवाले जवानों की कुर्बानी और.....और हिमालय के पार के खूँख्वार, बर्बर, दरिन्दों की दुःसाहसपूर्ण चुनौती मुझे प्रेरणा देती रहती है।

किन्तु मन कभी-कभी यहाँ से भटक भी जाता है, राइफल या मशीनगन की कक्षा को पार कर कलकत्ता पहुँच जाता है, लेफ्टराइट लेफ्....लेफ् की ध्वनि को सुनकर भी सुन नहीं पाता। आँखों के सामने तुम्हारा उदास, दुखी और सहमा हुआ चेहरा उभर आता है। इन्दु, तुम इतनी भोली और सरल हो, इतने कोमल और नरम हृदय की हो कि इतना हृदयहीन पति तुम्हारे योग्य नहीं है। जिस दिन तुम यहाँ आयी थी, उस दिन का तुम्हारा सहमा सूखा चेहरा भुलाये नहीं भूलता, थोड़ी देर के लिए जरूर तुम्हारे छलिया पति ने तुम्हें बातों में बहला लिया था लेकिन लौटते समय तुम फिर उदास हो गयी थी।

इन्दु, वीरेन्द्र मिश्र की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ सुनो—

"पीर मेरी कर रही गमगीन मुझको,
और उससे भी अधिक तेरे नयन का नीर रानी।
और उससे भी अधिक हर पाँव की जंजीर रानी।।"

अपनी व्यक्तिगत आशा आकांक्षाओं के अपूर्ण रहने की पीड़ा कम नहीं है किन्तु निश्चय ही उनसे अधिक तुम्हारी वेदना मुझे कातर बना देती है, तुम्हारे आँसुओं को पोंछने के लिए मेरी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षायें निछावर हैं।..... परन्तु तुम्हारे आँसुओं से भी अधिक मर्मभेदी कोई और पीड़ा है जो मुझे चैन नहीं लेने देती, व्यक्तिगत सुख-सुविधा को ही स्पृहणीय नहीं समझने देती। वही पीड़ा मुझे यहाँ खींच लायी है, तुमसे दूर..... इतनी दूर! किन्तु वह पीड़ा केवल मेरी ही नहीं, तुम्हारी भी है.....होनी चाहिए.....और फिर क्यों न हम दोनों मिलकर उसे झेलें। मैं यहाँ और तुम वहाँ.....या जहाँ भी हम लोगों की जरूरत हो, वहीं क्यों न हम दोनों तपस्या करें, कष्ट झेलें कि उस पीड़ा को बिन्दु मात्र ही क्यों न हो कम करने के प्रयास में अपने जीवन का उपयोग करने का सन्तोष प्राप्त कर सकें।

मालूम नहीं क्या क्या लिख गया! मैं स्वस्थ और सानन्द हूँ, संभवतः अगले रविवार को या उसके अगले रविवार को कुछ घंटों के लिए घर आ पाऊँ। भगवान् की कृपा से तुम सब लोग सकुशल रहो!

लौटती डाक से पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में,

तुम्हारा ही
*शशांक

(२)

एन. सी. सी. शिविर
कल्याणी
१३-५-६३

प्रिय भाभी,

बड़ी नानी माँ प्रायः कहा करती थीं कि बड़ों का बोल और आँवले का स्वाद पीछे पता चलता है। कल लगा कि बात काफी दूर तक सच है। घर में माँ, भाभी ने इतना कहा कि खाकर जा, पर बिना खाये ही तुम लोगों के साथ विनोबा जी का प्रवचन सुनने चला गया। आते समय तुम लोगों ने कहा, चलो रेस्तराँ चलते हैं, थोड़ी ही देर की बात है 'किन्तु श्रीमान् जो क्यों सुनने लगे, उनके सिर पर तो ठीक समय पर शिविर पहुँचने का भूत सवार था। एक तरह से परोसी थाली को ठुकराकर चला आया, बस अन्न देवता रूठ गये। रास्ता जाम, बस लेट, पहली ट्रेन छूट गयी, दूसरी ट्रेन लेट, सब लेट! शिविर पहुँचा तो दस बज गये थे और सोने के आदेश का बिगुल बज चुका था।

बत्तियाँ बुता दी गयी थीं। पेट में चूहे कूद रहे थे, रसोई घर की बत्तियाँ बुझ चुकी थीं किन्तु जमादार साहब अभी नहीं गये थे। वे बेचारे मुझ पर खास मेहरबान हैं, लगे अफसोस करने, भोजन तो उठ गया है, थोड़ा सा दूध बचा था लेकिन उसका दही न जमा दिया गया हो, कहकर भंडार की ओर दौड़े। भगवान् की कृपा से अभी जामन नहीं डाला गया था, अतः डेढ़ पाव दूध मिल गया। आंशिक क्षुधानिवृत्ति कर अपने क्वार्टर में आया।

x x x

दि० १४-५-६३

कल से गर्मी तेज पड़ने लगी है, अर्थात् ट्रेनिंग में जो कसर थी वह पूरी हो गयी है। एक सेर पानी पीता हूँ तो डेढ़ सेर पसीना निकलता है। हवा चले तो भीगी गंजी 'एयरकंडीशन' का मजा देती है किन्तु हवा के बन्द रहने पर पसीने के चिटचिटेपन का ऐसा अनुभव कराती है कि तबीयत प्रसन्न हो जाती है फिर मेरी बुद्धिमत्ता तो है ही। शिविर के अधिकारियों ने भले चंगे पंखेवाले कमरे में जगह दी थी किन्तु उसमें तीन व्यक्ति थे अतः एकान्त के लोभ से स्वयं श्रीमान् जी चले आये पिछवाड़े की रसोई घरनुमा कुठरिया में जिसमें पंखे के नाम पर ढेर-सा जाला लटका हुआ था। परसों आचार्य विनोबा भावे का प्रवचन सुनने से आत्मिक उन्नति चाहे जितनी हुई हो भौतिक स्थिति यह जरूर बनी कि पंखा नहीं ला सका। इस चिट्ठी को लिखते समय शरीर से बहती हुई पसीने की धारा बता रही है कि भौतिकता की बिल्कुल उपेक्षा नहीं की जा सकती। आज कल में कल्याणी या कचरापाड़ा से एक टेबुलफैन लाना ही होगा। वैसे एक हाथपंखा तो खरीद लाया हूँ किन्तु उसको हांकने की कसरत करते-करते पहले तो नींद मुश्किल से आती है और फिर नींद आ जाने पर उठते समय तक चादर के ऊपर पसीने की स्याही मेरे शरीर का नक्शा बना देती है। चलो, सैनिक के लिए सर्दी गर्मी सहना जरूरी होता है, इस दृष्टि से मेरी ट्रेनिंग ज्यादा अच्छी हो रही है।

कवायद और हथियार चलाने की शिक्षा से ज्यादा कष्टदायक शिक्षा भोजन के समय गला बाँधने की यानी नेकटाई की फांसी लगाने की है। भला सोचो, इन गर्मी के दिनों में नेकटाई बाँधे बिना भोजन करने से कौन-सा अनर्थ हो जाता। लेकिन नहीं अंग्रेजियत की अन्धी नकल अपने देश में और सेना में तो हद से ज्यादा! इस प्रकार की जाती है कि लगता है जैसे अब भी देश गुलाम ही हो! मैं तो कपड़े बदलते-बदलते परेशान हो जाता हूँ, सुबह की परेड की पोशाक अलग, दोपहर के भोजन की पोशाक अलग, अपराह्न की परेड की पोशाक अलग, खेल-कूद की पोशाक अलग, रात्रि के भोजन की पोशाक अलग। सोचो कितना समय कपड़ा बदलने में जाता है, फिर

पोशाक लकदक होनी चाहिए, नहीं तो आपका 'टर्न आउट' खराब है। आखिर आप अफसर बनने वाले हैं, उसका कुछ तो ख्याल रखा कीजिये' का फतवा मिलते देर नहीं होती। 'कुछ तो ख्याल'.....भगवान् जानता है कि इतना ख्याल मैंने जिन्दगी में कपड़ों का कभी नहीं रखा, एम. ए. तक बेचारी माँ, भाभी रखती रहीं और उसके बाद तुम्हारी दिवरानी आ गयी। यहाँ तो कपड़ा धोते-धोते और धोबी का हिसाब करते-करते ही फुर्सत नहीं मिलती।

सच, यहाँ आकर जो बात सबसे ज्यादा अखरी है, वह शरीर की प्रधानता है। सुबह से रात तक शरीर के स्तर पर ही जीना पड़ता है। तरह-तरह की कवायद के द्वारा शरीर को साधो, रंग-बिरंगी पोशाक से शरीर को सजाओ, शरीर को आराम दो अपने शरीर को बचाने और दुश्मनों का शरीरान्त कर सकने के कौशल सीखो। मस्तिष्क या हृदय की इतनी उपेक्षा इसके पहले कभी नहीं की थी। यह सही है कि सैनिक संगठन, व्यवस्था, मानचित्र अध्ययन, युद्ध कौशल आदि के बारे में कुछ व्याख्यान भी होते हैं किन्तु फिर वे इतने प्रारम्भिक किस्म के, इतने सूखे और मात्र सूचना प्रधान होते हैं कि उनसे चिन्तक मस्तिष्क को कोई उत्तेजना नहीं मिलती। युद्ध शास्त्र आधुनिक युग में निश्चय ही अत्यन्त जटिल और रोचक शास्त्र है किन्तु हमलोग उसका क ख ग ही पढ़ रहे हैं और जैसे बड़ी उम्र में नयी भाषा सीखते समय उसकी वर्णमाला और प्रारंभिक पुस्तक पढ़ते समय रस नहीं मिलता है वैसे ही इन व्याख्यानों से भी एक प्रकार के भार का अनुभव होता है क्योंकि उन सूखी सूचनाओं को याद करना पड़ेगा। अगले शनिवार को ही लिखित परीक्षा है और इस उम्र में खासकर इस पद में लिखित परीक्षा में असफल होना अत्यन्त अपमान-जनक होगा।

मस्तिष्क पर कुछ-न-कुछ रगड़ तो पड़ती ही है किन्तु हृदय तो निर्वासित ही हो रहा लगता है। शुरू-शुरू के दिनों में कविताओं और गीतों की गोष्ठियाँ अधिक जमती थीं किन्तु अब तक अधिकांश लोगों का रस सूख चला है। बौद्धिक और भावनात्मक पक्ष की उपेक्षा का परिणाम यह है कि सस्ते मनोरंजन की ओर लोग झुक रहे हैं, बातचीत अत्यन्त निम्नस्तर की होती है, साहित्य संगीत दर्शन वैज्ञानिक प्रगति आदि सुरुचिपूर्ण विषय बिल्कुल तिरस्कृत ही हैं। प्रोफेसरों के शिविर की यह स्थिति दुखदायी है।

x x x

दि० १५.५.६३

देख रही हो भाभी, यह चिट्ठी तीन दिनों में पूरी हो रही है। एक साथ इतना समय नहीं मिल पाता कि मेरे जैसा चिट्ठी लिक्खाड़ झटपट एक चिट्ठी लिख दे। कल

रात को यहाँ कालबैशाखी का भयंकर तूफान आया था। बत्तियाँ फ्यूज हो गयीं, भोजनालय का टीन का छप्पर उड़ गया, फिर जो जोरों का पानी बरसा तो मेरे कमरे में गंगा-यमुना की बाढ़ आ गई, सामने की छोटी सड़क नहर और परेड का मैदान झील बन गया। सारा काम-काज दो घंटे के लिए ठप हो गया। फिर नवजीवन का स्पन्दन शुरू हुआ, मोमबत्ती के क्षीण प्रकाश में एक छोटे-से कमरे में हमलोगों का 'बूफे' डिनर हुआ। अँधेरे में ही हम लोग सोये। आज सबेरे कैम्प कमाण्डेंट साहब ने हमलोगों के कल के व्यवहार की प्रशंसा की और तीन पीरियड परेड माफ कर दी। उसी समय में यह चिट्ठी समाप्त कर रहा हूँ।

'कालबैशाखी' का नाम ही सुनता रहा था, कल ही उसका रुद्र रूप देखा। ओह कैसा प्रचण्ड स्वर, कैसा उन्माद, उद्दाम वेग, उथल-पुथल कर देने की कैसी अप्रतिरोध्य शक्ति! सोचता हूँ नवनिर्माण का स्वप्न लेकर कोई ऐसा ही प्रचंड तूफान भारतीय जन-जीवन में भी आये जो चारों तरफ फैले क्षुद्रता, संकीर्णता और जड़ता के सूखे पत्तों को उड़ा ले जाये और फिर नये स्वच्छ वातावरण में श्रद्धा और मर्यादा के आधार पर गतिशील जीवन की रचना हो।

अब आज यहीं बस कर दूँ। तुम भला क्यों चिट्ठी लिखने लगी, जाओ मैं कहता भी नहीं। सस्नेह

तुम्हारा
*शशांक

(३)

एन. सी. सी. शिविर
कल्याणी
दि. २०-६-६३

श्रद्धेय शिवस्वरूप जी,

सादर प्रणाम। लगता है किसी दूसरे लोक से आपको यह पत्र लिख रहा हूँ। देश और काल का व्यवधान संभवतः व्यवधान नहीं बन सकता यदि चेतना और भावना समान स्तर पर हों किन्तु यदि इन्हीं में स्तरगत अन्तर आ जाये तो समानान्तर रेखाओं की तरह आगे-पीछे बढ़ने पर भी मिलना असंभव है। कभी-कभी सोचता हूँ कि यह सैनिक शिक्षा मुझमें कुछ योग ही कर रही है या कहीं कुछ बदल भी रही है। लगता है कि यह केवल मात्रात्मक नहीं गुणात्मक परिवर्तन करना चाहती है और यहीं छोटा-सा खटका पैदा होता है। मेरे जीवन का लक्ष्य साहित्य का अध्ययन-अध्यापन ही है किन्तु चौदहों विद्याओं को समेटने वाली यह पन्द्रहवीं विद्या आधुनिक युद्ध विद्या को कितनी दूर तक समेट पायेगी.....कम से कम इस अपात्र में.....यह कहना मुश्किल है।

सिद्धान्ततः मैं 'शास्त्रैरपि शस्त्रैरपि' का विश्वासी हूँ, व्यवहारतः इसे जीवन में उतारना भी चाहता हूँ किन्तु स्वीकार करना चाहिये इसके लिए अधिक निष्ठा एवं क्षमता अपेक्षित है।

इस पत्र में संभवतः कुछ निराशा या कम से कम दुर्बलता की गन्ध लग सकती है। सोच रहा हूँ कि ऐसा क्यों हो रहा है। अपने मन के जोर में कमी नहीं पाता, अढ़ाई महीने के निरन्तर अभ्यास ने शरीर को पर्याप्त कस दिया है, श्रम से मैं नहीं घबराता, भला किसे उम्मीद हो सकती थी कि मैं पाँच मील दौड़ सकता हूँ, पन्द्रह मील बिना रुके मार्च कर सकता हूँ! फिर भी स्वर में उत्फुल्लता की जगह भारीपन क्यों है? इस शिविर में अनेक खट्टे-मीठे अनुभव हुए हैं किन्तु सब मिलाकर जो रोकड़ निकलती है वह बहुत अधिक दिल बढ़ाने वाली नहीं है।

हम लोग ९५ प्रध्यापक यहाँ रात-दिन एक साथ रहते हैं। मेरी धारणा थी कि वातावरण में बौद्धिकता, उच्चाशयता एवं संस्कारशीलता परिव्याप्त होगी किन्तु देखा कि चारों तरफ क्षुद्रता, जड़ता और निष्प्राण गतानुगतिकता का साम्राज्य है। परेड के अतिरिक्त प्रातःकाल से रात्रि पर्यन्त दयनीय क्रन्दन, अधिकारियों को कोसना, अधिकारियों की खुशामद करना, भोजन के लिए हाय हाय करना, मनोरंजन के नाम पर गन्दी गालियाँ बकना तथा जुगुप्सापूर्ण यौन चर्चा करना....यही तो अधिकांश विद्वान् (!) प्राध्यापकों की गौरवपूर्ण दिनचर्या है। देश पर संकट आया हुआ है, हम सबको अधिक त्याग और परिश्रम के लिए सन्नद्ध रहना चाहिये। देश की उन्नति के कौन-कौन से रास्ते हो सकते हैं आदि विषयों पर बात करने की चेष्टा करना, 'ज्ञान देना', बनना या सिरफिरापन समझा जाता है। उस दिन मुझे सचमुच चोट लगी जिस दिन एक प्रोफेसर ने खुल्लमखुल्ला कह दिया कि देश प्रेम के लिए यहाँ कौन आया है, जो ऐसी बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं वे झूठी डींग मारते हैं, आने का उद्देश्य नौकरी 'स्थायी करना, तरक्की पाना, ७५) महीना भत्ता पाना तथा भारत सरकार का 'क्लास वन आफिसर' बनना है। 'इस शिविर में आने के बाद मुझे निश्चय हो गया कि बहुत से लोग जो आज प्रोफेसरी कर रहे हैं, वास्तव में प्रोफेसर होने के योग्य नहीं हैं। यह सच है कि यहाँ थोड़े से निष्ठावान योग्य और प्रतिभाशाली प्रोफेसर भी हैं और वे मेरे लिए मरुभूमि में शाद्वल के समान हैं किन्तु यह भी सच है कि वर्ग की दृष्टि से प्राध्यापकों के प्रति अब मेरी श्रद्धा डगमगा गयी है और यह मेरे लिए जीवन की अत्यन्त दुःखद उपलब्धियों में से एक है।

दूसरी बात जिसने मुझे आन्तरिक कष्ट पहुँचाया है हमारे सैनिक अधिकारियों का असन्तुलित व्यवहार है! काश, उनमें अहंमन्यता कुछ कम होती और दूरदर्शिता कुछ अधिक! जहाँ मैं उनकी कर्मठता, सद्भावना एवं अनुशासनप्रियता की प्रशंसा करता हूँ, वहीं यह देखकर दुख का अनुभव करता हूँ कि हाकिमाना शान, अकड़, रुक्ष, कठोर भाषा और डंडे के जोर से काम कराने की प्रवृत्ति जैसे उनके स्वभाव का अंग बन गयी है। मुझे लगता है कि यह भी अंग्रेजी शासन की एक विकृति के अन्धानुकरण का फल

है। गुलाम देश की वेतनभोगी सेना पर रोब जमाने, अपने श्रेष्ठत्व को बलपूर्वक आरोपित करने के लिए जिन कौशलों का प्रयोग अंग्रेज अफसर किया करते थे उन्हीं का ज्ञात या अज्ञात रूप से अनुगमन ये भारतीय अधिकारी अब भी करते हैं। स्वतन्त्र देश की सेना के स्वाभिमान और गौरव बोध को जगाने के वैचारिक एवं भावात्मक प्रयास की आवश्यकता शायद हमारी सेना के अधिकारियों को प्रतीत नहीं होती। एन. सी. सी. के शिविर में कम से कम इसकी कोई झलक नहीं मिली। एक दो अधिकारी अपने व्यक्तिगत श्रेष्ठ आचरण के द्वारा हमलोगों के श्रद्धेय बन सके, यह अलग बात है लेकिन यह बात सच है कि अधिकांश अधिकारियों के प्रति स्नेह, सद्भाव और श्रद्धा के स्थान पर रोष, अवज्ञा और आतंक की भावना है। यह एक सुखद आश्चर्य है कि अफसरों की तुलना में जे. सी. ओ., एन. सी. ओ. के प्रति शिविरवासियों के मन में अधिक सद्भाव है।

फिर भी मैं निराश नहीं हूँ। शायद मेरी अपेक्षायें अत्यधिक आदर्शवादी हैं, शायद अपने भावुकतापूर्ण स्वप्न और कठोर वास्तविकता के अन्तर को झेल न पाने के कारण इस समय मैं व्यथित हूँ किन्तु 'वह एक ओर मन रहा राम का जो न थका, जो नहीं जानता दैन्य' का विश्वासी हूँ। आखिर इस तथ्य की उपेक्षा कौन कर सकता है कि देश भर के प्राध्यापकों की एक काफी बड़ी संख्या इस समय सैनिक शिक्षा लेने के लिए आगे बढ़ी है। अपने शिविर के अनुभव पर कह सकता हूँ कि अपने अभ्यस्त आरामदेह जीवन से बहुत भिन्न वातावरण में भी वे काम करते रहे हैं एवं लौटकर अपनी नयी जिम्मेदारी को लगन से निभाने के लिए दृढ़संकल्प हैं। आपको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि दिन भर के कठोर परिश्रम के बाद भी हम कुछ मित्र रात की निस्तब्धता को कविताओं और गीतों की स्वरलहरी से मुखरित कर देते हैं। मेरी समझ में यह आशाजनक और आस्थाजनक अनुभूति है। बच्चन की ये पंक्तियाँ यहाँ के मेरे इन मित्रों को बहुत प्रिय है—

"वे दुर्गम पथ के श्रम संकट भी क्या जानें
जो उस पर पाँव बढ़ाते गाते जाते हैं।
जिनके कण्ठों में गीत नहीं धीमे पड़ते
वे फूल सदृश पर्वत का बोझ उठाते हैं।।"

मेरा विश्वास है कि जीवन की समस्त निराशाओं और बाधाओं को रौंदकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाले 'ओज के शंख और आस्था की वंशी' के स्वर भारत के आकाश में सदा गूँजते रहेंगे और भारतीय जनता के अन्तःकरण में अनुगूँज उत्पन्न करते रहेंगे। अब तो लौटकर शीघ्र ही दर्शन करूँगा।

विनीत

*शशांक

* पत्रों में 'शशांक' नाम विष्णुकान्त शास्त्री का ही द्योतक है। —सम्पादक

सूरीनाम यात्रा

पीढ़ियों से बिछुड़े भाइयों के बीच चन्द रोज

'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः' .....मैं अवाक् सुन रहा था, देख रहा था—सूरीनाम की धरती पर धोती-कुर्ता पहने पं० सूर्यप्रसाद बीरे वैदिक मन्त्रों के पाठ द्वारा मेरे प्रति शुभकामना प्रकट कर रहे थे, माला पहना कर मेरा स्वागत कर रहे थे। उनके साथ थे इंजीनियर जानकीप्रसाद सिंह, प्रो० सदानन्द सिंह तथा और भी दस-बारह बन्धु। अपने देश से हजारों मील दूर पारामारिबो के हवाई अड्डे पर रात के साढ़े-बारह बजे इतने लोग इतने प्रेम से मेरा स्वागत करने पहुँचेंगे, इसकी मुझे धारणा भी नहीं थी। १ फरवरी से ४ फरवरी, १९७९ तक सूरीनाम हिन्दी परिषद् के तत्त्वावधान में आयोजित 'अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन' एवं 'सूर पंचशती महोत्सव' में भाग लेने के लिए भारत सरकार की 'भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्' ने मुझे अपने प्रतिनिधि के रूप में वहाँ भेजा था। स्वाभाविक रूप से यह स्वागत-सत्कार व्यक्ति का नहीं, भारतीय प्रतिनिधि का हो रहा था।

स्वागत, कस्टम आदि से छुट्टी पा कर बीस मील का रास्ता तय कर जब मैं अपने होटल तोरारिका पहुँचा तो पौने दो बज रहे थे। बड़े ही संकोच के साथ प्रो० सदानन्द सिंह ने मुझसे कहा, "सर, आप साठ घंटों की निरन्तर यात्रा करके यहाँ पहुँचे हैं किन्तु कल बसन्त पंचमी है और पहली बार सरस्वती पूजा हो रही है। हम लोगों की इच्छा है, आप ही भगवती की प्रथम पूजा करें। आपको कष्ट तो होगा लेकिन फिर भी यदि साढ़े-छह बजे चल सकें....।" "लेकिन क्या, मैं जरूर चलूँगा, तुम कल सवेरे

साढ़े-छह बजे आ जाना।" प्रो० सदानन्द सिंह मेरे विद्यार्थी रहे हैं। वे भारतीय हैं और उन दिनों सूरीनाम में हिन्दी के प्राध्यापक थे। सूरीनाम हिन्दी परिषद् के इस आयोजन के संयोजक भी वे ही थे। बंगाल में वर्षों रहने के कारण प्रतिमा बना कर भगवती सरस्वती की पूजा करने की उनकी ललक मेरी समझ में आ सकती थी। चूँकि दूसरे दिन प्रातः ९ बजे अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन का उद्घाटन होने वाला था, अतः सरस्वती की पूजा उसके पहले ही की जा सकती थी। सदानन्द को प्रधान उद्योक्ता होने के कारण वहाँ जाना ही था और मैं तो रामकाज करने के लिए ही सूरीनाम आया था, विश्राम उसमें बाधक कैसे बन सकता था!

दूसरे दिन सुबह प्रो० सदानन्द सिंह मुझे जिस स्थान पर ले गये उसे देख कर मैं रोमांचित हो उठा। वह भगवान् श्रीराम का भव्य मन्दिर था। मैं भूल गया कि मैं सूरीनाम में हूँ। लगा, जैसे चित्रकूट के पास ही अपने इष्टदेव श्री सीताराम जी के किसी मन्दिर में खड़ा हूँ। मेरे मुँह से अविरल स्तुति निकलने लगी। मन्दिर के अधिष्ठाता सौम्य-दर्शन देवशरण जी रामानन्दी तिलक लगाये, रेशमी वस्त्र पहने, मेरे सामने विनीत मुद्रा में खड़े थे। भावना का प्रथम तूफान शान्त होने पर मैंने देखा मन्दिर काफी साफ-सुथरा, रँगा-पुता और प्रशस्त है। प्रभु की वेदिका के समक्ष लम्बा-सा कक्ष है, जिसमें भक्तों के बैठने के लिए ढासनेदार बेंचें हैं, वेदिका के एक किनारे व्यासपीठ है। इसका अर्थ था कि वहाँ नियमित कथा, प्रवचन, कीर्तन आदि होता रहता था। मन्दिर के चारों ओर खुली जगह थी, जिसमें एक तरफ मण्डप बना कर भगवती सरस्वती की मृण्मयी प्रतिमा स्थापित की गयी थी।

बंगाल के सिद्धहस्त कलाकारों द्वारा निर्मित कलात्मक प्रतिमाओं के दर्शनों की अभ्यस्त आँखों के लिए वह प्रतिमा साधारण ही थी किन्तु उसके पीछे जो असाधारण भक्ति-भावना थी, उसे पहचानने में मुझसे कोई गलती नहीं हुई। मैंने आन्तरिकता के साथ भगवती का पूजन किया और वर माँगा, 'माँ! मेरी वाणी को शक्ति दो कि मैं इस देश में भारत का समुचित प्रतिनिधित्व कर सकूँ।'

१ फरवरी १९७९ को सूरीनाम सांस्कृतिक केन्द्र, पारामारिबो में सम्मेलन का शुभारम्भ हुआ। सभागार खचाखच भरा हुआ था। पश्चिमी गोलार्ध में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन का आयोजन हो रहा था। यह सच है कि सम्मेलन में मुख्यतः सूरीनाम, गयाना और ट्रिनिडाड के प्रतिनिधि ही भाग ले रहे थे किन्तु इसी से इस पहल का महत्त्व कम नहीं हो जाता। ठीक सवा-नौ बजे कार्यक्रम शुरू हुआ। पं० रामविलास शुक्ल जी ने वैदिक ऋचाओं के पाठ द्वारा मंगलाचरण किया एवं श्रीमती थानी ने 'वीणावादिनि वर दे' के सुमधुर गान द्वारा बसन्त पंचमी, सरस्वती पूजा एवं निराला जयन्ती का समन्वित आभास तो दिया ही, इस सारस्वत-सम्मेलन की सफलता

के लिए भगवती के मंगल आशीष की कामना भी व्यक्त की। सम्मेलन का विधिवत् उद्घाटन सूरीनाम के तत्कालीन राष्ट्रपति महामहिम डॉ० जॉन फेरियें ने सूरदास एवं निराला जी के वृहत् चित्रों के अनावरण द्वारा किया। उनके अतिरिक्त सूरीनाम के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री हैंक अ. इ. आरोन, तत्कालीन शिक्षा मन्त्री मा. डा. रोनाल्ड फिन्त्सयान तथा सूरीनाम विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ. हैनएसल जैसे कृष्णांग सूरीनामी नेताओं तथा श्री जगन्नाथ लक्ष्मण जू, डॉ० र०. नन्नन पांडेय, डॉ० ज्ञान हंसदेव अधीन, श्री अहमद अली, श्री बरख्वुल्ला सदृश तेजस्वी भारतवंशी सूरीनामी नेताओं, सूरीनाम-स्थित तत्कालीन भारतीय राजदूत परमश्रेष्ठ श्री राजेन्द्रनाथ गुप्त, इस सम्मेलन के संयोजक प्रो० सदानन्द सिंह तथा और भी अनेक विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति एवं वक्तृता ने इस आयोजन की गरिमा की वृद्धि की। प्रायः सभी वक्ताओं ने हिन्दी को विश्व की महान् भाषा के रूप में अभिनन्दित कर यह आशा प्रकट की कि हिन्दी के माध्यम से विश्व में भ्रातृत्व और सौहार्द का विकास होगा। भारतीय प्रतिनिधि के रूप में मैंने भारत की जनता और सरकार की तरफ से सूरीनाम की जनता और सरकार को इतने महत्त्वपूर्ण सम्मेलन के आयोजन के लिए हार्दिक बधाइयाँ दीं एवं हिन्दी भाषा और साहित्य के माध्यम से सूरीनाम और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों के सतत् विकास की प्रतिश्रुति भी दी। सम्मेलन में पधारे हुए गयाना और ट्रिनिडाड के प्रतिनिधियों का विशेष रूप से अभिनन्दन करते हुए मैंने यह आशा प्रकट की कि अपने-अपने राष्ट्र के प्रति पूर्ण निष्ठावान् रहते हुए भी हिन्दी के माध्यम से सूरीनाम, गयाना, ट्रिनिडाड और जमैका एक-दूसरे के अधिक निकट आ कर विश्व-बन्धुत्व की भावना को और सुदृढ़ कर सकते हैं।

उद्घाटन के अनन्तर समागत प्रतिनिधियों का पारस्परिक परिचय हुआ। हिन्दी के स्नेह-सूत्र में गुँथ कर अलग-अलग देशों से आये हुए ये प्रतिनिधि सहज ही एक बिरादरी के अंग बन गये।

सूरीनाम—लगता है जैसे सूर्यनाम का बदला हुआ रूप हो लेकिन वास्तव में यह यहाँ के मूल निवासियों की भाषा का शब्द है और इसका मतलब है चट्टानी नदियाँ। इस देश की एक बड़ी नदी का नाम भी सूरीनाम है। सम्भवतः उसी के नाम पर पूरे देश का नाम सूरीनाम पड़ गया। दक्षिणी अमेरिका के उत्तर भाग में अवस्थित यह डच लोगों का उपनिवेश था और पहले इसे डच गयाना कहा जाता था। २५ नवम्बर, १९७५ को यह देश पूर्णतः स्वतन्त्र हुआ था। गिरमिटिया (शर्तबन्द) मजदूरों की हैसियत से भारतीयों को यहाँ खेतों पर काम करने के लिए आज से लगभग १२० वर्ष पूर्व पहली बार लाया गया था। पहली दो पीढ़ियों पर अकथ्य अत्याचार हुए और उनसे पशुओं की तरह व्यवहार किया गया। धीरे-धीरे एक ओर भारतीय संगठित होते गये, दूसरी ओर

शासकों के व्यवहार में भी सुधार होता गया। शर्तबन्दी का समय पूरा कर लौटने की छूट थी किन्तु भारत लौटनेवालों की कुल संख्या ११,५१२ ही रही। भारत से आये दो-तिहाई से अधिक मजदूरों ने यहीं बसना स्वीकार कर लिया। ब्रिटिश गयाना और फ्रेंच गयाना से भी ढाई हजार के करीब भारतीय मजदूर यहाँ आ बसे थे। कृषि और व्यापार में क्रमशः भारतीयों का वर्चस्व बढ़ता चला गया। जैसे-जैसे शिक्षित होते गये वैसे-वैसे वे डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, बैरिस्टर, अध्यापक, प्रशासक भी बनते गये। आज स्थिति यह है कि भारतवंशी सूरीनाम में पर्याप्त समृद्ध और प्रभावशाली हो चुके हैं और सामाजिक जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिसमें उनका गौरवपूर्ण स्थान न हो। सूरीनामी भारतवंशियों में पारस्परिक सद्भावना है और धार्मिक झगड़े यहाँ नहीं होते। सूरीनाम की आबादी में ४० प्रतिशत भारतवंशी हैं, शेष अन्य देशों एवं जातियों के हैं। स्पष्ट है कि अनेक देशों, संस्कृतियों और धर्मों के लोग इस देश में मिल-जुल कर रह रहे हैं। यहाँ की राजभाषा डच है। भारतवंशी मुख्यतः भोजपुरी-अवधी-मिश्रित हिन्दी बोलते हैं, जिसे कुछ विद्वान सरनामी हिन्दी कहना पसन्द करते हैं। होली यहाँ के राष्ट्रीय त्योहारों में एक है और उस दिन देश-भर में छुट्टी रहती है।

यहाँ थोड़ी-सी सामान्य चर्चा गयाना और ट्रिनिडाड की भी कर ली जाये ताकि सम्मेलन की कार्य-गोष्ठियों में हुए विचार-विमर्श की पृष्ठभूमि साफ रहे। गयाना और ट्रिनिडाड दोनों इंग्लैंड के उपनिवेश रहे हैं। सूरीनाम की ही तरह इन दोनों देशों में भी खेती कराने के लिए भारत और अफ्रीका से शर्तबन्द मजदूर लाये गये थे। दोनों देशों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन किये। २६ मार्च १९६६ को गयाना पूर्णतः स्वतन्त्र हुआ। इसकी आबादी में ५२ प्रतिशत से अधिक भारतवंशी हैं। इसकी राजधानी जार्जटाउन है। यहाँ की राजभाषा अंग्रेजी है। ट्रिनिडाड में ४२ प्रतिशत भारतवंशी हैं और शेष अन्य जातियों के लोग हैं। ट्रिनिडाड की अर्थ-नीति का मूल आधार तेल है। विश्व-बाजार में तेल की आशातीत मूल्य-वृद्धि होने के कारण ट्रिनिडाड की आर्थिक स्थिति बहुत सुदृढ़ हो गयी है। इसकी राजधानी है पोर्ट आफ स्पेन।

गयाना और ट्रिनिडाड दोनों देशों के भारतवंशियों की भाषा भोजपुरी-अवधी-मिश्रित हिन्दी है। किन्तु अब अंग्रेजी शिक्षा के अनिवार्य हो जाने के कारण नयी पीढ़ी के भारतवंशी बोलचाल की भाषा के रूप में हिन्दी की जगह अंग्रेजी का ही प्रयोग करते हैं।

सम्प्रति सूरीनाम, गयाना और ट्रिनिडाड तीनों देशों में हिन्दी की पढ़ाई-लिखाई मुख्यतः गैर-सरकारी धार्मिक-सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा ही होती है, जिनमें सनातन धर्म सभा, आर्य समाज, गाँधी प्रतिष्ठान, हिन्दी प्रचार सभा जैसी संस्थाएँ प्रमुख हैं।

दो और तीन फरवरी को सम्मेलन की चार कार्य-गोष्ठियाँ हुईं जिनमें

प्रतिनिधियों ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार और शिक्षण के सम्बन्ध में खुल कर अपने-अपने विचार प्रकट किये। यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी गयी कि इस अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन का अपना विशिष्ट प्रयोजन, लक्ष्य और स्वरूप है। यह सम्मेलन मुख्यतः सूरीनाम, गयाना और ट्रिनिडाड को दृष्टि में रख कर आयोजित किया गया है। इन देशों में भारतवंशियों की मातृभाषा हिन्दी थी और है किन्तु ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के कारण हिन्दी का विकास इन देशों में निरुद्ध-सा रहा और अब तो उसके अस्तित्व पर ही संकट है। भारतवंशी इन देशों में शर्तबन्द मजदूर की तरह आये थे, अतः उनकी ही तरह उनकी भाषा हिन्दी की स्थिति भी अवहेलित रही। जब परिवर्तित परिस्थितियों में भारतवंशियों की आर्थिक-सामाजिक उन्नति होने लगी तब राजनीतिक, शैक्षिक, व्यापारिक क्षेत्रों में उन्हें मुख्यतः अंग्रेजी और डच का सहारा ले कर आगे बढ़ना पड़ा क्योंकि ये ही इन देशों की राजभाषाएँ थीं। हिन्दी का प्रयोग धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में होता रहा किन्तु उसे उच्चवर्गीय मर्यादा प्राप्त नहीं हो सकी। राज-काज, शिक्षा, उद्योग, व्यापार, राजनीति आदि में अपने बच्चों को आगे बढ़ाने की लालसा के कारण भारतवंशियों ने उन्हें अंग्रेजी या डच के माध्यम से प्रशिक्षित किया। इससे यदि पिता-पुत्र में नहीं तो निश्चित रूप से दादा-पोते में भाषागत व्यवधान बढ़ने लगा। गयाना, ट्रिनिडाड, जमैका में इसकी परिणति यह हुई कि हिन्दी बोलचाल की भाषा ही नहीं रह गयी—नयी पीढ़ियों के बीच। सूरीनाम में हिन्दी बोलचाल की भाषा के रूप में अभी तक जीवित है किन्तु समृद्ध उच्चवर्गीय भारतवंशियों के बच्चे अब हिन्दी से बिछुड़ते चले जा रहे हैं।

इससे यह साफ हो जाता है कि इस सम्मेलन का विवेच्य विषय यूरोप, अमेरिका आदि के विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाने या उसमें शोध-कार्य करने की समस्याओं के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों से बहुत भिन्न था। इसका प्रयोजन था अपनों को अर्थात् मूलतः हिन्दीभाषियों को बेगाना बनने से रोकना, इसका लक्ष्य था उन उपायों को खोज निकालना जिनके द्वारा इन देशों में हिन्दी को समुचित मर्यादा प्राप्त हो, उसके अध्ययन-अध्यापन तथा प्रयोग का पथ प्रशस्त हो। इसका स्वरूप निर्धारित करनेवाले इन्हीं देशों के हिन्दी-प्रेमी और विद्वान् थे, जिनको सहयोग भर दे रहे थे कुछ भारतीय विद्वान्।

बातचीत को अधिक ठोस और व्यावहारिक रूप देने के लिए ट्रिनिडाड के सत्यनारायण महाराज ने पहली ही गोष्ठी में यह मौलिक प्रश्न उठाया कि "आखिर हम लोग या हमारे बच्चे हिन्दी पढ़ें ही क्यों? हिन्दी से हमारी रोटी चल नहीं सकती, उसके लिए हमें अपनी-अपनी राजभाषा पढ़नी ही पड़ेगी, जानकारी हासिल करने और मनोभावों को प्रकट करने का काम भी हम उनसे बखूबी ले सकते हैं। सच तो यह है

कि आधुनिक जगत् की आवश्यकताओं की पूर्ति की पद्धति की जानकारी हमें हिन्दी से कहीं ज्यादा और कहीं प्रामाणिक रूप में इन्हीं राजभाषाओं से मिल सकती है। धर्म के लिए भी संस्कृत और अंग्रेजी से हमारा काम बखूबी चल सकता है। फिर हम हिन्दी क्यों पढ़ें-पढ़ायें? इसका हमें कोई ठोस उत्तर मिलना चाहिए। यह मैं कट्टर हिन्दी-समर्थक की हैसियत से ही पूछ रहा हूँ क्योंकि हमारी नयी पीढ़ी हमसे यह सवाल बराबर करती है।"

कई प्रतिनिधियों ने भारतीय धर्म और संस्कृति की जानकारी और रक्षा के लिए हिन्दी पढ़ने पर बल दिया। मैंने इस समस्या का कुछ विस्तृत विश्लेषण करते हुए इस बात पर जोर दिया कि जीविका हम दूसरी भाषा के सहारे कमा सकते हैं, दुनिया की जानकारी भी हासिल कर सकते हैं, सामान्यतः अपने भाव-विचार भी प्रकट कर सकते हैं किन्तु अपनी विशिष्ट सामाजिक पहचान बनाये रखने के लिए, अपनी जड़ों से जुड़े रहने के लिए, अपने पुरखों की भाषा, अपनी भाषा— हिन्दी जानना और अपने सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में उसका जीवन्त व्यवहार करना हमारे लिए अनिवार्य है अन्यथा हम इस मानव-सागर में खो जायेंगे।

एक दूसरा महत्त्वपूर्ण सवाल था सूरीनाम के डॉ० ज्ञान हंसदेव अधीन का कि हम कौन-सी हिन्दी पढ़ें-पढ़ायें? उनका कहना था कि हम लोग भोजपुरी और अवधी का मिश्रित रूप बोलते हैं, जिसे हम सरनामी हिन्दी कह सकते हैं। अतः क्या यह उचित नहीं होगा कि हम अपने बच्चों को पहले सरनामी हिन्दी लिखना-पढ़ना सिखायें, उसमें गीत, कविता, कहानी आदि की रचना करें और फिर मानक हिन्दी की शिक्षा उन्हें दें? इस समस्या से गयाना-ट्रिनिडाड वाले अप्रभावित थे। चूँकि वहाँ अब बोलचाल की भाषा के रूप में हिन्दी की कोई भी बोली प्रयुक्त नहीं होती थी, अतः वे अपने बच्चों को सीधे मानक हिन्दी सिखाने के पक्ष में थे ताकि वे भारत तथा अन्य देशों में होनेवाले हिन्दी के विकास से सीधे जुड़ सकें। सूरीनाम के प्रतिनिधियों में भी कुछ विद्वान दृढ़तापूर्वक मानक हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन का समर्थन कर रहे थे, कुछ सरनामी हिन्दी की स्वीकृति पर बल दे रहे थे। मैंने भारत का उदाहरण देते हुए कहा कि जिस तरह हम लोग भोजपुरी, अवधी, ब्रजभाषा आदि में गीत, कविता, कहानी आदि रचते हुए भी मानक हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन विद्यालयों आदि में करते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी सरनामी हिन्दी में साहित्य-रचना को पूर्ण प्रोत्साहन देते हुए भी विद्यालयों में मानक हिन्दी की ही पढ़ाई की व्यवस्था करनी चाहिए। सरनामी हिन्दी और मानक हिन्दी में किसी भी प्रकार के द्वन्द्व की स्थिति नहीं आनी चाहिए क्योंकि दोनों एक-दूसरे की पोषक हैं।

तीसरा प्रधान विवेच्य विषय था कि हिन्दी कैसे पढ़ाई जाये, उसका प्रचार कैसे

हो? सम्प्रति इन देशों के पाठ्यक्रम में हिन्दी की पढ़ाई की कोई विधिवत् व्यवस्था नहीं है। ज्यादातर हिन्दी की पढ़ाई सनातन धर्म सभा, आर्य समाज या गाँधी संस्थान आदि के सेवाभावी प्रयासों तक सीमित है। अब भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् द्वारा भेजे गये कुछ हिन्दी प्राध्यापक भी भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों या अन्य संस्थाओं में हिन्दी पढ़ाते हैं। श्री सत्यनारायण महाराज का प्रस्ताव था कि सूरीनाम, गयाना, ट्रिनिडाड और जमेका की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रख कर इन देशों में हिन्दी के प्रसार-प्रचार, प्रशिक्षण आदि के कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए एक केन्द्रीय संस्था बनाई जाये। सामान्य सहमति के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी परिषद् नामक केन्द्रीय संस्था के गठन का निर्णय किया गया एवं इसे क्रियान्वित करने के लिए उक्त चारों देशों के नौ व्यक्तियों की एक तदर्थ समिति बना दी गयी। एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव के द्वारा यह भी माँग की गयी कि संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता दी जाये। इन चारों कार्य-गोष्ठियों का वातावरण बहुत प्राणवन्त एवं उत्साहवर्धक था।

सम्मेलन के समापन-उत्सव के रूप में आयोजित था 'सूर पंचशती समारोह'। सूरदास के पदों के गान के अतिरिक्त सूरदास के जीवन पर आधारित लघु नाटिका भी प्रस्तुत की गयी। डॉ० ज्ञान हंसदेव अधीन ने सूरदास को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि "हमारे पुरखे भारत से कुल तीन पुस्तकें अपने साथ लाये थे— तुलसीदास-कृत 'हनुमान चालीसा' और 'रामचरित मानस' तथा सूरदास-कृत 'दान-लीला' के पद। तुलसी और सूर हमारे घोर दुर्दिनों में हमारी प्रेरणा के स्रोत और संस्कृति के रक्षक थे। अतः कैसे सम्भव था कि जब सारी दुनिया में 'सूर पंचशती' मनाई जा रही है तब हम सूरीनामवासी उनको पावन स्मृति में श्रद्धा-सुमन अर्पित नहीं करते!"

मैंने सूरदास की भक्ति के विविध पक्षों की व्याख्या करते हुए बताया कि श्रीकृष्ण की रसमयी लीला के गान के द्वारा उन्होंने शाश्वत आनन्द का संचार और भविष्य के दुःखों से मुक्ति प्रदान की। आज भी सूर के पद अमृत-रसपिपासुओं की तृप्ति करने में समर्थ हैं। प्रो० सदानन्द सिंह के धन्यवाद-ज्ञापन द्वारा सम्मेलन की कार्यवाही समाप्त हुई।

किन्तु क्या सूरीनाम में सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन की गोष्ठियों-सभाओं तक मैं सीमित रहा? नहीं, नहीं, उसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ मैंने किया या यों कहिये मुझे करना पड़ा। एक तो मेरा स्वभाव ही मुझे घरघुस्सू बन कर रहने नहीं देता, दूसरे सरनामी हिन्दुस्तानी भाई भारत से आये विद्वान् को अपने घर, अपनी संस्थाओं में ले जाने के लिए व्याकुल हो उठे थे। उनका प्रेम देख कर मैं चकित रह गया। यह प्रेम ही मनुष्य को जीने को—केवल साँस लेने की नहीं—क्रिया, भावना और विचार के स्तरों

पर गहरी सम्बद्धता के साथ जीने की प्रेरणा देता है। मैं छह दिन सूरीनाम में रहा पर अपने होटल सिर्फ बेड-टी ही ले पाता था। आठ-सवा आठ बजे सवेरे निकल कर साढ़े बारह-एक बजे रात को ही लौट पाता था। दोनों समय की चाय, दोनों समय का भोजन बाहर—कभी किसी मित्र के घर, कभी किसी मित्र के घर।

सूरीनाम का भारतवंशी हिन्दू समाज मोटे तौर पर सनातनधर्मी और आर्यसमाजी इन दो खेमों में विभक्त है, फिर इन खेमों के भीतर भी तीन-तीन, चार-चार खेमे हैं। यह सौभाग्य था कि मुझे दोनों खेमों का स्नेह-समादर प्राप्त हुआ। यहाँ का भारतवंशी समाज अपने बहिरंग में तो अत्याधुनिक है किन्तु अन्तरंग में पर्याप्त संरक्षणशील। पंडितों को छोड़ कर यहाँ के पुरुषों की सामान्य वेशभूषा पश्चिमी है। अधिकांश पंडित भी पश्चिमी वेशभूषा धारण करते हैं, किन्तु धार्मिक कृत्य के समय धोती-कुर्ता पहन लेते हैं। महिलाएँ भी अधिकतर पश्चिमी पोशाक पहनती हैं। मन्दिर जाते समय वे चुन्नी ओढ़ लेती हैं। विवाह आदि सामाजिक उत्सवों पर या रामनवमी, जन्माष्टमी जैसे धार्मिक त्योहारों के समय साड़ी पहनना ज्यादा अच्छा माना जाता है। घरों की साज-सज्जा, भोजन-व्यवस्था बिलकुल आधुनिक है और यहाँ की समृद्धि की सूचिका है। भोज्य सामग्री ९० प्रतिशत भारतीय है। बड़े संयुक्त परिवारों की जगह छोटे-छोटे परिवारों की संख्या बढ़ रही है किन्तु सामाजिकता का रक्षा-कवच अभी है, अजनबीपन और कटे हुए एकाकीपन की शिकायत करनेवाले लोग मुझे नहीं मिले। जाति-पाँति का बन्धन बिलकुल टूट चुका है और रोटी-बेटी का सम्बन्ध पूरे भारतीय समाज में उन्मुक्त रूप से होता है। लड़के-लड़कियों का भेद भी कम होता जा रहा है और सह-शिक्षा के कारण उनमें प्रेम-विवाह की संख्या बढ़ती जा रही है। सम्मेलन की विविध गोष्ठियों में महिलाएँ भी भाग लेती रहीं। महिलाएँ पढ़ाने के काम में काफी आगे हैं, अन्य क्षेत्रों में भी अग्रसर हो रही हैं। विवाह की मूल पद्धति—सनातनी और आर्यसमाजी दोनों प्रकार की—भारत के अनुरूप ही है।

सूरीनाम में ही नहीं, गयाना और ट्रिनिडाड में भी भारतवंशियों में धर्म के प्रति जबर्दस्त श्रद्धा है। यहाँ के मन्दिर केवल उपासना-केन्द्र ही नहीं, सामाजिक गतिविधि के केन्द्र भी हैं। मन्दिरों की संख्या काफी है और उनमें पूजन-भजन के अतिरिक्त कीर्तन-प्रवचन भी होते रहते हैं। मुझे भी पारामारिबो के विष्णु मन्दिर, लक्ष्मीनारायण मन्दिर तथा सीताराम मन्दिर में प्रवचन करने के लिए आमन्त्रित किया गया था। विवाह आदि भी मन्दिरों में होते रहते हैं।

आधुनिक भारत के प्रति सरनामी हिन्दुस्तानियों में कितना ममत्व है, इसे वहाँ किसी भी भारतवंशी से बातचीत कर अनुभव किया जा सकता है। भारत के अभ्युत्थान में उन्हें आत्म-गौरव का बोध होता है। पारामारिबो के एक प्रमुख चौराहे पर

अभय मुद्रा में स्थित महात्मा गाँधी की प्रतिमा इस श्रद्धासिक्त सम्पर्क का एक निदर्शन है। एक और ताजा निदर्शन है सूरीनाम हिन्दी परिषद् के तत्त्वावधान में १९७८ में स्थापित 'जयप्रकाश हिन्दी संस्थान'। लोकनायक जयप्रकाश ने भारत में लोकतन्त्र की पुनः स्थापना के लिए जो ऐतिहासिक संघर्ष किया था, सरनामी जनता ने इस संस्थान द्वारा उसे अपना रचनात्मक अभिनन्दन अर्पित किया है।

३१ जनवरी, १९७९ की रात को जब पारामारिबो के हवाई अड्डे पर उतरा था तब स्नेह-भाजन प्रो० सदानन्द सिंह को छोड़ कर और सबके लिए अनजान था। सात फरवरी की सुबह जब वहाँ से विदा ले रहा था, अपने स्नेही मित्रों की मधुर स्मृतियों का अक्षय कोष अपने साथ ले जा रहा था और अपने हृदय का एक अंश वहीं छोड़े जा रहा था। सर्वश्री जानकी प्रसाद, सूर्यप्रसाद बीरे और सदानन्द सिंह की शुभकामनाओं को अभी मन में सँजो ही रहा था कि मेरा वायुयान गयाना की राजधानी जार्जटाउन के हवाई अड्डे पर जा उतरा। स्वागतार्थ आये हुए थे गयानास्थित भारतीय सांस्कृतिक केन्द्र के तत्कालीन निदेशक श्री सुधाकर राजे। सूरीनाम में पाँच दिन हम साथ-साथ रहे थे, उनका प्रबल आग्रह था कि लौटते समय दो दिनों के लिए गयाना भी रुकूँ। मैं भी इस अंचल के भारतवंशियों से अधिकाधिक मिलना-भेंटना चाहता था, अतः मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था।

जयपुर को यदि गुलाबी शहर कहा जा सकता है तो जार्जटाउन को सफेद शहर कहना उचित होगा। योजना के अनुसार बसाया गया यह साफ-सुथरा शहर अधिकतर सफेद रंग के दुतल्ले मकानों वाला है। शहर के मुख्य व्यापारिक केन्द्र में अवश्य ही कई तल्लों वाली इमारतें भी हैं। ज्यादातर मकान काठ के बने हैं। जार्जटाउन में भारतीय सांस्कृतिक केन्द्र पूरी तरह कार्यरत है। नृत्य, तबला, सितार की कक्षाओं, पुस्तकालय, वाचनालय, सूचना-केन्द्र आदि के अतिरिक्त इसमें प्रति मास भारत के किसी पहलू पर एक व्याख्यान का भी आयोजन किया जाता है। गयाना विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक डॉ० रोहरा भी शाम को मुझसे मिलने वहाँ आ गये थे। उनके अनुरोध पर दूसरे दिन उनके विभाग में मैंने एक व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया।

शाम को हम लोग सागर-प्राचीर (सी वाल) पर घूमने गये। पारामारिबो सूरीनाम नदी पर बसा है और समुद्र वहाँ से कुछ दूर है किन्तु जार्जटाउन बिलकुल अटलांटिक महासागर के तट पर अवस्थित है। समुद्र के आकस्मिक वेग से नगर की रक्षा करने के लिए आठ फीट ऊँची और मीलों लम्बी दीवार बनाई गयी है, उसे ही सागर-प्राचीर (सी वाल) कहते हैं। नगर के एक प्रमुख स्थान पर उसी दीवार की ऊँचाई को प्रशस्त भ्रमण-स्थान बना लिया गया है। अतलान्तक महासागर का मुक्त विस्तार, समुद्री वायु का अनवरत, तेज किन्तु शीतल प्रवाह। चित्त प्रसन्न हो गया।

आठ फरवरी की अपराह्न-बेला में गयाना विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के तीसेक विद्यार्थी तथा तीन प्राध्यापक (जिनमें दो अन्य विषयों के थे) एक हॉल में मेरी और सुधाकर जी की प्रतीक्षा कर रहे थे। अपरिचय का कुहासा तो मुस्कान की एक किरण से फट जाता है। खुशी से चमकते उनके चेहरों ने मुझे भी प्रफुल्ल कर दिया। कक्षा में छात्र-छात्राओं की संख्या प्रायः समान ही थी। संचालन एक लड़की कर रही थी। उसने हिन्दी में मेरा स्वागत किया, दो गीत हुए, एक छात्र ने 'रामचरित मानस' के एक अंश का पाठ किया और फिर डॉ० रोहरा ने मुझे अंग्रेजी में भारतीय संस्कृति की विशेषता पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया। गयाना में भारतवंशी भी अंग्रेजी ही बोलते हैं। हिन्दी के प्रति उनके मन में प्रेम और सम्मान तो बहुत है किन्तु उसे बोलने का संस्कार न होने के कारण अंग्रेजी माध्यम से ही उन्हें हिन्दी सिखानी पड़ती है। मैंने संक्षेप में यही बताया कि अपने मूलभूत रूप में भारतीय संस्कृति सार्वदेशिक और सार्वकालिक संस्कृति है इसीलिए उसे मानव-धर्म पर आश्रित कह सकते हैं। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी (बुद्धि), विद्या, सत्य और अक्रोध हो उसके वास्तविक लक्षण हैं। अतः हम लोग गयाना में रह कर भी भारतीय संस्कृति का विकास कर सकते हैं। फिर कुछ प्रश्नोत्तर हुए, थोड़ा-सा हिन्दी साहित्य के बारे में हिन्दी में बोला, हिन्दी की कुछ कविताएँ भी मैंने सुनायीं। सवा-डेढ़ घंटा कैसे निकल गया, पता ही नहीं चला।

सूरीनाम में ही सम्मेलन की कार्य-गोष्ठियों में सत्यनारायण महाराज के दबंग, दो-टूक, स्पष्ट किन्तु रचनात्मक वक्तव्यों को सुन-सुन कर मैं कायल हो गया था कि यह व्यक्ति मुँह का कड़वा हो सकता है पर दिल का बहुत साफ है और भारतीय संस्कृति तथा हिन्दी के प्रति इसकी निष्ठा सोलह आना खरी है। जाने क्यों, वे भी मेरे प्रति आकृष्ट हो गये थे और उन्होंने मुझसे वचन ले लिया था कि जार्जटाउन से मैं दो दिनों के लिए ट्रिनिडाड की राजधानी पोर्ट आफ स्पेन में जरूर आऊँगा। श्री सुधाकर राजे को फोन कर उन्होंने दिलजमई कर ली थी कि मैं ९ फरवरी को प्रातः ९ बजे वहाँ पहुँच रहा हूँ।

हवाई अड्डे पर भेंट होते ही उन्होंने शरारत-भरी मुस्कराहट के साथ सवाल का गोला दागा—आप कब तक बिना आराम किये मेरे साथ दौरा कर सकते हैं? मैंने बेझिझक जवाब दिया—रात के बारह बजे तक। वे बोले, तब मेरी आपकी निभ जायेगी। उनके साथ उनकी पत्नी थीं, शान्ति भाभी, उनके दो मित्र थे सपत्नीक। वे अपने साथ मिनी बसनुमा गाड़ी लाये थे। हम सब उसी पर बैठे और यात्रा शुरू हुई।

सत्यनारायण महाराज ट्रिनिडाड की सनातन धर्म महासभा के प्रधान सचिव थे। यह महासभा ४७ विद्यालयों, एक महाविद्यालय तथा २५० मन्दिरों का संचालन

करती है। नौ बजे से डेढ़ बजे तक हम लोगों ने पाँच विद्यालयों, एक महाविद्यालय एवं एक मन्दिर का निरीक्षण किया। सभी के भवन साफ-सुथरे थे और उनका रख-रखाव अच्छा था। विद्यार्थियों की वेशभूषा भी अच्छी थी। इन विद्यालयों के नब्बे प्रतिशत विद्यार्थी भारतवंशी हैं। यहाँ की पढ़ाई-लिखाई का माध्यम अंग्रेजी है। हिन्दी अतिरिक्त भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है। सनातन धर्म की चेतना की गहरी छाप इन विद्यालयों पर बहुत स्पष्ट है। अभिवादन 'सीताराम' के उच्चारण के द्वारा किया जाता है। हम लोग जिस कक्षा में जाते उसके विद्यार्थी खड़े होकर 'सीताराम' कह कर हम लोगों का अभिवादन करते। इन विद्यालयों में कहीं भगवती सरस्वती, कहीं भगवती लक्ष्मी, कहीं श्रीराम पंचायत, कहीं भगवान् शिव के सुन्दर चित्र लगे हुए थे। प्रत्येक विद्यालय के विद्यार्थियों ने हम लोगों को भजन गा कर सुनाये। ये भजन खड़ीबोली में थे और अधिकतर भजन भारत से ही वहाँ गये थे। विद्यार्थियों का हिन्दी-उच्चारण प्रशंसनीय था किन्तु इन भजनों को उन्होंने रोमन लिपि में अपनी कापियों में लिख रखा था। फिर भी मुझे बहुत अच्छा लगता था उन विद्यार्थियों के मुँह से इन भजनों को सुनना। इनके माध्यम से वे हिन्दी के जीवित सम्पर्क में तो आ रहे थे।

मुझे प्रत्येक विद्यालय में बोलना पड़ा और वह भी अंग्रेजी में। मैं पाँच-सात मिनट ही बोलता, मन लगा कर विद्या पढ़ने और देश-सेवा करने पर जोर देता और अनुरोध करता कि वे हिन्दी जरूर सीखें, हिन्दी के माध्यम से वे अपने पुरखों के देश भारत से जुड़े रह सकते हैं।

सत्यनारायण महाराज मुझे जिस महाविद्यालय में ले गये उसका नाम था लक्ष्मी महाविद्यालय और वह महिलाओं के लिए था। वहाँ मैं कुछ अधिक बोला। रानी लक्ष्मीबाई की तरह साहसी और देशभक्त बनना चाहिए। छात्राओं ने मुझे कई गीत सुनाये। मैंने उन्हें दो कविताएँ सुनायीं। निराला की 'जागो फिर एक बार' तथा सुभद्रा कुमारी चौहान की 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी'। छात्राओं और प्राध्यापिकाओं ने इन कविताओं को काफी पसन्द किया।

दो बजे हम लोग भोजन करने बैठे। सत्यनारायण महाराज ने कहा, 'यहाँ से निकट ही है मराकस समुद्र-तट, जो बहुत अच्छी सैरगाह भी है। क्या आपको समुद्र-स्नान से प्रेम है?' मैं तो उछल पड़ा, मैंने कहा, 'अगर आपने शाम का और कोई कार्यक्रम न बनाया हो तो मुझे समुद्र-स्नान करके बहुत प्रसन्नता होगी।' सत्य महाराज ने अपने स्वभाव के अनुसार जोरदार तैयारी की। खाने के लिए क्या-क्या ले चलना चाहिए, उसकी एक लम्बी सूची बनायी। सचमुच बिना आराम किये हम लोग मराकस समुद्र-तट के लिए निकल पड़े।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ट्रिनिडाड में सूरीनाम और गयाना दोनों से कहीं

अधिक समृद्धि है। शानदार बड़ी-छोटी गाड़ियों की अन्तहीन कतारें दौड़ती ही रहती हैं। एक छोटी-सी पहाड़ी पर बसा हुआ पोर्ट आफ स्पेन शहर बहुत खूबसूरत लगता है, खासकर रात को। एक विशेष स्थान से आप पूरे नगर को सागर की पृष्ठभूमि के साथ देख सकते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य को मनुष्य के श्रम ने और सँवार दिया है।

मराकस की पहाड़ी घने हरे जंगल से ढकी हुई है। उसके बीच से गुजरती है चढ़ती, उतरती, बलखाती बढ़िया सड़क। 'घने प्रेम-तरु तले, बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले' प्रसाद की यह पंक्ति मुझे वहाँ की वानस्पतिक शोभा देख कर बार-बार याद आती किन्तु तो भी बिना रुके हम लोग उस कड़ी धूप में बढ़ते ही चले गये। मराकस समुद्र-तट का जादू यह है कि समुद्र पहाड़ों के बीच घुस आया है। पहाड़ और समुद्र मुझे दोनों प्रिय हैं और यहाँ दोनों का संगम था, अतः यह तट मुझे दुगना प्रिय लगा। छोटी-सी हरी-भरी पहाड़ी, खूबसूरत छोटा-सा समुद्र-तट, (छोटा-सा क्योंकि समुद्र पहाड़ी के भीतर घुसा हुआ है) तीन तरफ पहाड़ियाँ, सामने समुद्र अपेक्षाकृत रूप से सुरक्षित और उस पर तुर्रा यह कि तट बलुहा है, चट्टानी नहीं, अन्यथा स्नान करना सम्भव ही नहीं होता। मराकस में सिर्फ एक स्थान पर ही लहरें आ-आ कर टूटती हैं लेकिन वे काफी ऊँची वेगपूर्ण और आनन्ददायी होती हैं, बम्बई के जुहू-तट की तरह मरियल नहीं। 'जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके'— का मंगलाचरण करता हुआ सत्य महाराज के साथ मैं समुद्र में उतरा।

सत्य महाराज जी अच्छे तैराक हैं, मैं भी पुरी में तीन-तीन घंटे तक समुद्र-स्नान करता रहा हूँ। हम लोग हँसते-खेलते मग्न तरंगों के वारों को झेलते हुए आगे बढ़ते गये और उनके पार हो गये। कैसा आनन्द आता है पूर्ण तरंगों के झूले पर झूलते रहने में! हम लोग डेढ़ घण्टे तक नहाते रहे, पर लगातार नहीं। समुद्र-स्नान का नियम ही है कि १५-२० मिनट नहाने के बाद ५-७ मिनट आराम कर लेना चाहिए ताकि साँस न फूल जाये। हम लोग बाहर आते और शान्ति भाभी कभी गर्मागर्म चाय पिलातीं, कभी हिमशीतल कोकाकोला, कभी काजू, चाकलेट, काबुली चने खिलातीं और कभी आइसक्रीम। मराकस का यह समुद्र-स्नान चिरस्मरणीय रहेगा।

सत्य महाराज का कार्यक्रम अभी बाकी था। मन्दिरों के दर्शन के स्थान पर समुद्र-स्नान जुड़ गया था। अतः उसके बाद हम लोग पोर्ट आफ स्पेन के सबसे बड़े और भव्य लक्ष्मीनारायण मन्दिर के दर्शनार्थ गये। वहाँ से हम लोग पोर्ट आफ स्पेन का एक चक्कर काट कर करीब २५ मील दूर के एक गाँव में श्रीमद्भागवत की कथा सुनने गये। वहाँ के गाँव शहर के लघु रूप ही हैं। अच्छी सड़कें, अच्छे छोटे-छोटे पक्के मकान, बिजली-बत्ती, मोटरें, सजी हुई दुकानें। कथा-स्थल झंडियों से सजाया गया था। द्वार पर मंगलघट भी थे और कदली-स्तम्भ भी। पंडितजी के लिए ऊँचा व्यासपीठ था और श्रोता कुर्सियों पर बैठे थे। पंडित जी श्लोक तो संस्कृत में बोल रहे

थे पर मतलब अंग्रेजी में समझा रहे थे। हम लोगों के जाने के कुछ ही देर बाद उस दिन की कथा पूर्ण हुई। सत्य महाराज ने मुझे श्रीमद्भागवत पर अंग्रेजी में बोलने के लिए आमन्त्रित किया। स्वामी अखंडानन्द जी सरस्वती और स्वामी करपात्री जी महाराज के श्रीमुख से श्रीमद्भागवत के कई प्रसंग सुनने का सौभाग्य मुझे मिल चुका है। उन्हीं के आधार पर भागवत-कथित भक्ति का संक्षिप्त निरूपण मैंने कर दिया। ग्यारह बजे रात को हम लोग घर पहुँचे।

अगले दिन शाम को सनातन धर्म महासभा के नये कार्यालय के कक्ष में मेरे सम्मान में शानदार पार्टी हुई। पहले कुछ गीत हुए, फिर 'विनय पत्रिका' के पदों का गान हुआ, 'मानस' का पाठ हुआ। सत्य महाराज ने मेरा परिचय दिया, उमा महाराज ने मेरे प्रति शुभकामना व्यक्त करते हुए मुझे सनातन धर्म पर बोलने के लिए आमन्त्रित किया। करीब सौ-सवा सौ श्रोता थे जिनमें से अधिकांश विद्यालयों-महाविद्यालयों के अध्यापक थे, अध्यापिकाएँ भी अच्छी संख्या में आयी थीं, कुछ सनातन धर्म के पंडित थे, कुछ महासभा के कार्यकर्ता थे। मैंने अपने व्याख्यान में कहा कि "सनातन का अर्थ पुरातन या अपरिवर्तनवादी नहीं है, सनातन तो वही है जो चिर पुरातन होता हुआ चिर नवीन हो जैसा कि सरस्वती जी की वन्दना में कहा गया है—नित्येऽनित्ये निमित्ते मुनि गणनमिते नूतने वै पुराणे। अतः युग की आवश्यकताओं के अनुसार अपने धर्म का पुनर्नवीकरण करते रहना हमारी परम्परा रही है। आप सबके ऊपर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ गयी है आधुनिकता और परम्परा का समन्वय करने की। पश्चिमी गोलार्ध में विकसित देशों के निकट सम्पर्क में रह कर एक बड़ी सीमा तक आधुनिक होना आपकी नियति है, फिर भी अपनी संस्कृति के मूल तत्त्वों को सुरक्षित रखना और उनके प्रति गौरवबोध करना आपका साहसपूर्ण निर्णय है। इस प्रक्रिया से गुजरते समय आप रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रमण महर्षि, अरविन्द घोष, महात्मा गाँधी, महामना मदन मोहन मालवीय जैसे महापुरुषों से प्रेरणा ग्रहण करें!"

११ फरवरी १९७९ को हवाई अड्डे पर विदा देने पन्द्रह-बीस मित्र पधारे, जिनमें छह-सात तो युगल थे। न जाने कितनी तस्वीरें उतरीं। बहुत भरे हृदय के साथ बहुत मीठी और आत्मीय स्मृतियाँ ले कर मैं पोर्ट आफ स्पेन से भारत के लिए विदा हुआ। ●

अंधकार में ज्योति की तलाश : बाँगलादेश में भारतीजी के साथ

'शास्त्रीजी, सच-सच बताइए, वास्तव में बाँगलादेश के कुछ हिस्से मुक्त हो चुके हैं या जैसा कि पाकिस्तानी और उनके दोस्त कहते हैं, यह सब हवाई प्रचार है ?' भारतीजी की मुसकराती हुई आँखें कह रही थीं कि प्रश्न में शंका नहीं, विनोद-ही-विनोद है। प्रकारांतर से वे मुझे स्वाधीन बाँगलादेश सरकार का प्रचारक होने का गौरव दे रहे हैं। मैं भारतीजी को दिसंबर १९५८ से व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। बीसियों बार उनसे बहस की है, गपशप की है, एक-दूसरे के लतीफों पर साथ-साथ ठहाके लगाए हैं। उनका 'अंदाजे बयां' कुछ और ही है। आधुनिक साहित्य एवं जीवन की सारी बौद्धिकता, बड़ी-से-बड़ी पीड़ा और भारी जिम्मेदारी भी उनके स्वभाव को 'छुहारा' नहीं बना सकी है। अब भी वे दूसरे को गुदगुदा सकते हैं, बिना चिढ़ाए 'बना' सकते हैं और अरदब में पड़ जाने पर बिना कुढ़े 'बन' भी सकते हैं। अपने लेखन और व्याख्यानों में विरोधियों पर अर्जुन की तरह पैने बाण भी चलाते हैं और उनके प्रहार भी हिम्मत के साथ झेलते हैं। धुन चढ़ जाने पर बाधाओं की परवाह किए बिना कठिन-से-कठिन काम से भिड़ जाना उनका स्वभाव रहा है। उन दिनों वे बाँगलादेश के प्रश्न को सर्वोपरि महत्व देकर 'धर्मयुग' के माध्यम से देशवासियों को बाँगलादेश की मुक्ति के संग्राम में पूरा सहयोग देने के लिए मानसिक रूप से तैयार करने पर जुटे हुए थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय बाँगलादेश सहायक समिति की कार्यसमिति का सदस्य होने के कारण मुझे बाँगलादेश के मुक्त क्षेत्रों में जाने का सुयोग कई बार मिल चुका था। 'मुक्ति योद्धाओं के शिविर में' शीर्षक मेरा लेख धर्मयुग के ६ जून, १९७१ के अंक के प्रमुख लेख के रूप में प्रकाशित करने की सूचना देते हुए २४ मई, १९७१ के अपने पत्र में बहुत आत्मीयता के साथ भारतीजी ने लिखा था – 'लेकिन मुझे इस बात की ईर्ष्या जरूर है कि आप अकेले वहाँ हो आए।' मैंने उन्हें फौरन लिखा – 'आप जब

बाँगलादेश के मुक्त क्षेत्रों में चलना चाहें, चल सकते हैं। सब व्यवस्था हो जाएगी।' पर तीन महीनों तक वे समय नहीं निकाल पाए। ३ सितंबर को मुझे उनका फोन मिला, 'मैं अब बाँगलादेश के मुक्त अंचलों में जाने के लिए तैयार हूँ। आप बाँगलादेश सरकार से बातचीत कर आवश्यक प्रबंध कीजिए। मैं चाहता हूँ कि युद्ध के अग्रिम मोरचे तक जाने की, यथेच्छ लोगों से मिलने-जुलने की, तसवीरें लेने की मुझे पूरी सुविधा मिले।' मैंने बाँगलादेश के अधिकारियों से बातचीत कर फोन पर उन्हें आश्वस्त किया कि बाँगलादेश सरकार का पूरा सहयोग आपको मिलेगा। अब यह आपकी हिम्मत पर है कि आप कितना खतरा उठा सकते हैं। मर्द को खाँचा मारने जैसी यह बात थी। उनका उत्तर था, मैं ७ सितंबर को पहुँच रहा हूँ। आप तैयारी ठीक रखिएगा। ७ सितंबर को मिलते ही उन्होंने जो सवाल दागा, उसी से मैंने इस लेख की शुरुआत की है। मैंने भी तपाक से जवाब दिया – 'हाथ कंगन को आरसी क्या! आप खुद ही देख लीजिएगा। और हाँ, आज ही शाम को आप मुक्तिवाहिनी के प्रधान सेनापति कर्नल उस्मानी से मिलने चल रहे हैं।' भारतीजी बहुत खुश हुए। मुझे गले लगा लिया – 'सच, यह बहुत ही अच्छी शुरुआत है।' उनके साथ थे बालकृष्णजी, धर्मयुग के प्रमुख छायाकार। मध्यवयसी हो जाने पर भी उनकी जिंदादिली, हिम्मत और काम की लगन में कतई कमी नहीं आई थी। वे हम लोगों की यात्रा में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए। केवल छायाकार के रूप में ही नहीं, हँसमुख और उत्साही साथी के रूप में भी।

इसे मैं बहुत सुखद संयोग मानता हूँ कि युद्धरत बाँगलादेश के संकटों की छाया में और बाद में मुक्त बाँगलादेश के आनंदोल्लास में भी हम लोगों की त्रिमूर्ति कई दिनों तक साथ-साथ रही। बहुतेरे साँझे अनुभवों को हम लोग (भारतीजी और मैं) कई लेखों में शब्दबद्ध कर चुके हैं। उन्हें यथासंभव बिना दुहराए प्रस्तुत हैं भारतीजी की कुछ अंतरंग झलकियाँ।

कर्नल उस्मानी से खुले दिल से बातचीत कर और उन्हें पायेदार आदमी पाकर भारतीजी आश्वस्त हुए। बाँगलादेश के ही नहीं, भारत-पाकिस्तान के भविष्य का भी बहुत कुछ निर्णय जिस मुक्ति युद्ध के ऊपर निर्भर था, कई महीनों से उसका कठोर मानसिक तनाव भारत के प्रत्येक जागरूक व्यक्ति को झेलना पड़ रहा था। पर मनुष्य का मन सब समय दुर्भाग्यपूर्ण विगत और अनागत की पीड़ा या आशंका के दबाव को ही महसूस नहीं करता, घुटे हुए वातावरण में भी यदि हवा का ताजा झोंका आ जाता है तो उस समागत का स्वागत करता है। तमाम बोझ के बावजूद हलकेपन का अनुभव करता है। कर्नल उस्मानी से मिलकर हम लोगों को इसी प्रकार की ताजगी मिली थी।

दूसरे दिन के कार्यक्रम को तय कर लेने और बाँगलादेश की यात्रा के लिए आवश्यक संपर्कों, सूचनाओं, वस्तुओं आदि के बारे में सोच-विचार लेने के बाद हम

लोग स्वतंत्र थे – रात को विक्टोरिया के सामने के मैदान की हवा खाने के लिए। बात घूम-फिरकर आज के साहित्यकारों पर जा टिकी । भारतीजी ने अफसोस भरे स्वर में कहा, 'साहित्यकारों के प्रति मेरे मन में कभी बहुत आदर था; पर उनके व्यवहार से मैं काफी निराश हुआ हूँ। आज के साहित्यकारों में छपने की हविस इतनी ज्यादा है और उसके लिए वे लोग ऐसे-ऐसे समझौते करते हैं कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है। हम लोगों के सामने कुछ सफल कृतियाँ थीं, इन लोगों के सामने कुछ सफल साहित्यकार हैं। हम लोग यह मानते थे कि निराला या पंत या दूसरे बड़े साहित्यकार इसलिए सम्माननीय हैं कि उन्होंने बड़ी कृतियाँ दी हैं। आज लोग देखते हैं कि भारती या कमलेश्वर या राकेश के पास गाड़ी, फ्रिज या अन्य सुविधाएँ हैं । दृष्टि के इस अंतर के परिणाम का अंदाज आप लगा सकते हैं। हम लोगों के लिए ये सुविधाएँ बहुत अच्छी साबित हुई हों, ऐसी बात भी नहीं है। बिलकुल नए कवियों और कहानीकारों से उन्हें यह शिकायत थी कि उनकी रचनाएँ जीवन की सच्चाई से दूर और फैशन के पास चली जा रही हैं। सतना में रहनेवाले कहानीकार को भी यदि कॉफी हाउस में कैबरे दिखाकर अपनी आधुनिकता प्रमाणित करने की इच्छा सताए तो और क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है' आदि-आदि ।

८ सितंबर का सारा दिन बाँगलादेश के भारत स्थित सर्वोपरि राजनयिक श्री हुसेन अली, बाँगलादेश सरकार के विदेश मंत्रालय के श्री ताहिरुद्दीन ठाकुर, भारतीय वाहिनी की पूर्वी कमान के जनसंपर्क अधिकारी ले. कर्नल रिखो, कलकत्ता विश्वविद्यालय बाँगलादेश सहायक समिति के मंत्री श्री दिलीप चक्रवर्ती से मिलने-जुलने तथा यात्रा की अन्य तैयारियों में बीता ।

इस पूरी दौड़-धूप के बीच हम लोगों को भोजन करने की भी फुरसत नहीं मिली । वह तो जब भारतीजी आवश्यक व्यवस्था आदि के लिए मुंबई कार्यालय से बात कर रहे थे तब टाइम्स ऑफ इंडिया के स्थानीय मैनेजर श्री शिवरमण ने कार्यालय में ही चाय के साथ पावरोटियाँ आग्रहपूर्वक खिला दी थीं, नहीं तो एकादशी का लघु संस्करण तो हो ही जाता। दिन की भरपूर मेहनत के बाद शाम के छह बजे से रात के साढ़े नौ बजे तक हम लोग अपनी भेंटवार्त्ताओं का पहला मसौदा बनाने के काम पर जुटे रहे। भारतीजी की कर्मठता देखकर मैं हैरान था। उनके मन में इसका असीम आग्रह था कि यह विशिष्ट सामग्री धर्मयुग के पाठकों के सामने शीघ्रातिशीघ्र आए।

९ सितंबर । सिलीगुड़ी की हवाई यात्रा का मौसम बहुत ही अच्छा था । धूप निकली हुई थी । चार-पाँच दिनों की लगातार वर्षा के बाद आकाश खुला था। बादल बरस-बरसकर हलके हो गए थे। जगह-जगह गुच्छों के रूप में फैले सफेद बादलों को देखकर लगता था कि वृहदाकार नील ताल में श्वेत कमल वन हों । नीचे धान के खेत

बहुत प्यारे लग रहे थे। पिछले दो दिनों के प्रेरक अनुभवों के कारण मन प्रसन्न था, अतः बीच-बीच में भारतीजी फुलझड़ियाँ छोड़ते जाते थे। विमान परिचारिका अर्थात् अंबर-सखी यानी गगन-गुड़ियों के बारे में उन्होंने काफी किस्से सुनाए जिनमें सबसे जोरदार था 'प्रे. ह्वाट ड् यू वांट, कॉफी ऑर टी ऑर मी' वाला।

सिलीगुड़ी पहुँचकर हम लोग अपने संपर्क सूत्रों के सहयोग से शाम को ही बाँगलादेश की मुख्य सीमा चौकी के हवलदार अब्दुल बारी से मिल आए। उन्होंने ताहिरुद्दीन ठाकुर का पत्र देखकर हम लोगों का बड़ा सम्मान किया और दूसरे दिन सुबह आठ बजे आने को कहा। इस बीच वे अपने उच्च अधिकारियों से हम लोगों के संबंध में आवश्यक बातचीत कर लेना चाहते थे। हम लोग संतुष्ट होकर लौटे।

पर रात को एक उलझन खड़ी हो गई। जिनसे सहयोग की अपेक्षा थी ऐसे एक भारतीय सैनिक अधिकारी इस बात पर अड़ गए कि हम लोग कल बाँगलादेश न जाएँ। उन्हें समझाने की सारी चेष्टा व्यर्थ गई। हम लोग भारी मन से अपने होटल लौटे। भारतीजी बहुत क्रुद्ध और क्षुब्ध थे। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि 'हम लोगों को रोकने का इन्हें कोई हक नहीं है। न हम लोग इनके बुलाने पर आए हैं, न इनके अनुमतिपत्र से हम बाँगलादेश में कोई सुविधा प्राप्त करेंगे। कलकत्ते में जब इनके वरिष्ठ सैन्य अधिकारी से हम लोगों को बाँगलादेश जाने की छूट मिल गई है तब इनका रोकना और भी अर्थहीन है। हम लोगों के पास व्यर्थ नष्ट करने का समय नहीं है। हम लोग अपनी जिम्मेदारी पर बाँगलादेश सरकार के पत्र के भरोसे कल प्रातःकाल बाँगलादेश के मुक्त अंचल में प्रवेश करेंगे। परिणाम जो हो, हो ।' मैं उनके निर्णय से पूर्णतः सहमत था।

१० सितंबर को दिन भर हम लोग स्वाधीनता के लिए लड़नेवाली जनता और उनकी मुक्तिवाहिनी के बीच रहे मित्र देश के जन-प्रतिनिधि के रूप में, मुक्तिसहयोगी के रूप में । उन लोगों ने हमको इस प्रकार अपना लिया था कि विदा होते समय हम लोगों के मन भर आए। धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि के घेरों को पार कर स्वाधीनताकामी मनुष्य के रूप में हम लोग एक-दूसरे से अभिन्नता का अनुभव कर रहे थे । बड़ी शक्ति और अनुरक्ति लेकर हम लोग लौटे ।

जो कुछ देख-सुनकर आए थे, वह हमें इस कदर आंदोलित किए हुए था कि गहरी थकावट के बावजूद हम लोग रात को देर तक जागते और बातें करते रहे। विश्व कूटनीति के कारण फूँक-फूँककर कदम रखने की भारत सरकार की विवशता को स्वीकारते हुए भी हम लोग अब इस पक्ष के और भी अधिक हो गए थे कि भारत की जनता और सरकार को खुलकर इन मुक्ति योद्धाओं की मदद करनी चाहिए।

११ सितंबर। कल का अनुभव उत्साहवर्धक होते हुए भी शांतिपूर्ण था । जो क्रांति देखने का संकल्प लेकर चले हों, वे इतने से ही संतुष्ट कैसे हो सकते थे। मेजर

सदरुद्दीन तथा मुक्तिवाहिनी के अन्य अधिकारियों ने बताया था कि यदि हम सचमुच युद्ध के वातावरण में जाना चाहते हों तो हमें शालदा-मंदभाग क्षेत्र में जाना चाहिए । वहाँ चटगाँव-ढाका रेल लाइन को पुनः चालू करने की पाकिस्तानी चेष्टा को विफल करने के लिए मुक्तिवाहिनी सक्रिय संघर्ष कर रही है। भारतीजी ने तय किया हमें युद्धक्षेत्र में जाना ही चाहिए । इसके लिए गौहाटी तक हमें रेल से जाना था और फिर हवाई जहाज से अगरतल्ला पहुँचना था । रेल दिन के ढाई बजे मिलने वाली थी, अतः भारत की विपथगा एवं विफल क्रांति के केन्द्र नक्सलबाड़ी का चक्कर लगाने का भारतीजी का पुराना संकल्प सहज ही पूर्ण हो गया । राजवंशियों के गाँवों, टुकुड़िया जंगल के कुछ हिस्सों और मेची नदी के कछार को देखकर लगा कि माओपंथियों ने बहुत सूझबूझ के साथ भारत, नेपाल और तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान की सीमा पर स्थित इस अंचल को अपना केन्द्र बनाया था। तपन सिंह, अरुण नाग जैसे युवकों की बातचीत से पता चला कि माओपंथी बिखर जरूर गए हैं, पर अब भी कहीं-कहीं उनका काफी दबदबा है । युवा आक्रोश को विध्वंसक दिशा किस आसानी से दे दी जा सकती है, भारतीजी के अनुसार, नक्सलबाड़ी ने यही प्रमाणित किया है।

रेल में तिल धरने की जगह नहीं थी । पर हम लोगों की किस्मत तेज थी । कुल जमा तीन बर्थ ही सिलीगुड़ी में खाली हुई । बालकृष्णजी ने स्टेशन मास्टर से लेकर टिकट इंस्पेक्टर तक से बातचीत कर हम लोगों का केस मजबूत कर रखा था । उनकी दक्षता के कारण ही हम लोगों को तीनों बर्थ मिल गई । पिछले दिनों की दौड़-धूप और एक-एक बजे तक रातों की गपशप ने शरीर को चूर कर दिया था । मैं तो लेटते ही अंटागाफिल हो गया । भारतीजी और बालकृष्णजी भी झपकियाँ लेते रहे । पर वे लोग बीच के बड़े स्टेशनों पर उतरते भी रहे, मुझे नींद से उठा-उठाकर जलपान, भोजन भी कराते रहे । अब भी मुझे जब याद आता है कि हाथ में रसगुल्लों से भरा दोना लिये भारतीजी मुझसे मनुहार कर रहे हैं कि 'ब्राह्मण देवता' भोग लगा लीजिए । नैवेद्य अर्पित है' तो मन पुलक से भर उठता है ।

१२ सितंबर। हम लोगों की गाड़ी सुबह पाँच बजे गौहाटी पहुँची। तब तक तन चंगा हो चुका था। मन तो रंगारंग उमंगों से भरा था ही। तैयार होकर अगरतल्ला जानेवाले हवाई जहाज की पूछताछ की तो मालूम पड़ा कि दो बजे पहली उड़ान है। स्थान आरक्षित करवा लेने के बाद मैंने भारतीजी से आग्रह किया कि हाथ के तीन-साढ़े तीन घंटों का सदुपयोग कर हम लोग भगवती कामाख्या देवी के दर्शन कर आएँ। वे सहर्ष मान गए। मेरे जीवन की एक बड़ी साध अनायास पूरी हो गई। एक तरह से भगवती ने बुलाकर अपने दर्शन दिए; क्योंकि कलकत्ते से चलते समय हम लोगों ने सोचा तक नहीं था कि भारत के इस महान् शक्तिपीठ के दर्शन का सौभाग्य हमें इस यात्रा में मिलेगा।

भारतीजी अपने को 'नास्तिक' कहते हैं। इस बात पर कई बार उनसे मेरी बहस हो चुकी है। इसी यात्रा में महानंदा का टूटा पुल देखकर लौटते समय मेजर सदरुद्दीन के सामने ही ईश्वर की सत्ता को लेकर हम लोग उलझ पड़े थे। पर मेरा विश्वास है कि शंका और अनास्था के बावजूद उनके मन में कहीं गहरी श्रद्धा है। बालकृष्णजी तो कट्टर आर्यसमाजी हैं। वे बोले, मूर्ति के दर्शन के स्थान पर मैं प्रकृति की सुंदरता को ही देखता रहूँगा । आर्यसमाजी संस्कारों में भारतीजी भी पले-बढ़े हैं; पर उन्हें वैष्णव साधना और साहित्य का कुछ रस भी मिला है। दर्शन के आमंत्रण पर विनोदपूर्वक बोले, 'घर जाकर ब्राह्मणी को संतुष्ट करने का यह सुगम अवसर मैं नहीं छोड़ सकता, चलिए।' हम दोनों ने विधिवत् पूजा की ।

भगवती सचमुच हम लोगों पर प्रसन्न थीं, नहीं तो अगरतल्ला में पहुँचने के साथ ही दो चमत्कार कैसे घटते। अगरतल्ला का कोई संपर्क सूत्र हम लोग कलकत्ते से नहीं लाए थे, क्योंकि यहाँ आने की बात ही नहीं थी। पर अभी हम लोग उपयुक्त होटल की तलाश ही कर रहे थे कि बाँगलादेश का एम.पी.ए. सुबेद अली मुझे देखते ही 'शास्त्री, शास्त्री, तुम यहाँ कहाँ....' आदि कहते-कहते मुझसे चिपट गया। बाँगलादेश के कार्य के सिलसिले में ही वह मेरे साथ उत्तर भारत के कई विश्वविद्यालयों का दौरा कर चुका था। हम लोगों के आने का उद्देश्य सुनकर और भारतीजी का परिचय पाकर वह बहुत खुश हुआ। बोला, 'मुक्तिवाहिनी के स्थानीय कमांडर ले. कर्नल खालिद मुशर्रफ मेरे सहपाठी हैं। मोरचे पर जाने की सारी व्यवस्था मैं कर दूँगा। तुम लोग निश्चिंत रहो।'

इतना ही सुखद आश्चर्य तब हुआ जब हम लोग अगरतल्ला के जिला मजिस्ट्रेट से कर्फ्यू का पास लेने के लिए गए। अगरतल्ला के वातावरण में युद्ध की विभीषिका का निश्चित आभास मिलता था। सीमाओं पर प्रतिदिन पाक फौज की गोलाबारी होती थी, इसीलिए रात के समय सीमावर्ती क्षेत्रों में पूरा ब्लैक आउट रहता था। पाक जासूसों द्वारा तोड़-फोड़ के कई कांड हो चुके थे, अतः अगरतल्ला में भी रात को कर्फ्यू लग जाता था। हमारी धारणा थी कि डी.एम. बंगाली होंगे, पर वे पंजाबी निकले – श्री उमेश सहगल और उसपर तुर्रा यह कि पति-पत्नी दोनों धर्मयुग के नियमित पाठक थे। धर्मयुग के संपादक को अपने बीच पाकर वे फूले नहीं समाए। वे उन दिनों शरणार्थी पुनर्वास आयुक्त थे। अतः उनका कार्यक्षेत्र पूरा त्रिपुरा राज्य था । उन्होंने हम लोगों को पूरी सुविधाएँ देने का आश्वासन दिया।

सुबेद अली और उमेश सहगल दोनों ने अपने वचन निभाए।

१३ और १४ सितंबर, १९७१ को याद करता हूँ तो आज भी रोमांचित हो उठता हूँ। एक के बाद एक कितने ही दृश्य आँखों के सामने उभरने लगते हैं।

बांगलादेश के मंदभाग रेलवे स्टेशन की ऊँची टेकरी में बने प्रशस्त बंकर में कैप्टेन पाशा के साथ हम सब लोग बैठे हुए हैं। कैप्टेन दुरबीन लगाए दुश्मन की चौकियों पर नजर गड़ाए हुए हैं। उन्हें वहाँ कुछ हलचल महसूस होती है। मेरे हाथ में दूरबीन देते हुए वे कहते हैं 'देखिए उन झाड़ियों के बीच, जो छाजन-सी दिखाई पड़ती है, वहाँ दुश्मन की चौकी है। मैं उसपर अभी बमबारी करूँगा।' मेरी अपटु आँखें जब तक कुछ देख पाएँ तब तक दूरबीन भारतीजी के हाथों में जा चुकी है। बालकृष्ण, सुबेद अली, करीम भाई कोई पीछे नहीं रहना चाहता। सब उस ठिकाने को ताड़ने की कोशिश कर रहे हैं। कैप्टेन टेलीफोन पर हुक्म दे रहे हैं – 'हलो, हलो, जियाद, कैप्टेन पाशा हियर....गेट रेडी...इलेक्शन थर्टी करेक्शन प्लस हंड्रेड नॉर्थ...फायर वाइ ऑर्डर...फायर....ओवर।' पीछे से 'गुडुम' की गंभीर आवाज आती है। गोला छूटता है। सनसनाता हुआ हम लोगों के सिर के ऊपर से गुजरता है। हम सब आँखें गड़ाए अभीष्ट दिशा की ओर देख रहे हैं। अचानक एक जगह धूल-धुएँ का स्तंभ-सा उठता है और कुछ ही सेकेंडों के बाद गोले के फटने का घना नाद सुनाई पड़ता है। कैप्टेन को पूरा संतोष नहीं होता। निशाने के काफी पास पड़ने पर भी गोला कुछ बाएँ गिरा है। वे आवश्यक संशोधन के साथ फिर हुक्म देते हैं । एक-एक कर छह गोले उसी चौकी पर बरसाए जाते हैं। ...धूल-धुएँ का उठता-गिरता स्तंभ....गोले का धमाका हम लोगों की छाती की धड़कनों को तेज कर देता है। दुश्मन भी गाफिल नहीं है, न उसके पास शस्त्रास्त्रों की कमी है। उसकी तोपें भी आग उगलने लगती हैं । छह के जवाब में वह तीस गोले चलाता है। कैप्टेन पाशा मुसकराकर कहते हैं, 'दुश्मन हमें डराना चाहता है अपनी अस्त्र समृद्धि के प्रदर्शन के द्वारा । पर यह उसकी भूल है।'

कुछ दूर पर वह रेल लाइन दिख रही है जिसपर मुक्तिवाहिनी के कब्जे के कारण ढाका-चटगाँव का रेल संपर्क टूट गया है । भारतीजी कहते हैं, हम लोग वहाँ जाएँगे । कैप्टेन और बालकृष्णजी भी रोकना चाहते हैं । समर्थन के लिए वे लोग मेरी ओर देखते हैं, पर मैं भारतीजी का साथ देता हूँ । कैप्टेन हम लोगों को खतरे से आगाह करते हैं, पर रोकते नहीं ।

भारतीजी मंदभाग स्टेशन पर पहुँचकर भी संतुष्ट नहीं हैं। हम लोग रघुरामपुर पहुँचते हैं। कैप्टेन गफ्फार लुंगी पहने, उघारे कंधे पर निचोड़ा हुआ गीला गमछा रखे पोखरे से नहाकर चले आ रहे हैं। सूबेदार सिराजुल इसलाम उन्हें हम लोगों का परिचय देता है। वे अपने साथ भोजन करने के लिए हम लोगों को आमंत्रित करते हैं; पर भारतीजी अग्रिम मोरचे तक जाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं । यह चानखोला गाँव है। हवलदार दानामियाँ कल रात हुए दुश्मन के हमले और अपने जवाबी हमले की शौर्य गाथा सुना रहे हैं। देख रहा हूँ कि शस्त्रागार और फौजी चौकी बन गए उस बड़े से

झोंपड़े की एक दीवार पर भगवान् शिव का चित्र भी टँगा है और अल्लाह का नामपट्ट भी। इसके आगे मुक्ति योद्धाओं की सिर्फ एक पंक्ति और है। किन्तु वहाँ गाहे-ब-गाहे दुश्मन की गोलियों की बौछारें आती रहती हैं। भारतीजी वहाँ तक जाना चाहते हैं, मैं भी तैयार हूँ; पर दानामियों यह जिम्मेदारी अपने सिर लेने के लिए तैयार नहीं हैं और बालकृष्णजी तो बाँटो के स्वर में कह रहे हैं, 'अब बहुत हो गया, लौट चलिए।' और हम लोग लौट रहे हैं।

दूसरा दिन। यह मुक्तिवाहिनी का फौजी अस्पताल है, यह ले. कर्नल मुशर्रफ की छावनी, यह त्रिपुरा का प्रमुख शरणार्थी शिविर, यह ब्लैक आउट में डूबा पाकिस्तानी गोलाबारी से क्षतिग्रस्त भारत का सीमावर्ती क्षेत्र, यह त्रिपुरा केन्द्रीय जेल की वह बारक है जिसमें पचास के करीब पश्चिमी पाकिस्तानी नागरिक बंदी हैं। सचमुच कितने घटनापूर्ण थे वे दो दिन! सुबह से लेकर रात के ग्यारह बजे तक हम लोग चलते ही रहते – मोटर पर या जीप पर या पैदल। जो देखते, उसे तो मन में ही आँक लेते, लेकिन जो सुनते उनमें से जो महत्वपूर्ण लगता उसे कॉपी में भी टाँक लेते। जब काम ठीक चलता रहता तो भारतीजी अपने को पीछे ही रखते, काम का मजा लेते रहते, लेकिन योजना बनाते समय या निर्णय करते समय वे बहुत सजग रहते। मैंने एक विलक्षण बात उनमें यह भी पाई कि राजनीतिज्ञों और सरकारी सिविल अधिकारियों की तुलना में वे जवानों या सैनिक अधिकारियों की संगत में अधिक प्रसन्न रहते। मेरे पूछने पर उन्होंने कहा, 'ये लोग सीधे और सच्चे आदमी हैं। मुँह में राम बगल में छुरी रखने की आदत इनमें से अधिकांश को नहीं होती। दूसरे लोग प्रायः बड़ी-बड़ी बातें और टुच्ची हरकतें करनेवाले होते हैं। ऐसे लोगों के मुझे काफी कड़ुए अनुभव हैं, अतः उनकी बातें सुनकर मन नहीं उमगता।'

१५ सितंबर को हम लोग कलकत्ते लौटे। जिनके बीच से आ रहे थे उनके व्यक्तिगत भविष्य के बारे में यदि चिंता थी तो सामूहिक भविष्य के बारे में निश्चय कि उन्हें विजय अवश्य प्राप्त होगी। किसी बड़े लक्ष्य के लिए समर्पित व्यक्तियों का साहचर्य कितना पवित्र होता है। अपनी और अपने परिवार की चिंता में मग्न, छोटी-छोटी सुविधाओं के लिए दाँव-पेंच में लिप्त व्यक्तियों के साथ रहते-रहते मन घुटने लगता है....वह कितना संकीर्ण हो जाता है ! पावक के स्पर्श से जैसे कोयला भी दहक उठता है वैसे ही बलिदानियों के संपर्क से धुँधुआता मन भी प्रदीप्त हो उठता है । उस वातावरण का ही प्रभाव था कि उस दिन कलकत्ते की चमक-दमक और व्यस्तता बड़ी खोखली लगी, भारतीजी को भी और मुझे भी।

बंबई (अब मुंबई) लौटने के पहले भारतीजी उन तमाम लोगों के निकट कृतज्ञता व्यक्त करने गए जिन्होंने हम लोगों की इस यात्रा को सफल बनाने में सहयोग

दिया था। विदा करते समय मैंने उनसे कहा था कि आपकी सुखजीवी काया बेतरह थक गई होगी। बंबई जाकर चंपी करवा लीजिएगा । वे बोले, 'बंबई जाकर और भी बहुत कुछ करना होगा।' चुहलभरी शैली में बंबई से २२/९ के अपने पत्र में उन्होंने लिखा, 'बंबई आकर थकावट पता चली । चंपीवाले तो सब फिल्म स्टार हो गए हैं अतः सोकर ही थकावट दूर करनी पड़ी । पुष्पाजी को मनाना पड़ा कि रोज कहाँ हूँ इसका समाचार उन्हें क्यों नहीं दिया। अनेक मित्र-पत्नियाँ (भाभियाँ) इसलिए नाराज थीं कि गोली-बारूद के क्षेत्र में गया ही क्यों? उन्हें समझाना पड़ा कि उस पूरे युद्धक्षेत्र में बंबई, दिल्ली, कलकत्ता जैसी मनमोहिनियाँ नहीं थीं, अतः उसी क्षेत्र में मेरा जाना सेफ था ताकि अपनी पत्नी और भाभियों का रोब-दाब बरकरार रहे और कोई अन्य उसे न हटा सके । यह तर्क काम दे गया। पुनः सुखी हूँ।'

अक्तूबर'७१ के अंतिम सप्ताह में लिखे उनके पत्र से यह झलकता है कि जिन मुक्ति योद्धाओं के साथ रणक्षेत्र में बंधुत्व हुआ था, उनके लिए वे कितने चिंतित थे और बाँगलादेश के मुक्तियुद्ध के लेखनी सहयोगी के रूप में वे पुनः युद्धक्षेत्र में जाने के लिए आतुर थे। उस पत्र की कुछ पंक्तियाँ हैं – 'पिछले पखवारे में दो बार कुमिल्ला क्षेत्र (रघुरामपुर, शालंदा नदी, मंदभाग) पर बमवर्षा की खबरें आईं। एक बार हवाई जहाज से मशीन गनिंग हुई। बहुत मन अकुलाता रहा, खास तौर से रघुरामपुर और चानखोला गाँव के मित्रों के लिए । इधर युद्ध की तसवीर कुछ साफ हो, कि हो रहा है या नहीं, तो फिर चलने का कार्यक्रम बनाएँ।'

नक्सलबाड़ी का विवरण लिखते समय मैंने वहाँ के अपने सहयोगी तपन सिंह का नामोल्लेख कर दिया था, ताकि विवरण की प्रामाणिकता बढ़ जाए । भारतीजी को लगा और बहुत ठीक लगा कि इस प्रकरण में नाम आ जाने के कारण तपन का अहित हो सकता है। उन्होंने मुझे लिखा – 'नक्सलबाड़ी में तपन का नाम देना ठीक होगा या नहीं ? कहिए तो उसको लिखकर पूछ लें । नक्सलियों का कुछ ठीक नहीं। अभी सिलीगुड़ी में काफी उपद्रव किया उन्होंने ।' जिससे दुबारा कभी मिलने की भी संभावना न हो, अपने उस सहयोगी का भी अकल्याण अपने उत्साह के अतिरेक में न हो जाए, इस प्रकार की सजगता और मानवीयता आजकल तो बहुत विरल है। एक बात और। जिस काम को वे अपने सहज अधिकार के द्वारा कर सकते थे, उसके लिए भी मुझसे परामर्श करने का शील उन्होंने बरता, यह मुझे स्वभावतः अच्छा लगा। उन्होंने बाँगलादेश पर लिखे मेरे रिपोर्ताज इंटरव्यू प्रायः ज्यों-के-त्यों छापे हैं; पर बाँगलादेश में रह गए बिहारी मुसलमानों के बारे में कुछ और जुड़ना चाहिए, ऐसा उन्हें लगा, इसकी सूचना भी उन्होंने मुझे दी । भूमिका के बतौर उन्होंने उपयुक्त पृष्ठभूमि देकर उस लेख का मूल्य बहुत बढ़ा दिया; पर उसके अंत में नाम मेरा ही दिया। दूसरे को उसके प्राप्य से कुछ अधिक ही देने में उनका विश्वास है, प्रेम भी और शायद घृणा भी।

भारतीजी दुबारा बाँगलादेश जाने के लिए २ दिसंबर को कलकत्ते आए। आसन्न युद्ध की चर्चा से वातावरण गरम था। उन दिनों श्रद्धेय लोढ़ाजी छुट्टी पर थे, अतः विभाग की जिम्मेदारी मेरे सिर पर ही थी। डॉ. इंद्रनाथ मदान बिड़ला व्याख्यान माला के लिए कलकत्ते आए हुए थे और उस कार्यक्रम का संचालन मुझे ही करना पड़ रहा था। फलतः मैं मन मसोसकर रह गया....भारतीजी के साथ नहीं जा सका। ३ दिसंबर के पूर्वाह्न में भारतीजी रवाना हुए और उसी दिन रात को पाकिस्तान ने भारत पर हमला कर दिया। घमासान युद्ध छिड़ गया। १४ दिसंबर की सुबह तक भारतीजी का कोई संवाद न मिलने के कारण हम लोग बहुत ही चिंतित हो गए। पुष्पाजी का फोन बंबई से आया तो उन्हें कह दिया कि संवाद मिला है कि वे सकुशल हैं। प्रार्थना के अतिरिक्त अपने हाथ में और था ही क्या। १४ की शाम को भारतीजी का फोन मिला। मैं दौड़ा-दौड़ा उनके होटल गया। भारतीजी मौत के मुँह से निकलकर आ रहे थे। बालकृष्णजी तो तब भी बदहवास थे। विस्तार से उन्होंने सुनाया शेरपुर-जमालपुर का भयावह रोमांचक, प्रेरक संस्मरण। अब वह हिंदी के रिपोर्ताज साहित्य का अद्वितीय अंश है। शायद ही इसके पहले किसी हिंदी पत्र के प्रधान संपादक ने अपने प्राणों की बाजी पर लगाकर इस प्रकार का आँखों देखा....अपने पर बीता युद्ध संस्मरण लिखा हो। सच तो यह है कि जो तड़प उनको बाँगलादेश बार-बार खींच ले जाती थी उसका संबंध पेशेवर पत्रकारिता से ही नहीं था। उन्हें लगता था कि बाँगलादेश की क्रांति उस घृणित झूठ का सच्चा जवाब है जिसके आधार पर पाकिस्तान का निर्माण हुआ था। स्वभावतः इस क्रांति के तथ्यों को सही रूप में भारत की जनता के सामने रखना उनको अपनी व्यक्तिगत प्रतिबद्धता लगती थी, जिसके लिए कोई भी कीमत अदा की जा सकती थी। भारतीजी १५ दिसंबर को बंबई लौटे, लेकिन जाते समय मुझसे कहते गए कि ढाका की मुक्ति बहुत निकट है। उस समय मुझे बाँगलादेश की मुक्ति के शब्द चित्र धर्मयुग के माध्यम से भारत की जनता के समक्ष रखने हैं। १६ दिसंबर को ही पाकिस्तानी फौजों ने आत्मसमर्पण कर दिया। जैसोर, खुलना, ढाका, नारायणगंज की यात्रा कर मैंने बाँगलादेश के तत्कालीन मनोभाव को 'धर्मयुग' में धारावाहिक रूप से प्रस्तुत किया। भारतीजी की सक्रिय प्रेरणा के बिना यह संभव नहीं होता।

स्वाधीन बाँगलादेश के प्रधान सेनापति कर्नल (बाद में जनरल) उस्मानी ने मेरे हाथ भारतीजी को व्यक्तिगत पत्र भेजा था कि बाँगलादेश के मुक्तियुद्ध के परम सहयोगी के रूप में आपको मैं स्वाधीन बाँगलादेश की ओर से सादर आमंत्रित करता हूँ। भारतीजी ने इस निमंत्रण के लिए कृतज्ञता तो तत्काल व्यक्त की, किन्तु वहाँ जाने की योजना शेख मुजीब की मुक्ति के बाद ही बनाई।

४ फरवरी, १९७२ की रात को वे कलकत्ते पहुँचे। ५, ६, ७ फरवरी के दिन तैयारी में और शेख मुजीब के कलकत्ता स्थित कार्यक्रमों में भाग लेने में बीते। शेख

मुजीब के व्यक्तिगत आकर्षण और जन नेतृत्व के सामर्थ्य के संबंध में वे कायल हो गए, किंतु राजभवन में बांगलादेश के कुछ अधिकारियों का व्यवहार उन्हें प्रीतिकर नहीं लगा। विशेषकर श्री हुसेन अली (जो उस समय बांगलादेश के विदेश सचिव थे) के भावनाहीन व्यवहार से उन्हें खेद हुआ, क्योंकि उनसे हम लोग मुक्तियुद्ध के दौरान अनेकानेक बार मिल चुके थे । पर उन्हें दोष देना बेकार है । स्थिति बदलने से व्यवहार का बदल जाना ही साधारण नियम है । इसके अपवाद को ही असाधारण मानना चाहिए।

इस बार बांगलादेश की यात्रा कितनी भिन्न थी। संकटों और खतरों के स्थान पर सौहार्दपूर्ण आतिथ्य हम लोगों की प्रतीक्षा कर रहा था। जनरल उस्मानी की ओर से ले. कर्नल मसूद भारतीजी का स्वागत करने के लिए हवाई अड्डे पर उपस्थित थे । उस समय तक बांगलादेश की सामान्य जनता में भारत और भारतीयों के प्रति असीम कृतज्ञता और आंतरिक सद्भावना थी, जो दुर्भाग्य से इधर राजनीतिक, आर्थिक कारणों से उतार पर है। ८ फरवरी की दोपहर से १३ फरवरी की सुबह तक हम लोग ढाका में रहे। शेख मुजीब, राष्ट्रपति अबू सईद चौधरी, जनरल उस्मानी, मौ. भसानी तथा अन्य बहुतेरे राजनेताओं, सैन्य अधिकारियों, बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, छात्रों एवं सामान्य जनों से मिले-जुले।

राजकीय आतिथ्य एवं सम्मान से प्रलुब्ध होकर राजनेताओं की चाटुकारिता करने की जो दुर्बलता बहुतों में होती है, भारतीजी में बिलकुल नहीं दिखी। शेख मुजीब की मानवीयता के प्रति वे सश्रद्ध थे तो बांगलादेश के राष्ट्रपति अबू सईद चौधरी की शालीनता के प्रति कृतज्ञ। अन्य मंत्रियों या सरकारी अधिकारियों से वे रस्मी तौर पर ही मिले। मुक्तिवाहिनी (अब बांगलादेश सैन्यवाहिनी) के बहुत से पुराने अधिकारियों विशेषतः जनरल उस्मानी, ले. कर्नल खालिद मुशर्रफ, कैप्टेन गफ्फार आदि की आत्मीयता ने उन्हें बहुत छुआ।

बंग भवन की शान-शौकत और विध्वस्त हिंदू अंचल शाँखारी पट्टी की विपन्नता को मिलाकर ही ढाका का चित्र पूरा होता है, ऐसी उनकी मान्यता थी। उनकी दुःसाहसी प्रकृति को इस बार चुनौती मीरपुर-मुहम्मदपुर में बसे बिहारी मुसलमानों की समस्या से ही मिली। ३० जनवरी, १९७२ को मीरपुर में प्रसिद्ध सिने निर्देशक जहीर रायहान की हत्या पाकिस्तान के प्रति निष्ठावान् बिहारी मुसलमानों के अर्ध सैनिक संगठन के सदस्यों द्वारा कर दी गई थी। उसकी जाँच-पड़ताल के लिए पुलिस की जो टुकड़ी गई थी, उसपर उन लोगों ने गोली चलाई थी। इसके बाद बांगलादेश की फौज ने मीरपुर का इलाका अपने कब्जे में कर लिया था। दस दिन हो गए थे, किन्तु वहाँ अभी पूर्णतः शांति स्थापित नहीं हुई थी। उस क्षेत्र में पत्रकारों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध था। भारतीजी ने जब जनरल उस्मानी से अनुरोध किया कि हम लोगों को मीरपुर में जाने की अनुमति दी जाए तो वे असमंजस में पड़ गए, बोले, 'आपके अनुरोध को टाल नहीं

सकता, किंतु एक-दो दिन रुक जाइए।' फौजी कार्यवाही के बाद मीरपुर में पहली बार जिन पत्र-प्रतिनिधियों ने १२ फरवरी को प्रवेश किया वे थे भारतीजी, शास्त्रीजी और बालकृष्णजी । मीरपुर के बिहारी बाशिंदों से हम लोगों ने खुलकर बातचीत की, सारा दिन उसी काम में होम दिया। शाम को बाँगला एकेडेमी में कवि सम्मेलन था, जिसमें हम लोग आमंत्रित थे । किंतु भारतीजी को लगा कि इस समस्या के विवेचन के सिलसिले में मीरपुर से गिरफ्तार किए गए पाकिस्तानी फौजियों तथा बिहारी मुसलमानों से मिलना जरूरी है । उसके लिए विशेष अनुमति प्राप्त कर हम लोग ढाका जेल गए। वहाँ रात के साढ़े आठ बज गए और कवि सम्मेलन गोल हो गया। मुझे अफ़सोस करते देख भारतीजी बोले, 'बिहारी मुसलमानों के सवाल को उठाकर पाकिस्तान दुनिया भर में बाँगलादेश को बदनाम करने की कोशिश कर रहा है। कविता सुनने-सुनाने की तुलना में इस समस्या के सही रूप को उजागर करना बाँगलादेश के मित्रों के लिए क्या अधिक महत्वपूर्ण नहीं होना चाहिए ?' मैं उनके संपादकीय कर्त्तव्य-बोध के समक्ष नतमस्तक हो गया। धर्मयुग के संपादक और कवि के द्वंद्व में सर्वत्र संपादक ही जीता हो, ऐसा भी नहीं है। कवि भारती ने बाँगलादेश की नई कविता के प्रति आंतरिक सद्भावना व्यक्त करने के लिए बेगम सूफिया कलाम और शमशुर्रहमान से मिलकर जमकर काव्य-चर्चा की, उनकी कविताएँ सुनीं, अपनी कविताएँ भी सुनाईं। मुझे मलाल इसी बात का रह गया कि ऐसे प्रसंग बहुत कम आ पाए।

ढाका के बाजारों की सैर में भी उन्होंने काफी रुचि दिखाई। मुझे तो ऐसा लगता है कि जहाँ जाओ वहां की कुछ विशिष्ट वस्तुएँ यादगार के रूप में घर के लिए खरीद लाओ, यह उनका सिद्धान्त बन गया है। महिलाओं के-से धैर्य और शौक के साथ जब वे ढाका की प्रसिद्ध साड़ियाँ देखते रहे तो पुष्पाजी के सौभाग्य को सराहे बिना मुझसे न रहा गया । बालकृष्णजी इस क्षेत्र में भी उनके सुयोग्य साथी निकले । मुझे तो ऐसे अवसर दंड जैसे ही लगते हैं। पर दोनों महानुभावों ने मिलकर मुझे भी मलमल का एक थान खरीदने के लिए विवश ही कर दिया।

बाँगलादेश के मुझपर बहुत से ऋण हैं। उनमें से एक यह भी है कि उसीके चलते सोलह-सत्रह दिन मैं भारतीजी के अहर्निश साहचर्य में रह सका। पुराना सामान्य परिचय कब और कैसे अंतरंगता में बदल गया, मुझे – और शायद उन्हें भी मालूम नहीं पड़ा। बाँगलादेश के खंड प्रलय से निराश हुए बिना जिंदगी की तलाश की उनकी आस्था ने बहुतों को बल ही नहीं दिया, उनकी इन पंक्तियों को सार्थक भी कर दिया–

प्रलय से निराशा तुझे हो गई ?
इसी ध्वंस में मूर्छिता हो कहीं
पड़ी हो, नई जिंदगी क्या पता ?
सृजन की थकन भूल जा देवता ! ●

ये सतत संघर्ष की घड़ियाँ अमर होंगी

'शेख मुजीबेर मुक्ति चाई'
'शेख मुजीब जिन्दाबाद ।'
'यहिया-भुट्टो भाई-भाई,
एक डोरी ते फाँसी चाई ।'
'दियेछि तो रक्त, आरो देबो रक्त'
'रक्तेर बदले रक्त चाई ।'

अग्निवर्षी नारे। कठोर संकल्प से सख्त हो गये चेहरे । बँधी मुट्ठियाँ, आँखों में उन्माद। धड़कते दिलों में आशंका...अपने लिए नहीं, शेख मुजीब के प्राणों के लिए। पाकिस्तानी दरिन्दों ने घोषणा की है कि शेख मुजीब पर फौजी अदालत में मुकदमा चलेगा। मुकदमा या न्याय का प्रहसन? दस लाख प्राणों की बलि से यहिया खाँ का पाक फौजी शासक गुट सन्तुष्ट नहीं हुआ है, उसकी नारकीय क्षुधा की तृप्ति के लिए साढ़े सात करोड़ बांगला देशवासियों के प्राणों के प्राण शेख मुजीब के प्राण चाहिए । जो व्यक्ति पाकिस्तान के पहले आम चुनाव में जनता के प्रचंड समर्थन से स्पष्ट बहुमत पाकर अपने देश के भावी प्रधान मंत्री के रूप में उभरा, वह तो हो गया गद्दार और जिस व्यक्ति को जनता द्वारा अस्वीकृत एवं तिरस्कृत अय्यूब खा ने षड्यंत्र करके अपने उत्तराधिकारी के रूप में तख्त पर बैठा दिया और जिसने स्वयं पाकिस्तान में लोकतंत्र का गला घोंट दिया, लाखों निरीह व्यक्तियों को गोलियों से भुनवा डाला, चंगेज, तैमूर और नादिरशाह के अत्याचारों को भी बौना बना दिया वही हो गया देश भक्ति का ठेकेदार । अंधे और बहरे भी ऐसा नहीं कह सकते पर शक्ति-सन्तुलन ही जिन बड़े राष्ट्रों के लिए एकमात्र नैतिक मूल्य है, स्वार्थ ने जिनके विवेक और न्याय बोध पर पर्दा डाल दिया है, उनके लिए यही सच है । लेकिन सरकारें ही सब कुछ नहीं हैं । पाकिस्तान और उसके लग्गू-भग्गू बड़े-छोटे देशों की सरकारें चाहे मुखर रूप से, चाहे मौन रूप से इस पाप की सहभागी भले बनें किन्तु बांगला देश की ही नहीं, सारी दुनिया

की विवेकशील जनता न्याय के नाम पर इस घृणित हत्याकांड का विरोध करने के लिए कटिबद्ध है। उसी का छोटा सा निदर्शन था वह विक्षोभ-प्रदर्शन जो बांगला देश के प्रवासी बुद्धिजीवियों द्वारा १३ अगस्त के पूर्वाह्न में बांगला देश मिशन के सामने आयोजित किया गया था, जिसमें रह-रह कर ऊपर लिखे नारे लगाये जा रहे थे।

x x x x

एक दिन पहले ही बन्धुवर गोविन्द प्रसाद केजरीवाल ने फोन किया था कि मैं साप्ताहिक हिन्दुस्तान की तरफ से बांगला देश की हकीकत को अपनी आँखों देखने आया हूँ, आप इसमें सहयोग दें। मैंने उन्हें इसी सभा में बुला लिया था। बांगला देश के प्रवासी प्राध्यापक, साहित्यकार, कलाकार बड़ी संख्या में जुटे थे। सहानुभूति और सक्रिय सहयोगिता के प्रमाण-स्वरूप कलकत्ते के भी बहुत से बुद्धिजीवी उपस्थित थे। नारों के बीच में गोविन्द जी से बांगला देश के विशिष्ट व्यक्तियों का परिचय करा रहा था, ये हैं डॉ. अजीजुर्रहमान मल्लिक, चटगाँव विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा बांगला देश के बुद्धिजीवी मुक्ति परिषद् के अध्यक्ष, ये हैं जहीर रायान, कथाकार और फिल्म डाइरेक्टर तथा बुद्धिजीवी मुक्ति परिषद् के मंत्री, ये गणेश दासगुप्त, प्रख्यात प्रगतिशील लेखक, ये विख्यात चित्रकार कमरुलहसन, ये प्राध्यापक अजय राय और ये....और....ये।

डॉ. मल्लिक की अध्यक्षता में सभा । भाषा के चमत्कार या व्याख्यानबाजी के लटके नहीं, दिल से निकली, दृढ़ निश्चय से ओत-प्रोत खरी-खरी सीधी बातें। साम्राज्यवादी ताकतों के सहारे भी याहिया खाँ बांगला देश को अपना उपनिवेश नहीं बना सकता, शेख मुजीब को यदि कुछ भी हुआ तो बांगला देश से एक भी पाकिस्तानी सिपाही जिन्दा वापस नहीं जा सकेगा, बांगला देश की आजादी की लड़ाई सफल होने तक चलती ही रहेगी, शेख मुजीब की मुक्ति के लिए, सुरक्षा के लिए दुनिया भर के न्यायप्रिय देशों से अपील। कलकत्ता विश्वविद्यालय बांगला देश सहायक समिति की तरफ से मैं भी बोला। मैंने यह आशा प्रकट की कि सारी दुनिया के बुद्धिजीवियों के अनुरूप ही पश्चिमी पाकिस्तान के बुद्धिजीवी भी न्याय के इस नाटक का और शेख मुजीब को मार डालने के इस षड्यंत्र का विरोध करेंगे।

सभा के बाद लम्बा जलूस। गोविन्द जी के साथ मैं भी उसमें शामिल हूँ। अमेरिकी, ब्रिटिश, रूसी कौंसुलेटों को ज्ञापन दिया जायेगा कि शेख मुजीब की प्राण रक्षा के लिए वे अपनी सरकारों को प्रेरित करें। अमेरिकी कौंसुलेट के सामने कैसा उग्र किन्तु अनुशासित प्रदर्शन, पाकिस्तानी हत्यारों को हथियारों और डालरों की मदद देने वाला अमेरिकी प्रशासन भी समानरूप से अपराधी है। बांगला देश का युवक नेता उमर बादशाह गरज रहा है, लोकतंत्रा का ध्वजाधारी अमेरिका लोकतंत्र विरोधी तानाशाह

याहिया का चाहे जितना समर्थन करे, बांगला देश की जाग्रत जनता को गुलाम नहीं बना सकता। अब भी समय है कि अमेरिका खूनी पाकिस्तानी सरकार को सहायता देना बन्द कर बांगला देश के प्रति न्याय करे। समवेत जन समूह का गगनभेदी क्रुद्ध स्वर निक्सन के कानों तक जरूर पहुँचा होगा।

X X X X

१४ अगस्त का पूर्वा । बांगला देश मिशन के प्रधान हुसेन अली साहब से बातचीत के दौरान गोविन्द जी पूछ बैठे, 'कहीं ऐसा तो नहीं है कि पाक फौजी शासकों ने मुजीब की हत्या कर दी हो और अब वे उस पर कानूनी पर्दा डालने के लिए मुकदमें का नाटक रच रहे हों?' उस मँजे हुए अकूटनीतिज्ञ ने कहा, यदि उन्होंने ऐसा किया है, तो यह पहले दर्जे का पागलपन है, चरम मूढ़ता है किन्तु मैं नहीं समझता कि उनके होशोहवास यहाँ तक गुम हो चुके हैं कि ऐसा आत्मघाती कदम वे उठायें। बांगला देश और पाकिस्तान के बीच शेख मुजीब आखिरी कड़ी है। उनको गोली मारना उस कड़ी को भी तोड़ देना है। उनकी लाश पर बेशुमार लाशों का अम्बार लग जायेगा। मुझे तो लगता है कि मुजीब पर मुकदमा चलाने की धमकी देकर वे हमें दबाना चाहते हैं, अपने मनोनुकूल समझौते के लिए। पर अब समझौता अगर हुआ तो हमारी शर्तों पर होगा क्योंकि यह तै है कि वे इस लड़ाई को जीत नहीं सकते। ४८ घंटों में बंगालियों को ठीक कर देने की धमकी देने वालों ने देख लिया है कि कई ४८ घंटों के बीत जाने के बावजूद बांगला देश के लिए लड़ाई तेज होती गयी है । ज्यों-ज्यों समय बीतता जाएगा, त्यों-त्यों यह और तेज होती जायेगी।

मैंने पूछा, "याहिया सरकार जो आज कल भारत के साथ खुले युद्ध की धमकी दे रही है, उसका रहस्या क्या है? क्या आप समझते हैं कि भारत रूस सन्धि के बावजूद पाक और भारत के बीच युद्ध छिड़ सकता है और यदि युद्ध छिड़ा तो उसका बांगला देश पर क्या असर होगा"?

पाक-भारत युद्ध की संभावना कम है। भारत रूस सन्धि के कारण यह खतरा और कम हुआ है। रूस से हुई सन्धि के फलस्वरूप भारत की शक्ति के बढ़ने से हमें प्रसन्नता है। रूस ने अंशतः हमारा भी समर्थन किया है जिसके लिए हम उसके कृतज्ञ हैं। मेरी मान्यता है कि पाक-भारत युद्ध से बांगला देश के 'कॉज' को क्षति पहुँचेगी क्योंकि उससे विश्व का ध्यान बांगला देश की ओर से हट कर पाक-भारत की समस्याओं पर केन्द्रित हो जायेगा तथा बड़ी शक्तियों को हस्तक्षेप करने का खुला मौका मिलेगा। पाक की ये धमकियाँ इस बात का प्रमाण है कि हमारी मुक्तिवाहिनी की गतिविधि प्रभावशाली होती जा रही है। पाकिस्तान भारत पर तभी हमला करेगा जब

वह देखेगा कि उसे नागरिक 'मुक्ति वाहिनी' के हाथों पराजित होना पड़ सकता है, तब शायद पाक फौजी जेनरल भारत के हाथों पराजित होकर अपनी नाक बचाना चाहे।

क्या आप समझते हैं कि मुक्तिवाहिनी की शक्ति इस सीमा तक बढ़ सकती है कि पाक को भारत से टकरा कर या बिना टकराये ही बांगला देश छोड़ देना पड़े?

"देखिये हम लोग लड़ रहे हैं। मुक्तिवाहिनी की हलचल प्रति दिन बढ़ रही है और उसके कारण दुश्मन संत्रस्त है किन्तु उसे अब भी बाहर से सैनिक तथा आर्थिक मदद मिल रही है, जिससे हमारा काम कठिन होता जा रहा है। सभी न्यायनिष्ठ व्यक्तियों और देशों को इस बात का प्रयास करना चाहिए कि पाकिस्तान को मिलने वाली फौजी मदद बन्द हो और बांगला देश की मुक्तिवाहिनी को अधिकाधिक मात्रा में शस्त्रास्त्र मिलें। हमारी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है किन्तु हमारे पास हथियारों की कमी है, खास कर भारी हथियारों की। हमारी प्रशिक्षण सुविधाएँ भी बहुत कम हैं। हम चाहते हैं कि हमारे इस अभाव की पूर्ति हमारे मित्र देश करें।"

"फौजी मोर्चे के अलावा सांस्कृतिक आर्थिक कूटनीतिक आदि अन्य मोर्चों पर भी तो आप की लड़ाई चल रही है । क्या आप उन क्षेत्रों में अपनी उपलब्धियों और सीमाओं की चर्चा करेंगे?"

"सांस्कृतिक क्षेत्र से ही तो हमें लड़ाई की सबसे बड़ी प्रेरणा मिलती रही है। पश्चिमी पाकिस्तानियों ने सबसे पहले हमारी संस्कृति पर ही तो आक्रमण किया था, हमारी भाषा को बदलने की चेष्टा द्वारा । हम कह सकते हैं कि पश्चिमी पाकिस्तान नेता हमारा सांस्कृतिक विपर्यय करने में पूर्णतः असफल रहे हैं।"

गोविन्द जी बीच में ही पूछ बैठे, "भाषा पर आप लोगों ने इतना ज्यादा....धर्म से भी ज्यादा जोर क्यों दिया है? आखिर पश्चिमी पाकिस्तान में भी तो कई भाषाएँ हैं, वहाँ तो भाषा को लेकर इतना विवाद नहीं हुआ।"

'क्योंकि हम लोग भाषा को संस्कृति का वाहन मानते हैं और फिर इसमें धर्म कहाँ बाधा पहुँचाता है? इस्लाम में किसी भाषा का निषेध नहीं है। अरबी भी तो हजरत मुहम्मद के पहले काफिरों की...मूर्तिपूजकों की भाषा थी। कुरान या हदीस में कहीं भी अपनी भाषा के माध्यम से अपने व्यक्तित्व या जातिगत चरित्र के प्रकाशन और विकास की मनाही नहीं है। जो लोग उर्दू को इस्लामी भाषा और बंगला को हिन्दू भाषा कहते या मानते हैं वे केवल अपनी अज्ञता का प्रमाण देते हैं या अपने किसी निहित स्वार्थ की पूर्ति चाहते हैं। जहाँ तक पश्चिमी पाकिस्तान का सवाल है, वहाँ भी कई भाषाएँ हैं 'पंजाबी, सिन्धी, बिलोची, पुश्तू आदि किन्तु वे इतनी विकसित नहीं हैं, उन इलाकों में पहले भी उर्दू के माध्यम से काम-काज होता था अतः उन्हें उर्दू पर इतनी आपत्ति नहीं हुई। हम लोगों के लिए उर्दू सर्वथा विदेशी भाषा है । यदि हम अपने ऊपर उर्दू का थोपा

जाना स्वीकार कर लेते या बंगला को अरबी लिपि एवं अप्रचलित अरबी-फारसी शब्दों की भरमार के द्वारा विकृत हो जाने देते, तो सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से बौने हो जाते । अतः हमने इसके खिलाफ जोरदार संग्राम किया और पश्चिम पाकिस्तानियों की कूट योजना को व्यर्थ कर दिया। पश्चिमी पाकिस्तान में भी सिन्धी और पुश्तू भाषा-भाषी अपनी भाषा और संस्कृति के लिए लड़ ही रहे हैं। पश्चिमी पाकिस्तानी भले ही फौजी ताकत के कारण कुछ दिनों तक बांगला देश पर कब्जा किये रहें किन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र में वे सर्वथा असफल रहे हैं और रहेंगे।"

'आर्थिक, कूटनीतिक मोर्चों पर आप लोग क्या कर रहे हैं और क्या करना चाहते हैं?'

'आर्थिक मोर्चे पर पाकिस्तानी सरकार डगमगा गयी है। विदेशी मुद्रा के प्रमुख अर्जक हम लोग ही थे । इस लड़ाई के कारण और हमारी गुरिल्ला रणनीति के फलस्वरूप बांगला देश का उद्योग-धन्धा करीब-करीब ठप है। चाय का उत्पादन बिलकुल रुक गया है और जूट की फैक्टरियाँ बहुत मुश्किल से पहले की तुलना में दस प्रतिशत काम कर पा रही हैं। पाट की फसल काटी ही नहीं गयी है, जो फसल कटी भी है, उसे फैक्टरियों तक हम लोग यथा संभव पहुँचने नहीं देते । पश्चिमी पाकिस्तान के तैयार माल की खपत हम लोगों के यहाँ बहुत कम हो गयी है। ऐसी हालत में यदि बाहरी सहायता न मिले तो पाकिस्तान अपने बोझ से ही चरमरा जायेगा किन्तु बड़े देशों के निजी स्वार्थों की टकराहट के कारण हो सकता है कि पाक को कुछ विदेशी मदद मिलती रहे। वैसे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि के स्तर पर पाकिस्तान की साख बहुत गिर गई है। पाकिस्तान दीवालिया होता जा रहा है इसमें कोई सन्देह नहीं है। हम लोगों की जनता को भी घोर आर्थिक कष्ट सहना पड़ रहा है और पड़ेगा, अकाल पड़ने की भी आशंका है किन्तु फिर भी कुल मिलाकर यह स्थिति हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई के अनुकूल है।'

कूटनीतिक स्तर पर हमारी सबसे बड़ी सीमा यह है कि अभी तक हमें किसी भी देश ने मान्यता नहीं दी है। यह विचित्र स्थिति है कि अधिकांश देशों की जनता हमारे साथ है पर अभी तक किसी भी देश की सरकार ने हमें मान्यता नहीं दी। हमारा विश्वास है कि भारत यदि इस दिशा में पहल करे, तो हमें और देशों की भी मान्यता मिलेगी। पाकिस्तान की विदेश सेवा के बंगाली अधिकारी क्रमशः हमारी तरफ होते जा रहे हैं, इससे दुनिया के देशों के सामने यह स्पष्ट है कि बांगला देश की स्थिति पाक के दावे के अनुसार सामान्य कतई नहीं हुई है, बल्कि स्वतंत्रता संग्राम और ज्यादा जोर पकड़ता जा रहा है। हमें विश्वास है कि जैसे-जैसे हमारी मुक्तिवाहिनी सफल होती जाएगी वैसे-वैसे हमें कूटनीतिक सफलता भी मिलती जायेगी।

गोविन्द जी ने विस्थापितों की वापसी के बारे में पूछा तो वे बोले - 'स्वाधीन बांगला देश अपनी सभी सन्तानों को अपनी भूमि में लौट कर सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की पूरी सुविधा देगा । हम अपने देशवासियों को भारत का बोझ नहीं बनने देंगे।'

भारत सरकार, भारतीय जनता और विशेषतः बुद्धिजीवियों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्होंने गोविन्द जी के माध्यम से भारतीय पत्रकारों और पत्रों से जोरदार अपील की कि आप लोग जनमत को इस प्रकार प्रशिक्षित करें कि बांगला देश को शीघ्रातिशीघ्र मान्यता प्राप्त हो। हम अपनी लड़ाई स्वयं लड़ेंगे किन्तु मित्र देशों विशेषतः भारत से हमें बहुत अपेक्षाएँ हैं। अन्तिम विजय की घड़ी नजदीक आये, खून कम बहे, ध्वंस के स्थान पर निर्माण का राग जल्दी गूँजे, इन सबके लिए आप लोगों की पूरी सहायता आवश्यक है।' मित्रता और सहयोग से भरे हाथ मिले और 'जय बांगला' के अभिवादन के साथ हम लोग बिदा हुए।

x x x x

१५ अगस्त...स्वतंत्रता दिवस । मैंने और गोविन्द जी ने तै किया कि इस बार स्वतंत्रता दिवस का हम लोग पालन करेंगे अपने पड़ोसी बांगला देश के स्वतंत्रता युद्ध के साक्षी बनकर। सुप्रसिद्ध सेवा संस्था मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के सहयोग से विस्थापित शिविरों के परिदर्शन की व्यवस्था सहज ही हो गयी। सोसाइटी के तत्वावधान में बशीरहाट अंचल के दस शिविरों में खाद्यान्न वितरण का कार्य चल रहा है। उसके कार्यकर्ता श्री वासुदेव थरड़ एवं श्री बजरंगलाल सोमानी अपने वितरण केन्द्रों की देख-रेख के लिए जा ही रहे थे, हम लोगों को भी अपने साथ उत्साहपूर्वक ले चले। सन्मार्ग के श्री वासुदेव उपाध्याय भी अपनी टोली में थे । इस बार अन्य वर्षों की तुलना में कलकत्ते में राष्ट्रीय ध्वज अधिक संख्या में लहरा रहे थे। मानिक तल्ला, बेलियाघाटा जैसे राजनीतिक संघर्ष के लिए विख्यात अंचलों में भी तिरंगों की शोभा देख कर मन पुलकित हुआ । इसे इन्दिरा जी का करिश्मा ही मानना चाहिए।

दमदम हवाई अड्डे के पास से ही विस्थापित शिविरों की पाँत शुरू हो जाती है। बीच-बीच में सड़क के दोनों ओर विस्थापितों ने मिट्टी, बाँस और पत्तों को बटोर कर अपनी झोपड़ियाँ बना ली हैं । धानखेतों की नीची जमीन में पानी जमने के कारण सड़क के किनारों की ऊँची जमीन को ही आवास भूमि बनाने की चेष्टा समझ में तो आती है पर इससे यानवाहनों का यातायात जरा खतरनाक हो गया है क्योंकि लड़के प्रायः सड़क पर ही खेलते रहते हैं। इन शिविरों में या झोपड़ियों में रहने वाले अधिकतर खेतिहर, मजदूर या विपन्न किसान ही लगते हैं। पहले भी उनके पास बहुत

कम था अब तो प्रायः सब कुछ खो कर ये लोग भारत आये हैं। जीवन-यापन के लिए पूर्णतः औरों की सहायता पर निर्भर इस विशाल मानव समूह को कैसे बसाया जा सकेगा....कब तक इन्हें अपने देश से बाहर रहना पड़ेगा...कब तक....?

x x x x

बसीरहाट के अन्तर्गत गोलपुकुर विस्थापित शिविर। शिविर अधिकारी मधुसूदन पाल के अनुसार ५०० से कुछ ऊपर परिवार। तम्बुओं का अच्छा खासा गाँव। हम लोगों को चारों तरफ से विस्थापितों ने घेर लिया है। ज्यादातर बच्चे और बूढ़े हैं। नौजवान स्त्री-पुरुष की संख्या बहुत कम है। १५ से २५ वर्ष के भीतर की नवयुवती एक भी नहीं दिखी। उनकी अनुपस्थिति जिस बर्बर अत्याचार की द्योतिका थी, उसकी सहज कल्पना की जा सकती है। अभाव....और अभाव....और अभाव। शिकायतें...और शिकायतें....और शिकायतें । सरकार बहुत कुछ कर रही है, फिर भी यह तो सपष्ट था ही कि बरसात के दिनों में नीची जमीन में लगे तम्बुओं में जिन्दगी बसर करने वालों को कितना कष्ट था। 'यह चीज कम मिलती है,' 'वह चीज चाहिए' का जनरव, 'काम दीजिये' की माँग। दूसरी तरफ शिविर के अधिकारियों की भी शिकायत कि कार्यक्षम लोग भी आगे बढ़ कर शिविर सम्बन्धी काम-काज में सहयोग देना नहीं चाहते। वहाँ जो जवान या प्रौढ़ विस्थापित थे, मैंने उनसे कहा कि आप लोगों को शिविर में सफाई बनाये रखने का, पानी बरसने के कारण शिविर के रास्तों में हुए कीचड़ को मिट्टी से भर देने का, छोटे बच्चों को पढ़ाने का काम तो अपने ऊपर लेना ही चाहिए। वे बगलें झाँकने लगे। मुझे लगा कि व्यवस्थापकों को ऐसी योजना जरूर बनानी चाहिए कि शिविरवासियों को अपने शिविर की जिम्मेदारियाँ एक हद तक खुद उठानी पड़ें अन्यथा उनकी रचनात्मक शक्तियाँ कुण्ठित होती जायेंगी। श्री मधुसूदन पाल और उनके सहयोगियों को मेरा यह रूख पसन्द आया।

उस कष्ट और संकट के समय भी नंगधड़ंग बच्चों की टोलियाँ इधर-उधर खेल रही थीं। वे हंस भी रहे थे और शिविर कार्यालय से स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर प्रसारित गीतों को बड़े चाव से सुन भी रहे थे। वर्तमान के दुःख से एक हद तक अप्रभावित, भविष्य से बेखबर इन बच्चों का क्या होगा ? अभाव की ज्वाला में झुलस कर क्या क्रमशः ये असामाजिक तत्वों में बदलते जायेंगे? मेरी विचारधारा आगे नहीं बढ़ सकी क्योंकि सोमानी जी पुकार कर कहे चले जा रहे थे कि एक ही शिविर में इतनी देर लगा देने से आप लोग सर्वेक्षण कैसे कर सकेंगे ?

x x x x

खाद्यान्न वितरण केन्द्र। खपरैल की छत वाला एक बड़ा सा अहाता । चारों तरफ के रास्तों में कीचड़....जूते समेत पैर डूब जाने वाला कीचड़ । बीस-बीस हजार

लोग उसी कीचड़ में कतार से खड़े-खड़े वर्षा में भींगते हुए दिन-दिन भर प्रतीक्षा करते रहते हैं कि उनकी बारी आये तो परिवार के लिए सप्ताह भर का चावल, दाल, आलू, प्याज मसाला लें। राशन सरकार की ओर से दिया जाता है किन्तु वितरण की व्यवस्था सोसाइटी के कार्यकर्ता करते हैं। उनके धैर्य, संवाभाव और परिश्रम की जितनी सराहना की जाये, कम है। बहुत अपर्याप्त साधनों के बावजूद वे इस बड़े काम की जिम्मेदारी सम्हाले हुए हैं। फिर भी मुझे लगा कि यदि छोटे-छोटे कई वितरण केन्द्र हों तथा दो से छः व्यक्तियों तक के परिवारों के लिए साप्ताहिक राशन का अलग-अलग पैकेट हो तो प्रतीक्षा की अवधि कम की जा सकती है। यह ठीक है कि इसका अर्थ कुछ अधिक व्यय, कुछ अधिक कार्यकर्ता, कुछ अधिक परिश्रम होगा किन्तु हजारों व्यक्तियों को घंटों लाइन में खड़े रहने के अभिशाप से मुक्ति भी तो मिलेगी। मैं तो सुझाव ही दे सकता हूँ, साधन मुहैया कराना मेरे वश की बात नहीं है। फिर भी इस अमानुषिक प्रतीक्षा और यातना को कम करने के लिए कुछ जरूर करना चाहिए।

विस्थापित शिविर....वितरण केन्द्र.....गुदाम। करीब-करीब एक ही जैसी स्थिति की बार-बार पुनरावृत्ति । शाम घिरती आ रही थी। हम लोगों को.....विशेषतः गोविन्द जी को और मुझको लगा कि बंगला देश के सीमान्त तक पहुँच कर मुक्तियोद्धाओं से मिले बिना लौटना अपराध होगा। साथियों में कुछ संकोच था लेकिन हमलोगों का उत्साह संक्रामक सिद्ध हुआ। स्थानीय कार्यकर्ताओं का सम्पर्क सूत्र तो था ही, कुछ संकेत सूत्र मैं कलकत्ते के मित्रों से भी लाया था। गाड़ियाँ पक्के रास्ते पर छोड़ दी गयीं। एक जीप में ही हमलोग किसी प्रकार धँसे। वर्षा ऋतु में बंगाल के कच्चे रास्ते। जीप भी कई जगह फँसी। हम लोगों को बीच-बीच में उतरना पड़ा पर अन्ततोगत्वा हम लोग गन्तव्य तक पहुँच ही गये।

x x x x

बांगला देश का मुक्त क्षेत्र । सामने का वह शिविर तो कुछ निराला ही लगता है। छोटे-छोटे तम्बू पर करीने से लगे हुए। गंभीर वातावरण। राइफल लिए तैनात संतरी। जीप को कुछ दूर पर ही रोक कर हम लोग उतरे। आगे-आगे चल रहा था वह मित्र पथ-प्रदर्शक जो उन लोगों से भली-भाँति परिचित था। हम लोगों के आने की सूचना कैप्टेन को दी गयी। गोविन्द जी ने वर्मा से कहा कि इन तम्बुओं का चित्र ले लो। सन्तरी जानता था कि हम मित्र हैं, फिर भी निषेध कर रहा था, पर वर्मा ने झट से 'क्लिक' कर ही दिया।

'बांगला देश के मुक्त क्षेत्र में मैं आप लोगों का स्वागत करता हूँ।' कैप्टेन मुहम्मद शफीकुल्ला के स्वर में सौहार्द्र था। लुंगी पर गंजी पहिन कैप्टन हम लोगों के आने की खबर पाकर सहज भाव से उसी वेश में अपने तम्बू से बाहर आ गये थे।

उनके हाथ में एक बड़ा सा बन्द छुरा था और उनके पीछे थे तीन-चार राइफल धारी मुक्ति सैनिक।

इसे संयोग ही कहा जायेगा कि कैप्टन शफीकुल्ला मेरे मित्र डॉ. अनीसुज्जमान के छात्र निकले। परिचय की प्राथमिकता से उनका जो स्वर ध्वनित हुआ था, उससे यही लगा था कि कैप्टेन हम लोगों को तुरन्त विदा कर देने वाले हैं क्योंकि यह क्षेत्र उभय पक्ष की सैनिक गतिविधियों के कारण उन्हीं की भाषा में 'काफी गर्म' था। अतः हम लोगों का अधिक देर वहाँ रहना उन्हें पसन्द नहीं था। पर मेरे और गोविन्द जी के सिर पर तो जनून सवार था। हम लोग चाहते थे युद्ध क्षेत्र की अग्रिम पंक्ति तक जाना और जोती हुई चौकियों को देखना। डॉ. अनीसुज्जमान तथा बांगला देश के अन्य अधिकारियों और बुद्धिजीवियों के सम्बन्ध में सवाल-जवाब कर जब कैप्टेन की दिलजमई हो गयी तो वे मुस्कुराकर बोले 'यहाँ मैं आपको ले चल सकता हूँ । कोई खास खतरा तो नहीं है पर दोनों ओर से गोलियाँ तो चल ही रही हैं और अँधेरा हो चला है, आप लोग समझ लीजिए।' कुछ लोग हिचके। मैंने गोविन्द जी की ओर देखा, वे दृढ़प्रतिज्ञ दिखे। मैंने कहा जिन्हें रुकना हो वे रुकें, गोविन्द जी के साथ मैं तो अवश्य जाऊँगा और लो एक-एक कर सब राजी हो गये। कीचड़ भरी पगडंडी पर पैदल अभियान। रास्ते में पड़ी सोनाई नदी। बहुत चौड़ी तो नहीं लेकिन बहुत पतली भी नहीं। मुक्तिवाहिनी के पास सिर्फ एक डोंगी थी। छः-सात तो हमीं लोग थे, कैप्टेन के साथ चार सैनिक भी थे। नाव बहुत हल्की थी और जरा सा हिलते-डुलते ही डगमगा उठती थी। दो खेवे में हम लोग पार हुए। घाट न इस ओर था, न उस ओर। फिसलनदार कगार पर चढ़ना छरहरे शरीर वालों के लिए मुश्किल था किन्तु गोविन्द जी के बनारसी संस्कारों को क्या कहिए कि एक हाथ में कलकत्ते से लाये पानों से भरा ठोंगा लिए वे अपने दुहरे शरीर को किसी प्रकार सन्तुलित कर फिसलते-फिसलते भी ऊपर चढ़े आ रहे थे। बिना पान जमाये और घुलाये बनारसी को स्वर्ग में भी रस नहीं आ सकता, यह तो बांगला देश ही था।

हम लोग बांगला देश के अन्तर्गत खुलना जिला के बादली गाँव से गुजर रहे थे। कच्चे घर, छोटी सी मसजिद, एक-दो आधे पक्के घर। किसी-किसी में एक-दो पुरुष दिखे। महिला एक भी नहीं। चलते-चलते कैप्टेन एक जगह ठिठक गये। बाँसों के झुरमुट के नीचे दो कब्रें बनी हुई थीं। कल ही दो जवान शहीद हुए थे, मुहम्मद मूसा और अब्दुस्सत्तार दोनों वहीं विश्राम कर रहे थे। हम लोगों ने उन्हें नमस्कार किया। हरा-भरा उन्मुक्त शस्यश्यामल अंचल शहीदों के रक्त से रंग उठा है। मुझे भाई काली चरण गुप्त की पंक्ति याद हो आई 'धानी चूनर वाली धरती, जवाकुसुम सी लाल हो गयी ।' दस

लाख से ऊपर बांगला देशवासियों की हत्या पाकिस्तानी कर चुके हैं.....इतना खून बहाकर पाकिस्तानी बर्बरों ने बांगला देश की धरती को लाल कर दिया है किन्तु बंजर भी बना देना चाहा है। मुक्तिवाहिनी के सैनिकों का रक्त उसे उर्वर बना रहा है, उसमें जवाकुसुम और गन्धराज खिला रहा है। यह बलिदान व्यर्थ नहीं जा सकता।

x x x x

तड़तड़ तड़ तड़ तड़ तड़....मशीन गन से गोलियाँ छूट रही हैं। दुश्मन तीन मील दूर है। पाँच अगस्त को दुश्मन की काकडाँगा चौकी पर मुक्तिवाहिनी ने कब्जा कर लिया था। दुश्मन पीछे हट कर मोर्चे बन्दी कर जमा हुआ है। मुक्तिवाहिनी के सैनिक उन लोगों को चैन से नहीं रहने देने के इरादे से गोलियाँ चलाते रहते हैं। उधर से भी गोलियाँ छूटती रहती हैं। कैप्टेन रह-रह कर बताते हैं कि यह आवाज दुश्मन की चीनी राइफल या मशीनगन की है।

एक छोटी सी पुलिया। मुक्तिवाहिनी के छः जवान उसकी रक्षा के लिए तैनात थे। पुलिया के बराबर ही ऊँची सड़क की आड़ लेते हुए उन्होंने अपना मोर्चा बाँध रखा था। कैप्टेन ने बताया कि इस सड़क पर कब्जा कर लेने के कारण सीमावर्ती क्षेत्र में पाकिस्तानी यातायात को हम लोगों ने ठप सा कर दिया है। मानसून के कारण पाकिस्तानी फौजें आत्मरक्षात्मक युद्ध कर रही हैं। इस समय यदि हमारे पास भारी हथियार होते तो हम उन्हें और भीतर ठेल दे सकते थे। आज ही मार्टर से गोलाबारी कर हमने उनके नौ जवानों को खत्म कर दिया है, गनर एस. ए. हामिद और हवलदार जलाल से कैप्टेन ने हम लोगों को मिलाया जिनके कारण दुश्मन को यह चोट पहुँचाना संभव हो पाया था।

और आगे एक स्थान पर खाइयाँ खोद कर आठ-दस जवान जमे हुए थे। जवानों का उत्साह और मनोबल प्रशंसनीय था। वे शत्रु से जूझने के लिए बेताब थे...खास कर वे जो मुक्तिवाहिनी में भर्ती होने के पहले विद्यार्थी थे। वे अपने केन्द्रीय नेतृत्व की संयत छापामार नीति को और उग्र बनाना चाहते थे। कैप्टेन ने उनको थपथपाया, धीरज बँधाया। हम लोगों से बातचीत कर मुक्ति सैनिक बहुत प्रसन्न हुए। भारतीय जनता की सहानुभूति के लिए वे बहुत कृतज्ञ थे।

पिछली बार जब बांगला देश के मुक्तियोद्धाओं के बीच गया था तब तैयारी ही चल रही थी और इक्के-दुक्के छापे मारे जा रहे थे। अब तो पूरे जोश से लड़ाई चल रही है। यह ठीक है कि मुक्तिवाहिनी अपनी गतिशीलता को बहुत बढ़ा दे सकती है पर उसके लिए और बहुत से साधन चाहिए। केवल राइफल, मशीनगन, मार्टर के सहारे तो बड़ी लड़ाई नहीं जीती जा सकती। जो जवान नाले के पास या खाई में थे उनको

मच्छरों से बचाने वाला 'मास्क्विटोरिपेलेंट' तेल तक मयस्सर नहीं था । कैप्टेन ने बड़ी हसरत से कहा यदि मेरे पास 'शार्टरेंज कम्यूनिकेशन' के लिए वायरलेस सेट होते तो कई जानें बच सकती थीं, काम और शुचारू रूप से चल सकता था, पर खैर....जो है, उसी से हम लोग लड़ेंगे और अल्लाह की मेहरबानी से जरूर जीतेंगे।

अपने देश के स्वतंत्रता दिवस पर पड़ोसी मित्र देश की स्वतंत्रता की लड़ाई में विजय की कामना करना हमारा कर्तव्य था, हमलोगों ने जोरों से नारा लगाया, जय बांगला, जवानों ने दुहराया 'जय बांगाला'। रणक्षेत्र में खड़े हो कर विजय की कामना करने वाले कितने प्रिय होते हैं? कैप्टेन ने मुझे गले से लगा लिया।

भादों की कृष्णा दशमी थी। चारों ओर घना अँधेरा छा गया था। केवल दो टॉर्चे थीं कैप्टेन की टोली के साथ। हमलोगों को दो घंटे से ऊपर हो चुके थे वहाँ। कैप्टेन ने लौटने का आग्रह किया। हम लोगों के साथ छायाकार वर्मा थे ही। कुछ चित्र उतरे। कैप्टेन ने कहा चित्र लेने हों तो जवानों के ही लें, मैं अपना चित्र नहीं उतरवाना चाहता। पर हम लोग नहीं माने।

लौटते समय मन पुलकित भी था और भारी भी। स्वतंत्रता के संघर्ष की झलक देख कर हम लोग लौट रहे थे। सैनिकों का साथ था। उनका दृढ़ संकल्प हम लोगों को स्पन्दित कर रहा था। पर उनमें से कितने इस संग्राम की सफलता देखने के लिए जीवित बचेंगे, यह विचार मन को उदास किये दे रहा था। सोनाई नदी आयी, पहले खेवे में औरों को भेज कर मैं कैप्टेन के साथ रुक गया। बाँस का झाड़, अँधेरे में चमकने वाले जुगनू और घनी शान्ति जो गोलियों की आवाज से भंग होती थी। मैंने कैप्टेन से पूछा 'कैसा मनोबल है आपके जवानों का'। वे बोले, 'आपने देखा ही है कल हमारे दो साथी मारे गये हैं पर क्या कातरता अथवा घबराहट का कोई लक्षण हम लोगों में आपको दिखा? हमें उनकी मृत्यु का शोक है किन्तु पश्चात्ताप नहीं, हम उनका प्रतिशोध लेने और देश को मुक्त करने के लिए कटिबद्ध हैं।' मुझे रोमांच हो आया।

अचानक मुझे अपने देश के स्वतंत्रता संग्राम की एक प्रेरक कविता याद हो आयी, 'ये सतत संघर्ष की घड़ियाँ अमर होंगी'। कवि का नाम मैं भूल रहा हूँ शायद पर रचना श्री रामकुमार चुतर्वेदी की है । मैंने कविता सुनाई तो कैप्टेन ने स्नेह के साथ मेरा हाथ पकड़ कर जोरों से दबा दिया । कविता का एक छन्द उद्धृत कर दूँ—

दीप होते हैं कि जो बुझते हिलोरों से
तुम लपट हो और फैलोगे झकोरों से,
ये तुम्हारे क्रान्ति डमरू के गमकते स्वर
भस्म कर देंगे तमिस्रा गूँज कर घर-घर ।
रच रही जो पृष्ठ भू नव सृष्टि की प्रतिपल

ये प्रलय की दीप्त फुलझड़ियाँ अमर होंगी ।

ये सतत संघर्ष की घड़ियाँ अमर होंगी ।।

चारों तरफ तमिस्रा का अँधियारा था। कैप्टेन शफीकुल्ला और उनके जवान और उनके हजारों साथी तमिस्रा से जूझ रहे हैं...अन्तिम जीत प्रकाश की ही होगी अन्धकार की नहीं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

x x x x

सोनाई नदी की धारा में छपाछप डांड़ चलने की आवाज निस्तब्धता को गहरा ही बना रही थी। गनर हमीद, पूर्व बंगाल का नाविक ऐसे में चुप नहीं रह सका। मल्लियाली की स्वर लहरी गूँजी—

ओ के कादे रे नदीर किनाराय

आउला चुल बातासे ओड़े, घोमटा नेंइ माथाय।

तो जीवन इस विषम परिस्थिति में भी बिलकुल रसहीन नहीं हो गया है। हमीद गा रहा है, नदी के किनारे वह कौन रो रही है ? उसके खुले हुए बाल हवा में उड़ रहे हैं, मुँह पर घूँघट भी नहीं रह गया है। यह गीत तो शायद किसी वियोगी ने अपनी विरणिही प्रिया को लक्ष्य कर लिखा होगा किन्तु आज की परिस्थिति में प्रतीकात्मक रूप से यह 'बांगला माता' के ऊपर कितना लागू होता है। अपनी सन्तानों के दुःख कष्ट से संतप्त 'बांगला माता' नदी के किनारे ही नहीं सारे देश में रो रही है, बर्बरों ने लूटकर उसे श्रीहीन कर दिया है, उसकी मर्यादा का आवरण भी उसके मुख पर नहीं रहने दिया है।

उसी के विपण्ण मुख पर प्रसन्नता की आभा लाने के लिए, उसी के क्रन्दन को मधुहास में बदल देने के लिए ही तो यह संग्राम है । कैप्टेन और उसके साथियों से बिदा लेते समय मेरे मन में एक ही बात गूँज रही थी 'ये सतत संघर्ष की घड़ियाँ अमर होंगी।' ●

मगर हिमपात को देती चुनौती एक तरुमाला*

तड़-तड़, तड़-तड़, तड़-तड़....., तड़-तड़, तड़-तड़, तड़-तड़.....

गोलियाँ चला रहे थे आतंकवादी भारतीय जनता पार्टी की एकता यात्रा को विफल करने के मंसूबे से ..... उनको मुँह तोड़ जवाब दे रहे थे देश की अखण्डता को अक्षुण्ण रखने के लिए तैनात हमारे बहादुर जवान, हमारे आगमन से उत्फुल्ल होकर और भी अधिक दृढ़ संकल्प के साथ।

२५ जनवरी, १९९२ का अपराह्न! कुहासे से ढका भारत के मुकुट कश्मीर का आकाश। सीमा सुरक्षा बल का पंथा चौक स्थित शिविर। हमलोग श्रीनगर के हवाई अड्डे से वहाँ पहुँचे ही थे कि हमारे स्वागत में गोलियाँ दगनी शुरू हो गईं। मित्रों ने सच ही कहा था कि हवाई अड्डे पर लोगों के उतरने के साथ-साथ आतंकवादियों को खबर हो जाती है कि आज कौन-कौन श्रीनगर आया है। तो ये लोग हमें धमका रहे थे कि कल लाल चौक में तिरंगा झण्डा नहीं फहराने देंगे। मेरे मुंह से बेसाख्ता शिव ओम अम्बर की पंक्तियाँ फूटीं—

कुहासा आसमां पे छा रहा है, होश में आओ!
अँधेरा धूप को धमका रहा है, होश में आओ!!

पर कहाँ होश में आते हैं छद्म सेकुलरवादी पार्टियों के नेतागण! वे अपना बेसुरा राग गाहे-बेगाहे अलापते ही रहते हैं कि कश्मीर समस्या का समाधान करने के लिए राजनीतिक प्रक्रिया शुरू करनी चाहिए, जिससे उनका अभिप्राय होता है कि उन्हीं बेईमान, कायर और भ्रष्ट नेताओं के हाथ फिर कश्मीर की सत्ता सौंप देनी चाहिए जो अपनी काली छाया में एक तरफ आतंकवाद को पनपने की पूरी छूट देते रहे, दूसरी तरफ केन्द्रीय सत्ता को दुहते और डराते रहे कि यदि उनकी मनमानी मांगें पूरी नहीं की जाती रहीं तो कश्मीर भारत से अलग हो जाएगा। इन सेकुलरवादियों को यह भी नहीं सूझता कि विस्फोट के समय ये तथाकथित नेता दिल्ली या लंदन की सुरक्षित

* *संदर्भ : एकता-यात्रा, २६ जनवरी १९९२*

शरणस्थली में विहार करते रहते हैं, और आतंकवादियों की गोलियों से जूझते रहते जवानों को गालियाँ देते रहते हैं।

जब तक पाकिस्तानी आतंकवादी पूर्णतः पराजित नहीं हो जाते, तब तक राजनीतिक प्रक्रिया शुरू करने का कोई तुक ही नहीं है। फिर पुराने भ्रष्ट नेताओं को ऊपर से थोपना तो आत्मघाती होगा। नए निष्पक्ष चुनाव में जो लोग भी चुनकर आएँ और भारत के प्रति निष्ठावन हों, उन्हें कश्मीर के शासन की बागडोर सौंपी जानी चाहिए।

पी० यू० सी० एल० के उन स्वयंभू न्यायवादियों को क्या कहा जाए, जिन्हें आतंकवादियों के निर्दोष शिकारों के परिवारों की पीड़ा छूती तक नहीं, किन्तु जो सहस्राक्ष होकर वे सब घटनाएँ भी देख लेते हैं, जो घटी ही नहीं होतीं या तिल को ताड़ बनाकर अपनी एकता की रिपोर्ट पेश कर हमारे सैनिकों एवं प्रशासकों को बदनाम करते रहते हैं। काश, वे समझ पाते कि शल्य की तरह भारतीय सैनिकों और केन्द्रीय नेताओं के मनोबल को तोड़ने का उनका यह दुष्प्रयास केवल आतंकवादियों की दुरभिसन्धि को मजबूत बनाता है। पर नहीं, उनसे ऐसी समझदारी की अपेक्षा करना, अपने आपको धोखा देना है। कहीं जागे रहकर भी सोने का बहाना करने वालों को जगाया जा सकता है। इसीलिए तो एकता यात्रा के द्वारा उन्हें नहीं, देश की जनता को जगाने का निर्णय किया गया।

स्थिति संगीन है, यह तो मानकर ही हमलोग चले थे किन्तु कितनी संगीन है, इसका थोड़ा सा आभास हवाई अड्डे से हमलोगों को लेने आई सुरक्षाबल की बस पर बैठते ही मिला। हमें सुरक्षा अधिकारी द्वारा पहली सूचना यह दी गई कि रास्ते में हम पर गोलियाँ चल सकती हैं, उस स्थिति में हमें बस में ही लेट जाना चाहिए, न उतरने की चेष्टा करनी चाहिए, न बाहर झाँकने की। जवाबी कार्रवाई जवान ही करेंगे। हम और मजबूती के साथ अपने गन्तव्य की ओर चले एवं प्रभु कृपा से निर्विघ्न अपने पड़ाव पर पहुँच गए।

प्रफुल्ल सैनिक

हवाई अड्डे पर, रास्ते में और उस शिविर में दिखने और मिलने वाले सभी जवान हमलोगों के आने से खुशी से छलक पड़ रहे थे। उनकी आँखों की चमक से यह तथ्य प्रमाणित होता था कि हमारी एकता यात्रा ने उनके अन्तरतम को बहुत गहराई से छुआ है। सारा देश उनके साथ है, उनके बलिदानों के लिए कृतज्ञ है, यह बोध उनके हौसले को और बुलन्द कर रहा था।

जवानों ने हमें गर्मा-गर्म चाय पिलाई, गरम-गरम स्वादिष्ट समोसे खिलाए।

हमलोगों की देख-रेख करने वाले अधिकारियों की आत्मीयता और शालीनता हमें छू गई। सर्दी तो थी, पर असह्य नहीं। अधिकारियों ने हमें इस बात की छूट दे दी कि हमलोग शिविर की सीमा के भीतर घूम फिर लें। इससे न केवल हमलोगों की चहलकदमी करने की इच्छा पूरी हुई, बल्कि जवानों, अधिकारियों और उनके परिवारों से मुक्तभाव से मिलने और बातें करने का सुयोग भी मिला। कई मित्रों के साझे अनुभवों के आधार पर कह सकता हूँ कि हमारे आने से उनका मनोबल बढ़ा। उन्हें लगा कि देशवासियों को भी उनकी चिन्ता है। बहनों ने आग्रहपूर्वक हमें चाय पिलाई, मिठाइयाँ खिलाईं। उन्होंने बताया कि दो वर्षों से वे अपने-अपने आवासों में ही कैद सी हैं। बच्चों के विद्यालय बन्द हैं। प्रायः प्रतिदिन घटने वाली हिंसात्मक घटनाओं के कारण वे सतत तनाव में रहती हैं। पुरुषों के काम पर जाने के बाद भरोसा नहीं रहता कि वे लोग सही सलामत घर लौट आएंगे। उस वेदना में कर्त्तव्य की सहज स्वीकृति भी निहित थी। जवानों की सबसे बड़ी व्यथा यही थी कि पाकिस्तानी गुर्गों से निपटने में समर्थ होने पर भी हुकूमत की नरमी कई बार बिना रीढ़ की हड्डी जैसी लगने लगती है। अपने अनुमान की इस प्रकार पुष्टि होते देख हमें लगा कि जागरूक जनता तक ये बातें पहुँचाई जानी चाहिए। जिस तरह हमारे प्रतिनिधिमण्डल में सभी प्रदेशों और धर्मों के व्यक्ति थे, उसी प्रकार सीमा सुरक्षा बल में भी सभी प्रदेशों और धर्मों के जवान एवं अधिकारी थे। बिना किसी अपवाद के वे सब हमलोगों से मन खोलकर मिले और सभी का मत यही था कि भारत की सरकार और जनता को पाकिस्तानी षड्यंत्र को विफल करने के लिए और दृढ़ कदम उठाने चाहिए। उन्हें जानना चाहिए कि पाकिस्तान कश्मीर में अघोषित युद्ध लड़ रहा है एवं युद्ध लड़कर ही जीते जाते हैं, राजनीतिक पिलपिलेपन और शब्दाडम्बर से नहीं। काश, हमारे सेकुलरवादी राजनेता इस सत्य को समझ सकते।

अँधेरा घिरने लगा तो सर्दी भी बढ़ने लगी। हम सब एक ही बड़े से कक्ष में ठहराये गए थे। सब उसी में लौट आए। कृष्णलाल शर्मा हमारा नेतृत्व कर रहे थे। उन्होंने सभी को बैठाकर आवश्यक सूचनाएं दी और कहा, "कल सुबह सात बजे तक हम सब तैयार हो जाएं और अगले आदेश की प्रतीक्षा करें।" सभी मित्र उमंग में थे और स्थिति की गंभीरता के बावजूद प्रफुल्ल थे। सिकन्दर बख्त साहब जब कई चुटीले शेर सुना चुके तो मैंने आग्रहपूर्वक प्रस्ताव किया कि बहन अंजलि पंड्या हमलोगों को गीत सुनाएं। अंजलि जी संयुक्त राष्ट्र अमरीका में विश्व हिन्दू परिषद् की महामंत्री हैं और विवेकानन्द की शिकागो में वक्तृता की १९९३ में शतवार्षिकी मनाने की तैयारी के सिलसिले में भारत आई हुई हैं। हमलोगों के प्रतिनिधिमण्डल में आठ बहनें भी थीं, उनमें वे भी एक थीं। उन्होंने बहुत ही सुरीले कंठ से देशभक्तिपूर्ण एक गीत गाया, जिसके आरंभिक बोल थे—

हे धर्मभूमि भारत, हे कर्मभूमि भारत।
हे वन्दनीय भारत, अभिनन्दनीय भारत।।

फिर मित्रों के अनुरोध पर मैंने निराला जी की प्रसिद्ध कविता सुनाई, 'जागो फिर एक बार'। उसके बाद भी मित्रगण कविताएं सुनाने का अनुरोध करते रहे। फलतः मैंने तीन कविताएँ और सुनाई। बैकुण्ठ लाल शर्मा प्रेम जी ने एक बहुत जोशीली कविता पढ़ी। कार्यक्रम का समापन हुआ उमा भारती द्वारा कराए गए सुरीले कीर्तन से। इस प्रीतिकर कार्यक्रम ने सभी को तरोताजा बना दिया। हमें यह सूचना भी मिली कि डॉ० मुरली मनोहर जोशी भूस्खलन के कारण अपने रथ से नहीं आ सके, वे वायु मार्ग से रात को श्रीनगर पहुँचे। एक बड़ी चिन्ता दूर हुई। गोलियों चलने की आवाज बीच-बीच में आती ही रही। रात को दुःसंवाद मिला कि आज एक सब-इंस्पेक्टर शमशेर सिंह शहीद हो गए। कुछ आतंकवादी भी उस मुठभेड़ में मारे गए। पर उनकी ठीक संख्या उस रात ज्ञात नहीं हुई। मैं तो जल्दी ही सो गया पर दूसरे दिन मदनलाल खुराना ने बताया कि डेढ़-दो बजे रात तक गोलियों के चलने की आवाजें आती रहीं। हां, सोने के लिए हमलोगों को भी जवानों की तरह 'स्लीपिंग बैग' मिले थे। उसमें घुसकर सोना भी एक नया अनुभव था बहुतों के लिए।

और वह दिन

२६ जनवरी, १९९२ ! भारत के गणतंत्र दिवसों में अनूठा गणतंत्र दिवस! क्योंकि आज देशवासियों की दृष्टि लाल किले की ओर न लगकर श्रीनगर के लाल चौक की ओर लगी हुई थी। आज यदि यहाँ अपना झण्डा फहर पाया तभी यह दिवस सार्थक होगा। मुझे लगा कैसी विडम्बना है कि अपने ही देश के अभिन्न अंग कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के लाल चौक में राष्ट्रीय झण्डा फहराने के लिए भारतीय जनता पार्टी को ४५ दिनों की एकता यात्रा निकालनी पड़ी जो कन्याकुमारी से चलकर कल रात को श्रीनगर पहुँची। इस पवित्र संकल्प का मुख्य विरोध छद्म सेकुलरवादी निरन्तर करते रहे। जिनके ऊपर देश के जन-जन की रक्षा की जिम्मेदारी है, वे केन्द्रीय गृहमंत्री श्री शंकरराव चह्वाण ही दंगा भड़काने वाले गैर-जिम्मेदार वक्तव्य देते रहे। खालिस्तानी तत्त्वों ने पंजाब में एकता यात्रा में शामिल होने के लिए आने वाली बस पर आक्रमण कर ५ यात्रियों को मौत के घाट उतार दिया। ३६ लोगों को घायल कर दिया। इस दुर्घटना की जिम्मेदारी से श्री चह्वाण बरी नहीं हो सकते। उन्होंने ही एकता यात्रियों को बार-बार 'सॉफ्ट टारगेट' (सुगम शिकार) बताया था। उनसे पूछने की इच्छा होती है कि एकता यात्रा तो 'साफ्ट टारगेट' थी सही, क्या कश्मीर के पाँच उच्चतम सुरक्षा अधिकारी भी 'साफ्ट टारगेट' थे जो कश्मीर के पुलिस मुख्यालय में हुए बम विस्फोट

से गंभीर रूप से घायल हो गए? जिन पाकिस्तानी तत्त्वों के द्वारा ये दुःसाहसिक घटनाएँ पिछले दो वर्षों से घटायी जाती रही हैं, क्या उनसे जूझने के संकल्प में देश की जनता को शामिल करना अपराध है? इस बार श्रीनगर आकर मैंने जिस विषम परिवेश का साक्षात्कार किया, उसने मेरे मन में पल रहे क्षोभ को और गहरा दिया। इसके पहले दो बार मैं श्रीनगर आ चुका था। एक बार अक्तूबर, १९६० में, दूसरी बार मई-जून, १९६७ में। हँसता-खिलखिलाता प्रकृति का वरदान सा श्रीनगर ..... पर्यटकों के आनन्द, उल्लास से मुखरित पूरा कश्मीर। कैसे प्राणपद अनुभवों से समृद्ध होकर दोनों बार मैं लौटा था। और इस बार सब कुछ कितना अनिश्चित, कितना आशंकापूर्ण, कितना बोझिल सा लग रहा था।

यह ठीक है कि इस बार सर्दी के मौसम में आया हूँ। हड्डियों को गला देने वाली कश्मीरी सर्दी! मैं तो हवाई जहाज से ही अवाक् होकर देखता रहा पहाड़ बर्फ की सफेद चादर से लिपटे ठिठुर रहे थे, वृक्ष ..... कश्मीर के हरे-भरे, लम्बे, घने, सुहाने चिनार और सफेदा आदि के वृक्ष पत्रहीन होकर काँप से रहे थे, झेलम थम सी गई थी और डल धुंध के कारण ओझल सी हो गई थी ..... अलबत्ता चीड़ के कुछ वृक्ष अब भी हरे पत्तों से मंडित थे पर वे भी अपनी संजीदगी से वातावरण को गंभीर ही बना रहे थे। हवाई अड्डे से पंथा चौक के काफी लम्बे रास्ते बिलकुल जनशून्य थे। पूछने पर मालूम पड़ा नगर में दुहरा कर्फ्यू लगा हुआ है। आतंकवादियों ने 'सिविल कर्फ्यू' की घोषणा कर रखी थी और बम विस्फोट से सुरक्षा दलों के पांच बड़े अधिकारियों के घायल हो जाने के बाद प्रशासन ने भी कर्फ्यू लगा दिया था। जनशून्य, नीरव श्रीनगर की करुण स्थिति मुझसे सही नहीं गई। अटल जी की पंक्तियाँ याद आई—

समय की सर्द सांसों ने
चिनारों को झुलस डाला।
मगर हिमपात को देती
चुनौती एक तरुमाला।

मैं सोचने लगा कि ये समय की सर्द साँसें क्या मौसम की ही हैं? मौसमी हिमपात तो कुछ महीनों का ही मेहमान है। अप्रैल-मई तक ये वृक्ष फिर हरे-भरे, सुशोभन हो जाएँगे, किन्तु जिस आतंकवाद के राजनीतिक हिमपात ने कश्मीर को ही नहीं सारे भारत को संकल्पहीन सा कर दिया है उससे कब और कैसे मुक्ति मिलेगी? मुझे लगा कि इस हिमपात से भले दूसरे राजनीतिक दल चिनारों की तरह झुलस गए हों, किन्तु भारतीय जनता पार्टी तो चीड़ की तरह संकल्पबद्ध हो उससे निरन्तर जूझ रही है और इस एकता यात्रा के द्वारा उसने सारे भारत की जनता को आतंकवाद-विरोधी संग्राम में शामिल कर लिया है। यह उसी जाग्रत जनबल का दबाव है कि

केन्द्रीय सरकार के बहुत से सिर-फिरे मंत्री एवं तथाकथित सेकुलरवादी दल पूरी कोशिश करके भी एकता यात्रा को प्रतिबंधित नहीं कर पाए। २४ जनवरी को जम्मू में देश के कोने-कोने से आए एक लाख से ऊपर एकता यात्रियों का प्रभाव ही था कि केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने गृहमंत्री के प्रलापों के बावजूद हम लोगों को श्रीनगर आने की सुविधा दी, हमारी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की। यदि यह जनता जागती रहे तो फिर ऊँघते, सोते, पथ-भूले राजनेताओं को भी विवश होकर जागरूक होना होगा, सही रास्ते पर चलना होगा। नहीं, हताशा भरे वातावरण के बावजूद भारतीय जनता पार्टी के कार्यकर्त्ता न निराश हैं, न देश को निराश होने देंगे। डॉ० मुरली मनोहर जोशी तथा पार्टी के लाखों कार्यकर्ताओं का भगीरथ प्रयास अवश्य सफल होगा। आज डॉ० जोशी लाल चौक में जरूर राष्ट्रध्वज फहराएंगे और पाकिस्तानी मंसूबों को चूर-चूर कर देने का जबर्दस्त संदेश देंगे।

..... *सुबह सात बजे*

कड़ाके की सर्दी के बावजूद हमलोग तैयार होकर ठीक सात बजे कक्ष में एकत्र हुए। बहुत गंभीर स्वर में कृष्णलाल जी ने सिर्फ दो बातें कहीं। एक तो यह कि अपने निर्णय के अनुसार हमलोगों को आज डॉ० मुरली मनोहर जोशी के नेतृत्व में लाल चौक में राष्ट्रध्वज फहराना ही है और दूसरी यह कि यदि इस क्रम में गोलियाँ चलें तो हमें सब तरह से अपने को खतरे में डालकर भी डॉ० जोशी की रक्षा करनी है। हमारी मौन सहमति परिवेश के गांभीर्य के अनुरूप ही थी। यह भी तय हुआ कि कौन-कौन से नारे लगाए जायेंगे और यह भी कि नारे लगवाएँगे कृष्णलाल शर्मा एवं मदनलाल खुराना। हमलोगों ने जल्दी-जल्दी हल्का नाश्ता किया आठ बजे के करीब दो बसों पर बैठकर रवाना हुए। हमारे आगे और पीछे सुरक्षा बल के सतर्क जवानों की गाड़ियाँ थीं। पूरे रास्ते में दोनों ओर राइफल लिए जवान तैनात थे। सीमा सुरक्षा बल और भारतीय सेना के अधिकारियों ने जैसे निश्चय कर लिया था कि इस कार्यक्रम को सुसम्पन्न करना ही है।

जे० के० एल० एफ०, हिज्बुल इस्लाम तथा दूसरे आतंकवादी दलों ने घोषणाएँ कर रखी थीं कि किसी भी कीमत पर वे हमलोगों को लाल चौक में तिरंगा नहीं फहराने देंगे। मुझे याद आया अमानुल्ला का दर्पपूर्ण आस्फालन कि "२६ जनवरी को इस बार श्रीनगर में जो कुछ घटेगा, वह संसार को चकित कर देगा।" हमारे योद्धाओं के रहते यह असंभव है कि डॉ० जोशी लाल चौक में हिन्दुस्तान का झंडा फहरा सकें। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन लोगों ने केवल बन्दर भभकी दी थी। २४ जनवरी को कश्मीर पुलिस के मुख्यालय में हुआ बम विस्फोट इस बात का प्रमाण था कि दुश्मन

कुछ भी कर गुजरने को तुला हुआ है। सच तो यह है कि बात अब भाजपा और जे० के० एल० एफ० आदि की न होकर भारतीय राष्ट्रवाद बनाम पाकिस्तान समर्थित साम्प्रदायिक आतंकवाद की हो गई थी। सारा देश मानो साँस रोककर लाल चौक की ओर देख रहा था। क्या होने जा रहा है अगले कुछ मिनटों में वहाँ? इतिहास करवट बदलने वाला है, वह किस ओर करवट लेगा? क्या कश्मीर भारत का अभिन्न अंग बना रहेगा? क्या आतंकवाद को पराजित कर वहाँ शान्ति लौटेगी? क्या अपने स्वाधीन देश में ही मुस्लिम कट्टरवाद के शिकार हुए दो लाख कश्मीरी हिन्दू फिर कश्मीर घाटी में लौट सकेंगे? या क्या यह आतंकवाद कश्मीर को निगल जायेगा? क्या इसके चलते भारत में विघटनकारी तत्त्वों के नापाक इरादे और भयंकर रूप इख्तियार करेंगे? निर्जन पथ पर हमारा काफिला काफी तेजी से बढ़ता जा रहा था किन्तु मस्तिष्क के विचारों की गति तो तूफानी थी।

पहुँच गये लाल चौक

सवा आठ के करीब हमलोग ऐतिहासिक लाल चौक में पहुँच गए। मालूम पड़ा कि हमलोगों के पहुँचने के कुछ ही पहले दुश्मनों ने लाल चौक की ओर चार रॉकेट छोड़े थे, जिनमें तीन तो हवा में ही फट गए और चौथा बिस्को स्कूल के अहाते में गिरा था। मैं बुदबुदाया, "जाको राखे साइयाँ मार सकै नहिं कोय!" हमलोग उतरे। हवा का एक तेज सर्द झोंका स्वेटर, कोट, ओवरकोट, मफलर, टोपी से कवचित तन को तो बेध गया, पर मन के शिव संकल्प को छू भी न सका। हम दोनों बसों के यात्री एकत्र हुए। कृष्णलाल शर्मा का अनुगमन करते हुए 'भारत माता की जय', 'वन्दे मातरम्', 'गणतंत्र की जय', 'राष्ट्रध्वज की जय', 'जहाँ हुए बलिदान मुखर्जी, वह कश्मीर हमारा है, जो कश्मीर हमारा है वह सारे का सारा है' आदि नारे लगाते हुए हम उस वेदी के पास पहुँचे जिसके ऊपर ऊँचे ध्वजदंड में बंधा हुआ राष्ट्रध्वज लहराये जाने के लिए डॉ० मुरली मनोहर जोशी की प्रतीक्षा कर रहा था।

लाल चौक श्रीनगर का केन्द्रीय स्थान है। वहाँ तक पहुँचने के लिए सघन बस्ती से गुजरना पड़ता है। रास्ते के दोनों ओर के मकान निस्तब्ध थे। जिस तरह आतंकवादी दल किसी भी प्रकार इस आयोजन को नष्ट करने पर आमादा थे, उसी तरह हमारे सुरक्षा दल तुले हुए थे कि इस आयोजन को सफल करना ही करना है। अतः उन्होंने बहुत कड़ाई से कर्फ्यू को लागू कर रखा था। सभी मकानों की खिड़कियाँ बन्द थीं, कई मकानों की छतों और बरामदों पर भी सैनिक तैनात थे। लग रहा था कि हम वस्तुतः युद्ध स्थल पर खड़े हैं। कितना अच्छा होता यदि यह राष्ट्रध्वजोत्तोलन-समारोह निर्भय प्रेम के वातावरण में कश्मीरी भाइयों के पूरे सहयोग के साथ मनाया जाता। किन्तु अभी

तो पाकिस्तानी आतंकवाद के शिकंजों में छटपटाती लाचार कश्मीरी जनता उपयुक्त समय की प्रतीक्षा ही कर सकती थी।

आठ बजकर बीस मिनट पर कड़े सैनिक संरक्षण में डॉ० मुरली मनोहर जोशी अपने दस साथियों के साथ वहाँ पहुँचे। वे कश्मीरी फिरन पहने हुए थे। उनके साथ ही उनकी छाया के समान नरेन्द्र मोदी चल रहे थे। उन लोगों को देखते ही हमलोगों के हृदयों में उत्साह का ज्वार उमड़ पड़ा। मदनलाल खुराना ने जोरों से नारे लगवाये। पूरा लाल चौक राष्ट्रीयता के स्वरों से गूँज उठा।

दर्जनों भारतीय एवं विदेशी पत्रकारों के कैमरे चमकते ही चले जा रहे थे। कई टी०वी० कैमरे सक्रिय थे। हमलोगों के नारों और डॉ० जोशी के शब्द-शब्द को टेप बद्ध किया जा रहा था। असाधारण उत्तेजना को यथासंभव संयत करते हुए हमलोगों ने डॉ० मुरली मनोहर जोशी की जय के नारे लगाए। सधे कदमों से डॉ० जोशी ध्वजवेदी पर चढ़े। तदनन्तर कन्याकुमारी में शहीद भगत सिंह, राजगुरु एवं परमवीर चक्र विजेता अब्दुल हमीद के परिवारजनों द्वारा प्रदत्त राष्ट्रध्वज को उन्होंने फहराया। भारतीय सैन्य वाहिनी द्वारा इस अवसर पर फहराने के लिए प्रस्तुत राष्ट्रध्वज को भी उन्होंने लहराया। हम सबों ने मिलकर राष्ट्रगीत 'जन गण मन ..... गाया' फिर जोरों से नारे लगाए।

संकल्प हुआ पूरा

डॉ० जोशी ने अपने संक्षिप्त किन्तु सारगर्भ व्याख्यान में कहा, हमने कन्याकुमारी में आतंकवाद के विरुद्ध संग्राम छेड़ने के प्रतीक के रूप में श्रीनगर के लाल चौक में राष्ट्रध्वज फहराने का जो संकल्प किया था, वह आज पूर्ण हुआ। हमारा यह संकल्प किसी सम्प्रदाय के विरुद्ध नहीं था। हम पाकिस्तान को बता देना चाहते हैं कि कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है और रहेगा। यदि कुछ पाकिस्तानी यह कहते हैं कि बिना कश्मीर के पाकिस्तान अधूरा है तो वे समझ लें कि बिना पाकिस्तान के भारत भी अधूरा है। गणतंत्र दिवस के अवसर पर सारे देशवासियों के साथ ही कश्मीर निवासियों को भी मैं अपनी मंगलकामनाएँ अर्पित करता हूँ और यह आशा प्रकट करता हूँ कि वे पाकिस्तान के झूठे प्रचारों के शिकार नहीं बनेंगे। वन्दे मातरम्, भारत माता की जय तथा जहाँ हुए बलिदान मुखर्जी वह कश्मीर हमारा है, के नारों के साथ यह पूरा कार्यक्रम १५ मिनटों में पूर्ण हो गया।

कार्यक्रम की निर्विघ्न सम्पन्नता से हम सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। डॉ० जोशी के जाने के बाद कुछ मित्रों ने राष्ट्रध्वज के सामने सामूहिक चित्र उतरवाये। हमलोग अपनी उत्फुल्लता में भूल ही गये थे कि आतंकवादियों का खतरा अभी बरकरार है

किन्तु सीमा सुरक्षा बल के अधिकारी हमलोगों को वहाँ से यथाशीघ्र हवाई अड्डे पहुँचा देना उचित समझते थे। उनका आग्रह हमलोगों को शिरोधार्य था।

वापसी

विमान से जम्मू लौटते समय मन आश्वस्त था कि आज की उपलब्धि आतंकवादियों को जहाँ कुंठित और हताश करेगी वहीं राष्ट्रवादियों का मनोबल बढ़ायेगी। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में हवाई अड्डे जाते समय मैंने देखा था कि रास्ते के दोनों ओर तैनात सैनिक हाथ हिला हिलाकर हमलोगों की संवर्धना कर रहे थे। मन के भाव शब्दों से बहुत कम, स्वाभाविक क्रियाओं से अधिक प्रकट होते हैं। ये सभी बन्धु और उनके अधिकारी भी अपने सहज हाव-भाव से अनजाने ही यह प्रकट कर रहे थे कि आज की इस प्रतीकात्मक घटना को वे आतंकवाद की हार और राष्ट्रवाद की जीत मानते हैं। आतंकवादियों के खूनी गिरोह अपनी हार की झेंप मिटाने के लिए हमलोगों के विमान पर भी गोली दागते रहे किन्तु यहाँ भी उन्हें निराशा ही हाथ लगी। डॉ० जोशी के साथ हमलोग सकुशल जम्मू पहुँच गये। यह ठीक है कि इस चुनौती भरे कार्यक्रम को सुसम्पन्न करने के बाद बहुत से अनुपूरक कदम सही दिशा में उठाने आवश्यक हैं, किन्तु इससे इनकार करना सच्चाई को ही नकारना होगा कि लाल चौक में राष्ट्रध्वज फहराना जोखिम से भरा, किन्तु अनेक संभावनाओं को उद्घाटित करने वाला रचनात्मक कार्य है। यदि भारतीय राजनेता राजनीतिक दाँव-पेंच से ऊपर उठकर पाकिस्तानी तत्त्वों के कठोरतापूर्ण दमन और धारा ३७० को खारिज करके भी कश्मीरी भाइयों के न्यायोचित लोकतांत्रिक अधिकारों के संरक्षण के उत्तरदायित्व का युगपत् निर्वाह कर सकें तो हम राजनीतिक हिमपात से विषण्ण और झुलसे चिनारों में स्वस्थ नवजीवन का संचार कर सकेंगे और निराला के शब्दों में कह सकेंगे—

रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी। ●

ईशावास्योपनिषद् : एक सिंहावलोकन

ईशावास्योपनिषद् की बहुत बड़ी महिमा यह है कि इस उपनिषद् ग्रंथ में प्रतीयमान विरोधाभासों का आदर्श समन्वय प्रस्तुत किया गया है। इस उपनिषद् में परमार्थ और व्यवहार को, ब्रह्म और जगत को, त्याग और भोग को, नैष्कर्म्य और कर्म को, विद्या और अविद्या को, संभूति और असंभूति को अलग-अलग नहीं देखा गया। कहीं न कहीं इनके परस्परावलंबन पर बल दिया गया है। ये युग्म परस्पर अवलंबित होकर मनुष्य को चरितार्थता प्रदान करते हैं—एकांगी दृष्टि ईशावास्य उपनिषद् की नहीं है। पहली बात यह समझ में आनी चाहिए।

उसमें यह बताया गया है कि मनुष्य किस प्रकार से जीवन जिये? यह केवल सिद्धांत-निरूपण नहीं है। यह व्यवहार की दिशा का संकेत भी है। तत्त्व-ज्ञान को समझे बिना व्यवहार नहीं चल सकता, वह अन्धा हो जाता है। इसी तरह तत्त्व ज्ञान बिना व्यवहार के लँगड़ा है। व्यवहार के बिना तत्त्व ज्ञान का और तत्त्व ज्ञान के बिना व्यवहार का कोई महत्त्व नहीं है। अंध-पंगु न्याय के अनुरूप दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता है। क्या है अंध-पंगु न्याय? एक अंधा था, एक लँगड़ा था। दोनों के मन में इच्छा हुई कि हम बदरीनाथ की यात्रा करें। अब भला अंधा कैसे बदरीनाथ जाए? लंगड़ा कैसे बदरीनाथ जाए? तो अंधे ने लँगड़े को अपने कंधे पर बैठा लिया। लँगड़ा रास्ता बताता रहा। अंधा चलता रहा। पंगु की दृष्टि से अंध के चरणों से यात्रा सम्पन्न हुई। इसको अंध-पंगु न्याय कहते हैं। अंधे और लँगड़े का समन्वय कहते हैं।

इसी तरह से जो परस्पर विरोधी लगने वाली बातें हैं और जिनके सम्बन्ध में विविध आचार्यों ने बहुत एकांगी भूमिका ग्रहण की है, ईशावास्योपनिषद् में उनका समन्वय किया गया है। कुछ लोग संसार का बिल्कुल त्याग करते हैं। कुछ लोग संसार के भोग में बिल्कुल लिप्त रहते हैं। कुछ लोग ब्रह्मवादी हैं। कुछ लोग जगत्वादी हैं। कुछ परमार्थ पर बल देते हैं। कुछ व्यवहार पर बल देते हैं। ईशावास्योपनिषद् को

समन्वयात्मक दृष्टि इन परस्पर विरोधी लगने वाले तत्त्वों का संगत, उचित समन्वय करती है। हमको वह दृष्टि प्रदान करती है जिस दृष्टि के आधार पर हम अपने जीवन को वास्तव में चरितार्थ कर सकते हैं। आनन्द की बात यह है कि बहुत कम शब्दों में इसमें मूलभूत बात कही गयी है। कुल जमा अट्ठारह मंत्र हैं और इन अट्ठारह मंत्रों में दो ही मूल मंत्र हैं। सोलह मंत्र उन मंत्रों की व्याख्या है। पहले दो मंत्रों में ईशावास्योपनिषद् का सार आ गया है और इन पहले दो मंत्रों में तत्त्व ज्ञान को, परमार्थ को कैसे व्यवहार में उतारा जाये—इसका संकेत दिया गया है। केवल तत्त्व ज्ञान पर्याप्त नहीं है। केवल व्यवहार हमको किसी दिशा में नहीं ले जा सकेगा। इन दोनों का कैसे समन्वय हो? इस पर आपका ध्यान पुनः आकृष्ट करना चाहता हूँ।

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२।।

संसार में हमको क्या दिखता है? संसार में हमको दिखता है कि हम सब लोग हैं, अलग-अलग। असंख्य नाम रूप हमको दिखते हैं। इन असंख्य नाम रूपधारी प्राणियों में, मूलतः मनुष्यों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष है। कुछ लोग मेरे हैं, कुछ पराये हैं। जो मेरे हैं, उनके प्रति हमारा राग है। हम चाहते हैं कि वे हमारे साथ बने रहें। जो पराये लोग हैं उनके प्रति कभी-कभी हमारी उपेक्षा-बुद्धि है, कभी द्वेष है। जो प्रिय है, वह अगर साथ न रहे, उसका साथ छूट जाये तो शोक होता है। जो अप्रिय है उससे जुगुप्सा होती है, घृणा होती है, द्वन्द्व होता है और एक प्रकार की निरन्तर अशान्ति की प्रक्रिया से हमारा जीवन गुजरता रहता है। मुँह में नमक भर कर अगर कोई अमृत के समुद्र में भी डुबकी लगाये तो उसका मुँह कड़वा ही रहेगा। और मुँह में अगर अमृत हो तो विष के समुद्र में भी वह तैर कर जाता रहेगा तो उसकी मानसिकता में विकृति नहीं होगी। कोई एक ऐसी व्यवस्था, कोई एक ऐसा क्रम होना चाहिए जिससे हम सार्थक जीवन जियें और वह सार्थक जीवन जीने का रास्ता पहले दो मंत्रों में मिलता है। पहले मंत्र में बताया क्या गया है?

पहले मंत्र में बताया गया कि देखो भाई! जगत् में जो कुछ भी है छोटा-बड़ा, चर-अचर, चेतन-अचेतन—यह सबका सब ईश्वर के द्वारा आच्छादित कर देने के योग्य है। ईश्वर से ढँक देने के योग्य है। इन सबके भीतर ईश्वर है। अब यह बात ऐसी ही है जैसे कहा जाए कि घड़े को मिट्टी से ढँक दो। घड़ा तो मिट्टी ही है। घड़े सँकोरे आदि को मिट्टी से ढँक दो यानी यह समझ लो कि घड़ा हो, सँकोरा हो, परई हो, मिट्टी के छोटे बड़े बने जितने भी बर्तन हों—ये आकार में, अपने नाम में अलग होते हुए भी

मूलतः एक ही मिट्टी से बने हैं और इस एकत्व का बहुत्व में तथा बहुत्व में एकत्व का अनुसंधान हमें निरन्तर करना चाहिए। नाना नाम रूपों में बहुत्व की अनुभूति प्रतिस्पर्द्धा की ओर हमको प्रेरित करती है, राग-द्वेष की ओर हमको प्रेरित करती है और उसका परिणाम होता है शोक, मोह। बहु के साथ व्यवहार में जो सुख प्रतीत होता है, वह भी भ्रान्ति है। जैसे छोटे बच्चे अँगूठा चूसते हैं तो अँगूठा चूसते समय उनको लगता है कि वे माँ का स्तन चूस रहे हैं और माँ का स्तन चूसने से जैसे दूध मिलता है, वैसे ही अँगूठा चूसते समय भी दूध मिल रहा है पर उन्हें दूध तो मिलता नहीं। अँगूठा चूसने से केवल अपने ही मुँह की लार उनको चूसने को मिलती है और उस सुख की भ्रान्ति में वे अँगूठा चूसते रहते हैं। अँगूठा चूस कर उन्हें माँ के स्तनपान की भ्रान्ति होती है। वास्तव में स्तन-पान का स्थान तो अँगूठा चूसना नहीं ले सकता। वैसे ही अलग-अलग, बहु का अनुभव करके उसका भोग या अर्थ-संग्रह—यह हमको वास्तविक सुख की ओर नहीं ले जा सकता। इसलिए पहली बात समझने की यह है कि भिन्न-भिन्न असंख्य नाम रूपों के भीतर एक आधारभूत एकता है। वह आधारभूत एकता ईश्वर है। यह सारा का सारा जड़-जंगम-जगत् अपने असंख्य बहुत्व में भी एकत्व में पर्यवसित होता है। इसलिए नाना नाम रूप वाले बहुल दृश्यमान जगत् में जो उसका आधारभूत अद्वैत तत्त्व है, उस तत्त्व को पहले ग्रहण करना चाहिए। यह पहला आदेश है और इस आदेश के साथ दो बातें जुड़ी हैं। तुम भोग करो कि त्याग करो.. न एकांगी त्याग करो, न एकांगी भोग करो। त्याग के द्वारा भोग करो। त्याग में भोग और भोग में त्याग कैसे अन्तर्निहित रह सकता है इसको समझने की दृष्टि प्राप्त करो। और जो तुमको सहज रूप में प्राप्त हो, उसमें संतोष करो। गिद्ध की तरह आकाश से उड़ते हुए भी केवल सड़े मुर्दों को मत देखो। लालची मत बनो। दूसरे के धन की कामना मत करो। धन किसका है? अब ये जो तीन बातें कही गयी हैं—इन तीन बातों से जगत् में व्यवहार की जो मूल प्रेरणा है उसका निषेध होता है। इस बात पर ध्यान दीजिये कि व्यवहार में लिप्त लोग क्यों काम करते हैं? साधारण लोग क्यों काम करते हैं। पहली स्थूल प्रेरणा है—*अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः ।*

साधारण लोगों के लिए पहली प्रेरणा है सुरक्षा की। अतः पैसा कमाने के लिए लोग काम करते हैं। पैसा कमाओ। पैसा क्यों कमाओ? क्योंकि बिना पैसे के काम ही नहीं चल सकता। जीने के लिए, सम्मान प्राप्त करने के लिए पैसा कमाना अनिवार्य है, ऐसा बहुत लोगों का मत है। ठीक है, योगक्षेम चलना चाहिए। किन्तु क्या उतने से लोगों को सन्तोष होता है। नहीं, खूब पैसा कमाना चाहते हैं, लोग न्याय से, अन्याय से किसी भी प्रकार खूब पैसा कमाने की लालसा लेकर उस पर जुटे रहते हैं। खूब पैसा क्यों कमाना चाहिए का स्पष्ट उत्तर लोग नहीं दे पाते, लेकिन उसके लिए काम करते

ही रहते हैं। कुछ लोग तो पैसा पैसे के लिए कमाते हैं। उनको पैसे का नशा भी होता है और उसके लिए काम करते रहने का भी। लेकिन कुछ लोगों की मान्यता उससे ऊँची है। वे कहते हैं— *कुर्वंते कर्म भोगाय।*

भोग के लिए काम करो, भोग के लिए पैसा कमाओ। अरे भाई! पैसा नहीं होगा तो बढ़िया कपड़े कैसे पहनोगे? पैसा नहीं होगा तो फाइव स्टार होटल में कैसे रहोगे? पैसा नहीं होगा तो मौज मस्ती कैसे करोगे? उपभोग कैसे होगा? भोग के लिए पैसा कमाओ। उसके लिए खूब काम करो।

अच्छा जो लोग पैसे के लिए पैसा नहीं कमाते और अतिरिक्त भोग भी नहीं करते, वे फिर क्यों काम करते हैं? वे इसलिए काम करते हैं कि मेरा यश हो, लोग मुझको अच्छा आदमी समझें। मुझे विद्वान मानें। मुझे साहित्यकार मानें। मुझे बड़ा राजनेता मानें। मुझे दानी मानें। मुझे किसी क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त व्यक्ति मानें। यश होना चाहिए इसलिए लोग अपने-अपने क्षेत्र में काम करते रहते हैं।

काम करने को ये जो तीन लौकिक प्रेरणाएँ हैं, इन तीनों प्रेरणाओं को पहला मंत्र खंडित कर देता है। जब उसने कह दिया—*मा गृधः कस्यस्विद्धनम्* गिद्ध की तरह लोभी मत बनो। दूसरों के धन का लालच मत करो। दूसरे के धन का लालच हम क्यों करते हैं? क्योंकि हम सस्ते में धनी हो जाना चाहते हैं, क्योंकि हम आलसी हैं, क्योंकि हम ईर्ष्यालु हैं। दूसरे का धन जैसे-तैसे बेईमानी करके हम हथिया लें जिससे हम मौज-मजा कर सकें, सुखी हो जायें। नहीं! केवल अर्थ के लिए कर्म मत करो। गिद्ध की तरह लालची मत बनो। धन किसी का नहीं है। अच्छा! भोग के लिए काम करें। नहीं, केवल भोग भोगने की प्रेरणा से भी काम नहीं करना चाहिए, *तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।*

भगवान् के द्वारा जो दिया हुआ है उसी से सुखी रहो, त्याग पूर्वक भोग करो। इसकी दूसरी व्याख्या है कि त्याग के द्वारा आत्मस्वरूप का पालन करो। सैद्धान्तिक स्तर पर थोड़ा मतभेद होने पर भी व्यावहारिक स्तर पर इसका अर्थ हुआ कि जो सहज रूप से कर्म करने पर प्राप्त होता है उसको प्रसाद रूप में ग्रहण कर उसका त्यागपूर्वक भोग करो। भोग तो करो लेकिन त्यागपूर्वक करो।

तो केवल भोग के लिए कर्म करने की वृत्ति लुप्त हो गयी। और अगर विविध नाम रूपों में एक ही तत्त्व है तो मेरा नाम, मेरा चित्र रोज छपे, मेरा नाम चारों तरफ से प्रसारित हो—यह जो यश प्राप्त करने के लिए कर्म करते रहने की प्रेरणा है जो मूलतः नाम और रूप को प्रधानता देने वाली बात है, वह खंडित हो गयी। नाम रूप सब मिथ्या हैं भाई। एक ही तत्त्व समस्त असंख्य-असंख्य नाम रूपों में है। तो प्रश्न उठता है कि अगर कर्म करने की ये तीनों स्थूल प्रेरणाएँ असंगत हैं तो कोई क्यों काम करे? लेकिन ईशावास्योपनिषद् का मत है कि काम करते ही रहना चाहिए। दूसरा मंत्र

यही बताता है कि काम क्यों, किस दृष्टि से करना चाहिए। इस संसार में (इहलोक में) काम करते-करते हुए ही तुम्हें सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए। कैसे काम करें? एवं इस प्रकार काम करो। किस प्रकार काम करें? जिस प्रकार पहले मंत्र में बताया गया है, उस प्रकार काम करो जिससे काम करने की उच्चतर भूमिका का अनुभव हो। काम करते-करते हुए ही जिओ। कैसे काम करते-करते जिओ? केवल पैसे के लिए? नहीं। केवल भोग के लिए? नहीं। केवल यश के लिए? नहीं। कैसे? एवं इस प्रकार। किस प्रकार? बिना लोभ के, बिना अन्यायपूर्ण भोग की वासना के, बिना यश की कामना के। जब तुम अर्थ के लिए, जब तुम भोग के लिए, जब तुम नाम-रूप की महिमा के लिए काम करोगे तो काम तुमको बाँधेगा। अद्‌भुत उक्ति है। डंके की चोट पर ईशावास्योपनिषत्कार कहता है— *एवंत्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।*

किसी और प्रकार से नहीं, इसी प्रकार काम करने से करने वाले मनुष्य से कर्म लिप्त नहीं होता। हमारा जो सम्पूर्ण चिन्तन है उसके अनुसार हमारा परम पुरुषार्थ मोक्ष है। किससे मोक्ष? जन्म-मरण के चक्र से मोक्ष। क्यों होता है जन्म-मरण? कर्म के बन्धन से ! कर्म का फल भोगने के लिए हमको जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जन्मांतरवाद कर्म सिद्धांत का उपफल है— *अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।*

अगर हमको अपने किए हुए कर्म का अवश्यमेव फल भोग करना पड़ेगा तो इस जन्म में जिन कर्मों का फल-भोग नहीं कर सके, उन कर्मों का फल भोगने के लिए हमको दूसरा जन्म लेना पड़ेगा। और जब तक हम आसक्त चित्त से कर्म करेंगे, केवल अर्थ के लिए, केवल भोग के लिए, केवल नाम के लिए तब तक कर्म हमें लिप्त होगा। और उन लिप्त हुए कर्मों का फल भोग करने के लिए हम बार-बार जन्मेंगे, बार-बार मरेंगे। इससे बढ़कर यंत्रणा और कोई नहीं है। इस जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिए, मोक्ष पाने के लिए हमको कर्म करने की ऐसी विधा सोचनी होगी जिससे कर्म हमसे लिप्त नहीं हो। ईशावास्योपनिषत्कार तो कहता है—*न कर्म लिप्यते नरे* कर्म तो लिप्त होता ही नहीं। कर्म मनुष्य को नहीं बाँधता है। कर्म लिप्त नहीं होता तो क्या चीज लिप्त होती है? कर्म के पीछे की वासना लिप्त होती है। कर्म के पीछे फल प्राप्त करने की लालसा लिप्त होती है। कर्म करने का अहंकार लिप्त होता है। ऐसा तरीका है, जिस तरीके से हम काम करते हुए भी काम के बन्धन से मुक्त हो जायें। ऐसा तरीका है जिससे हम भोग भोगते हुए भी भोग से ऊपर उठ जायें। ऐसा तरीका है जिससे हम त्याग करते हुए भी भोग करते रहें। आखिर भोग क्या चीज है? इस बात पर ध्यान दीजिए।

आखिर यह सृष्टि क्यों हुई? सृष्टि की रचना प्रभु ने क्यों की? *स एकाकी न रमते*— वह एकाकी रमण नहीं कर सकता। उसके चित्त में आई बात—*एकोऽहं बहुस्याम*— मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ। परमात्मा के अन्तस् से सहज उच्छलित आनन्द

के कारण उसकी लीला के द्वारा यह सृष्टि हुई। एक से बहु होकर अपना ही आस्वादन करने की वृत्ति इस सृष्टि के मूल में है। हम कैसे भोग करें? जैसे रामजी भोग करते हैं। जैसे परमात्मा भोग करता है। जैसे परमात्मा एक से बहु होकर भी किसी को अपना किसी को पराया नहीं मानता— *सुहृदं सर्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।* प्रभु की उक्ति है कि मैं समस्त प्राणियों का सुहृद हूँ। मित्र हूँ।

न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः—मेरा कोई द्वेष्य नहीं है। मेरा कोई प्रिय नहीं है। यह भूमिका आनन्द के उच्छलित रूप में सृष्टि-विस्तार की है। हम जब वैयक्तिक भोग भोगते हैं—तब वह कैसा भोग होता है? वह इस आनन्द की विकृति है। आनन्द की विकृति कैसे हो जाती है? क्षुद्र अहं के कारण। ध्यान दीजिये। अहं के दो रूप हैं। अहं का एक विस्तृत रूप है। अहं का एक परम रूप है जिसमें अहं ब्रह्मास्मि का अनुभव होता है। ईशावास्य में ही बताया गया है सोऽहम्। अहं का एक सीमित रूप है, क्षुद्र रूप है। जो हमको नाम रूप में बाँधकर रखता है! इस देह में आबद्ध मैं-इसका यश होना चाहिए! इसको सुख मिलना चाहिए, इसको भोग भोगना चाहिए। औरों को चाहे भोग मिले, न मिले और सब चाहे जहन्नुम में जायें, मुझको सुख मिलना चाहिए। यह जो क्षुद्र अहं में केन्द्रित विकृत भोग की इच्छा है, लोभ लालसा है, यह आनन्द को विकृत कर देती है। इसलिए यह भोग भोग नहीं होता, बंधन हो जाता है। जब सहज उच्छलित आनन्द के रूप में, सबके साथ समरस होकर, प्रभु की तरह भाव रखकर कि कोई मेरा द्वेष्य नहीं, कोई मेरा प्रिय नहीं, एक से बहु होकर मैं अपनी लीला का आस्वादन करूँ—उस भूमिका में स्थित होकर जब हम भोग करेंगे तब हम त्याग और भोग का समन्वय करेंगे एवं समझ सकेंगे कि किस तरह काम करें? ऐसे काम करें— दूसरे का पैसा छीनने के लिए नहीं, उचित-अनुचित ढंग से भोग भोगने के लिए नहीं, केवल अपने यश के लिए नहीं, सबके साथ समरस होकर काम करें। इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

न कर्म लिप्यते नरे–बिना काम किए आदमी को रहना नहीं चाहिए और काम ऐसे करना चाहिए जिससे कर्मफल लिप्त न हो। यह समझिये कि परस्पर विरोधों का यहाँ कैसा समाहार हो रहा है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि दृश्यमान जगत् के वैविध्य में परस्पर विरोध नहीं है। यह परस्पर विरोध हमारी भ्रांति के कारण है। हमारी दृष्टि के दोष के कारण है। हमारे क्षुद्र अहं की विकृति के कारण है। इस क्षुद्र अहं की विकृत लालसा का अगर हम उन्मूलन कर सकें और उस समग्र आनन्द का हम सहज उपभोग कर सकें तो हम त्याग और भोग का समन्वय कर सकते हैं।

इस प्रकार एवं इसी प्रकार (और किसी प्रकार से नहीं) अगर हम काम करते हुए सौ वर्ष जिएँगे तो हमको काम बाँधेगा नहीं। न कर्म लिप्यते नरे। शास्त्र को

अकर्मण्यता अभीष्ट नहीं है। अकर्मण्यता पाप है। आलस्य पाप है— *आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।* शरीर में रहने वाला सबसे बड़ा दुश्मन आलस्य है। *नास्त्युद्यमसमं मित्रं यं कृत्वा नावसीदति*—उद्यम के समान कोई दूसरा मित्र नहीं है, जिसका अवलंबन करने से कभी किसी को कोई कष्ट नहीं होता। लेकिन कैसा उद्यम? इस उद्यम के संबंध में हमारी विकृत दृष्टि है। उसको स्पष्ट कर रहा है, स्वच्छ कर रहा है यह उपनिषत्कार और कह रहा है कि निर्मल दृष्टि से, ईश्वरीय दृष्टि से, राम दृष्टि से तुम निरन्तर कर्म करते रहो। भगवान् एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं करता, यह चमत्कार ही है और सब काम करते हुए भी कुछ नहीं करता, यह दूसरा चमत्कार है। सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करना और कुछ नहीं करते हुए सब कुछ करना—इसका भी समाहार होना चाहिए।

इस उपनिषद् के ये दो मूल मंत्र हैं। इन दो मंत्रों की दृष्टि स्वीकार नहीं करोगे तो क्या होगा?

असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्तेप्रेत्याभिगच्छन्ति येकेचात्महनोजनाः ।। ३ ।।

तो भैया! तुम आत्महत्या करोगे, आत्महन्ता हो जाओगे और तुम अंधतम लोक में जाओगे। आत्महन्ता किसको कहते हैं? अपने को गोली मार लेने वाला ही, आत्महत्या करने वाला नहीं है। जहर खा लेने वाला ही आत्महत्या करने वाला नहीं है। जो सोने को पीतल समझ ले, उसने सोने की हत्या कर दी कि, नहीं कर दी? हीरे को काँच समझ लिया तो हीरे की हत्या हो गयी कि नहीं? इसी तरह हमने अपने सत्, चित्त, आनन्द स्वरूप को, अपने ब्रह्मस्वरूप को नाम और रूप में आबद्ध, दीन-दुःखी, परवश, कातर, अभावग्रस्त मान लिया तो हमारी हत्या हो गई कि नहीं? अपने स्वरूप को न समझना ही वास्तविक आत्महत्या है। हमारा वास्तविक स्वरूप है, आत्म स्वरूप, सच्चिदानन्द अद्वय स्वरूप। याद रखें सत्, चित्, आनन्द और अद्वय तत्त्व के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है। इसी सच्चिदानन्द अद्वय स्वरूप को हम अपना वास्तविक स्वरूप समझ लें तो हमारा व्यवहार कितना अद्भुत सुधर जायेगा। इस बात को आगे स्पष्ट किया गया है।

अपने को सच्चिदानन्द अद्वय न मानकर नाम रूप में आबद्ध सीमित, अभावग्रस्त, लालसा-परायण, काम वासना के पीछे पागल मान लेना ही आत्महत्या है और जो आत्महन्ता लोग होते हैं—वे अन्धतम लोक में जाते हैं। प्रथम दो मंत्रों को स्वीकार न करने का परिणाम तीसरे मंत्र में बताया गया है।

चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें—इन मंत्रों में पहले आत्म स्वरूप ब्रह्म की और फिर ब्रह्मज्ञानी की महिमा बताई गयी है। ब्रह्म और ब्रह्मज्ञानी इन दोनों की महिमा

समान रूप से समझ में आनी चाहिए। अगर हमको दोनों की समान रूप से महिमा समझ में नहीं आयेगी तो हम अपने को क्यों प्रेरित करेंगे ब्रह्म ज्ञान की ओर?

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।। ४ ।।
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।। ५ ।।

चौथे, पाँचवें मंत्रों में यह बताया गया है कि परमात्मा कुछ नहीं करते हुए सब कुछ करता है। परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। इस बात को समझिये।

परस्पर विरुद्ध धर्म—हमारे, आपके देहबद्ध सीमित रूप के लिए कठिन है असंभव है। लेकिन परमात्मा के लिए कहा गया कि वह स्थिर रहते हुए भी दौड़ते हुओं को हरा देता है। आप अपने मन से कहीं भी चले जायें, कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ परमात्मा पहले से न हो। इस तरह वह स्थिर रहते हुए भी चलने वालों को परास्त कर देता है। वह न चलते हुए भी चलता है। वह दूर रहते हुए भी पास है। वह सबमें है, सबके परे है। परमात्मा का यह स्वरूप समझ लेना कि हम इसी नाम रूप में सीमित तो नहीं हैं, लेकिन इस नाम रूप में भी परमात्मा है। इसमें एक बहुत ही गहरी बात समझ में आनी चाहिए। हर व्यक्ति अलग-अलग अपने में पूर्ण है कि अपूर्ण है? दो दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि यह है कि हम बिन्दु हैं, सिन्धु में समा कर पूर्ण होंगे। यह भी एक दृष्टि है। लेकिन एक दृष्टि और है कि यह बिन्दु ही सिन्धु है। यह सिन्धु है जिसको हम बिन्दु मान बैठे हैं। अच्छा एक छोटा उदाहरण देखें। हालांकि उदाहरण सब अपूर्ण होते हैं लेकिन समझाने के लिए दिए ही जाते हैं।

एक तस्वीर है। मान लीजिए पासपोर्ट साइज की है और उसी का बहुत बड़ा विस्तृत रूप भी है तो क्या वह पासपोर्ट साइज उस विस्तार (इनलार्जमेन्ट) का अंश है कि पूर्ण है अपने आप में। सोचिये जरा। जो छोटा चित्र है वह बड़े चित्र का अंश है कि वह अपने आप में पूर्ण है। जैसे वह छोटा चित्र भी अपने में पूर्ण है, वैसे ही हर व्यक्ति भी अपने उस लघु नाम रूप में भी आत्मा की दृष्टि से पूर्ण ही है। नाम रूप का बन्धन जब हम मान लेते हैं तो क्या मानते हैं? हम मानते हैं कि हमारे भीतर एक आत्मा है जो अंश है। वह इस नाम रूप के शरीर से ढँका हुआ है और इस नाम रूप के बाहर एक संसार है उस संसार में बहुत से नाम-रूप हैं और उसमें बहुत से पर्वत हैं, नदी हैं, सूर्य हैं, चाँद हैं, तारे हैं। अच्छा, यह आत्मा क्या कोई गेंद है जो थैले में भरी हुई है। शरीर का भ्रम पाकर यह मानना कि आत्मा तो इसके भीतर ही है ठीक नहीं है, तो क्या वह बाहर नहीं है? क्या शरीर का अवरोध आत्मा को बाहर जाने से रोक सकता है? जो भीतर है, वही बाहर है। जो बाहर है, वही भीतर है।

जो बाहर है समष्टि के रूप में, वही भीतर है और जो भीतर है, वही बाहर है। यह नाम रूप का जो परदा है, यह नाम रूप की जो सीमा है, यह उसको भीतर बाँधकर नहीं रख सकती। इसको समझाने के लिए एक दूसरा उदाहरण दिखिये। तुलसी बाबा का एक दोहा है—

केहि मग प्रविसति जाति केहि कहु दरपन में छाँह।
तुलसी त्यों जग जीवगति, करी जीव के नाँह।।

यह बताइये कि दर्पण में प्रतिबिम्ब किस रास्ते से प्रवेश करता है और यह बताइये कि वह प्रतिबिम्ब किस रास्ते से बाहर चला जाता है। ऐसे ही प्रत्येक शरीर में, प्रत्येक में परमात्मा पूरा आता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब का आभास और फिर उसका निकल जाना—दर्पण के द्वारा बाँधा नहीं जा सकता, वैसे ही हमारा यह शरीर आत्मा को भीतर ही बाँधकर नहीं रख सकता। जो भीतर है, वही बाहर है। जो बाहर है, वही भीतर है। इस बात को समझना चाहिए। और इस बात को भी समझना चाहिए कि इस नाम रूप इस शरीर, इस आकार के प्रति हमको अनावश्यक मोह है। शरीर आवश्यक है। शरीर किस रूप में आवश्यक है? शरीर साधन के रूप में आवश्यक है। शरीर को साध्य मानना आत्महन्ता होना है। साध्य नहीं है शरीर! शरीर साधन के रूप में अनिवार्य है, आवश्यक है। आत्मा जब मानव के शरीर में आती है, तभी यह कर्मयोनि प्राप्त होती है। मैंने बार-बार बताया है कि और जो सारी योनियाँ हैं वे सब भोग योनियाँ हैं। यहाँ तक कि देवी-देवताओं की योनि भी भोग-योनि है।

तो यह जो मानव-शरीर हमको प्राप्त हुआ, यह महान् साधन है। साधन के रूप में यह शरीर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लेकिन इसी शरीर को अगर साध्य बना लिया तो शरीर निकृष्ट है। तो यह बंधन का घर है। दुःख की जड़ है। इसलिए इस शरीर के भीतर रहने वाला जो आत्म तत्त्व है वह बाहर के समस्त नाम रूपों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। जो बाहर समस्त नाम रूपों में है, वही मुझमें है, और जो मुझमें है, वही सब में है। यही ब्रह्म ज्ञानी की स्थिति है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। ६ ।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वं अनुपश्यतः।। ७ ।।

कैसे हम दुःख-दर्द से छुटकारा पायें? कैसे किसी का वियोग हो जाये तो हमको शोक न हो? कैसे किसी के साथ रहने पर हम उससे जुगुप्सा न करें, प्रतिद्वन्द्विता न करें, प्रतिस्पर्द्धा न करें? कैसे उसके प्रति हम राग-ग्रस्त न हो जायें? इस शरीर में जो है, वही सबमें है और जो सब में है, वही मुझमें है। बल्कि यों कहिये कि मैं ही सबमें हूँ और सब मुझमें हैं। मैं सबमें हूँ और सब मुझमें हैं, यह ब्रह्म ज्ञानी की सहज अनुभूति है और इसी

के पहले परस्पर विरोधी धर्मों का आश्रय-स्थल ब्रह्म को बताया गया है। न करते हुए सब कुछ करना, सब कुछ करते हुए कुछ न करना, पास रहते हुए दूर रहना और दूर रहते हुए भी पास रहना, सबमें रहते हुए भी सबके परे रहना—यह ब्रह्म का सहज धर्म है और वैसा ही अनुभव ब्रह्म ज्ञानी करता है। जो ब्रह्म ज्ञानी होगा उसको शोक नहीं होगा, उसको वियोग नहीं होगा। कोई उसकी पूर्णता को खंडित नहीं कर सकेगा। वह अपने में पूर्ण है। वियोग केवल दृश्यमान है, वास्तविक वियोग नहीं है। उसकी किसी से प्रतिस्पर्द्धा नहीं है। वह सोचता है, मैं किससे प्रतिस्पर्द्धा करूँ? सब मैं हूँ। मैं सब में हूँ। अपने से क्या प्रतिस्पर्द्धा? यह दृष्टि हमको जीने का एक ऐसा तरीका बताती है जिस तरीके में छल नहीं है, कपट नहीं है, बेईमानी नहीं है, पाखण्ड नहीं है, प्रतिस्पर्द्धा नहीं है, राग नहीं है, शोक नहीं है, द्वेष नहीं है, मोह नहीं है और जिसमें निरन्तर कर्म है। दोनों बातें हैं। यह कर्म से छूटने की बात नहीं है। यह आलसियों की बात नहीं है। निकम्मों की बात नहीं है। पूरी शक्ति से काम करते हुए भी मैं कर्त्ता नहीं हूँ। काम प्रभु की कृपा से हो रहा है या प्रभु ही काम कर रहे हैं। मैं साधन-मात्र हूँ या गुण-गुण में बरत रहे हैं, या कार्य प्रकृति के द्वारा मेरी सन्निधि में हो रहा है। ये अद्भुत दृष्टियाँ हैं, जिनके कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व से मुक्ति मिल जाती है। आठवें मंत्र के अर्थ में बड़ा मतभेद है। कुछ आचार्य कहते हैं कि वह आत्म तत्त्व का, ब्रह्म तत्त्व का चित्रण है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।८।।

इसमें कई बातें हैं। इसमें सः से शुरू हुआ है। सः माने वह। वह कौन है? फिर इसमें कुछ शब्द नपुंसक लिंग हैं। कुछ पुल्लिंग हैं। *शुक्रं अस्नाविरं शुद्धं अपापविद्धं*—ये सब नपुंसक लिंग हैं। *कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः*— ये सब पुल्लिंग हैं। कुछ आचार्य कहते हैं यहाँ परस्पर विरोधों का समन्वय कर रहा है ईशावास्योपनिषद्। इस मंत्र में ब्रह्म के दोनों रूपों का समन्वय हुआ—निर्गुण का और सगुण का। जो नपुंसक लिंग से निर्दिष्ट लक्षण हैं, वे निर्गुण ब्रह्म के हैं। जो पुल्लिंग से निर्दिष्ट लक्षण हैं, वे सगुण ब्रह्म के हैं और वह तत्त्व सर्वव्यापी है, वह सब में समाया हुआ है सर्वज्ञ है। सब कुछ करने वाला और कुछ नहीं करने वाला है। तो इस दृष्टि से यह आत्म तत्त्व का निरूपण करने वाला और आत्म-तत्त्व के निरूपण में भी निर्गुण और सगुण ब्रह्म का समन्वय करने वाला मंत्र है।

लेकिन एक और भी दृष्टि है और वह इसको भी ब्रह्म ज्ञानी की स्थिति बताती है। मैंने बताया है कि पहले दो मंत्रों में संपूर्ण जीवन-दर्शन है और व्यवहार में उसको कैसे उतारा जाये अन्य मंत्रों में इसका निरूपण है। तीसरे मंत्र में जो आत्महन्ता है, आत्म स्वरूपको ठीक नहीं जानता, उसकी गति का निरूपण उससे बचने के लिए है।

चौथे पाँचवें मंत्र में परस्पर विरोधी धर्मों के आश्रय ब्रह्म—उसका निरूपण किया गया है। छठे, सातवें मंत्र में ब्रह्मज्ञानी का वर्णन है जो सबमें अपने को और अपने में सबको अनुभव करता है केवल तोता रटन्त बात नहीं करता, इस सत्य की जो उपलब्धि करता है वह शोक, मोह और जुगुप्सा के पार चला जाता है। कुछ आचार्यों के अनुसार आठवें मंत्र में फिर ब्रह्म का वर्णन है। कुछ आचार्य कहते हैं—नहीं यह मानना ठीक नहीं है। अगर छठें, सातवें मंत्र में ब्रह्म ज्ञानी का वर्णन है तो स्वाभाविक रूप से आठवें मंत्र में भी ब्रह्म-ज्ञानी का वर्णन होना चाहिए।

विनोबा भावे और मेरे गुरु स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती दोनों इसी बात के समर्थक हैं। यहाँ सः का मतलब हुआ छठे सातवें मंत्र में जिस ब्रह्म-ज्ञानी का वर्णन किया गया वह ब्रह्मज्ञानी, नपुंसक लिंग के द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्म तत्त्व को उपलब्ध करके स्वयं ब्रह्म के समस्त गुणों का आगार बन जाता है। वही ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई, जानत तुम्हहि, तुम्हइ होइ जाई। वही जान पाता है जिसे तुम अपना स्वरूप जना देते हो और तुमको जानते ही वह तुम ही हो जाता है।

उस ब्रह्मज्ञानी ने जब ब्रह्म को सर्वव्यापी, निराकार, निष्पाप के रूप में उपलब्ध कर लिया तो वह ब्रह्म की ही तरह कवि (द्रष्टा सर्वज्ञ) मनीषी (अपनी बुद्धि पर, मन पर अपने ऊपर पूरा अधिकार रखने वाला) परिभूः (सर्वव्यापी) स्वयंभू हो जाता है। शाश्वत काल के लिए सारी सृष्टि का विधान यह ब्रह्मज्ञानी करता है और ब्रह्मज्ञानी के द्वारा किया गया निरूपण सत्य होता है तो आठवें मंत्र में कुछ लोगों की दृष्टि में ब्रह्मज्ञानी की महिमा का और कुछ लोगों की दृष्टि में ब्रह्म की महिमा का निरूपण है।

कुछ विद्वान यह मानते हैं कि पहले मंत्र की व्याख्या चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें—इन मंत्रों में की गयी है। वह कौन ईश तत्त्व है जो समस्त जड़ जंगम में व्याप्त है? उस ईश तत्त्व की, उस परब्रह्म तत्त्व की व्याख्या इन मंत्रों में की गयी है और दूसरे मंत्र की व्याख्या नौ से चौदह तक—इन छह मंत्रों में की गयी है। *न कर्म लिप्यते नरे* —कर्म लिप्त नहीं होता एवं इसी प्रकार किसी दूसरे प्रकार से नहीं। कैसे कर्म करें? इसी का निरूपण इन छह मंत्रों में विद्या और अविद्या के त्रिक् में, संभूति और असंभूति के त्रिक् में किया गया है। त्रिक् माने ? तीन मंत्रों का एकक, तीन मंत्रों की इकाई।

इन दोनों त्रिकों में क्रमशः विद्या और अविद्या का तथा संभूति और असंभूति का समन्वय किया गया है। काम कैसे किया जाये? इसकी व्याख्या की गयी है। अब विद्या क्या है? अविद्या क्या है? इस पर बहुत मतभेद हैं।

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।। ९ ।।

अन्यदेवाहुः विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे ।। १० ।।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।। ११ ।।

विद्या अधिकांश लोगों की दृष्टि में ब्रह्मविद्या है और अविद्या वह कर्म है जो ब्रह्म ज्ञान से रहित है। मैंने बताया था कि यहाँ अ जो है वह निषेधार्थक नहीं है, विरोधी नहीं है। विद्या का प्रतिलोम अविद्या नहीं है। विद्या से भिन्न अविद्या है। जैसे मैंने बताया था भारतीय और अभारतीय। जब हम कहते हैं अभारतीय तो उसका अर्थ भारतीय विरोधी नहीं होता। शुद्ध और अशुद्ध—इसमें परस्पर विरोध है। जो शुद्ध का उल्टा है, वह अशुद्ध है। लेकिन भारतीय और अभारतीय में अभारतीय भारतीय का उल्टा नहीं है, विरोधी नहीं है। अभारतीय में जो अ उपसर्ग है, वह इस बात का द्योतक है कि वह भारतीय नहीं है।

तो अविद्या में जो अ आया है वह इस बात का द्योतक है कि वह ब्रह्मज्ञान नहीं है। तो जो ब्रह्मज्ञान नहीं है, वह क्या है? उसको कुछ लोगों ने कहा—कर्म है। इस जगत् में कैसे कर्म किया जाए? तो उन्होंने बताया कि अगर हम निष्काम भाव से कर्म करते हुए ब्रह्मज्ञान के साथ उसका समन्वय करेंगे तो कर्म से मृत्यु को पार करके ज्ञान से अमृतत्व की उपलब्धि करेंगे। कुछ लोगों ने कहा कि नहीं। विद्या का मतलब हुआ—देव की उपासना, शंकराचार्य यही मानते हैं। और कर्म का मतलब हुआ—यज्ञादि के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला कर्म और इसमें भी यह कहा कि जिस अमृतत्व की बात इसमें कही गयी है—वह परम अमृतत्व नहीं है, वह सीमित है, केवल महाप्रलय तक उस अमृतत्व की प्राप्ति होगी उसके बाद फिर जन्म होगा। कुछ लोगों ने विद्या का मतलब—परमार्थ विद्या, अध्यात्म विद्या और अविद्या का मतलब भौतिक विद्या बताया। विद्या तो भौतिक विद्या भी है जैसे अभारतीय भी मनुष्य हैं। वैसे ही अविद्या विद्या तो है, लेकिन ब्रह्म विद्या नहीं है। अगर वह ब्रह्म विद्या नहीं है तो क्या है? भौतिक विद्या है। अध्यात्म की विद्या नहीं है तो क्या है? संसार की विद्या है।

विनोबा भावे ने यह कहा कि विद्या का मतलब है जो हमारे लिए आवश्यक उपलब्ध करने योग्य ज्ञान है। और अविद्या का मतलब है—जो आवश्यक नहीं है। कोई जरूरी नहीं है कि हम सब कुछ समझें। सब कुछ जानने के चक्कर में हम किसी के पारंगत नहीं हो सकते। इसलिए जो हमारे लिए अनिवार्य है, उपयोगी है, उसकी जानकारी विद्या है और जो अनावश्यक है—उसके बारे में गैर-जानकारी या अविद्या होनी चाहिए। क्यों हम अनावश्यक बोझ अपने सिर पर लादें। तो विद्या और अविद्या-इन दोनों के अनेक अर्थ किये गये और इन अनेक अर्थों का अपना-अपना औचित्य

है। हम किसी अर्थ को भी स्वीकार करें। पर हम एकांगी न हों। ईशावास्योपनिषद् एकांगिता का विरोधी है। ईशावास्योपनिषद् समग्र दृष्टि का समर्थक है। समन्वय का समर्थक है और उस समन्वय के द्वारा जीवन की चरितार्थता का निर्देशक है।

तो हम ब्रह्म विद्या और कर्म को, या ब्रह्म विद्या और लौकिक विद्या को या आवश्यक ज्ञान और अनावश्यक ज्ञान की गैर-जानकारी को या हम कर्म और उपासना को समन्वित करके ही अपने जीवन को सार्थक बना सकते हैं। अगर हमने सिर्फ एक चीज को पकड़ा तो हम एकांगी हो जायेंगे और एकांगी होने की निन्दा की गयी है। इसी संदर्भ में कहा गया है कि केवल अविद्या की उपासना करने वाले अगर अन्धतम लोक में जाते हैं तो केवल विद्या की उपासना करने वाले उससे भी गहरे अंधेरे लोक में जाते हैं। एकांगी नहीं होना चाहिए। समग्र दृष्टि, संतुलित दृष्टि से काम करना चाहिए। दूसरे मंत्र में बताया गया है कि काम करना मुख्य नहीं है। काम करने के पीछे की दृष्टि मुख्य है। गोली तो डाकू भी चलाता है और गोली देश की रक्षा के लिए सिपाही भी चलाता है। छुरा गुण्डा भी चलाता है और छुरा सर्जन भी चलाता है। यह नहीं है कि छुरा चलाना बुरा है। किस दृष्टि से तुम छुरा चला रहे हो उस पर निर्भर करता है कि तुम्हारा छुरा चलाना अच्छा है या बुरा है? क्या दृष्टि है तुम्हारी? कर्म की महिमा कर्म के पीछे की दृष्टि पर निर्भर करती है और वह एकांगी दृष्टि नहीं होनी चाहिए, वह समन्वित दृष्टि होनी चाहिए।

विद्या और अविद्या के युग्म का जो भी अर्थ आप लें उन अर्थों का परस्पर समन्वय करें। एकांगी न बनें। इस त्रिक् को विनोबा भावे ने बुद्धि शोधन की प्रक्रिया कहा है। बुद्धि भगवान् का दिया हुआ एक बहुत बड़ा उपकरण है। बुद्धि अगर एकांगी होगी, अशुद्ध होगी तो हमको गड्ढे में डाल देगी। शुद्ध बुद्धि हमारे लिए कल्याण का मार्ग बनती है। अशुद्ध बुद्धि हमारे लिए बन्धन का कारण बनती है। बुद्धि-शोधन की प्रक्रिया विद्या और अविद्या के त्रिक् में बतायी गयी है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यांरताः ।। १२ ।।
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।। १३ ।।
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ।। १४ ।।

संभूति और असंभूति—के भी अलग-अलग अर्थ किए गये हैं। शंकराचार्य और उनसे जो प्रभावित आचार्य हैं उनके अनुसार संभूति का अर्थ है कार्य ब्रह्म और असंभूति का अर्थ है कारण ब्रह्म। जो पैदा ही नहीं हुआ, जो स्वयंभू है, अजन्मा है, वह कारण ब्रह्म

और जो पैदा हुआ, संभूति, वह कार्य ब्रह्म। हमें यह देखना चाहिए कि उन दोनों का कैसे समाहार किया जाये? उन दोनों के ऊपर दृष्टि रखकर कैसे व्यवहार किया जाये। लेकिन अन्य आचार्यों ने संभूति और असंभूति के अलग-अलग अर्थ बताये हैं। विनोबा भावे ने कहा कि यह हृदय-शोधन की प्रक्रिया है। हृदय शोधन कैसे? कि अपने में गुणों का विकास हो, संभूति हो। गुणों का निरन्तर विकास होना चाहिए और दोषों की असंभूति होनी चाहिए। दोषों का विनाश होना चाहिए। अपने दोषों को पहचानो और दोषों को निर्मूल कर दो। जब दोष निर्मूल होंगे और गुण पुष्ट होंगे तो कल्याण होगा। संभूति और असंभूति के लिए विनोबा भावे ने गुणों के विकास की प्रक्रिया और दोषों के निर्मूलन की प्रक्रिया पर बल दिया और बताया कि इससे हृदय शुद्ध होगा।

कुछ विद्वान हैं—सत्यदेव शास्त्री, दीनदयाल उपाध्याय आदि जो यह मानते हैं कि संभूति का अर्थ है समाज जिसमें सब साथ-साथ विकसित होते हैं। व्यक्ति अपने को अलग रखना चाहता है, औरों से आगे बढ़ना चाहता है अतः वह असंभूति है। तो संभूति और असंभूति के समन्वय का मतलब हुआ व्यक्ति और समाज का समन्वय। प्रसादजी की पंक्तियाँ याद आ रही हैं—

अपने में सब कुछ भर कैसे, व्यक्ति विकास करेगा,
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, सबका नाश करेगा।।
औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।।

नितान्त अहं मूलक वैयक्तिकता का निषेध और स्वस्थ सामाजिकता का समर्थन। लेकिन जो दमघोटू सामाजिकता है वह भी स्वीकार्य नहीं। समाज की व्यक्ति निरपेक्ष परिकल्पना केवल जल्पना है। समाज तो व्यक्तियों से बना है। व्यक्ति अगर बड़ा होगा, तब समाज बड़ा होगा। जैसे बड़े-बड़े पेड़ों से बड़ा जंगल होता है वैसे ही बड़े व्यक्तियों से बड़ा समाज बनता है। इसलिए व्यक्ति और समाज का समन्वय आवश्यक है। श्री अरविन्द घोष ने कहा कि संभूति और असंभूति का अर्थ है जन्म और अजन्म। यदि हम पैदा ही नहीं हुए होते तो हमें जीवन का रस नहीं मिलता। हमारे लिए उचित है कि पैदा होकर, इसी जन्म में हम मृत्यु को पार करें और शाश्वत को उपलब्ध करें।

तो संभूति और असंभूति—इन युग्मों के भी अलग-अलग अर्थ बताये गये हैं। मैंने कई बार यह बात कही होगी कि दृष्टि-भेद से दृश्य भेद होता है। जैसी आपकी दृष्टि है आपको सारी सृष्टि वैसी दिखती है। अपनी दृष्टि को निर्मल बनायें और जिस स्थिति पर आप हैं उसी स्थिति को स्वीकार करके अगर सच्चाई से आगे बढ़ेंगे तो उच्चतर भूमिकाएँ आपको प्राप्त होंगी। जिस भूमिका पर आज आप खड़े है, वही

अन्तिम भूमिका है—इस प्रकार के दंभ को मत स्वीकार कीजिये। यह आवश्यक है कि जिस स्थिति पर आप हैं, उस स्थिति में जो दृष्टि आपकी है, उस दृष्टि के अनुसार ईमानदारी से आप चेष्टा करें। अगर आप अपनी दृष्टि के प्रति निष्ठावान रहकर यथासंभव निष्काम भाव से कर्म करते जायेंगे, तो आप अवश्य उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त करेंगे। उन उच्चतर भूमिकाओं में आपकी दृष्टि में विस्तार आयगा। लेकिन जो भी दृष्टि आप स्वीकार करें उसके अनुसार इन दोनों युग्मों के अलग-अलग अर्थों को अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करें। केवल तर्क न करें, विचार के अनुरूप आचरण भी करें अन्यथा सारी बातें अर्थहीन हो जायेंगी। कर्मरहित बुद्धि की दयनीयता पर व्यंग्य करते हुए एक कवि ने लिखा है—

हर बात औरों की कत्रें से काटी। खाई सच झूठ की तर्कों से पाटी।।
जीत ली दुनिया कॉफी के प्यालों पर। शुद्ध बुद्धिजीवी की स्वस्थ परिपाटी।।

काम कुछ नहीं करेंगे। बहस, केवल बहस करते रहेंगे। बुद्धिजीवी और काम? राम-राम!

ऐसा नहीं होना चाहिए। चेष्टा यह होनी चाहिए कि जिसको हमने स्वीकार किया उस दृष्टि के अनुसार हम अपना जीवन जियें। केवल बहस नहीं। स्वीकार किए हुए सिद्धांत को जीवन में उतारने की प्रार्थना। नौ से चौदह तक इन छह मंत्रों में कर्म की उपर्युक्त व्याख्या कर वैसा कर्म करते हुए औपनिषदिक दृष्टि के अनुसार जीवन जीने की प्रेरणा दी गयी है। यह बात भी बताई गयी है कि यह इतनी कठिन साधना है कि इस कठिन साधना को हम केवल अपने बलबूते पर नहीं कर सकते हैं? अतः प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए इस साधना की सिद्धि के लिए।

ईशावास्योपनिषत्कार कौन हैं? किससे कह रहा है? क्यों कह रहा है? ईशावास्योपनिषद् को हम अपौरुषेय मानते हैं। यह साक्षात् वेद-संहिता का भाग है। यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। अपौरुषेय किसको कहते हैं? जो अहं से मुक्त हो जाये, उसकी वाणी अपौरुषेय है। जो अपने क्षुद्र अहं से अपने राग-द्वेष से मुक्त हो जाये उसकी वाणी अपौरुषेय है। ईशावास्योपनिषत्कार एक ही साथ ब्रह्मज्ञानी भी है और गुरु भी है। ईशावास्य के सत्य का अनुभव कर लेने के बाद वह उसका उपदेश अपने शिष्यों को कर रहा है। और वह जानता है कि उसके सारे शिष्य उसकी तरह ब्रह्मज्ञानी नहीं हैं। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म का अनुभव कर लेने के बाद एकवचन का प्रयोग करते-करते बहुवचन का प्रयोग क्यों करता है? वह बहुवचन का प्रयोग अपने शिष्यों के लिए कर रहा है। वह बहुवचन का प्रयोग समस्त साधकों की तरफ से कर रहा है। इस बात को समझने की चेष्टा करें कि संत लोग क्यों कहते हैं—

मो सम कौन कुटिल खलकामी।

क्या सचमुच सब सन्त लोग कुटिल, खल और कामी थे? नहीं, नहीं! संत समाज के प्रतिनिधि के रूपमें यह बात कह रहे हैं। समाज के साधारण लोग कुटिल हैं, खल हैं, कामी हैं, अपने को उनके साथ एक करके सन्त यह कह रहे हैं जिससे समाज के लोग उनकी बात सुनें और उनकी बात सुनकर कुटिल, खल, कामी न रहें। कुटिल, खल, कामी वह सन्त नहीं है जो ऐसा कह रहा है।

इसी तरह ईशावास्योपनिषत्कार क्या प्रार्थना कर सकता है? पन्द्रह, सोलह, सत्रह, अट्ठारह—ये चारों मंत्र प्रार्थना के हैं जिसने ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया, जिसने यह अनुभव कर लिया कि मैं सबमें हूँ, सब मुझमें हैं। वह क्यों प्रार्थना करेगा? किससे प्रार्थना करेगा? वह तो परम तत्त्व से अभिन्न हो गया—

मेरा मन सुमिरै राम कूँ मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा सीस नवावौं काहि।।

अब मेरा मन राम हो गया। तो कौन, किसको सिर झुकाए? मैं तो स्वयं राम हो गया तो किसको सिर झुकाऊँ? ब्रह्मज्ञानी किससे प्रार्थना कर रहा है? किस बात के लिए प्रार्थना कर रहा है? प्रार्थना उस बात के लिए की जाती है जिसको हम बड़ा मानते हैं। जो हमें प्राप्त नहीं है और जिसको हम केवल अपने बलबूते पर प्राप्त नहीं कर सकते। तीनों बातों को याद रखिये। प्रार्थना किसके लिए करते हैं? प्रार्थना हम उस बात के लिए करते हैं जिसको हम अपने लिए श्रेयस्कर मानते हैं, बड़ा मानते हैं। जिसको हम अपने बलबूते पर प्राप्त नहीं कर सकते उसको प्राप्त करने के लिए किसी की कृपा की याचना करते हैं, सहायता की याचना करते हैं उससे, जिसको हम अपने से बड़ा मानते हैं। जिसको हम सर्व समर्थ मानते हैं। प्रार्थना किससे करनी चाहिए? जो खुद भिखारी हो, उससे प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। जो खुद अपूर्ण हो, अधूरा हो, उससे प्रार्थना करके क्या होगा?

जग जाँचिये कोउ न, जाँचिये जो जिय जाँचिये जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे।।

किसी से मत माँगिये। अगर माँगना ही हो तो परमात्मा से माँगिये जिससे माँगने से याचना वृत्ति ही भस्म हो जाती है। तो यह प्रार्थना ईशावास्योपनिषत्कार क्यों कर रहा है? ईशावस्योपनिषत्कार तो ब्रह्म ज्ञानी है। वह तो ब्रह्म वेत्ता है। वह तो ब्रह्म-स्वरूप है। उसको तो कुछ पाना नहीं है। उससे तो भिन्न कोई नहीं है किससे प्रार्थना? किसके लिए प्रार्थना? यहीं गुरु की करुणा अवतरित होती है। एक गुरु प्रार्थना कर रहा है शिष्यों की तरफ से। ऋषि प्रार्थना कर रहा है हमारी आपकी तरफ से। ऋषि प्रार्थना करता है सब कुछ उपलब्ध करने के बाद इसलिए कि जिन्होंने ब्रह्म-ज्ञान उपलब्ध नहीं किया है, ब्रह्म का अनुभव नहीं किया है, वे उसको उपलब्ध कर सकें, उसका अनुभव

कर सकें। कितनी बड़ी बात है। कितनी बड़ी कृपा है गुरु की। गुरु हमारी भूमिका पर उतर कर, हमारी तरह अपने को सीमित अल्प शक्तिमान बता कर गुरु हमारी तरफ से प्रार्थना कर रहा है। हमको प्रार्थना करना सिखा रहा है। हमको बता रहा है किससे प्रार्थना करनी चाहिए? हमको बता रहा है प्रार्थना करके क्या माँगना चाहिए? हमको बता रहा है प्राप्त करने के बाद भी जीवन कैसे जीना चाहिए। यह प्रार्थना ब्रह्मज्ञानी की प्रार्थना है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के बाद तदनुरूप जीवन जीने की प्रार्थना है। यह सीखने लायक प्रार्थना है। यह करने लायक प्रार्थना है। इस प्रार्थना को अपने जीवनमें उतारने की साधना करनी चाहिए। क्या प्रार्थना है? ऋषि प्रार्थना कर रहा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।१५।।

जो परम सत्य है, वह ढका हुआ है। किससे ढका हुआ है? वह हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है। वह अत्यन्त आकर्षक, चमकीले सुनहरे ढक्कन से ढका हुआ है। उस ढक्कन का आकर्षण इतना है कि उसी ढक्कन को हम लक्ष्य मान बैठे हैं— *रास्ता दिलचस्प इतना था कि मंजिल हो गया।*

जो चीज ढकी हुई है, जो हमारा प्राप्य है उसको हम नहीं प्राप्त कर पाते और जो केवल आवरण है, उसकी चमक-दमक, उसका ऐश्वर्य, सौन्दर्य—वह हमको आकृष्ट कर लेता है, बाँध लेता है। प्रार्थना करो कि उस आवरण को प्रभु आप हटायें। प्रार्थना करो कि मैं सत्यधर्मा हूँ। मैं सत्य का दर्शन करना चाहता हूँ, निरावृत सत्य का दर्शन करना चाहता हूँ। आवरण-पर-आवरण है! एक आवरण नहीं है। उसमें हिरण्मय, कांचन सीधे-सीधे आया है। किन्तु क्या केवल लोभ? क्या काम नहीं है? क्या अहंकार नहीं है? कितने आवरण हैं। उन आवरणों को प्रभु तुम हटाओ। हम तुम्हारे निरावृत सत्य स्वरूप का साक्षात्कार कर सकें। अपने मन में सत्य को ही अपना धर्म मान लें।

जो परम सत्य है उसका रूप हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है। हे प्रभु! तुम उस प्रलोभन को, उस मिथ्या उपलब्धव्य को, जो प्राप्त करने योग्य नहीं है किन्तु जिसको प्राप्त करने योग्य मानकर हम अपने जीवन को व्यर्थ कर रहे हैं, उस आवरण को हटा दो! जिससे तुम्हारे निरावृत सत्य स्वरूप का मैं दर्शन कर सकूँ। तुम्हारे इस स्वरूप का दर्शन करना मेरे बलबूते की बात नहीं है। जिसको इसमें हिरण्मय पात्र कहा है, उसी को गीता में माया कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। (७/१४)

माया को वे ही पार कर सकते हैं जो मेरे प्रति शरणागत होते हैं। शरणागति--देखो भैया! भगवान् से तीन तरह के सम्बन्ध हो सकते हैं। मेरा सम्बन्ध बल्कि निन्यानबे दशमलव नौ आवर्त दशमलव प्रतिशत लोगों का सम्बन्ध प्रभु से ऐसा है कि उनके लिए भगवान् साधन हैं और इस संसार की कोई वस्तु साध्य है। मैं करोड़पति हो जाऊँ, मैं एम०पी० हो जाऊँ, मंत्री हो जाऊँ, मुझको अच्छा पति मिल जाये, मुझको अच्छी पत्नी मिल जाये, मेरी बीमारी दूर हो जाये अर्थात् इस कोटि के लोगों के लिए इस संसार का कोई पदार्थ, कोई स्थिति, कोई व्यक्ति, कोई भोग साध्य है और रामजी साधन हैं। साध्य बड़ा होता है, साधन छोटा होता है। हम लोग रामजी को छोटा बनाकर रामजी से कोई बड़ी चीज पाना चाहते हैं। छिः छिः।

लेकिन अपने को सुधारने का यह भी एक तरीका हो सकता है। तुलसी बाबा ने कहा है कोई बात नहीं। अगर तुम्हारे मन में कामना है तो भी कोई बात नहीं। माँगो तुम रामजी से। लेकिन रामजी से ही माँगो। रामजी के अलावा और किसी से मत माँगो। रामजी तुमको देंगे और फिर धीरे-धीरे तुम्हें निष्काम भी कर देंगे। थोड़े से लोग हैं बहुत थोड़े से लोग जिनका रामजी से साधनसाध्य संबंध है। वे अपने ज्ञान से, अपने कर्म से, अपनी भक्ति से, अपने योग से रामजी को प्राप्त करना चाहते हैं। उनके साध्य रामजी हैं। पाना किसको? रामजी को! साधन है मेरा ज्ञान, मेरी भक्ति, मेरा कर्म, मेरा योग। कुछ लोग होंगे ऐसे। जरूर होंगे। मैं अस्वीकार नहीं करता। रामजी को अपने साधन से जरूर प्राप्त कर सकते होंगे। लेकिन भाई! मैं तो नहीं कर सकता। मैं तो न इतना ज्ञानी हूँ, न ऐसा निष्काम कर्मी हूँ, न इतना भक्त हूँ, न इतना योगी हूँ कि उनको प्राप्त कर सकूँ। मेरे तो साधन भी रामजी हैं और मेरे तो साध्य भी रामजी हैं। शरणागति यही है कि आपके साधन भी रामजी हो जाएँ और आपके साध्य भी रामजी हो जाएँ। रामजी को प्राप्त करना मेरे व्यक्तिगत बलबूते की बात नहीं है। रामजी की कृपा ही मुझे रामजी को प्राप्त करा दे। यही शरणागति है।

मैं सत्यधर्मा हूँ। मैं तुम्हारे निरावृत सत्य-स्वरूप का दर्शन करना चाहता हूँ। मैं असमर्थ हूँ। कोई दूसरा साधन ऐसा नहीं है जो सत्य स्वरूप के दर्शन करा सके। तुम्हीं कृपा करके उस आवरण को हटा दो जिससे मैं तुम्हारे सत्य-स्वरूप का दर्शन कर सकूँ।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणातमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।१६।।

यह मंत्र इसी शरणागति की उत्तर भूमिका है। मंत्र की अगली पंक्ति में ऋषि प्रभु को बार-बार संबोधन कर रहे हैं; तुम पोषण करने वाले हो, तुम नियमन करने वाले हो, तुम सर्व समर्थ हो, तुम अपने इस आकर्षक आवरण की ज्योतियों को समेट लो। ऋषि

को लगता है कि प्रभु ने अपने आवरण को कृपा करके समेट लिया। अब वह कहता है मैं तुम्हारा दर्शन कर रहा हूँ। तुम्हारे उस अभ्यन्तर ज्योति पुरुष का अनुभव कर रहा हूँ। अरे! तुम्हारे भीतर जो ज्योति पुरुष है, वह तो मैं ही हूँ। सोऽहमस्मि।

तुम्हारे जिस कल्याणतम रूप का मैं साक्षात्कार कर रहा हूँ वह मैं ही हूँ। सुनी सुनाई बात नहीं है यह, प्रत्यक्ष अनुभव की बात है—

कहा सुनी की है नहीं, देखा देखी बात।
दूल्हा दुलहिन मिल गए फीकी पड़ी बरात।।

पश्यामि मैं देख रहा हूँ, यह घोषणा उन तमाम लोगों को चुनौती है जो नास्तिक हैं, उन तमाम लोगों की मान्यता की अस्वीकृति है—जो कहते हैं कि कुछ तत्त्व नहीं है। है, तत्त्व है! मैंने उसका साक्षात्कार किया है। *तत्ते पश्यामि!* तुम्हारे उस कल्याणतम, तुम्हारे अभ्यन्तरतम, तुम्हारे वास्तविक रूप का मैं साक्षात्कार कर रहा हूँ। अरे! वह तो मैं ही हूँ।

शरणागति के द्वारा सोऽहं की भूमिका। एक कवि ने लिखा है—

तभी सफल आराधन होता, जब आराधक अपना रूप।
धीरे-धीरे तजता जाता, बन जाता आराध्य स्वरूप।।

जिसका दर्शन करने की लालसा लेकर मैं जीवन भर साधना करता रहा हूँ वह तो मैं ही हूँ। यहाँ पर समाप्त हो जाना चाहिए था इस उपनिषद् को। पर इसके बाद दो मंत्र और हैं। क्यों हैं? क्योंकि ब्रह्मज्ञान या शरणागति के द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार करने के बाद भी यह शरीर रहता है। इसके बाद तो तुरन्त शरीर छूट नहीं जाता। यह अनुभव कर लेने के बाद भी कि इन तमाम नाना नामरूपों में एक ही तत्त्व है, भले ही दिख रहा है बहु; यह अनुभव कर लेने के बाद भी कि इस शरीर के भीतर ही वह परम तत्त्व है यह शरीर बना रहता है और इस शरीर की अपनी आवश्यकताएँ भी हैं। यह शरीर भूखा भी होता है। यह शरीर प्यासा भी होता है। इस शरीर की अपनी प्रकृति है जो इसको खींच कर इधर-उधर ले जाती है। इस शरीर की प्रकृति मुझ पर हावी न हो जाये। जब तक यह शरीर है तब तक ब्रह्मज्ञानी को भी परमात्मा का आश्रय लेना चाहिए, प्रार्थना करते रहना चाहिए। ज्ञानोत्तर भक्ति की स्वीकृति है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम्।।

द्वैत की स्थिति बाँधने वाली मोहकारिणी तब तक होती है जब तक ज्ञान नहीं हो जाता। द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्—बोध के ज्ञान के प्राक् पहले द्वैत की स्वीकृति मोह के लिए, बन्धन के लिए होती है। प्राप्ते बोधे ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर मनीषया—अपनी मनीषा से *भक्त्यर्थं कल्पित द्वैतं*— यदि भक्ति के लिए द्वैत कल्पना की तो वह कल्पना अद्वैत से भी सुन्दर है।

वह मैं हूँ। इस अनुभव के बाद भी भक्ति के लिए द्वैत की कल्पना विहित है। *अद्वैतादपि सुन्दरं*— वह तो अद्वैत से भी सुन्दर है भाई! भक्ति के लिए की गयी ज्ञानपूर्वक द्वैत की कल्पना अद्वैत से भी सुन्दर है। इसलिए वह अनुभवकर्ता यदि मृत्यु के पहले या सारा जीवन प्रभु को स्मरण करता है तो कृतार्थ हो जाता है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।

ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।।१७।।

यह जीवन भर की जाने योग्य प्रार्थना है! केवल मृत्यु के पहले नहीं! कुछ आचार्यों ने इसको मृत्यु के पहले की जाने वाली प्रार्थना कहा है। हाँ, मृत्यु के समय भी प्रार्थना करनी चाहिए। लेकिन मृत्यु के समय प्रार्थना कब होगी भाई?

जनम-जनम मुनि जतन कराहीं, अंत राम कहि आवत नाहीं।

जन्म-जन्म की साधना के बाद भी अंतिम समय क्या रामजी की ओर ध्यान जाता है, नहीं जाता है। जीवन भर अगर यह प्रार्थना करेंगे तो शायद भगवान की कृपा से मृत्यु के समय भी यह प्रार्थना कर पायेंगे? पंडितराज जगन्नाथ का श्लोक है—

कृष्ण त्वदीय पदपंकजपंजरान्ते,

अद्यैव मे विशतु मानस राजहंसः।

हे कृष्ण! तुम्हारे चरण-कमलों के पिंजरे में मेरा यह मन रूपी राजहंस आज ही प्रवेश कर जाए-

प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः

कंठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते।

प्राण-प्रयाण के समय जब कफ, वात और पित्त मेरी वाणी को अवरुद्ध कर देंगे तब मैं कहाँ तुमको याद कर पाऊँगा? इसलिए मरने के समय की बात छोड़ दीजिये। मरने के समय भी याद कीजिये। जरूर याद कीजिये। क्योंकि मरने के समय के स्मरण के अनुरूप हमको शरीर प्राप्त होता है। तदनुरूप हमारी गति होती है, लेकिन मरने के समय प्रभु को याद तभी कर सकेंगे जब जीवन भर उनको याद करते रहें।

वायु रूपी जो मेरी आत्मा है वह चराचर जगत् में सृष्टि को गति देने वाले अनिल में समा जाए। आत्मा-परमात्मा में समा जाये। शरीर तो भस्मान्त है। शरीर की तो गति भस्म होना है। शरीर के प्रति मोह छोड़ दो। ॐ अर्थात् परमात्मा का वैदिक नाम। क्रतु! क्रतु माने? संकल्पशील मन! क्रतो—संबोधन है। ओ मेरे संकल्पशील मन! कृतं स्मर किये हुए को याद कर! किसके किए हुए को? इस पर मतभेद है।

कुछ आचार्य कहते हैं अपने किये हुए को। जो कुछ तुम्हारा अच्छा है, श्रेष्ठ है उसको याद करो। कुछ आचार्य कहते हैं—नहीं-नहीं। भगवान् के किए हुए को याद करो। क्या थे तुम? नरक के कीड़े के समान काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर के

दलदल में फँसे हुए थे। किसने तुम पर इतना बड़ा अनुग्रह करके ब्रह्मज्ञानी बना दिया। ब्रह्म प्राप्त करने की शक्ति दे दी। उसके अनुग्रह को, उसकी कृपा को स्मरण करो।

कृतं स्मर—किये हुए को याद करो। किसके किए हुए को? अलग-अलग दृष्टि है। हर मंत्र पर अलग-अलग दृष्टि है। लेकिन आप चाहे अपनी साधना के उत्कृष्ट पक्ष को, चाहे भगवान् की करुणा को, भगवान् की कृपा को, अपने प्रति किये गये भगवान् के अनुग्रहों को स्मरण करें। लेकिन भावार्थ एक ही है कि उसकी ओर लगें। उसको याद करते रहें।

गीता में प्रभु ने कहा है—*मामनुस्मर, युद्ध्य च*—जीवन का संग्राम करते रहो और जीवन के संघर्ष में मुझको याद करते रहो। जीवन के क्षण-क्षण में, साँस-साँस में मुझको याद करो और जीवन का संघर्ष करते रहो। अन्तिम प्रार्थना है—

अग्ने नये सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।।१८।।

हे अग्नि! अग्नि स्वरूप परमात्मा! कभी सूर्य के माध्यम से, कभी वायु के माध्यम से और इस मंत्र में अग्नि के माध्यम से परमात्मा से प्रार्थना की जा रही है। याद रहे कि प्रार्थनीय के नाम, प्रार्थना की अभिलाषा के अनुकूल होते हैं। जब हम ज्ञान चाहते हैं, तो ज्ञानी के रूप में उसको स्मरण करते हैं। जब हम अर्थ चाहते हैं तो उसको कल्पवृक्ष के रूप में याद करते हैं, प्रभु तो अर्थ देने वाले, ज्ञान देने वाले, शक्ति देने वाले सब कुछ देने वाले हैं। आप क्या चाहते हैं? जो चाहते हैं उसके अनुरूप प्रार्थना कीजिये।

तो, आप जीवन की या जीवनोत्तर महान यात्रा के समय प्रकाश चाह रहे हैं, आप एक मार्ग-दर्शक चाह रहे हैं। अग्नि अग्रणी है अग्नि—प्रकाश स्वरूप है। अतः उस मार्गदर्शक प्रभु से प्रार्थना कीजिये कि प्रभु! मुझको अच्छे रास्ते से, सरल रास्ते से, सीधे रास्ते से ले चलिये— *एनः माने पाप। जुहुराणाम् माने कुटिल।* कुटिलता ही पाप है। सरलता ऋजुता ही पुण्य है।

सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुबर प्रेम प्रसूति।।

आर्जव, ऋजुता, सरलता—यह भगवान् की ओर ले जाने वाला बड़ा गुण है। कुटिलता, क्षुद्रता! नारायण! ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है कि हमको कुटिलता, वक्रता, पापों से बचाओ। इनको नष्ट कर दो। हमको सरल रास्ते से, सुगम रास्ते से, प्रकाश के रास्ते से ले चलो। हमारा साधन भी पवित्र हो। हमारा साध्य भी पवित्र हो। यह नहीं कि कुटिल साधन से आप उच्चतर साध्य तक जा सकते हैं। नहीं जा सकते! ठीक है! साध्य से किसी प्रकार जुड़िये! लेकिन रावण ही बनेंगे कंस ही बनेंगे? कि राधा बनेंगे कि भरत बनेंगे। क्या बनना चाहते हैं? अगर रावण, कंस बनना चाहते हैं

तो भी आप मिलेंगे रामजी से, कृष्णजी से मिलेंगे। किन्तु क्यों बनें रावण? क्यों बनें कंस? कुटिलता से मुक्त होकर सरलता से सुपथ से, सही रास्ते से उचित साधन से परम साध्य की ओर हे प्रभु! आप ही मुझे ले चलिए। शरणागत की चरम भूमिका इस मंत्र में परिलक्षित होती है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शान्ति पाठ आरम्भ में है अन्त में भी। पूर्णता से पूर्णता ही उद्गत होती है। पूर्ण ही रह जाता है। परम कारण ब्रह्म पूर्ण है। यह जगत कार्य ब्रह्म पूर्ण है। हम अगर फूल माला को अंधेरे में साँप समझ लें तो अंधेरे में समझे हुए साँप का वजन क्या बढ़ जाता है? नहीं बढ़ता है। अंधेरे में समझे हुए साँप का वजन न घटता है, न बढ़ता है। जैसी माला, वैसा साँप। माला को माला समझ लें। इस असंख्य नामरूप में, अपूर्णता के इस दलदल में उस पूर्णता को समझ लें, उपलब्ध कर लें। बाहर भी पूर्ण है। भीतर भी पूर्ण है। आप भी पूर्ण हैं। जगत् भी पूर्ण है। इस पूर्णता की उपलब्धि से अपूर्णताओं का क्षरण हो जाता है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

प्रार्थना से तीनों प्रकार के ताप दूर होते हैं— आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक ताप माने अपने भीतर जो ताप है। अध्यात्म शब्द का अर्थ समझिये। आजकल अध्यात्म शब्द का अर्थ हिन्दी में एक और अर्थ में चलने लगा है। पश्चिम के विद्वान मैटीरियलिज्म (Materialism) के विरोध में स्पिरिचुअलिज्म (Spiritualism) को लाते हैं। इसका अनुगमन कर हिन्दी में मैटीरीयलिज्म को भौतिकतावाद और स्पिरिचुअलिज्म को आध्यात्मिकतावाद कहने लगे। वह आध्यात्मिकता जैसे किसी दूसरे जगत् की बात है। नहीं! हम लोग अध्यात्म को इस रूप में नहीं मानते। हमारे यहाँ अध्यात्म शब्द का अर्थ है आत्मनि अधि। जो अपने भीतर है। अपने भीतर क्या है? अपने भीतर काम भी है, क्रोध भी है, लोभ भी है, मोह भी है, मद भी है, मत्सर भी है। अपने भीतर ज्ञान भी है, शान्ति भी है। करुणा भी है। अपने भीतर परमात्मा भी है। ये सब आध्यात्मिक हैं।

जब हमारे भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह जागता है तो यह आध्यात्मिक ताप है।

जब हमारे भीतर ज्ञान, करुणा, समता जागती है तो यह आध्यात्मिक सुख है और अध्यात्म का भी अध्यात्म है अपना वास्तविक स्वरूप। अपना स्वरूप अपना ब्रह्म स्वरूप है।

तो तीनों तापों की शान्ति हो। माने हमारे भीतर जो सबसे बड़े शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर और उसी के भाई-बन्धु अनेक प्रकार के मानस रोग हैं, उनकी

शान्ति हो। कैसे आश्चर्य की बात है। हमारे देश में, हमारी परम्परा में बीमारियों को आध्यात्मिक ताप कहा जाता है। केवल अंग्रेजी पढ़ने से बीमारी को आध्यात्मिक ताप नहीं माना जायेगा। लेकिन जितनी बीमारियाँ हैं, जो हमारे शरीर को होती हैं, जो हमारे मन को होती हैं ये सब आध्यात्मिक ताप हैं। इनकी शान्ति हो।

आधिदैविक ताप का मतलब ? बिजली गिर पड़ी सूखा पड़ गया। बाढ़ आ गई। ये सब आधिदैविक ताप हैं। इनकी शान्ति हो।

आधिभौतिक ताप माने ? दूसरों के द्वारा इस जगत् में हमको जो दुःख कष्ट दिया जाता है, वह आधिभौतिक ताप है।

आध्यात्मिक अपने भीतर का, आधिदैविक दैवी विधान के द्वारा—सूखा, बाढ़, भूकम्प, बिजली और आधिभौतिक दूसरों के द्वारा हमारा अपमान, दूसरों के द्वारा हम पर हमला—ये तीनों प्रकार के ताप शान्त हों। हम एकाग्र चित्त होकर प्रभु की साधना में, ईशावास्योपनिषद् के मर्मार्थ को समझने में प्रवृत्त हों।

आरम्भ में, शान्ति पाठ का उद्देश्य यह है कि हम एकाग्र चित्त होकर इस गंभीर सत्य के अनुशीलन में प्रवृत्त हो सकें। अन्त में शान्ति-पाठ का लक्ष्य यह है कि उस उपलब्ध सत्य को अपने जीवन का सार अंग बना सकें। प्रभु कृपा से यह मर्म, यह तत्त्व हमारे, आपके सबके जीवन में अवतरित हो। ●

योग की गीतोक्त परिभाषाएँ

योग की गीता में तीन परिभाषाएँ दी गयी हैं। इनमें दो परिभाषाएँ बहुत विख्यात हैं, जिन्हें अधिकतर लोग जानते हैं — *'समत्वं योग उच्यते'* (२/४८), एवं *'योगः कर्मसु कौशलम्'* (२/५०), अर्थात् समत्व को योग कहते हैं तथा कर्म में कुशलता का नाम योग है। एक और परिभाषा है छठे अध्याय में जिसे कम लोग जानते हैं— *तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्* (६/२३), अर्थात् दुःख के संयोग के वियोग का नाम योग है। आप देखिए यहाँ कहा गया है कि दुःख के संयोग के वियोग का नाम योग है, यह नहीं कहा गया है कि दुःख के वियोग का नाम योग है। इन तीनों परिभाषाओं का मर्मार्थ क्या है, इन परिभाषाओं की क्या महिमा है, इनका आन्तरिक सम्बन्ध क्या है, इन विषयों की थोड़ी सी चर्चा मैं आपके सामने करूँगा।

पहले इस बात पर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि गीता एक ही साथ उपनिषद् भी है और योगशास्त्र भी। गीता के किसी भी अध्याय की पुष्पिका को आप देखें तो उसमें इस तथ्य का उल्लेख पायेंगे। प्रथम अध्याय की पुष्पिका को ही देख लीजिए — *ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।* इसी तरह सभी अध्यायों में किसी न किसी योग की विवेचना है और सब अध्यायों की 'पुष्पिका' में कहा गया है *श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां।* गीता उपनिषद् है। गीता ब्रह्म विद्या है ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या है। किन्तु गीता केवल ब्रह्म का विवेचन ही नहीं करती। यह उपनिषद् होने के साथ-साथ योगशास्त्र भी है। गीता मनुष्य के जीवन का जो सर्वोच्च लक्ष्य है, *'ब्रह्मानुभूति'*, उसका विवेचन भी करती है और उस ब्रह्मानुभूति को कराने की पद्धतियों का भी निरूपण करती है। उन रास्तों को भी गीता बताती है जिन पर चलकर ब्रह्मानुभूति की जा सकती है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि ब्रह्मविद्या का शास्त्र पुराने आचार्यों के अनुसार मुख्यतः अरण्य का शास्त्र था। अरण्यों में रहकर

जिस विद्या का बोध हो सकता था, अरण्यों में जिसका उपदेश दिया जाता था, भगवान ने उसका विवेचन रणभूमि में किया। अरण्य की विद्या को रणभूमि में उपस्थित करने में भगवान का क्या उद्देश्य रहा होगा? उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि ब्रह्म विद्या को और ब्रह्मानुभूति कराने वाले योगों को केवल अरण्य में नहीं समाज में, व्यवहार में प्रवृत्त होना चाहिए। इसीलिए गीता का योगशास्त्र योग दर्शन से बहुत कुछ समानता रखते हुए भी बहुत विशिष्ट है।

इस योगशास्त्र की व्याख्या करने के पूर्व योग की व्युत्पत्तियों पर कुछ विचार करना आवश्यक है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि गीता में योग का किन-किन अर्थों में प्रयोग किया गया है। योग की तीन व्युत्पत्तियाँ बतायी गई हैं — *युजिर् योगे, युज् समाधौ, युज् संयमने।* यह सही है कि गीता में इन तीनों अर्थों में योग शब्द का प्रयोग हुआ है, लेकिन गीता में योग शब्द का प्रधान प्रयोग पहले अर्थ में हुआ है— *युजिर् योगे।* यहाँ *'योग'* का अर्थ है सम्बन्ध जोड़ देना, सम्बन्ध बना देना, बाँध देना, जोड़ देना जिसके द्वारा सम्भव है, जिस मार्ग द्वारा हम उससे जुड़ सकते हैं, उसको यहाँ योग कहा गया है। और इसी अर्थ में गीता में सांख्ययोग (ज्ञान योग), कर्म योग, भक्ति योग, ध्यान योग आदि अनेक योगों की चर्चा की गई है। गीता में तो श्रीकृष्ण के प्रति निवेदित अर्जुन के विषाद को भी विषाद योग कह दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि यदि आपका विषाद भी प्रभु को सच्चे हृदय से समर्पित है, तो वह विषाद भी आपको भगवान से जोड़ सकता है। डंके की चोट पर गीता के प्रथम अध्याय की पुष्पिका में कहा गया है *अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।* हमारा आपका विषाद भी अगर सच्चे हृदय से प्रभु को समर्पित हो तो वह भी हमको-आपको भगवान से जोड़ देगा इस बात का आश्वासन गीता देती है। फिर निष्काम कर्म, ज्ञान, भक्ति, शरणागति आदि का तो कहना ही क्या। गीता के अनुसार इनमें से कोई भी साधन यदि सत्यनिष्ठापूर्वक किया जाये तो वह योग बन सकता है, हमें भगवान के साथ जोड़ सकता है।

"युज् समाधौ"—इस अर्थ में भी योग का प्रयोग गीता में हुआ है। गीता कहती है *'उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये"* (६/१२) आसन पर बैठकर योग के साथ अपने को जोड़ो जिससे कि हृदय की विशुद्धि हो। युज् संयमने के अर्थ में भी गीता में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। संयमन का अर्थ है सामर्थ्य, शक्ति, प्रभाव आदि। प्रभु ने अर्जुन से कहा, *'पश्य मे योगमैश्वरम्'* (११/८) अर्थात् मेरे योग को देखो, तो वहाँ अपने सामर्थ्य को, अपनी योग शक्ति को देखने के लिए वे कह रहे हैं फिर भी समग्र दृष्टि से कहा जा सकता है कि पहला अर्थ *'युजिर् योगे'* ही गीता को सबसे अधिक अभीष्ट है क्योंकि सबसे अधिक बार इसी अर्थ में योग शब्द का प्रयोग गीता में किया गया है।

गीता में योग की जो विशिष्ट परिभाषाएँ दी गयी हैं, उनका सही-सही अर्थ

समझने के लिए उनके सन्दर्भ को समझना आवश्यक है क्योंकि शब्दों के अनुरूप ही वाक्यों का अर्थ भी अपने सन्दर्भ में ही स्पष्ट होता है। सन्दर्भ को अनदेखा कर यदि किसी वाक्य का अर्थ किया जाये तो उससे कभी-कभी अनर्थ हो जा सकता है। गीता में योग की जो पहली दो परिभाषाएँ हैं वे एक ही सन्दर्भ में हैं। जिन विशेषताओं के कारण मनुष्य का कर्म उससे लिप्त नहीं होता उन्हें समझाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।
योगस्थः कुरु कर्माणि संगंत्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। (२/४७-५०)

ये जो पहली दो परिभाषाएँ हैं, ये बिल्कुल स्पष्ट रूप से योग की, गीता की अपनी व्याख्याएँ हैं। आप इनमें देखेंगे कि यह संकेत किया गया है कि जो बुद्धियुक्त है वह सुकृत और दुष्कृत, दोनों को त्याग देता है। इनमें बताया गया है कि जो समत्व में स्थिर होकर काम करता है उसको कर्म का फल नहीं लगता। कर्म का फल लगता है या नहीं लगता, इसके ऊपर बहुत बहस है। ईशावास्योपनिषद् में डंके की चोट पर कहा गया है कि कर्म लिप्त नहीं होता—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। (२)

मनुष्य को कर्म लिप्त नहीं होता, नहीं होना चाहिए— *'न कर्म लिप्यते नरे'।* तो फिर हमारे शास्त्रों में बारबार यह बात क्यों कही गयी है कि — *अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।* किसी संस्कारशील बालक से भी पूछा जाये तो वह कहेगा कि कर्म का फल तो भोगना ही पड़ेगा। तुलसीदास जी ने भी कहा है, *कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा।।* विश्व तो कर्म प्रधान है। जो जैसा करेगा उसको वैसा फल चखना ही पड़ेगा। लोग सामान्यतः मानते हैं कि कर्म का फल अनिवार्य रूप से हमको भोगना पड़ता है। एक बढ़िया श्लोक है—

द्रव्याणि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
कर्मानुगो गच्छति जीव एकः।।

हम जो कुछ कमाते हैं, वह कहाँ जायेगा? *द्रव्याणि भूमौ* — हमारी सारी

कमाई, हमारा सारा धन यहीं इसी भूमि पर छूट जायेगा। पशवश्च गोष्ठे — हमारे सारे हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भैंस आदि सब पशु यहीं पशुशाला में बँधे रह जायेंगे। मध्ययुग का यह श्लोक है। इसमें पशुओं का उल्लेख है, आज आप मोटर कह लीजिए, हैलीकॉप्टर कह लीजिए, विमान कह लीजिए, आपके ये सब साधन यहीं छूट जायेंगे – *भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने* — पुराना श्लोक है, मध्यकाल तक, आधुनिक काल के पहले तक पत्नियाँ सामान्यतः श्मशान में नहीं जाती थीं। अब भी नहीं जाती हैं बहुत सी। भार्या घर के दरवाजे तक जायेगी, नाते, रिश्तेदार, बन्धु-बान्धव श्मशान तक जायेंगे। *देहश्चितायां।* हमारा आपका शरीर भी चिता तक साथ देगा — *परलोकमार्गे कर्मानुगो गच्छति जीव एकः* — परलोक के मार्ग में अपने कर्म का अनुगमन करते हुए जीव अकेला ही जायेगा।

ये सारी सम्पत्तियाँ, सारा तथाकथित यश, अधिकार, सब यहीं छूट जायेगा और कर्म के अनुकूल, कर्म का फल भोग करते हुए, कर्म का अनुगमन करते हुए परलोक में जीव को अकेले जाना होगा। कर्म का इतना बड़ा दबाव जिस समाज पर हो कि कर्म का फल अवश्यमेव भोगना ही पड़ेगा, उस समाज में भगवान गीता के द्वारा ईशावास्योपनिषद् की बात को युक्तियुक्त ढंग से पल्लवित कर रहे हैं। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि, *'न कर्म लिप्यते नरे'।* कर्म लिप्त नहीं होता, तो क्या लिप्त होता है? वह कौन सी बात है जो हमको हमारे कर्म से बाँध देती है? गीता में बताया गया है कि यह कर्तृत्व का अहंकार है। गीता में बताया गया है कि यह फल के प्रति आसक्ति है। गीता में बताया गया है कि यह कर्म विशेष के प्रति आसक्ति है। आप इस बात पर ध्यान दीजिये कि सामान्यतः हम अपने को कर्त्ता मानते हैं, और जो कर्त्ता होगा वह भोक्ता होगा ही होगा। हमारे चार पुरुषार्थ हैं, *धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष!* धर्म, अर्थ, काम इन तीनों में कर्तृत्व का बोध होता ही होता है। हमारा धर्मशास्त्र यह कहता है कि जो काम करते समय अपने को कर्त्ता मानता है, जो कर्तृत्व बुद्धि से काम करता है, उसी को कर्म का फल मिलता है। आप सोये-सोये करवट बदलें और अनजाने आपके शरीर से कोई मच्छर, या कोई खटमल, या कोई दूसरा जीव दबकर मर जाये, तो उसकी हत्या का कोई पाप आपको नहीं लगेगा। क्योंकि आपमें कर्तृत्व का बोध नहीं था। आप एक घड़ा पानी लेकर जायें, ठोकर खाके गिर जायें, हाथ से घड़ा गिर पड़े, इसका पानी पास के किसी वृक्ष को सींच दे तो वृक्ष को सींचने का पुण्य आपको नहीं मिलेगा क्योंकि आपने वृक्ष को सींचने के लिए जलदान नहीं किया था। बिना कर्तृत्व के अगर आपसे हत्या भी हो जाय, या कोई पुण्य कार्य भी हो जाय तो उस पाप-पुण्य का फल आपको नहीं मिलेगा, आपको फल तभी मिलेगा जब आप कर्तृत्व के बोध से समन्वित होकर काम करेंगे। जो कर्ता है वही भोक्ता है। भगवान शंकराचार्य ने संसार का लक्षण बताते हुए

कहा कि कर्तृत्व और भोक्तृत्व ही संसार का लक्षण है। चूँकि हम कर्तृत्व के अहंकार से प्रेरित होकर काम करते हैं अतः हमको काम का फल भोगना पड़ता है। भगवती गीता क्या कहती है —भगवती गीता कहती है कि यह मूढ़ता है—मूढ़ता'।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। (३/२७)

अर्थात् कर्म तो पूर्णतः प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जाते हैं किन्तु अहंकार से विमूढ़ हो गये मन वाला व्यक्ति अपने को उनका कर्त्ता मानता है।

आप देखिए, धर्म से कहाँ गीता और ऊँचे स्तर पर जा रही है। गीता मोक्षशास्त्र है, गीता केवल धर्मशास्त्र नहीं है। वह कहती है कि अगर आप इस संसार का भोग करने की लालसा से काम करते हैं तो आपको अच्छे कर्मों का फल भोगना पड़ेगा किन्तु वह यहीं नहीं रुकती, वह यह भी विस्तारपूर्वक बताती है कि ऐसी विशिष्ट पद्धति से काम करना संभव है जिससे काम का फल न भोगना पड़े। गीता को मनुष्यों का निकम्मा रहना अभीष्ट नहीं है। वह कहती है निकम्मे रहने से काम करना अच्छा है — *कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः* (३/८)। निकम्मेपन से कर्म करना अच्छा है। हम संसार में क्यों काम करते हैं — सच बताइए हाथ छाती पर रखकर। हम लोग जो भी काम करते हैं, सुख पाने के लिए करते हैं। जब हम समझते हैं कि इस काम के करने पर हम सुखी होंगे तब वह काम करते हैं। अगर आप सुख पाने के लिए अधर्मपूर्वक अनुचित कर्म करेंगे, तो धर्मशास्त्र आपको पामर कहेगा। अगर आप सुख पाना चाहते हैं और सुख पाने के लिए धर्म विहित कर्म कर रहे हैं तो धर्मशास्त्र आपको विषयी कहेगा — विषयी। इसी संसार का सुख पाना चाहते हैं और विहित मार्ग से पाना चाहते हैं तो आप विषयी हैं। अगर आप स्वर्ग सुख पाना चाहते हैं, तो उसके लिए जो विशिष्ट कर्म हैं वे आप को करने पड़ेंगे। इस स्थिति में आप सामान्य विषयीजनों से ऊँचे हैं, लेकिन हैं विषयी ही। और जो मोक्ष की भूमिका है, उस भूमिका पर आपको एक सीमा तक ले जा कर धर्म भी छूट जाता है। गीता की भूमिका अद्भुत भूमिका है। गीता ने इस बात को बार-बार कहा है कि यहाँ निकम्मे रहने से काम करना अच्छा है, पामर होने से विषयी होना अच्छा है, सामान्य विषयी से स्वर्ग के लिए जो काम कर रहे हैं वे और अच्छे हैं, लेकिन स्वर्ग भी तो तुच्छ है — स्वर्ग क्या है? स्वर्ग आजकल के पाँच सितारे होटल के समान है। उसमें आप जितना रुपया जमा कर दीजिए, उतने दिन आप मौज-मजा कर लीजिए, रुपया खत्म हुआ, आपको धक्का मिला। जितना पुण्य है उस पुण्य से आपको स्वर्ग मिल गया, तब तक रहिए। पुण्य समाप्त हुआ, स्वर्ग से पतन। यह भी वास्तविक सुख नहीं है। अब आप देखिए इस बात को। गीता आपको क्या बता रही है? गीता आपसे क्या कहना चाहती है? गीता कह रही है कि छाती पर

हाथ रखकर बोलो कि तुम जो करते हो वह किसलिए करते हो? हम लोग जो भी करते हैं, सुख पाने के लिए, दुःख से बचने के लिए करते हैं — है कि नहीं? अच्छा, आप यह भी बताइए कि कितना सुख हम पाना चाहते हैं? सच्ची बात यह है कि जितना मिले, ज्यादा से ज्यादा, असीम हो तो असीम। अच्छा, यह बताइए कि सुख कब पाना चाहते हैं? सुबह, कि दोपहर को, शाम को, कि रात को? मिल सके तो सब समय। कि नहीं? अच्छा यह बताइए कि सुख कहाँ पाना चाहते हैं? घर में, विश्वविद्यालय में, रास्ते में, कहाँ? मिल सके तो सब जगह! अच्छा, सुख किससे पाना चाहते हैं? पत्नी से, पुत्र से, मित्र से, नाते-रिश्तेदारों से, कि सबसे? सम्भव हो तो हम आप सबसे सुख पाना चाहते हैं। अच्छा, यह बताइए जो सुख आप पाना चाहते हैं, वह चेतन सुख पाना चाहते हैं या अचेतन सुख पाना चाहते हैं? जागता हुआ, अनुभव सिद्ध सुख पाना चाहते हैं कि जिसका आप अनुभव ही न करें, ऐसा सुख पाना चाहते हैं? आप जागता हुआ चेतन सुख पाना चाहते हैं। बानी आप क्या पाना चाहते हैं? किसको पाना चाहते हैं? आप जानें या न जानें, आप भगवान को पाना चाहते हैं, परमात्मा को पाना चाहते हैं। यदि आप सर्वत्र सब समय, सबसे, सचेत रूप से, असीम परिमाण में सुख पाना चाहते हैं तो वह साधारण लौकिक सुख नहीं हो सकता। एक बात पर और ध्यान दीजिए। गीता यह भी कहती है कि जिसको हम आप सुख मानते हैं, वह वास्तव में सुख है ही नहीं, और यहाँ वह योगदर्शन के निकट है। सामान्यतः हम आप तब सुख पाते हैं जब हमारी इंद्रियाँ विषयों के साथ संयुक्त होती हैं और अनुकूलता का अनुभव करती हैं। *अनुकूल वेदनीयं सुखम् प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्।* यदि अनुकूल वेदना, अनुकूल अनुभूति होती है तो सुख है, प्रतिकूल अनुभूति होती है, तो दुःख है। यह भी कहा गया है कि *सर्वं परवशं दुःखम्, सर्वं आत्मवशं सुखम्।* जो कुछ परवश है वह दुःख है, जो कुछ आत्मवश है, वह सुख है। गीता कहती है कि पहली परिभाषा सुख-दुःख की, गलत है। *"अनुकूल वेदनीयं सुखम्"*, यह सही परिभाषा नहीं है, क्योंकि जिस बात की पहले अनुकूल वेदना (अनुभूति) होती है वह बाद में महादुखदायी हो सकती है। आप देखें गीता में चार प्रकार के सुखों का वर्णन किया गया है। गीता के अनुसार सबसे निकृष्ट सुख है तमोगुणी सुख, जो आलस्य, प्रमाद, निद्रा से होता है, जो आरंभ में भी और परिणाम में भी हमें मोहग्रस्त करता है, मूढ़ बनाता है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।। (१८/३९)

स्पष्टतः ऐसा सुख विवेकियों का काम्य नहीं हो सकता।

गीता उससे अच्छा मानती है राजस सुख को, जिसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। (१८/३८)

अर्थात् विषयों और इन्द्रियों के (अनुकूल) संयोग से पहले अमृतोपम प्रतीत होने वाला सुख राजस सुख है, किन्तु उसकी परिणति विषतुल्य पीड़ा में होती है, विवेकी के लिए यह सुख भी ग्राह्य नहीं हो सकता।

गीता सात्विक सुख को उससे भी अच्छा बताती है—

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।। (१८/३६-३७)

अर्थात् मनुष्य जिसे अभ्यास से, उच्चकोटि के कठिन प्रयास से प्राप्त करता है, जिसकी प्राप्ति पर अभ्यासजन्य दुःख दूर हो जाता है, जो पहले विष के समान किन्तु बाद में अमृततुल्य प्रतीत होता है, आत्मबुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न होने वाला ऐसा सुख सात्त्विक सुख है। निश्चय ही यह सुख पूर्ववर्णित दोनों सुखों से अच्छा है, किन्तु यह भी परम सुख नहीं है।

गीता कहती है कि ये तीनों सुख सीमित हैं। ये तीनों सुख सार्वत्रिक नहीं हैं, सार्वकालिक नहीं हैं, सार्वभौम नहीं हैं, सब से मिलने वाले नहीं हैं। इनके परे एक सुख है। उस सुख की ओर गीता हमको आपको ले जाना चाहती है। उस सुख की महिमा का निरूपण करने के पहले गीता बताती है कि सांसारिक भोग सुख की छलना मात्र हैं, वास्तव में वे अत्यंत दुःखदायी हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। (५/२२)

सारे भोग जो विषय और इन्द्रिय के स्पर्श से प्राप्त होते हैं—

"दुःखयोनय एव ते" वे आरम्भ में सुखवत् लगते हैं, अन्त में दुःख की जड़ हैं, दुःख की योनि हैं — *"आद्यन्तवन्तः कौन्तेय"*— हे अर्जुन उनका आरम्भ है, उनका अन्त है — *"न तेषु रमते बुधः"* — उनमें विद्वान रमण नहीं करता। *"दुःखमेव सर्वं विवेकिनः"* — योग शास्त्र में कहा गया है कि सारे के सारे लौकिक भोग जो विषयीजनों को सुखमय प्रतीत होते हैं वे विवेकियों की दृष्टि में दुःखमय ही हैं क्योंकि उनमें परिणाम का, ताप का, संस्कार का, गुण-वृत्ति के विरोध का, दुःख निहित है।[1] गीता का स्पष्ट निर्णय है कि जो ऐंद्रिय सुख हैं, संस्पर्श भोग द्वारा जो सुख मिलते हैं, वे वास्तविक सुख नहीं हैं, उनको त्याग दें। गीता बताती है कि हमें वास्तविक सुख, परमसुख कैसे मिलेगा — गीता का योग हमको काम करने का वह तरीका बताता है, जिससे हम परम सुख प्राप्त कर सकते हैं। गीता कहती है, "तुम काम तो करते हो,

किन्तु गुलाम की तरह काम करते हो, तुम कामना से प्रेरित होकर काम करते हो। तुम गुलाम की तरह काम न करो, तुम भगवान की तरह काम करो, ईश्वर की तरह काम करो", यह गीता हमको समझाती है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। (२/४७)

तुम्हारा अधिकार कर्म में है। *कर्मण्येवाधिकारस्ते* - जो तुमको तुम्हारे सहज धर्म के अनुकूल कर्म प्राप्त हुआ है उसमें तुम्हारा अधिकार है। अगर तुम्हारा अधिकार कर्म में है, तो उसके फल में भी तुम्हारा अधिकार है। कर्म में अधिकार है और फल में नहीं है, ऐसा नहीं है। अगर कर्म में अधिकार है, तो फल में भी अधिकार है। गीता कहती है कि उस अधिकार को तुम छोड़ दो। देखिए, 'मा' शब्द का प्रयोग किया गया है 'न' शब्द का नहीं, *'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'* - कर्म में तुम्हारा अधिकार है, फल में तुम्हारा अधिकार कभी न हो — मा कुरु धनजन यौवन गर्वम् —धन, जन, यौवन का गर्व मत करो। कर सकते हो, लेकिन मत करो। फल में तुम्हारा अधिकार न हो। है..... उस अधिकार को तुम छोड़ दो — क्या तुम फल पाने के लिए ही काम करते हो? तब तो तुम फल की लालसा के गुलाम हो, तब तो तुम बन्धन में पड़ोगे ही। अतः गीता समझाती है, काम तो करते रहो, पर फल की लालसा से मत करो, *"मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि"*। और अगर तुमको फल नहीं मिलेगा, तो क्या तुम काम भी नहीं करोगे? ऐसा अकर्म भी गलत है, अतः यह दुराग्रह भी छोड़ दो। फल नहीं मिलेगा, तो हम काम नहीं करेंगे, यह तमोगुण है। काम करेंगे, तो फल लेंगे ही लेंगे, यह रजोगुण है। लेकिन कर्त्तव्यमूलक काम करेंगे और फल त्याग देंगे, या फल भगवान को अर्पित कर देंगे, यह सत्त्वगुण है। इससे भी ऊँची एक भूमिका है, उसकी भी चर्चा करूँगा किन्तु पहले इस प्रकरण को ठीक से समझ लिया जाये। गीता यह समझा रही है कि तुम कर्त्तव्य कर्म में अपना अधिकार मानकर सहज प्राप्त कर्म अवश्य करो। गीता ने बार-बार कहा है कि कर्म करते ही रहना चाहिए। चरम फल की प्राप्ति हो जाने के बाद भी कर्म करने के लिए गीता ने मार्ग खोल दिया है। अन्य शास्त्रों का कथन है कि जिसको चरम फल की प्राप्ति हो गयी, ब्रह्मानुभूति हो गयी वह कर्म करे न करे, यह उस पर निर्भर करता है। पर गीता कहती है कर्म तब भी करना चाहिए। गीता ने अन्त तक कहा है कि *यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।* यज्ञ, दान, तप जैसे सत्कर्म मनीषियों को भी पवित्र कर देते हैं अतः उन कर्मों को तो करना ही चाहिए। लेकिन उनको भी आसक्ति और फल की इच्छा छोड़कर करना चाहिए यह गीता कहती है। गीता का कहना है कि कर्म तुम परमात्मा की तरह क्यों नहीं करते? परमात्मा कैसे काम करते हैं? यह सारी सृष्टि किसने

बनायी है? परमात्मा ने बनायी है। परमात्मा इसके कर्ता हैं किन्तु परमात्मा यह कहते हैं कि मैं इसका कर्ता होते हुए भी अकर्ता हूँ।

इस सन्दर्भ में पहला प्रश्न तो यही उठता है कि परमात्मा क्यों काम करते हैं? क्या उनको भी कुछ पाना है? परमात्मा का दो टूक उत्तर है, नहीं, तीनों लोकों में कोई भी ऐसा कर्म नहीं है, जिसे करने की मुझे आवश्यकता हो, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो और जिसे प्राप्त करना शेष हो। फिर भी मैं कर्म करता रहता हूँ क्योंकि यदि मैं आलस्यरहित भाव से कर्म न करता रहूँ तो मेरा अनुकरण करने वाले भी कर्म नहीं करेंगे, फलतः वे नष्ट हो जायेंगे और मैं ही प्रजा के विनाश का कारण माना जाऊँगा (गीता ३/२२, २३, २४) अतः प्रभु स्वयं तो कर्म करते ही रहते हैं, विद्वानों को भी अपनी तरह कार्य करते रहने का निर्देश देते हैं।

प्रभु के काम करने की अद्भुत विशेषता यह है कि वे काम करते हुए भी अकर्ता बने रहते हैं। वे कहते हैं कि गुण और कर्मों के विभाग के अनुसार मैंने चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की किन्तु *'तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्' (४/१३)* उसका कर्ता होने पर भी मुझे अकर्ता, अव्यय ही समझो। अर्थात् उनमें काम करते रहने पर भी कर्तृत्व की आसक्ति नहीं है।

अच्छा परमात्मा को इस कर्म को करने का फल मिलता है? नहीं मिलता। परमात्मा कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। (४/१४)

अद्भुत बात है। न मां कर्माणि लिम्पन्ति – भगवान जो भी काम करते हैं, उसका फल उनको लिप्त नहीं होता। *'न मे कर्मफले स्पृहा'* – क्योंकि उनको कर्म फल में स्पृहा भी नहीं और उनमें कर्तृत्व का अहंकार भी नहीं है। वे काम करते हुए भी नहीं करते। वे यह भी कहते हैं कि जो मुझे इस प्रकार कर्तृत्वासक्ति और फलासक्ति से रहित कर्ता के रूप में जान लेता है, वह भी कर्म से नहीं बँधता। अतः परमात्मा जिस प्रकार काम करते हैं, उस प्रकार काम करने की प्रेरणा देते हुए गीता कहती है,

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। (२/४८)

गीता का कहना है कि हे धनंजय, हे अर्जुन (अर्थात् प्रत्येक गीता पाठक) तू योग में स्थित होकर कर्तृत्व एवं फल प्राप्ति की आसक्ति का त्याग कर, सिद्धि और असिद्धि में (सफलता और असफलता जनित सुख-दुःख में) सम होकर कार्य कर! इस समत्व को ही योग कहा जाता है। यह गीता की बहुत बड़ी बात, बहुत बड़ी स्थापना है। आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है — जो सुख में फूलकर कुप्पा होता है वही

दुःख में सूखकर छुहारा होता है। सुख और दुख इन दोनों में सम रहने वाले व्यक्ति को न सुख स्पर्श कर पाता है न दुःख स्पर्श कर पाता है। एक अद्भुत दोहा है—

सुख सपना दुख बुलबुला, दोनों हैं मेहमान।
सबका आदर कीजिए, जो भेजे भगवान।।

सुख एक सपना है, टूटेगा ही टूटेगा। दुख पानी के बुलबुले के समान है, वह फूटेगा ही फूटेगा। *"सुख सपना, दुख बुलबुला दोनों हैं मेहमान"* – मेहमान थोड़े समय के लिए आता है, रहता तो नहीं, आ के चला जाता है। *"सबका आदर कीजिए, जो भेजे भगवान"*। अगर आपके घर कोई मेहमान आये तो आप उसका आदर करते हैं, लेकिन किसी बड़े आदमी ने अगर आपके घर किसी को मेहमान बना के भेजा हो तो उसका ज्यादा आदर होता है। न सुख अपने आप आता है, न दुःख अपने आप आता है? दोनों को थोड़े-थोड़े समय के लिए भगवान भेजते हैं। भगवान के भेजे हुए मेहमानों का आदर करते हुए उन्हें (सुख और दुःख दोनों को) सानन्द झेल लेना चाहिए। उर्दू के एक शेर में भी इस भाव को अच्छी तरह कहा गया है—

तू फिर आ गयी गर्दिश-ए-आसमानी।
बड़ी मेहरबानी, बड़ी मेहरबानी।।

इस सिद्धान्त को कुछ विस्तार के साथ पहले भी गीता कह चुकी है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (२/३८)

युद्ध में प्रवृत्त हो के तुमको पाप लगेगा? हाँ, पाप लगेगा अगर तुम कर्तृत्व के अहंकार से प्रवृत्त होगे। हाँ, पाप लगेगा अगर तुमको सिद्धि के लिए युद्ध करने की इच्छा होगी। हाँ, पाप लगेगा अगर तुम राज्य का फल भोगना चाहोगे। लेकिन सुख और दुख में, लाभ और हानि में, जय और पराजय में अगर तुम समान रह कर काम करोगे तो तुमको पाप स्पर्श भी नहीं कर सकता। यह जो समत्व है, यह किसमें है? अगर हम में, आप में समत्व आयेगा तो किसका गुण आ जायेगा? गीता भगवती कहती हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।। (५/१९)

ध्यान दीजिए, कहते हैं कि *इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः* – मरने के बाद मुक्ति मिलेगी, यह गीता नहीं मानती। गीता उधार धर्म की बात नहीं करती, गीता नगद धर्म की बात करती है। इसी लोक में उन्होंने संसार को जीत लिया है, जिनका मन साम्य में स्थित है। साम्य में कौन स्थित रह सकता है? *निर्दोषं हि समं ब्रह्म* —केवल निर्दोष ब्रह्म ही सम रहता है। *तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः* – इसलिए जिनका

मन साम्य में स्थित है, जिनमें समत्व आ गया वे ब्रह्म में ही स्थित हैं। ब्रह्म की तरह काम करो भाई, मालिक की तरह काम करो, गुलाम की तरह काम मत करो। कर्तृत्व के अहंकार से, फल पाने की लालसा से काम करना, गुलाम की तरह काम करना है और परमात्मा की तरह काम करने के लिए आसक्ति का त्याग कर सिद्धि-असिद्धि में सम रहकर काम करना होगा। *"समत्वं योग उच्यते"* ..... यह समत्व किसमें है? यह समत्व बुद्धि में है। जिसको बुद्धियोग कहा है, उस बुद्धि में समत्व है और इसलिए भगवान इसके बाद कहते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। (२/४९)

बड़े से बड़ा काम अगर कर्तृत्व के अहंकार के साथ फल की लालसा के साथ किया गया काम है तो बुद्धियोग से किये छोटे से छोटे काम से वह तुच्छ है। बराबर आप इस बात पर ध्यान दीजिए कि कार्य की महिमा परिमाण से नहीं होती, महिमा उसमें निहित भाव से होती है।

आप लोगों ने वह कहानी जरूर सुनी होगी कि युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ हुआ तो एक नेवला वहाँ आया। उसका आधा शरीर सोने का था, आधा शरीर साधारण था। वह यज्ञ भूमि पर लोटने लगा। उसके शरीर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उसने कहा, कि *"यह यज्ञ भी व्यर्थ गया, यह यज्ञ भी केवल दिखावा है।"* लोग नाराज हो गये। *"क्या बात करते हो? भगवान कृष्ण यहाँ हैं, वेदव्यास हैं, धौम्य हैं। धर्मराज युधिष्ठिर ने यज्ञ किया है, तुम इसको तुच्छ कहते हो, शर्म नहीं आती तुमको ऐसा कहने से?"* उसने कहा "नहीं आती। मेरी बात सुनो। पूर्व काल में एक बार बहुत बड़ा अकाल पड़ा था। एक ब्राह्मण परिवार था। कई दिनों तक भूखा रहने के बाद उस ब्राह्मण परिवार को एक सेर सत्तू मिला। ब्राह्मण ने एक पाव खुद लिया, एक पाव अपनी पत्नी को दिया, एक पाव अपने पुत्र को दिया, एक पाव पुत्रवधू को दिया। वे चारों जैसे ही सत्तू खाने बैठे, वैसे ही एक भूखा भिखारी वहाँ आ गया और उसने भीख माँगी। गृहस्वामी ने अपने हिस्से का सत्तू दे दिया पर उसकी तृप्ति नहीं हुई। उसकी तृप्ति के लिए क्रमशः गृहस्वामिनी ने अपने हिस्से का सत्तू भी दे दिया, फिर पुत्र ने दे दिया, अन्त में पुत्रवधू ने भी दे दिया। वह भिखारी उनको आशीर्वाद देकर चला गया। पूरे ब्राह्मण परिवार की मृत्यु हो गयी। उस सत्तू के कुछ कण वहाँ भूमि पर गिरे हुए थे। मैं वहाँ से जा रहा था, मेरे शरीर में जहाँ-जहाँ उस सत्तू के कण छू गये, वहाँ-वहाँ पर मेरा शरीर सोने का हो गया। तब से मैं प्रत्येक यज्ञ में जाता हूँ कि कोई यज्ञ तो ऐसा होगा जो उस ब्राह्मण परिवार के किये हुए यज्ञ के समान होगा, जिससे मेरा शेष शरीर भी सोने का हो जायेगा। मैं बहुत आशा लेकर यहाँ आया था लेकिन निराश हुआ

है इस यज्ञ को भी देख कर।" आप सोचिए, वह एक सेर सत्तू बड़ा है कि वह अरबों रुपयों की सम्पत्ति का, युधिष्ठिर द्वारा किये गये दान वाला राजसूय यज्ञ? परिमाण से अगर आप नापें तो राजसूय यज्ञ बड़ा है, भावना से अगर नापें तो वह एक सेर सत्तू ज्यादा बड़ा है। इसलिए *दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।* बड़े से बड़ा काम अगर अहंकार के साथ, फलाशा के साथ किया गया है, और साधारण काम भी अगर बुद्धियोग के साथ किया गया है तो उसके सामने वह तथाकथित बड़ा काम अवर है, तुच्छ है। इसलिए — *बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। (निष्काम)* बुद्धि की शरण में जाओ। *"कृपणाः फलहेतवः"।* जो केवल फल की लालसा से काम करते हैं, वे क्षुद्र हैं, तुच्छ हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। (२/५०)

जो (निष्काम) बुद्धि-युक्त है वह इसी लोक में सुकृत को, पुण्य को भी और दुष्कृत को, पाप को भी त्याग देता है। *"तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्"* अतः तू निष्काम बुद्धिरूप योग से युक्त हो जा। योग तो कर्म की कुशलता का नाम है। इस सन्दर्भ से काट करके जो लोग योगः कर्मसु कौशलम् कहते हैं —वे कहते हैं, कि बड़ी कुशलता के साथ काम करना ही योग है। यानी कोई बड़ी कुशलता के साथ चोरी करे तो क्या वह योग कर रहा है? कोई बड़ी कुशलता के साथ व्यभिचार करे तो क्या वह योग कर रहा है,यह इसका अर्थ है? यह इसका अर्थ नहीं है। कुशलता के साथ किया गया कोई भी सकाम कर्म गीता की दृष्टि में कदापि योग नहीं हो सकता। आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि गीता ने यह कहीं नहीं बताया कि किन-किन कर्मों से बचो। आपने अनेक बार गीता पढ़ी होगी। क्या गीता में लिखा है कि चोरी मत करो, झूठ मत बोलो, व्यभिचार मत करो, यह सब लिखा है? नहीं लिखा है। क्यों नहीं लिखा? क्योंकि गीता कहती है कि यह सब जो दुराचार होते हैं, फल की लालसा से होते हैं। कोई अनासक्त होकर व्यभिचार करता है? कोई अनासक्त होकर चोरी कर सकता है? कोई अनासक्त होकर डाका डाल सकता है? ये सारे के सारे दुष्कर्म फलाशा से किये जाते हैं। जब गीता कहती है कि तुम फल की आशा छोड़ दो तो फल की आशा छोड़ने के साथ-साथ गीता समस्त दुष्कर्मों का परित्याग करना सिखाती है। इसलिए गीता के द्वारा जो परिचालित होंगे, वे कभी दुष्कर्म करेंगे ही नहीं, कर ही नहीं सकते, और वे जो पुण्य कर्म करेंगे उसको भी वे अकर्ता होकर निष्काम कर्म की तरह करेंगे। यहाँ स्पष्ट रूप से गीता धर्मशास्त्र का अतिक्रमण कर रही है। जो कच्चे धर्मशास्त्री होंगे वे छटपटाकर कहेंगे गीता यह क्या कह रही है कि पुण्य को भी छोड़

दो। पुण्य को छोड़ना नहीं चाहिए, पुण्य करेंगे तो सुख मिलेगा, यही धर्मशास्त्र कहता है। आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि हमारे आपके जीवन का सबसे बड़ा विरोधाभास क्या है? लौकिक स्तर पर बोल रहा हूँ, गीता के स्तर पर नहीं। हमारे-आपके जीवन का सबसे बड़ा विरोधाभास है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।

पुण्य का फल तो हम लोग चाहते हैं, सभी यह चाहते हैं कि हमको सुख मिले, हमारी समृद्धि हो, हमारा यश हो, हमको बड़े-बड़े अधिकार मिलें। *"पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यम् नेच्छन्ति मानवाः"* किन्तु पुण्य नहीं करना चाहते क्योंकि पुण्य में तो तपस्या है, पुण्य में तो त्याग है, पुण्य में तो कष्ट वरण है। *"न पापफलमिच्छन्ति"।* कोई पाप का फल भोगना चाहता है? सच्ची बताओ। कोई पाप का फल भोगना नहीं चाहता। *"पापं कुर्वन्ति यत्नतः"* किन्तु यत्नपूर्वक पाप करते हैं। गीता कहती है *"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते"* जो बुद्धियोगयुक्त होता है वह जैसे पाप को छोड़ देता है, वैसे ही पुण्य को भी छोड़ देता है। वह पाप पुण्य दोनों को छोड़ देता है। उसे न पुण्य का फल मिलता है न पाप का फल क्योंकि उसमें फलाशा है ही नहीं। इसलिए तुम योग में अपने को लगाओ। योग कर्म करने की उस कुशलता का नाम है, जिससे कर्म का फल तुमको लिप्त नहीं होता। *"योगः कर्मसु कौशलम्"* का यही वास्तविक अर्थ है। सामान्य तौर पर जब व्यक्ति कर्त्ता के भाव से, कर्म फल पाने की इच्छा से, काम करते हैं, तो उन कर्मों का फल उनको *'बाँधता'* है। किन्तु *"योगः कर्मसु कौशलम्"* — योग कर्म करने की उस कुशलता का नाम है, जिस कुशलता के द्वारा कर्म करने पर कर्म का फल हमको-आपको लिप्त नहीं होता। तो यह योग की पहली सीढ़ी है, यह योग का आरम्भ है। अगर हम समत्व में स्थित होकर सुख-दुख को समान भाव से भोगते हुए, जय-पराजय में समान रहते हुए, निन्दा और यश में समान रहते हुए काम कर रहे हैं तो हम कर्म योग की तरफ, हम गीतोक्त योग की तरफ बढ़ रहे हैं। और अगर हमने कर्म करने की उस कुशलता की सिद्धि प्राप्त कर ली है जिससे कर्म का फल हमको लिप्त नहीं होगा, तो हमने एक और छलाँग मार ली। लेकिन हमको यह भी जानना चाहिए कि गीता के साधकों को कहाँ तक जाना है? अगर हम गीता को उपनिषद् मानते हैं, अगर हम गीता को ब्रह्मविद्या मानते हैं तो गीता के निर्देशों को मानने से हमको ब्रह्म-साक्षात्कार होना चाहिए। ब्रह्म-साक्षात्कार हुए बिना गीता का अनुशीलन अधूरा है? और उस ब्रह्म साक्षात्कार का रास्ता भी गीता बताती है, गीता द्वारा निरूपित योग की तीसरी परिभाषा इस परम योग की ओर संकेत करती है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। (६/२०-२३)

इन चारों श्लोकों का संबंध जुड़ा हुआ है, इसलिए दुःख के संयोग के वियोग का नाम योग है, इस बात को समझने के लिए चारों श्लोकों का अर्थ समझना होगा। *"यत्रोपरमते चित्तम्"* ..... जब हमारा चित्त संसार के भोगपरक सुखों से उपराम होता है, विरक्त हो जाता है, जब हम तुच्छ सांसारिक सुखों को पाने के लिए ललचाते नहीं, उनके पीछे दौड़ते नहीं.....ऐसा कब होगा? *"निरुद्धं योगसेवया"।* जब उस चित्त को हमने योगाभ्यास द्वारा निरुद्ध कर दिया हो, निश्चल कर दिया हो— *योगश्चित्तवृत्ति निरोधः* —योग दर्शन में कहा गया है कि चित्त वृत्ति का निरोध ही योग है। *"तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्"* ..... तब द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थान करता है..... अन्य स्थितियों में द्रष्टा अपनी वृत्ति से एकरूप हो जाता है। जब हम समाधि में हैं तो अपना दर्शन कर रहे हैं, अपने स्वरूप में अवस्थित हैं, और जब हम स्वरूप में अवस्थित हैं तो वृत्तियाँ निरुद्ध होंगी, और जब वृत्तियाँ काम करती रहती हैं तो द्रष्टा वृत्तियों के साथ एकरूप हो जाता है। काम की वृत्ति आयी तो हम कामी हो गये, क्रोध की वृत्ति आयी तो क्रोधी हो गये, उत्साह की वृत्ति आयी तो उत्साही हो गये, दान की वृत्ति आयी तो दानी हो गये, धर्म की वृत्ति आयी तो धार्मिक हो गये, अधर्म की वृत्ति आयी तो अधार्मिक हो गये। वृत्ति स्वरूप से अलग है। ध्यानमें, समाधि में जब हमने स्वरूप में अवस्थान किया तो योगदर्शन के अनुसार अपना साक्षात्कार किया। गीता योगदर्शन का सम्मान करती है किन्तु उससे एक कदम आगे आपको ले जाती है। गीता कहती है कि यह साक्षात्कार केवल समाधि में क्यों, व्यवहार में क्यों नहीं? यह अन्तर देखिए! योगदर्शन से गीता के योग का मौलिक अन्तर देखिए। गीता में यह बताया जा रहा है कि व्यवहार में भी द्रष्टा की स्थिति बनी रहनी चाहिए। केवल आसन पर बैठकर आत्मचित्त को निरुद्ध करके अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया, यह योगदर्शन की बात है। गीता कहाँ आपको ले जाती है आप इस पर ध्यान दीजिए — *यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।* योग का सेवन करने से जब हमने अपने चित्त की चंचलता को दूर कर दिया, उसको निरुद्ध कर दिया, उसको अपने वश में कर

लिया और संसार के तुच्छ सुखों से वह उपराम हो गया। *यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति* – अब देखिए, द्रष्टा अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर रहा है। *यत्र चैवात्मनात्मानम्* – जहाँ रहकर हम अपने द्वारा अपने को ही देख रहे हैं, आत्मा के द्वारा अपने आप को देख रह हैं और देखकर तुष्ट हो रहे हैं। इस बात पर फिर ध्यान दीजिए। लोक व्यवहार में हमको आपको आनन्द कब मिलता है? सुख कब मिलता है? जब हम कोई भोग भोगते हैं। जब हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के साथ, जो हमको अनुकूल वेदना देने वाला है, उसके साथ युक्त होते हैं तो हमको सुख मिलता है। यहाँ किसके सुख की बात कही जा रही है? यहाँ बाह्य स्पर्श के सुख की बात नहीं कही जा रही है। गीता तो ऐसे सुखों को सुख ही नहीं मानती। वह तो कहती है कि संस्पर्शज भोग तो दुःख की जड़ है। यहाँ किस सुख की बात कही जा रही है? जिसमें अपने स्वरूप को, अपनी आत्मा को, अपने आपे को स्वयं भीतर देख करके आनन्द की प्राप्ति हो रही है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।। (६/२१)

वह कौन सा सुख है जिसमें हम अपने आपे के द्वारा अपने आत्म-स्वरूप का दर्शन कर रहे हैं भीतर-भीतर, और सुखी हो रहे हैं। वह कौन सा सुख है? वह त्रिगुणातीत सुख है। *सुखमात्यन्तिकं।* वह कैसा सुख है? वह आत्यन्तिक सुख है, जिसका कभी अन्त नहीं होता, जो अन्त का अतिक्रमण करता है। लौकिक सुख कैसे हैं? कोई सुख है जो हमेशा रहने वाला है? कोई लौकिक सुख.....एक भी बताइए। कोई लौकिक सुख ऐसा नहीं है, जो हमेशा रहेगा। लौकिक सुख *'आद्यन्तवन्त'* हैं। उनका आरम्भ होगा, उनका अन्त होगा। वह कौन सा सुख है जिसकी बात गीता कह रही है? यह आत्यन्तिक सुख है। यह अन्तहीन सुख है, यह अन्त का अतिक्रमण करने वाला सुख है — *सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।* यह आत्यन्तिक सुख है इसलिए यह सात्त्विक सुख से भी बड़ा है। यह बुद्धिग्राह्य है, इसलिए तामसी सुख नहीं है। तामसी सुख अज्ञान से होता है। *"बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्"* – यह इन्द्रियातीत सुख है इसलिए राजसी सुख नहीं है। अतः यह दिव्य सुख सात्त्विक सुख नहीं है, तामस सुख नहीं है, राजस सुख नहीं है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।

जिसको जान लेने के बाद उस स्थिति से कभी स्खलन, कभी पतन नहीं हो सकता। स्वर्ग के सुख से भी पतन होता है। स्वर्ग में आप कब तक रह सकते हैं? जब तक आपका पुण्य है। इस स्वर्ग सुख में और गीता के द्वारा निर्दिष्ट आत्म सुख में बहुत

अन्तर है। *"वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः"* तत्त्वतः इसको जान लेने पर केवल शब्दतः नहीं, मेरी तरह नहीं, मैं तो रट्टू तोता हूँ, पूज्य गुरु स्वामी अखंडानन्द सरस्वती जी की बातें ही अपनी भाषा में आप लोगों को सुना रहा हूँ। मैं आत्म सुख को तो अभी तक प्राप्त नहीं कर पाया हूँ, लेकिन गुरु के आशीर्वाद से प्राप्त करने की इच्छा तो है। तो तत्त्वतः जान लेने पर इस सुख से कभी स्खलन, कभी पतन नहीं होगा। जिसको प्राप्त कर लेने के बाद उससे बड़ा कोई लाभ है, ऐसा माना ही नहीं जा सकता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।

जिस स्थिति में रह कर बड़े से बड़े दुख से योगी विचलित नहीं होता, उस स्थिति को ही.....दुःख के संयोग के सर्वथा वियोग की स्थिति को ही योग कहा जाता है, ऐसा जान। इस योग में अपने चित्त को बिना ऊबे हुए दृढ़तापूर्वक, निश्चयपूर्वक लगा देना चाहिए। *तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।* ऐसे आत्मज्ञान करा देने वाले, ऐसे अपने भीतर भगवान का, परम सुख का, आत्मसुख का साक्षात्कार करा देने वाले योग को दुःख के संयोग का वियोगरूपी योग जान। ..... बड़ी विचित्र बात है। गीताकार वहाँ क्यों नहीं कहता कि दुःख का वियोग ही योग है? यह कैसी भाषा है? दुख के संयोग का वियोग! *"दुख का वियोग नहीं, दुख के संयोग के वियोग का नाम योग है।"* क्या मतलब है इसका? इसका मतलब यह है कि जब तक हम मनुष्य का शरीर धारण करके जीवित रहेंगे, तब तक दुःख के हेतु बने रहेंगे। दुःख के जब हेतु बने रहते हैं तो दुःखाकार वृत्ति होती है। उस दुःखाकार वृत्ति को जब हम स्वीकृति देते हैं, तब हम दुःखी होते हैं। दुःख के हेतु बने हुए हैं। प्रियजन का वियोग होगा, धन का हरण होगा, अपमान होगा, तिरस्कार होगा, व्याधियाँ आयेंगी। दुख आगे, दुख पीछे, दुख ऊपर, दुख नीचे। लेकिन वे सारे के सारे दुःख आपको छू नहीं सकेंगे। दुःख के संयोग के वियोग का नाम योग है। यह जो बुद्धि है, यह जो दृष्टि है, यह जिसको सिद्ध हो गयी, उसको चारों तरफ छाये हुए दुःख छू नहीं सकेंगे। दुःख के संयोग का वियोग हुआ। हम आप जब तब, कभी-कभी कहते हैं कि नहीं, कि हम बड़े दुखी हैं? कहते हैं कि नहीं कहते हैं? जरा सोचिए, जिसने गीता का उपदेश दिया उसके जीवन में दुःख के कितने हेतु रहे। सोचिए जरा एक बार, जन्म के पहले उसके माता-पिता कारागार में थे, जन्म के पहले उसके छह भाइयों का वध हो गया था, सातवें भाई के भ्रूण को अन्यत्र ले जाकर स्थापित किया गया था। हत्या न हो जाय इस डर से श्रीकृष्ण का पिता उनको दूसरे के घर में ले जा कर छिपा आया। वे दूसरे के घर पले-बढ़े, छह दिन के थे तो पूतना उनको मारने गयी, फिर कितने राक्षस गये —तृणावर्त, अघासुर, बकासुर आदि। अपने सगे मामा का उन्हें वध करना पड़ा। उस मामा के ससुर

जरासन्ध ने १७ बार आक्रमण किया, १८वें आक्रमण को झेल नहीं सके यादवगण। जरासन्ध ने आग लगा दी मथुरा में। आग को लाँघकर पैदल उनको द्वारिका जाना पड़ा, वहाँ द्वारिका में नये सिरे से स्थापित करना पड़ा अपने को। १८ अक्षौहिणी सेना जिस महाभारत के युद्ध में नष्ट हो गयी, उस युद्ध का उन्हें महानायकत्व करना पड़ा और संसार के सबसे अर्थहीन युद्ध का साक्षी बनना पड़ा, उनके वंश के लोग आपस में ही लड़कर मर गये। भाई ने भाई को, चाचा ने भतीजे को, भतीजे ने चाचा को मार डाला। सारे यदुवंश का विनाश हो गया। सोते समय उनको एक बहेलिये ने तीर मारा। श्रीकृष्ण के जीवन में दुःखों के जितने हेतु हैं उनका हजारवाँ हिस्सा भी क्या हमारे आपके जीवन में है? उन श्रीकृष्ण ने गीता कही। श्रीकृष्ण ने अपने अनुभव का सत्य आपको दिया है। दुःख आगे, दुःख पीछे, दुःख ऊपर, दुःख नीचे, फिर भी दुःखों के संयोग का वियोग संभव है। *तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्* — दुःख के संयोग के वियोग का नाम योग है। अपनी ऐसी स्थिति इस योग की सिद्धि के द्वारा होनी चाहिए कि दुःख हमको स्पर्श नहीं कर पाये, भले ही दुःखों के हजारों हेतु हमें घेरे रहें। इसी सन्दर्भ में एक बढ़िया कविता आपको सुना रहा हूँ, गुलाब खण्डेलवाल की लिखी हुई कविता—

जिनका नाम लिये दुख भागे
मिला उन्हें तो दुख ही दुख
जीवन भर आगे आगे।
छूटा अवध, साथ प्रिय जन का,
शोक असह था पिता मरण का,
देख दुःख मुनियों के मन का
बन के सुख भी त्यागे।
व्याकुल प्रिया विरह में फिरना,
कैसे हो सागर का तिरना,
मूर्छित हों भ्राता का गिरना,
नित नव नव दुख जागे।
गूँजी ध्वनि जब कीर्तिगान की,
फिर चिर दुख दे गयी जानकी
माँग उन्हीं सी शक्ति प्राण की
मन तू सुख क्या माँगे।

वह जो प्राण की शक्ति है — कृष्ण की, राम की, वह हममें-आपमें आनी चाहिए। गीता हमको आपको यही सिखाती है। दुःख के हेतु आगे, पीछे, ऊपर, नीचे,

सर्वत्र हैं लेकिन वे दुःख के हेतु आपको स्पर्श नहीं कर पायें। कुछ समय के लिए दुःखाकार वृत्ति भले हो जाय, किन्तु दुःख को आप स्वीकृति न दें, कभी किसी भी स्थिति में यह भाव आपके मन में न आये कि मैं दुःखी हूँ। सुख और दुःख से परे रहकर अपने में साक्षात् ब्रह्म का अनुभव करा देने वाला, ब्रह्म का साक्षात्कार करा देने वाला मार्ग ही गीता का योग है। इस गीता के योग द्वारा अगर हम परिचालित होंगे तो हम कहाँ स्थित हो जायेंगे? ब्रह्म में स्थित हो जायेंगे।

इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए इसी प्रसंग में गीता में आगे कहा गया है कि चंचल और अस्थिर मन जब-जब विषयों की ओर जाना चाहे तब-तब योगी उसे रोक कर आत्मा में ही लगा दे। जब मन पूरी तरह शान्त हो जाता है तब निर्मल ब्रह्मभाव को प्राप्त आत्मा में स्वतः उच्चतम सुख का अनुभव होता है। यह काम, क्रोध आदि विकारों से सर्वथा रहित ब्रह्म संस्पर्शजनित परमानन्द है। इस योग से युक्त हो जाने वाला, सबको समान दृष्टि से देखने वाला योगी आत्मा को समस्त भूतों में और समस्त भूतों को आत्मा में देखता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। (६/२९)

प्रभु श्रीकृष्ण डंके की चोट पर कहते हैं कि इस प्रकार जो मुझे (अर्थात् अपनी ही आत्मा को) सर्वत्र.....सब पदार्थों और जीवों में देखता है और सबको मुझमें देखता है मेरा (परमात्मा का) उससे अविच्छेद्य एकात्मभाव हो जाता है। इस प्रकार एकात्म भाव में स्थित होकर सब भूतों में मुझ परमात्मा को स्थित जानकर जो मुझे भजता है, मेरे प्रति प्रेम करता है वह योगी सब तरह से बरतता हुआ भी.....व्यवहार करता हुआ भी मुझ में ही रहता और कर्म करता है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।। (६/३१)

सब काम करते हुए भी दुःखों से अस्पृष्ट रहने का यह सिद्धान्त योग दर्शन पर नहीं, वेदान्त पर आधारित है। ईशावास्योपनिषद् में निरूपित सत्य को ही गीता यहाँ दुहरा रही है। उपनिषद् के मंत्र हैं—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।। (ईशा-६, ७)

अर्थात् जो निश्चय ही समस्त भूतों को अपनी आत्मा में ही निरन्तर देखता है और समस्त भूतों में अपने को, अपनी आत्मा को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं

करता। जो समस्त भूतों को इस विशेष रूप में जानते है कि वे मेरी आत्मा ही हो गये हैं उस एकत्व दर्शी के लिए मोह कैसा, शोक कैसा! स्पष्टतः वह मोह और शोक के परे चला जाता है।

यही भाव अन्तर्निहित है गीता के इस कथन में कि इस योग को सिद्ध कर लेने वाले योगी को दुःख स्पर्श नहीं कर पाता। अतः दुःख के संयोग के वियोग का नाम ही योग है। इस तरह ब्रह्म में स्थित होकर ब्रह्म की तरह कर्म करने का और सब प्रकार के दुःखों से अस्पृष्ट रहने का मार्ग गीता हमें बताती है।

एक लौकिक उदाहरण से भी इस बात को समझा जा सकता है। जब हम कटहल काटते हैं तो उससे निकला हुआ दूध हमारे हाथों में चिपक जाता है, उसे छुड़ाने की बहुत चेष्टा करने पर वह मुश्किल से छूटता है। किन्तु यदि हम सरसों का तेल लगाकर कटहल काटें तो उसका दूध हमारे हाथों में नहीं चिपक पाता। दूध तो रहता है किन्तु उसके संयोग का वियोग होता है। इसी तरह जब हम गीता की योग दृष्टि प्राप्त कर लेते हैं तब दुःखों के हेतुओं से घिरे रहने पर भी हम दुखी नहीं होते क्योंकि उस योग दृष्टि के कारण दुःखों के संयोग का वियोग हो जाता है, दुःख हमसे चिपक नहीं पाते।

प्रभु कृपा से हम और आप भी इस योग को सिद्ध कर सकें, इस मार्ग पर चल सकें एवं दुःखों के संयोग के वियोग का अनुभव करते हुए सतत कार्यरत रहें। ●

---

१. **परिणाम दुःख** – भोगकाल में स्थूल दृष्टि से जो सुख प्रतीत होता है, उसका परिणाम दुःखमय होता है। भोगों से शक्ति क्षीण होने के कारण थकान आती है किन्तु तृष्णा में वृद्धि होती है। अतः असमर्थताजन्य दुःख होता है। भोगों में आसक्ति के कारण उनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य अच्छे बुरे कर्म करता है, जिनमें अनिवार्य रूप से विघ्न आते हैं फलतः विघ्नकर्त्ताओं के प्रति द्वेष होता है। (भोग में प्राणिपीड़न रूपी हिंसा भी होती ही है। अतः अतृप्त तृष्णा, असमर्थता, राग-द्वेष, हिंसा का परिणामात्मक दुःख भोगना पड़ता है।)

तापदुःख – भोगरूप सुख विनाशशील है, अतः उसका वियोग निश्चित रूप से होता है। भोगकाल में इस आशंका का भय ताप उत्पन्न करता है। अपने को प्राप्त सुख से अन्यों को अधिक सुख प्राप्त होने पर ईर्ष्याजन्य ताप होता है। भोग की अपूर्णता का भी ताप होता है।

संस्कारदुःख – भोग से सुखानुभव का संस्कार पड़ता है। भोग सामग्री स्त्री, पुत्र, धन आदि के न रहने पर उनकी स्मृति अत्यन्त दुःखदायी होती है। भोग संस्कार भोगासक्ति को बढ़ाकर जन्मान्तर में भी दुःख के हेतु बनते हैं।

गुणवृत्तिविरोध दुःख — सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के कार्य ही गुणवृत्ति कहलाते हैं। इनमें परस्पर अत्यन्त विरोध है, सत्त्वगुण के कार्य हैं प्रकाश, ज्ञान, सुख, शान्ति आदि, रजोगुण के कार्य हैं, राग, तृष्णा, कर्मासक्ति जनित चंचलता आदि, तमोगुण के कार्य हैं, अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, जड़ता आदि। मनुष्य में ये तीनों गुण सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं। जो गुण बढ़ता है, उसका शेष दोनों गुणों से द्वन्द्व होता है। फलतः गुण परिवर्त्तन होता रहता है जो किसी स्थिति में चैन नहीं पाने देता। अतः दुःख का उद्भव होता ही है।

नवधा भक्ति

भक्ति कैसे हो? भक्तों का अनुभव पर आधारित उत्तर है, भक्ति तो भक्ति से ही हो सकती है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्' (११।३।३१) अर्थात् भक्ति के द्वारा उत्पन्न भक्ति के फलस्वरूप भक्तगण प्रेमोद्रेक से पुलकित रहते हैं। जब तुलसीदास कहते हैं 'साधन सिद्धि राम पगनेहू' (मानस २।२८९।८) तो वे भागवत की उक्ति का स्पष्टीकरण ही करते हैं कि यदि साध्य प्रभु हों तो साधन भक्ति ही सिद्ध होकर पराभक्ति बन जाती है। साधन भक्ति का पराभक्ति में रूपान्तर जिस सतत प्रक्रिया के कारण होता है वह वास्तव में अनुभव का ही विषय है, शब्दों का नहीं; फिर भी अनुभवी भक्तों ने उसके कुछ प्रमुख हेतुओं का निर्देश किया है। इनमें सबसे प्रमुख स्थापना है भागवत के अन्तर्गत भक्तराज प्रह्लाद की—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं, पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं, दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्।।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।। (भागवत ७।५।२३।२४)

अर्थात् भगवान् के सम्बन्ध में श्रवण, उन्हीं का कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन मूलक नौ लक्षणों वाली भक्ति यदि भगवान् के प्रति समर्पण के भाव से की जाये तो मैं उसी को सर्वोत्तम अध्ययन समझता हूँ। आचार्यों ने श्रवण, कीर्तन आदि को साधन भक्ति कहा है और आत्म निवेदन को उसकी पराकाष्ठा बताया है। कुछ आचार्य आत्म निवेदन को पराभक्ति ही मानते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि भागवतकार ने श्रवण, कीर्तन आदि को भक्ति का साधन न कहकर भक्ति का लक्षण कहा है अर्थात् उन्हें भक्ति ही माना है। यह एक ओर साध्य को प्राप्त कराने वाले साधन को दिया गया उचित गौरव है, दूसरी ओर इस सत्य

की स्वीकृति कि श्रवण, कीर्तन आदि में भगवत्प्रेम को उत्तरोत्तर सान्द्र और निष्काम बनाने का आभ्यन्तर सामर्थ्य है। अतः उन्हें भक्ति ही मानना चाहिए, बहुत मीन-मेख निकालने वाले चाहें तो उन्हें साधन भक्ति कह लें।

साधन कहते हैं किसी कार्य को सिद्ध करने की क्रिया-सामग्री या उपाय को। इस दृष्टि से साधन भक्ति उसे कहेंगे जो करने से हो और जिसके द्वारा अन्तःकरण में क्रमशः भगवान् के प्रति अहेतुक प्रेम का स्वाभाविक आविर्भाव हो जाये! शास्त्र, गुरु या सन्तों के आदेश (विधि) के अनुसार प्रयासपूर्वक जब भक्ति की जाती है, तब उसे वैधी भक्ति कहते हैं। साधन भक्ति वैधी भक्ति के अन्तर्गत ही आती है। वैधी भक्ति करते-करते चित्त द्रवीभूत हो जाता है और इष्ट देव के रंग से रँग जाता है। इस स्थिति में वे सारी क्रियाएँ जिन्हें कर्तव्य बोध के द्वारा मन को दबाकर किया जाता था, सहज और अनुराग परक हो जाती हैं। इसीलिए भक्ति की इस स्थिति को रागानुगा (राग—प्रेम का अनुगमन करने वाली) या भाव-भक्ति कहा जाता है। इसी की परिपुष्ट स्थिति को रागात्मिका-भक्ति कहते हैं जिसमें भक्त के हृदय में तैलधारावत् अविच्छिन्न भगवत्स्मृति बनी रहती है और वह निरन्तर भगवत्प्रेम-सागर में निमग्न रहता है। जब भक्ति पूर्ण निष्काम और त्रिगुणातीत हो जाती है, जब प्रेम-विभोर भक्त सर्वत्र प्रभु दर्शन कर परमानन्दमय शान्ति का अनुभव करने लगता है तब उस स्थिति को पराभक्ति या प्रेमाभक्ति कहते हैं।

हम साधारण जन आज ही पराभक्ति का प्रसाद नहीं पा सकते तो हम क्या करें? एक ही उत्तर है कि भगवान् की कृपा पर अडिग विश्वास रखकर साधन भक्ति का अवलम्ब ग्रहण करें। साधन को कभी हेय दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, न उसे प्रारब्ध के भरोसे छोड़ना चाहिए। साधन ही हमारा परम सम्बल है, जो हमारी क्षमता के अनुसार भगवत्कृपा से हमें प्राप्त होता है और हमारी स्थिति के उत्कर्ष के साथ-साथ उत्तरोत्तर उन्नततर होता जाता है। यह हमारा उसी तरह सहज धर्म होना चाहिए जिस तरह प्रभु का सहज धर्म कृपा है। जीव अपने कुसंस्कारों को त्यागने में तभी समर्थ होता है जब उसे सत्संगति मिलती है। सत्संग ही समस्त साधनों का प्रेरक स्रोत है। इसीलिए तुलसीदास ने उसे चरम सम्मान देते हुए मानस में कहा है—

सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला। (१।३।८)

अर्थात् सत्संग आनन्द और मंगल का मूल है, वही फल है, वही सिद्धि है और सब साधन फूल हैं। भागवत में श्रीकृष्ण की उक्ति है कि किसी ने और कोई साधन किया हो या न किया हो, यदि उसने सत्संग किया तो उसका उद्धार अवश्य होगा—

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः।। (११।१२।७)

अर्थात् जिन्होंने न तो वेदाध्ययन किया, न विद्वानों से विद्या ही पढ़ी, न व्रत-उपवास ही किया, न तप ही किया वे भी सत्संग के प्रभाव से मुझ तक पहुँच गये।

सत्संग या उसके माध्यम से भक्ति के अन्य साधन भी हमें तभी सुलभ होंगे जब हम अपनी वासनाओं की मोहकता के पीछे छिपी उनकी दाहकता को समझने लगेंगे और अपना जीवन लक्ष्य भोग-विलास को नहीं, भगवत्प्राप्ति को बना लेंगे। साधना शुरू ही तब होती है जब विषयों की निस्सारता समझ में आने लगती है और क्षणिक सुख के आवरण में छिपी दुःख-श्रृंखला का आभास मिलने लगता है। जेठ की दुपहरिया में झुलसने वाला ही छाया की शीतलता की महिमा को जान पाता है। साधना की जाती है दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिए। वैषयिक भोगों में सुख का मिथ्याभास है अतः वे वस्तुतः दुःख स्वरूप हैं। उनके आकर्षणों से बचने के लिए किया गया संयम, उनके प्रति जगाया गया वैराग्य केवल निषेधक प्रयास होने के कारण प्रखर प्रलोभन से नष्ट हो सकता है। अतएव प्रभु की कृपा के सहारे भक्ति के साधनों का विधायक पक्ष उनके साथ अवश्य जोड़ना चाहिए।

भक्ति की कामना करने वालों को यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि अपने साधनों का अभिमान न हो। अन्तिम सत्य यही है कि प्रभु अपनी कृपा से ही द्रवित होते हैं किसी के साधन से नहीं। फिर भी ये साधन हमें प्रभु की ओर उन्मुख करते हैं, हमारे मन का कलुष दूर करते हैं अतः अभिमान त्याग कर सब प्रकार के भौतिक आकर्षणों से ऊपर उठकर, निष्ठापूर्वक निर्विघ्न रूप से उनका पालन करते रहना चाहिए। तुलसीदास का यह परामर्श इस सन्दर्भ में पूर्णतः अपनाने योग्य है—

एक अंग मग अगम गवन करि बिलम न छिन छिन छाहैं।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहैं।।

श्रवण

नवधा भक्ति में पहली ही है श्रवण भक्ति। इसकी प्राथमिकता से यह संकेतित है कि अन्य भक्तियों के मूल आधार के रूप में विराजमान है श्रवण! बात यह है कि अजाने को जानने के लिए उसके बारे में पहले सुनना (या पढ़ना) पड़ता है। पुराने समय में पुस्तकें सुलभ नहीं थीं अतः गुरुमुख से श्रवण करना ही ज्ञान का प्रधान साधन था। आज भी पुस्तकों के सुलभ होते हुए भी उनके मर्म को ठीक-ठीक ग्रहण करने के लिए अनुभवी गुरु से उनकी व्याख्या सुनना आवश्यक है। संसार के बारे में भी हमारी जानकारी ज्यादातर सुन-सुनकर या पढ़-पढ़कर ही हुई है। स्वयं देखकर या अनुभव कर तो मनुष्य बहुत कम ही जान पाता है। जब इन्द्रिय, मन, बुद्धि से ग्रहण किये जाने योग्य संसार के ज्ञान के लिए भी श्रवण (जिसमें अध्ययन अन्तर्भुक्त है) ही

प्रधान साधन है तो इन्द्रिय, मन-बुद्धि से अगोचर भगवान् को और इन्द्रिय, मन-बुद्धि की परिधि में आकर भी न आनेवाली उनकी दिव्य लीलाओं को महात्माओं से सुने बिना कोई कैसे समझ सकता है! सच तो यह है कि भक्ति, ज्ञानयोग, कर्म या किसी भी अन्य साधन का श्रीगणेश श्रवण के द्वारा ही होता है। हाँ, साधना के अनुरूप श्रवण की व्याख्या अलग-अलग हुआ करती है।

भक्ति के क्षेत्र में श्रवण का अर्थ है श्री भगवान् के नाम, चरित्र, गुण, आदि को सुनना, 'श्रवणं नामचरित-गुणादीनां श्रुतिर्भवेत'। सुनना क्रिया कम-से-कम दो व्यक्तियों की, सुनानेवाले और सुननेवाले की अपेक्षा रखती है। भगवान् के नाम, चरित्र, गुण आदि को सुनानेवाले भक्त ही हो सकते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि श्रवण के लिए संतों का संग—सत्संग अनिवार्य है। तुलसीदास ने इस बात को खोलकर कह दिया है *'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा, दूसरी रति मम कथा प्रसंगा।'* (मानस ३।३४।८) अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—

'बिनु सत्संग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गयें बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग।। (मानस ७।६१)

श्रीराम के चरणों में दृढ़ प्रेम हो, इसके लिए मोह का—अज्ञान का नाश आवश्यक है, मोह को दूर करने के लिए भावसहित हरिकथा सुननी चाहिए और प्रभु की कथा बिना सत्संग किये कोई सुनेगा ही कैसे!

श्रीमद्भागवत में इसी बात को कपिलजी ने दूसरे क्रम से समझाया है। माता देवहूति को प्रबोध देते हुए उन्होंने कहा कि सत्पुरुषों के संग से हृदय और कानों को सुख देने वाली, मेरे पराक्रमों का ज्ञान कराने वाली रसमयी कथाएँ सुनने को मिलती हैं जिनके फलस्वरूप मोक्षदाता प्रभु के प्रति श्रोता के हृदय में शीघ्र ही क्रमशः श्रद्धा, प्रीति और भक्ति का उदय होता है :

सतां प्रसंङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति।। (भागवत ३।२५।२५)

साधनरूपा श्रवण भक्ति से साध्यरूपा प्रेमाभक्ति की उपलब्धि के क्रम में अनायास ही चित्त-शुद्धि भी हो जाती है। जब कोई काम खुद करना पड़े तो परिश्रम होता ही है किन्तु श्रीमद्भागवत के अनुसार कथा-श्रवण का विलक्षण फल यह है कि प्रभु कर्ण रन्ध्र से भक्तों के हृदयकमल में प्रवेशकर स्वयं उसके समस्त मलों (पापों) को उसी प्रकार दूरकर उसे शुद्ध बना देते हैं, जिस प्रकार शरद ऋतु जल को निर्मल बना देती है।

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्।। (भाग० २।८।५)

भगवान् के नाम, रूप, लीला, गुण, धाम, तत्त्व आदि की महिमा बखानने वाले श्रीमद्भागवत पुराण का श्रवण करने वालों के चित्त में शोक, मोह और भय को दूर करने वाली श्रीकृष्ण भक्ति का सहज आविर्भाव हो जाता है। अतीत की घटनाओं के कारण उत्पन्न ताप को शोक, रागद्वेष के कारण हुए वर्त्तमान क्लेश को मोह और भविष्य में अनिष्ट की आशंका को भय कहते हैं। अतीत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों कालों के दुःखों को दूर कर जो भक्ति मनुष्य के जीवन को आनन्द से ओत-प्रोत कर देती है, वह श्रवण का ही दान है—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा।। (भाग० १।७।७)

ऐसा भी नहीं है कि श्रवण का सुफल भक्तों और मुमुक्षुओं को ही भक्ति और मुक्ति के रूप में मिलता है। जो संसारीजन हैं वे भगवत् शास्त्र का श्रवणकर पापक्षालन कर मोक्ष के साथ-साथ यश, धर्म और विजय अर्जित कर सकते हैं ऐसा स्वयं श्री भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा है :

श्रोतव्यं मम शास्त्रं हि यशोधर्मजयार्थिना।
पापक्षयार्थं लोकेश मोक्षार्थं धर्मबुद्धिना।।

(स्कन्द पुराण, विष्णु खण्ड अ० १६।१७)

भगवान् की लोकपावनी कथा के वक्ता तो शुकदेव, याज्ञवल्क्य, कागभुशुंडि जैसे पहुँचे हुए सच्चे सन्त ही हो सकते हैं, अधिकारी श्रोता होने के लिए भी बहुत से गुणों की आवश्यकता होती है। जब, श्रोता सुमति, सुशील, शुचि कथा-रसिक हरिदास होते हैं तभी सज्जन समर्थ वक्ता गुप्त से गुप्त तत्त्व को भी प्रकट कर देते हैं। कुतर्की, कपटी, दुराग्रही एवं असावधान होने से कथा श्रवण का लाभ नहीं होता। जो मन बुद्धि चित्त लगाकर श्रद्धापूर्वक निरन्तर कथा सुनते रहते हैं और सुनते-सुनते कभी अघाते नहीं, जो सुनने के बाद परस्पर अनुकथन करते हैं, सुने हुए को गुनते हैं, अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करते हैं, वे ही सच्चे श्रोता हैं। महाराज पृथु की तरह वे कथा रसिक भी मोक्ष को तुच्छ मानकर प्रभु से दस हजार कानों की याचना करते हैं ताकि उनसे सतत हरिकथा सुनते रहें। तुलसीदास ने ठीक ही कहा है कि उन्हीं के हृदय प्रभु के सुन्दर निवास स्थान हैं, जिनके श्रवण समुद्र के समान हैं जिनमें प्रभु की कथा रूपी सुन्दर नदियाँ दिनरात प्रवेश करती रहती हैं किन्तु जो कभी भरते नहीं—

जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।।

(मानस २।१२८।४-५)

इस दिव्य श्रवण निष्ठा का कण मात्र भी जीवन में आ जाये तो वह धन्य हो जाये।

कीर्त्तन

श्रवण-भक्ति का सहज विकास कीर्त्तन में होता है। श्रद्धापूर्वक सुने, समझे, ग्रहण किये हुए तत्त्व को सुनाने, समझाने, फैलाने का चाव बीज से अंकुर निकलने की तरह स्वाभाविक है। इसीलिए हरिभक्ति सुधोदय में श्रवण और कीर्त्तन के सुफल को साथ-साथ कहा गया है—

तस्माद् गोविन्दमाहात्म्यमानन्दरससुन्दरम्।
श्रृणुयात् कीर्त्तयेन्नित्यं स कृतार्थो न संशयः।। (८।६)

अर्थात् जो आनन्दरस से ओतप्रोत गोविन्द के सुन्दर माहात्म्य को सुनता है और उसका कीर्त्तन करता है, वह निःसंशय कृतार्थ हो जाता है।

कीर्त्तन का शब्दार्थ है, कीर्त्ति फैलाने की क्रिया। भक्ति के क्षेत्र में कीर्त्तन का तात्पर्य है भगवान् के नाम, लीला, गुण आदि का श्रद्धापूर्वक सस्वर उच्चारण, कथन, विवेचन आदि 'नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्त्तनम्।' श्रीमद्भागवत में भी *'संकीर्त्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।'* (६।३।२४) कहकर उसे जीवों के पापनाश के लिए पर्याप्त बताया गया है। सम्यक् प्रकार से किये गये कीर्त्तन को ही संकीर्तन कहते हैं। नाम-जप और नाम-संकीर्त्तन का अन्तर यही है कि नाम-जप तो व्यक्ति अपने मन में करता है, जबकि संकीर्त्तन अकेले या समूह के साथ उच्च स्वर में किया जाता है। भक्तों को मान्यता है कि वातावरण को पवित्र बनाने एवं लोकमंगल करने की दृष्टि से संकीर्त्तन का महत्त्व और अधिक है।

कीर्त्तन बाह्यतः कर्मेन्द्रिय वाणी का कार्य है। भक्ति की दृष्टि से उसमें मन, बुद्धि का योग होना चाहिए। तुलसीदास तो *'भायँ-कुभायँ, अनख, आलसहूँ'* केवल जीभ से नाम लेने को भी परम मंगल का हेतु मानते हैं। आरंभिक स्थिति में वह भी सही है, क्योंकि प्रभु के नाम की ऐसी ही अद्भुत महिमा है। इसी के साथ-साथ यह भी सही है कि नाम ही अपने अमृतरस को जीभ से मन और बुद्धि तक प्रसारित कर देता है और कुछ ही दिनों में जपकर्त्ता या कीर्त्तनकार को उसमें रस आने लगता है और उसे मालूम ही नहीं पड़ता कि कब उसकी कर्मेन्द्रिय 'वाक्' ज्ञानेन्द्रिय 'रसना' में बदल गयी। इसी मर्म को उद्घाटित करते हुए सूरदास ने लिखा है—'सोइ रसना जो हरि गुन गावै।' कीर्त्तन करने वाले भक्त की मनःस्थिति कैसी होनी चाहिए, इसका बहुत सुन्दर निर्देश चैतन्य महाप्रभु ने किया है। उनका प्रसिद्ध श्लोक है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः।।

जो इतना विनम्र हो कि सर्वगुण सम्पन्न होकर भी अपने को तिनके से भी क्षुद्र समझे, इतना सहिष्णु हो कि दुःख पहुँचाने वालों को वृक्ष की तरह न कुछ कहे, न उनसे रुष्ट हो, न विचलित हो और सूख कर मर जाने की स्थिति आने पर भी किसी से याचना न करे, स्वयं कष्ट सहकर भी यथासंभव औरों को सुख पहुँचाए, अपने लिए मान-सम्मान न चाहते हुए अन्यों का सम्मान करे, वास्तव में हरिकीर्त्तन करना उसी को शोभा देता है। यह मनःस्थिति आज हमारी नहीं है, तो भी कोई बात नहीं, कीर्त्तन करते-करते प्रभु-कृपा से एक-न-एक दिन ऐसी वैष्णवोचित स्थिति हमारी भी हो जाएगी, यह विश्वास रखकर प्रभु के नाम लीला, गुण आदि का कीर्त्तन करते रहना चाहिए।

चैतन्य महाप्रभु ने ही यह भी बताया है कि संकीर्त्तन मायाबद्ध जीवों के कलुषित चित्त-दर्पण को स्वच्छ कर देता है, संसार के आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तापत्रय के घोर दावानल को शान्त कर देता है, मंगलरूपी कुमुदों को खिलाने के लिए चाँदनी छिटकाता है, भक्ति या तत्त्व-ज्ञान परा विद्यारूपी वधू का जीवन है, आनन्द के समुद्र को संवर्धित करता है, अपने एक-एक पद से पूर्णामृत का आस्वादन कराता है, मन, बुद्धि, प्राण आदि को तृप्त कर देता है। ऐसा श्रीकृष्ण संकीर्त्तन विजयी होगा ही। कैसा अद्‌भुत श्लोक है—

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं,
श्रेयः कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं,
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्त्तनम्।।

विविध वाद्ययंत्रों के सहयोग से भगवान् के नाम, लीला, गुणों की महिमा उजागर करने वाले राग-रागिनियों में बँधे पदों का संकीर्त्तन और उनकी व्याख्या भी पुरानी परिपाटी है। पद्मपुराण के भागवत माहात्म्य में बताया गया है कि संकीर्त्तन में प्रह्लाद ताल देते थे, उद्धव झाँझ-मँजीरा बजाते थे, देवर्षि नारद वीणा झंकृत करते थे, अर्जुन राग अलापते थे, इन्द्र मृदंग वादन करते थे, सनक सनन्दन आदि जयध्वनि करते थे और शुकदेवजी कीर्तित सरस रचनाओं के भावों की व्याख्या करते थे—

प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी,
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्त्तार्जुनोऽभूत्।
इन्द्रोऽवादीन्मृदंगं जयजयसुकराः कीर्तने ते कुमाराः
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया व्यासपुत्रो बभूव।। (६।८६)

संकीर्त्तन में जब प्रेमीभक्त भावावेश में नृत्य भी करने लगते हैं, तब उनकी चरणधूलि से पृथ्वी शीघ्र ही पवित्र हो जाती है, यह मत बृहन्नारदीय पुराण एवं

श्रीमद्भागवत में व्यक्त किया गया है। चैतन्य महाप्रभु इसीलिए अपने भक्तों के साथ नृत्य-गीत करते हुए नगर-संकीर्त्तन के द्वारा लोक कल्याण किया करते थे। जो जीभ प्रभु-कीर्त्तन न कर सांसारिक विषयों की ही चर्चा करती रहती है 'जीह सो दादुर-जीह समाना।' मानव-जीवन की चरितार्थता गीता के अनुसार सदा भगवान् का कीर्त्तन करने, उनके लिए दृढ़व्रती होकर प्रयत्न करने, उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार करने और उनसे नित्य युक्त रहकर उनकी उपासना करने में है—

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।। (९।१४)

स्मरण

स्मरण.....नवधा भक्ति का तीसरा सोपान। यह कहा जा सकता है कि स्मरण तो श्रवण और कीर्त्तन में भी होता है, क्योंकि यह स्वाभाविक ही है कि प्रभु के नाम, रूप, लीला, गुण आदि की चर्चा सुनते या करते समय उनकी स्मृति बनी रहे। फिर इसे स्वतंत्र स्थिति क्यों दी जाये? सूक्ष्मता से विचार करने पर लगेगा कि उपर्युक्त दोनों साधन स्मरण की तुलना में बहिरंग हैं। उनके लिए किसी अन्य व्यक्ति, उपकरण या स्थूल बाह्य क्रिया की आवश्यकता होती है। कई बार ऐसा भी होता है कि श्रवण, कीर्त्तन, यांत्रिक रूप से होता रहता है और मन कहीं अन्यत्र रमा रहता है। इसलिए यह मानते हुए भी कि श्रवण कीर्त्तन में स्मरण गौण रूप से बना रहता है, उसकी स्वतंत्रता और मुख्यता की दृष्टि से अन्तरंग साधन के रूप में स्मरण की मान्यता उचित ही है। स्मरण कहते हैं, ऐसे हैं, हमारे प्रभु के रूप, गुण, लीला आदि इस प्रकार की स्मृति को। 'स्मरणम् स एवं विध गुण इत्याद्याकारास्मृतिः।' इसमें अनिवार्यता है मन के योग की—'यथाकथञ्चिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरुच्यते' अर्थात् जिस किसी भी प्रकार मन का प्रभु से सम्बन्ध हो जाना ही स्मृति है। साधारण तौर पर एकान्त में बैठकर अन्य किसी व्यक्ति या वस्तु पर निर्भर न रहकर मनोयोगपूर्वक प्रभु के नाम, रूप, लीला आदि का चिन्तन करने को स्मरण भक्ति कहते हैं, किन्तु साधक उन्नत अवस्था में सब काम-काज करते हुए भी भीतर-भीतर प्रभु का स्मरण करता रह सकता है। गीता में इस स्थिति को श्रेयस्कर मानकर ही प्रभु ने कहा है—

'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। (८।७)

अर्थात् इसलिए सभी समय तू मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। अपनी मन-बुद्धि मुझे अर्पित कर देने पर तू निःसंदेह मुझे प्राप्त करेगा। युद्ध का यहाँ अर्थ है जीवन धारण करने के लिए उपयोगी सभी कर्त्तव्य-कर्म। मेरे सभी काम-काज प्रभु की उपस्थिति में, उन्हीं की प्रेरणा से, उन्हीं के लिए हो रहे हैं जिसका यह बोध सदा

जागरूक रहता है, उससे कभी अनुचित कर्म हो ही नहीं सकता। स्मरण की विधि बताते हुए भगवान् ने गीता में कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। (८।१४)

स्मरण की सार्थकता है, अनन्यचित्तता में। मन किसी अन्य विषय का चिन्तन करने लगे तो स्मरण खंडित हो जाता है। कबीरदास ने साफ-साफ कह दिया है—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुआ तो दहुँ दिसि फिरें, यह तो सुमिरन नाँहि।।

सतत और नित्य का अर्थ है निरन्तर और सदा, सर्वदा। स्मरण अपनी उच्चतम भूमिका में श्वास लेने के समान सहज हो जाना चाहिए। जीवनपर्यन्त अन्य विहित कर्म करते हुए भी भीतर-भीतर निरन्तर प्रभु का स्मरण होते रहना चाहिए। तभी साधक को नित्य योगी कहा जा सकता है, तभी उसे प्रभु सुलभ होते हैं क्योंकि तब वे स्वयं उसका वरण कर लेते हैं।

परभक्तिसूत्राणि के अनुसार प्रभु के प्रति दृढ़ प्रेम का लक्षण ही है, उन्हें बार-बार स्मरण करना 'बहुलस्मरणम् तल्लक्षणम्'। यह स्मरण भी सूखा नहीं, सरस होना चाहिए। आनंदाश्रु, रोमांच, हर्ष, विकलता, विरहजन्य पीड़ा, वेदना आदि उसके साथ होते ही हैं। 'आनंदाश्रुरोमहर्षादयस्तत्सहभुवः' निराला की साखी है—

'प्राण धन को स्मरण करते, नयन झरते, नयन झरते।'

स्मरण का आदर्श प्रस्तुत करते हुए कबीरदास ने लिखा है—

मेरा मन सुमिरै रामकूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि।।

स्मरण का परिपाक अपनी पृथक सत्ता के विस्मरण और प्रभुमयता में है। प्रभु के स्मरण में जो लीन है, तुलसीदास के अनुसार विपत्ति उन्हें छू नहीं सकती। सुन्दर कांड में उन्होंने भी राम से कहलाया है—

'बचन कायँ मन मम गति जाही। सपनेहुँ बूझिअ बिपति कि ताही।'

वास्तव में प्रभु-स्मृति ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है और प्रभु का विस्मरण ही सबसे बड़ी विपत्ति। जैसा कि कहा गया है—

विपदो नैव विपदः संपदो नैव संपदः।
विपद् विस्मरणं विष्णोः संपन्नारायणस्मृतिः।।

लेकिन दुनिया की गति तो उल्टी ही है, भौतिक सुख और ऐश्वर्य में मस्त होकर हम प्रभु को भूल जाते हैं और दुःखों, कष्टों से घिर जाने पर उन्हें स्मरण करते हैं, वह

भी स्वार्थ-सिद्धि के लिए हो। 'बच्चन' की तरह ही हम सबका यह अनुभव है—

'मेरी दुर्बलता के क्षण में याद तुम्हीं करुणाकर आते'

संत इसे भी कल्याणकर मानते हैं, किन्तु कबीरदास की तरह चाहते यही हैं कि मनुष्य दुःख में ही नहीं, सुख में भी प्रभु का स्मरण किया करे—

'दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहे को होय।।'

हम संसारी जीव यदि अनन्य-चित्त होकर प्रेमपूर्वक प्रभु का स्मरण न कर सकें तो भी कोई बात नहीं। दुःख में सही, क्रोध में सही, वैर या भय से ही सही— किसी भी प्रकार प्रभु का स्मरण करना शुरू तो करें। इससे हमारा कलुष उसी प्रकार नष्ट हो जायगा जिस प्रकार आग को अनिच्छापूर्वक छू लेने पर भी जलना ही पड़ता है-

हरिर्हरति पापानि, दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः।। (बृहन्नारद १।११।१००)

प्रभु का स्मरण वह पारस है, जो अशुचि को शुचि और पापी को पुण्यात्मा बना देता है, जो सारी न्यूनताओं को पूर्ण कर देता है, जो समस्त मंगलों का विधान करता है। राम का सहारा लेने पर घबराने की बात क्या है। साहस करो, हृदय में हार मत मानो, राम का स्मरण करो और आगे बढ़ते जाओ। तुलसीदास कह गये हैं—

'राम सुमिरि, साहस करिय मानिय हिये न हार।'

पादसेवन

नवधा भक्ति में चौथी है पाद सेवन-भक्ति। इस सन्दर्भ में पाद सेवन का सीधा और प्रमुख अर्थ है भगवान् के चरणों की सेवा और इसीलिए इस भक्ति की प्रधान अधिकारिणी भगवती लक्ष्मी (तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः) मानी गयी हैं। किन्तु साधन-भक्ति के रूप में पाद सेवन को स्वीकार करने वालों को साक्षात् भगवान् की प्राप्ति ही नहीं हुई होती, तो वे उनके चरणों का संवाहन आदि करने का महान् सौभाग्य कैसे प्राप्त कर सकते हैं! ऐसी स्थिति में 'पाद सेवन' मुख्यतः मानसिक स्तर पर ही किया जा सकता है। 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा' कहकर वल्लभाचार्यजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रभु की सेवा का अर्थ है अपने चित्त को उनकी ओर लगा देना। इस दृष्टि से 'पाद सेवन' करने का मतलब है प्रभु के चरणों में अपने मन को लगाना अर्थात् निरन्तर प्रभु के सुभग-शीतल, कमल-कोमल, जगज्ज्वालाहारी चरणों का ध्यान करते रहना, अपने मन के द्वारा उनका स्पर्श करते रहना, उन्हें धीरे-धीरे दबाते रहना! मीराँजी ने इसीलिए कहा है—

मणथें परस हरि रे चरण,
सुभग सीतल,कँवल कोमल, जगत्-ज्वाला हरण।

इस मान्यता के अनुसार 'पाद सेवन' एक विशिष्ट भावना के अनुसार किया गया ध्यान ठहरता है। 'स्मरण' में भी ध्यान सन्निहित है, किन्तु उसमें नाम, रूप, लीला आदि के विस्तार के कारण वह घनीभूत सान्द्रता नहीं आ पाती, जो केवल प्रभु-चरणों में मनोनिवेश करने के कारण सहज सुलभ है। 'पादसेवन' में मनोभाव विनीत सेवक का रहता है, जबकि 'स्मरण' विविध, भावों से किया जा सकता है।

यह मान्यता श्रीमद्भागवत आदि सत्शास्त्रों के अनुकूल ही है। भागवत का प्रसिद्ध श्लोक है—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिव-विरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं, वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।।

(११।५।३३)

इसमें भगवान् के उन चरण कमलों की वन्दना की गयी है, जो सदा ध्यान करने योग्य, पराजय-निवारक, निरन्तर अभीष्ट प्रदान करने में समर्थ, परम तीर्थ स्वरूप, शिव-ब्रह्मादि द्वारा वन्दित, सब के शरणस्थल, सेवकों की विपत्ति के विनाशक एवं शरणागतों को भव समुद्र पार कराने-वाले सुदृढ़ जलयान हैं। पाद सेवन की विधि, महिमा और फल-श्रुति इससे स्पष्ट है। प्रभु के चरणों के ध्यान पर बल देते हुए भागवत में कहा गया है—'सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दम्' तथा ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् (३/२८/२१-२२) अर्थात् प्रभु के चरण कमलों का चिन्तन या ध्यान सम्यक् रूप से एवं चिर काल तक करना चाहिए। सम्यक् चिन्तन के अन्तर्गत प्रभु के अरुण वर्ण, कोमल चरणों के आकारों, उनमें विद्यमान वज्र, अंकुश, ध्वजा, कमल आदि चिह्नों, उनके उभरे हुए शोभामय दीप्तिमान नखों आदि का ध्यान समाविष्ट है। इस ध्यान के साथ-साथ भावना करनी चाहिए कि प्रभु के चरणों का वज्र हमारे पापों के पहाड़ों को नष्ट कर देगा, उनका अंकुश गजराज के समान मतवाले हमारे मन को वश में ले आएगा, उनकी ध्वजा हमारे हृदय पर लहराकर उसे प्रभु का धाम बना देगी, उनका कमल अपनी सुगन्ध से, अपने मकरंद से हमारे जीवन को पुण्य से सुरभित तथा भक्ति रस से ओतप्रोत बना देगा, उनके नख चन्द्र की चाँदनी हमारे हृदय के अँधेरे को दूर कर देगी। इसी के साथ सहज ही याद आएगी प्रभु के चरणों से सम्बन्धित विविध लीलाएँ!.....वामन से त्रिविक्रम बने प्रभु के चरणों की धोवन ही तो हैं गंगाजी, अहल्या का उद्धार इन्होंने ही किया था, केवट को इन्होंने ही अनुगृहीत किया था, कालियनाग के फणों पर नृत्य करने वाले ये ही थे.....आदि-अदि। इस सम्यक् चिर चिन्तन के फलस्वरूप हमारे हृदय में उनके साक्षात्कार की अदम्य लालसा जाग उठेगी और हम तुलसी के शब्दों में कह उठेंगे—

कबहिं देखाइहौ हरि चरन!

समन सकल कलेस कलिमल, सकल मंगल-करन।

x x x x

दरस आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन! (विनय पत्रिका २१८)

प्रभु की कृपा से यह लालसा पूर्ण होगी और तब यह साधन भक्ति ही सिद्धि बनकर तुलसी के शब्दों की सत्यता को प्रमाणित करेगी 'साधन सिद्धि राम पग नेहू!' तुलसीदास ने तो जीव का सच्चा स्वार्थ और परम पुरुषार्थ प्रभु के चरण कमलों के प्रति निश्छल प्रेम को ही माना है। उनके मानस में काग भुशुंडिजी की घोषणा है—

'स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन, क्रम, बचन राम पद नेहा।। (७।९६।१)

और लक्ष्मणजी का सुचिन्तित उपदेश है—

सखा परम परमारथु एहू। मन, क्रम, बचन, रामपद नेहू।। (२।९३।६)

चूँकि मनोभाव की पुष्टि वस्तु और क्रिया के योग से होती है और केवल मानसिक ध्यान आरम्भिक स्थिति में सधता नहीं, अतः पाद सेवन की परिधि का विस्तार करते हुए श्री नारायण तीर्थ ने शाण्डिल्य भक्ति सूत्र के २/७ सूत्र के भाष्य के अन्तर्गत उसकी यह व्याख्या भी की है-"*पाद सेवनम्-परिचर्या विष्णु प्रतिमापाद् सम्बन्धि गृहलेपनाऽऽदिरूपा, गुरोरपि परमेश्वररूपत्वात्तस्य भगवद्भक्तस्य वा पाद संवाहन रूपा च*" अर्थात् पादसेवन के अन्तर्गत भगवान् विष्णु (या अपने इष्टदेव) की प्रतिमा के चरणों की सेवा करना भी स्वीकृत है। इसी तरह गुरु के या भक्तों के चरणों की सेवा भी प्रभु की ही चरण-सेवा है। 'भगति, भगत, भगवन्त, गुरु चतुर्नाम वपु एक' मानने वाली परम्परा इस व्याख्या को सहर्ष स्वीकार करती रही है और करती रहेगी।

कुछ भक्तों ने 'पाद' का अर्थ अंश भी किया है। पुरुष सूक्त में कहा गया है-*'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (३)* अर्थात् सम्पूर्ण त्रिकालवर्ती भूत—यह सारा ब्रह्माण्ड आदि पुरुष के एक पाद में है, उसके अवशिष्ट तीन पाद सच्चिदानन्द स्वरूप-अमृत स्वरूप हैं और अपने स्वयं प्रकाशद्योतनात्मक रूप में निवास करते हैं। इसी के अनुरूप गीता में प्रभु की उक्ति है—

"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" (१०/४२) अर्थात् मैंने इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश में ही स्थिरता पूर्वक धारण कर रखा है, अतएव 'पाद सेवन' का अर्थ हुआ प्रभु के पाद स्वरूप—अंश स्वरूप इस चराचर जगत् की सेवा। आत्मशुद्धि एवं लोकमंगल की दृष्टि से यह अर्थ बहुत प्रशस्त है!

मानस में श्रीराम ने अपने अनन्य सेवक का यही लक्षण बताया है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।। (४/३)

अपनी-अपनी भूमिका और रुचि के अनुरूप भक्तगण, 'पाद सेवन' का अर्थ ग्रहण करने में स्वतन्त्र हैं, किन्तु उनकी चरितार्थता उसे क्रियान्वित करने में ही है।

अर्चन

नवधा भक्ति में पाँचवीं भक्ति है अर्चन। अर्चन का साधारण अर्थ है पूजा करना। भक्ति के क्षेत्र में नारायण तीर्थ के अनुसार उसका अर्थ है 'श्रवणाऽऽदिभिन्नो विष्णुप्रीतिहेतुर्व्यापारः प्रतिमाऽऽदौ गन्धपुष्पाऽऽद्यर्पणरूपः' (शांडिल्य भक्ति सूत्र के २।७ की वृत्ति के अन्तर्गत कथित) इसके अनुसार श्रवण आदि से भिन्न श्री विष्णु की प्रीति प्राप्त करने के हेतु रूपी क्रिया-कलाप को उनकी प्रतिमा को गन्ध-पुष्प आदि अर्पण करने को अर्चन या पूजन कहते हैं। अपने इष्टदेव के प्रति मन को लगाने का, अपने प्रेम भाव को दृढ़ करने का सुगम शास्त्रीय उपाय है अर्चन। अपने किसी भी मनोभाव को दृढ़ करने के लिए तदनुकूल वस्तुओं एवं क्रियाओं का संग्रह एवं सम्पादन आवश्यक है। अब यदि कोई चाहता है कि उसके इष्टदेव के प्रति उसके मन की जो प्रवणता है, रति है, वह उत्तरोत्तर बढ़ती गये तो उसे इष्टदेव से सम्बन्धित ऐसे क्रियाकलाप करने चाहिए जिनमें उसके न्यायोपार्जित द्रव्य से उपलब्ध वस्तुओं का प्रयोग भी हो। प्रभु के दर्शन तो किसी-किसी भाग्यवान परम भक्त को ही होते हैं। अतः आचार्यों ने विधान किया है कि अर्चावतार के रूप में प्रभु की प्रतिमा को देव स्थान में या अपने घर के ही किसी कक्ष में प्रतिष्ठित कर सामर्थ्य के अनुसार षोडशोपचार या पंचोपचार या किसी भी प्रकार उसका पूजन किया जाना चाहिए।

कैसी कृपा है प्रभु की कि सर्व-समर्थ होते हुए भी अर्चकों के अभिमत के अनुसार श्रीविग्रह स्वीकार कर वे अशक्त की भाँति उन पर निर्भर रहते हुए उनके पूजोपचारों को स्वीकार करते हैं। इसमें उनका सौलभ्य और अनुग्रह ही परिलक्षित होता है। भक्तों की इच्छा के अनुसार स्नान, वस्त्र, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि को अंगीकार कर उनकी स्तुति-प्रार्थना को श्रवण कर उनकी मनोकामना पूर्ण करने वाले अर्चावतार रूपी प्रभु-विग्रह की महिमा अपरम्पार है। प्रभु की प्रतिमाएँ असंख्य प्रकार की हो सकती हैं किन्तु शास्त्रों में उनके आठ मुख्य प्रकार वर्णित हैं—

शैली, दारुमयी, लौही, लेप्या, लेख्या च सैकती।
मनोमयी, मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता।।

अर्थात्, आठ प्रकार की प्रतिमाएँ कथित हैं शैली (प्रस्तरमयी) दारुमयी (काष्ठ-निर्मित) लौही (धातुमयी) लेप्या (लेपन निर्मित) लेख्या (चित्रमयी) सैकती (मृत्तिकामयी) मनोमयी और मणिमयी। जिस अर्चक को देश, काल, पात्र के अनुरूप जो प्रतिमा सुलभ हो, श्रद्धापूर्वक उसी की पूजा कर वह कृतार्थ हो सकता है। असली

बात यह है कि प्रतिमा में साक्षात् प्रभु-बुद्धि होनी चाहिए, शिला आदि की बुद्धि नहीं। प्रभु-बुद्धि होने पर ही अर्चन कल्याणकारी होता है, अन्यथा नहीं। कहा ही गया है *'अर्चकस्य प्रभावेण शिला भवति शंकरः'* अर्थात् अर्चक की श्रद्धामयी प्रभु-बुद्धि के कारण ही शिला शंकर हो जाती है।

अर्चन के पाँच अंग हैं : अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या। श्रद्धापूर्ण अन्तःकरण लेकर पूजन के संकल्प के साथ देव स्थान तक जाना, उसे स्वच्छ करना, निर्माल्य हटाना, उसे सुसज्जित करना अभिगमन के अन्तर्गत आता है। इससे अर्चक को सार्ष्टि मुक्ति प्राप्त होती है। पूजा की सामग्री का संग्रह करना उपादान है। इसमें आर्थिक क्षमता का महत्त्व नहीं है, भाव का महत्त्व है। कपट और दंभ को त्याग कर यदि अर्चक पत्र-पुष्प द्वारा ही प्रभु की पूजा करे तो वे उसी से प्रसन्न हो जाते हैं। गीता में प्रभु ने कहा ही है *'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामि प्रयतात्मनः' (८।२६)* अर्थात् यदि कोई मुझे भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल अर्पित करता है तो मैं उस भक्तिमय उपहार को आग्रह पूर्वक ग्रहण करता हूँ। शबरीजी ने तो सूखे बेरों का और बिदुरानी ने केले के छिलकों का भोग लगाकर प्रभु की असीम कृपा प्राप्त कर ली थी। इससे स्पष्ट है कि सामग्री की मूल्यवत्ता का नहीं उसके संग्रह के पीछे निहित मनोभाव का ही महत्त्व है। इससे सामीप्य मुक्ति की प्राप्ति होती है। प्रभु की पूजा करने के पहले स्वयं प्रभुमय हो जाना चाहिए। *'देवोभूत्वा देवं यजेत्'* देव होकर ही देव की पूजा करनी चाहिए। इसका अभिप्राय है कि इष्टदेव की भावना आत्म रूप से करनी चाहिए। इसी को योग कहते हैं और इससे सालोक्य की प्राप्ति होती है। इष्टदेव के मन्त्र का अर्थानुसन्धानपूर्वक जप, उनके स्तोत्रों का पाठ, उनके रूप, गुण, शील-चरित आदि का चिन्तन स्वाध्याय है जिससे सायुज्य की प्राप्ति होती है। तदनन्तर जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि उपचारों के द्वारा इष्टदेव की पूजा करने को इज्या कहते हैं। इससे सारूप्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अर्चन में वित्तजा, तनुजा और मानसी तीनों प्रकार की सेवाओं का समाकलन हो जाता है।

प्रतिमा के माध्यम से इष्टदेव की पूजा भाव निर्माण का आरंभ है। जैसे-जैसे भगवद्भाव दृढ़ होता जायेगा वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता जायेगा कि *'वासुदेवः सर्वमिति'* यह सब कुछ वासुदेवमय है। तुलसीदासजी ने सन्तों की इसी मनः स्थिति को रेखांकित करते हुए कहा है कि वे *'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'*। तुलसी के अनुसार अनन्य सेवक का लक्षण ही है *'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।'* इसीलिए अर्चन अपने विकसित व्यापक रूप में जगत् के कण-कण में व्याप्त प्रभु का अर्चन हो जाता है। श्रीमद्भागवत में तभी तो प्रभु ने कहा है कि सब भूतों में भूतात्मा के रूप में सदा मैं ही अवस्थित हूँ उस रूप में मेरी अवज्ञा कर (अर्थात् सर्व सामान्य

की अवज्ञा कर) केवल प्रतिमा की अर्चना करना विडम्बना ही है—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चां विडम्बनम् ।। (भाग० ३, २९, २१)

इसी प्रकार प्रभु की अर्चना केवल पूजन सामग्री से नहीं अपने कर्म के द्वारा करनी चाहिए। भक्ति जीवन की स्वाभाविक पद्धति है, उससे कटी हुई मन्दिरों तक सीमित प्रक्रिया नहीं। गीता में कहा गया है कि जिस परमतत्त्व के कारण प्राणियों में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे यह सब परिव्याप्त है, मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही उसकी अर्चना कर सिद्धि प्राप्त कर सकता है :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (१८।४५)

हमारा पूरा कर्ममय जीवन ही प्रभु का अखंड अर्चन बन जाये, हमारा यही लक्ष्य होना चाहिए।

वन्दन

नवधा भक्ति में छठी है *'वन्दन भक्ति'* वन्दन का अर्थ होता है, नमस्कार, अभिवादन, श्रद्धापूर्वक चरणस्पर्श आदि। प्रभु को, उनके श्रीविग्रह को, गुरु को, भगवद्भक्तों को विनम्र भाव से प्रणाम करना, इसी भक्ति-भाव के अन्तर्गत आता है। भक्ति का अर्थ ही है प्रभु के प्रति माहात्म्य बोध पूर्वक सुदृढ़, सर्वतोऽधिक स्नेह। प्रभु के महत्त्वबोध के साथ ही अपने लघुत्व का भी ज्ञान होता है। भक्ति की दृष्टि में न तो प्रभु से कोई बड़ा है न अपने से कोई छोटा। इसी लिए तुलसीदास जी ने कहा है—

राम सों बड़ो है कौन मों सों कौन छोटो,
राम सो खरो है कौन मोसों कौन खोटो। (विनय पत्रिका ७२।३-४)

एक साथ इन दोनों भावों को प्रकट करने का साधन है नमस्कार करना अर्थात् हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर, वाणी से नमस्कार या प्रणाम का उच्चारण करते हुए, हृदय से प्रभु की महिमा और अपनी तुच्छता को निष्कपट भाव से स्वीकारते हुए वन्दना करना। चरणस्पर्श करना या दंडवत् प्रणाम करना भी वन्दना के ही अन्तर्गत है। ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है कि वास्तविक वन्दना में शारीरिक, वाचिक और मानसिक, इन तीनों क्रियाओं का योग होता है। श्रीमद्भागवत में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो, भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्।। (१०।१४।८)

अर्थात् हे प्रभु, जो व्यक्ति सर्वत्र, प्रत्येक व्यापार में आप की कृपा का अवलोकन करता हुआ, अपने ऊपर आये सुख-दुःख को अपने कर्मों का फल मानकर

उन्हें धीरज के साथ भोगता हुआ, शरीर, वाणी और मन से आपको नमस्कार करता हुआ जीता है, उसे मुक्ति तो उत्तराधिकार में मिली वस्तु-सी सहज ही प्राप्त है।

भक्ति-पथ में अहंता और ममता, दो बड़ी बाधाएँ हैं। अहंकारी व्यक्ति, विनम्र नहीं हो सकता, क्योंकि अपने को ही वह सबसे बड़ा मानता है। अतः किसी को वह सहज में नमस्कार नहीं करता और जब करता भी है तब उसमें दिखावा या परिपाटी पालन मात्र होता है, आन्तरिक भाव नहीं। विचार करने पर दिखता है कि अहंकार अपने धन, जन, गुण, बुद्धि-वैभव या किसी अन्य वैशिष्ट्य के कारण ही होता है। इसका मतलब हुआ कि अहंकार का प्रमुख स्रोत ममता है। नमस्कार से इन दोनों का, अहंता और ममता का निषेध होता है। सिर झुकाना स्पष्टतः विनम्र भाव का द्योतक है जो अहंकार का प्रतिषोधक है। *'अहिर्बुध्न्य संहिता' (१५२-३०-३१)* में कहा गया है कि नमः के द्वारा वैष्णव अनादि वासना-जनित अपने स्वातंत्र्य-मूलक अहंकार एवं स्वत्व के बोध को नकार कर यह स्वीकार करता है कि मैं भी प्रभु का हूँ और अज्ञानवश जिसे अब तक अपना मानता रहा वह सबका सब प्रभु का ही है। इस प्रकार सच्चा नमस्कार अहंता और ममता दोनों को नष्ट कर भक्ति के पथ को सुगम कर देता है। इसीलिए भगवान् ने गीता के अन्त में अर्जुन को स्पष्ट आदेश देते हुए कहा था, मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर। मुझे नमस्कार कर। तू मेरा प्रिय है, मैं तुझसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा करने से तू मुझे प्राप्त कर लेगा—

मन्मना भव, मद्भक्तो, मद्याजी, मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। (१८।६५)

अर्जुन को प्रभु प्रत्यक्ष सुलभ थे, अतः वे प्रभु को नमस्कार कर सकते थे, हम आप तो नहीं कर सकते—यह शंका मन में नहीं आने देनी चाहिए। प्रभु हमें प्रत्यक्ष प्राप्त न सही, उनकी प्रतिमा तो है, चित्र तो है, सद्गुरु तो हैं, सन्त तो हैं, उन्हीं को हम आन्तरिक श्रद्धा के साथ नमस्कार करें तो वह प्रभु तक पहुँच जायेगा, जिस तरह आकाश से बरसा हुआ पानी नदी-नालों से होता हुआ समुद्र तक पहुँच जाता है—

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।।

अतएव जो चाहता है कि भक्ति मेरे हृदय में आये, उसे नमस्कार करने का संस्कार डाल लेना चाहिए। श्री रामचरित मानस की रचना करते समय तुलसीदासजी ने खलों तक की, चौरासी लाख योनियों के सभी जीव-जन्तुओं तक की वन्दना की है; क्योंकि, उन सबके अधिष्ठान भी तो सीताराम ही हैं। उन्होंने सबसे निश्छल स्नेह की याचना की है—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी।।
सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।
जानि कृपाकर किंकर मोहू। सब मिलि करहु छाड़ि छल छोहू।

यह भी समझ लेना चाहिए कि एक बार नमस्कार कर लेना ही काफी नहीं है। जब बारंबार नमस्कार किया जाता है, तभी उसका संस्कार पड़ता है। इसीलिए आचार्यों ने प्रमुख मंत्रों में नमः का योग कर उनके निरन्तर जप का विधान किया है। 'ॐ नमोनारायणाय,' 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय,' 'ॐ रांरामायनमः,' 'ॐ क्लीं कृष्णायनमः,' 'ॐ नमः शिवाय', 'श्री चंडिकादेव्यै नमः', 'श्री गणेशायनमः,' आदि-आदि मंत्रों में विद्यमान नमः पद प्रत्येक आवृत्ति के साथ साधक के मन के इस भाव को दृढ़ करता है कि मैं अपने इष्टदेव के अधीन हूँ, मेरा अस्तित्व और सारे-का सारा स्वत्व वस्तुतः मेरे इष्टदेव की कृपा का ही फल है, उन्हीं का है। ईशावास्योपनिषद् में भी अग्नि-स्वरूप परमात्मा से सन्मार्ग पर ले चलने की प्रार्थना करने के अनन्तर ऋषि ने कहा है, *'भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम* (१८) —हम तेरे लिए अनेकों नमस्कार-वचनों का विधान करते हैं। बार-बार नमस्कार करने से एक ओर अपना अन्तःकरण अहंता-ममता से रहित होता जाता है, दूसरी ओर प्रभु की अधिकाधिक कृपा का प्रसाद प्राप्त होता है। तभी अर्जुन ने कहा था, *'नमो नमस्तेऽस्तु सहसकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।'* (गीता ११-३९) प्रभु आपको नमस्कार सहस्रों बार नमस्कार और फिर बहुत-बहुत से नमस्कार। इसी के आगे अर्जुन कहता है 'हे सर्वस्वरूप प्रभु तुम्हें आगे से भी नमस्कार, पीछे से भी नमस्कार; सब ओरों से नमस्कार', *'नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।'* (११/४०) जो प्रभु सर्वत्र स्थित है, उसे सब ओरों से सब दिशाओं से नमस्कार करना उचित ही है।

नमस्कार करने से प्रभु, गुरु एवं सन्तों के मन में साधक के प्रति सहज स्नेह उत्पन्न होता है, उस पर उनकी कृपा सक्रिय हो उठती है। वे उसके दोषों-अपराधों को क्षमा कर, उसे आशीर्वाद देते हैं, अपना लेते हैं। अतः क्यों न हम लोग इस सहज साधना द्वारा उन सबको प्रसन्न कर लें। देव कवि की इस विरोधाभासी उक्ति का सत्य सचमुच अनुभव करने योग्य है।

'पैये असीस लचैये जो सीस लची रहिये तब ऊँची कहैये।'

(सिर झुकाने पर ही आशीर्वाद मिलता है, झुका हुआ सिर ही ऊँचे उठता चला जाता है।)

दास्य

श्रवण से वन्दन तक की भक्तियों में क्रिया मुख्य है और भावना गौण। उन्हें

इसलिए स्पष्टतः साधन भक्ति कहा जाता है। साधन भक्ति में साध्य भक्ति—प्रेमा या पराभक्ति बनने का जो आन्तरिक सामर्थ्य है, उसका आभास दास्य, सख्य और आत्म निवेदन के द्वारा प्राप्त होता है इनमें भाव की प्रधानता होती है और जब प्रभु कृपा से भाव घनीभूत एवं निष्काम हो जाता है तब *साधन सिद्धि राम पग नेह* की मान्यता के अनुसार इनका रूपान्तर पराभक्ति में हो जाता है। अतः इनकी महत्ता स्वतः सिद्ध है।

दास्य की परिभाषा श्री रूप गोस्वामी पाद के अनुसार *'दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्यमपि सर्वथा' (भक्तिरसामृत-सिन्धु १.२.५२)* अर्थात् अपने समस्त कर्म और उनके फल प्रभु को अर्पित कर उनकी आज्ञा एवं प्रसन्नता के अनुकूल उनकी सेवा करते हुए जीवन यापन करना ही दास्य है। याद रखना चाहिए कि भक्ति किसी क्रिया-विशेष का नाम नहीं है। जो भी क्रिया भगवान् से जुड़ जाती है, भक्ति का अंग बन जाती है। यदि कोई सचमुच भगवान् से अनन्य प्रेम करता हुआ उन्हीं के लिए जी रहा हो तो उसका साधारण-से-साधारण कर्म भी—चलना, फिरना, उठना, बैठना, सोना, जागना भी भागवत कर्म हो जाता है। इसी स्तर से शंकराचार्य जी ने कहा था *'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्'* अर्थात् मैं जो-जो कर्म करता हूँ वे सब-के-सब कर्म हे शंभो! तुम्हारी आराधना ही है। फिर तीर्थ-यात्रा, दान-पुण्य, जप-तप, पूजा-पाठ जैसे उत्तम कर्मों के भागवत-कर्म हो जाने में सन्देह ही क्या हो सकता है!

भगवान् के लिए कर्म करना या अपने कर्मों के फल प्रभु को अर्पित कर देना, जब बात-की-बात न रहकर, जीवन-व्रत बनने लगता है तब साधक में असाधारण परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है। निषिद्ध या त्याज्यकर्म (चोरी, बेईमानी, व्यभिचार आदि) उनसे प्राप्त होने वाले मोहक फलों के लिए ही तो किये जाते हैं, जब कर्म का फल पाने की लालसा नहीं रहती, तब निषिद्ध कर्म करने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर दास्य भक्ति में सिर्फ कर्मफल-त्याग की निष्ठा नहीं है, कर्म और उसके फल को प्रभु को समर्पित करने की निष्ठा है। अब कोई भक्त जान-बूझकर प्रभु को बुरे कर्म कैसे समर्पित कर सकता है। तब उसके मन में विवेक जागता है कि बुरे कर्मों का त्याग करना चाहिए और अच्छे कर्मों का समर्पण। यह विवेक दिनों दिन गहरा होता जाता है और उसका प्रभाव कायिक कर्मों से आगे बढ़कर मानसिक, वाचिक, बौद्धिक, स्वाभाविक आदि कर्मों तक व्याप्त हो जाता है क्योंकि दास्य भक्ति करने वालों को तो अपने सभी कर्म प्रभु को समर्पित करने चाहिए।

सभी कर्मों को समर्पित करने की जागरूक चेष्टा के फलस्वरूप धीरे-धीरे कर्म इष्टदेवोन्मुख होने लगते हैं। वृत्रासुर ने जब बार-बार प्रभु के दास बल्कि दासानुदास के रूप में जन्म लेने की प्रार्थना की थी तो उसने यह भी चाहा था कि मेरा मन प्रभु के गुणों का स्मरण करता रहे, वाणी उन्हीं का गुणगान किया करे और शरीर उन्हीं की

सेवा में रत रहे— *'अहं दासानुदासो भवितास्मि भूयः। मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतुकायः।। हरे तव पादैकमूल'* (भागवत ६.११.२४) इसी के अनुरूप तुलसीदास ने कहा है— *'सेवक सोई जो करै सेवकाई'।* सवाल यह है कि हम आप प्रभु की सेवा कैसे करें? साक्षात् प्रभु की प्राप्ति होने पर ही उनकी सेवा की जा सकती है, यह युक्ति नहीं है, छल है। भरत जी ने सेवा की विधि का निर्देश करते हुए कहा है *'अग्या सम न सुसाहिब सेवा'।* आज्ञापालन के समान प्रभु की सेवा कोई दूसरी नहीं है। माना जाता है कि दास्य भाव के आदर्श हनुमान्‌जी हैं। प्रभु ने उन्हें ही सेवा का मर्म समझाते हुए कहा था कि यद्यपि मुझे समदर्शी कहा जाता है तथापि मुझे सेवक, उनमें भी अनन्य गति सेवक बहुत प्रिय हैं। मेरा अनन्य सेवक वही है जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि यह चराचर जगत् मेरे स्वामी का व्यक्त रूप है और मैं इसका सेवक हूँ—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।।
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।। (मानस ४.३)

इस स्पष्ट आज्ञा के बाद सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि दास्य भाव का भक्त कैसे प्रभु की सेवा करे। अपनी रुचि, बुद्धि, क्षमता के अनुसार चुना हुआ या काल क्रम से मिला हुआ प्रत्येक लोक-हितैषी कार्य प्रभु की सेवा ही है। इसमें सावधानी इतनी ही बरतनी चाहिए कि सेवा करते समय यदि कोई अच्छा कार्य बन जाये तो उसका श्रेय प्रभु को ही देना चाहिए और यदि दोष बन पड़े तो उसकी जिम्मेदारी अपनी समझकर, इसे दूर करने का सच्चा विनम्र प्रयास करते रहना चाहिए। श्रेय स्वयं लेने पर अहंकार जागता है और दोष दूसरों पर थोपने से असावधानी, अकर्मण्यता बढ़ती है। तुलसीदास ने राम के सेवकों को सचेत करते हुए कहा था—

निज दुषन गुन राम के समुझें तुलसीदास।
होय भलो कलिकाल हूँ उभय लोक अनयास।। (दोहावली ७७)

सेवा और प्रेम का सूक्ष्म अन्तर भी समझ लेना चाहिए। सच्ची सेवा होती प्रेम से ही है किन्तु प्रेम स्वाधीन भी हो सकता है, सेवा सदा पराधीन—सेव्य के अधीन रहती है। सेव्य के प्रेम पूर्ण स्मरण या दर्शन से रोमांचित होकर सुध-बुध खो बैठना प्रेम हो सकता है, पर सेवा नहीं। प्रेम की मुग्ध अवस्था सान्निध्य चाहती है, सेवा की जागरूक मनःस्थिति दूरी या निकटता का विचार नहीं करती, सेव्य की प्रसन्नता, सुविधा और भलाई का ध्यान रखती है। *'सब तें सेवक धरमु कठोरा'* मानने वाले भरत लाल ने लक्ष्मणजी के घायल होने का समाचार सुनकर पहले भावावेश में यह इच्छा प्रकट की

थी कि इस संकट के समय उन्हें श्रीराम के पार्श्ववर्ती के रूप में रावण से चल रहे युद्ध में अंश ग्रहण करना चाहिए किन्तु उन्हें उसी के साथ साथ यह भी स्मरण आया कि प्रभु की आज्ञा अयोध्या में रहकर चौदह वर्षों तक प्रजा पालन करने की है। राम के इस सच्चे सेवक के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करते हुए तुलसीदास ने लिखा है—

आयसु इतहि स्वामि संकट उत परत न कछु किये है।
तुलसिदास बिहरयो अकास कैसोके जात सियो है।। (गीतावली-६/१०/८)

एक ओर प्रभु की आज्ञा, दूसरी ओर स्वामी पर आया यह संकट, क्या किया जाये कुछ करते नहीं बनता। आकाश यदि फट जाये तो कोई कैसे सिये ? किन्तु संकट के इस चरम क्षण में भी सहज प्रेम पर सेवावृत्ति को उन्होंने वरीयता दी और वे आदेश पालन करते हुए अयोध्या में ही रहे।

हम तो ऐसे सेवक नहीं हैं, हमारे बहुत-से कर्म अब भी निषिद्ध या निन्दनीय होते हैं, ऐसा सोच-सोच कर हिम्मत हारने का कोई कारण नहीं है। अपनी ओर से हमें सच्चे मन से प्रयास करते रहना चाहिए; प्रभु गलतियों की ओर नहीं देखते, गलतियों को सुधारने की सच्ची चेष्टा की ओर देखते हैं। प्रभु इस से प्रसन्न होकर हमें अपना सच्चा सेवक बना लेंगे।

सख्य

सख्य की साधना अपने इष्टदेव को अपना सर्वाधिक विश्वास-भाजन और स्नेही मित्र मानकर की जाती है। रूप गोस्वामीपाद की साखी है, *विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं विविधमीरितम्* (भक्ति रसामृतसिन्धु १.२.५५)। प्रभु पर विश्वास तो भक्ति का आधार ही है किन्तु यहाँ जिस विश्वास की ओर संकेत किया गया है वह एक ओर भयरहित होता है, दूसरी ओर अन्तरंगतायुक्त होता है। प्रभु से निर्भयतापूर्वक अपने मन की गुप्त-से-गुप्त बात कहना और उनका भी तदनुकूल विश्वास-युक्त स्नेह प्राप्त करना इसकी सिद्धि मानी जाती है।

सख्य समानशील व्यसन वालों में होता है। अतः ऊपरी दृष्टि से भक्त और भगवान् का सख्य अटपटा लग सकता है। कहा जा सकता है कि कहाँ सर्व-समर्थ प्रभु और कहाँ दीन-हीन भक्त....दोनों में समानतायुक्त प्रेम कैसे सम्भव है? इसमें दो बातें हैं। पहली तो यह कि ब्रह्म और जीव दोनों की ख्याति और जाति सचमुच एक ही है। यदि *व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी, सत चेतन घन आनन्द रासी* है तो *'ईश्वर अंस जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी'* है। सत्-चित्-आनन्द तत्त्व दोनों में समान है। हाँ, जीव मायावश अपने स्वरूप को भूलकर अपने को कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुखी,

सीमित, परिच्छिन्न मान बैठता है। फिर भी श्वेताश्वर उपनिषद् की घोषणा है कि उस अवस्था में भी वे दोनों सखा ही हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। (४.६)

ये प्रकृतिरूपी वृक्ष पर बैठे सुन्दर पंखवाले, साथ-साथ रहनेवाले दोनों सखा पक्षी ब्रह्म और जीव ही हैं। इनमें से जीव स्वाद ले-लेकर उस वृक्ष के मीठे-कड़वे फलों को खाता है (सुख-दुःख भोगता है) और ब्रह्म कुछ न भोगता हुआ साक्षी बना रहता है। फिर भी दोनों सखा हैं। इस पर भी कोई पूछे क्यों, कैसे तो दूसरी बात कहनी पड़ती है, प्रभु की लीला और कृपा से।

सृष्टि रचकर जीव को उसमें रमाकर प्रभु तटस्थ नहीं हो जाते। वे भी उसके साथ क्रीड़ा करने के लिए कृपापूर्वक अवतरित होते रहते हैं और खेल-खेल में ही उसका मंगल करते रहते हैं। वे सचमुच *'स्वारथ-रहित सखा सबही के'* हैं। गीता में उनकी स्पष्ट घोषणा है—*सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति। (५.२९)* प्रभु को सब प्राणियों का सुहृद् जानकर ही शान्ति प्राप्त की जा सकती है। सुहृद् कहते हैं सुन्दर हृदय वाले मित्र को। प्रभु की विशेषता यह है कि न केवल वे सुहृद् हैं बल्कि सब जीवों के हृदय में वासकर उन्हें भी सुहृद् बनने की प्रेरणा देते रहते हैं। प्रभु केवल मेरे ही नहीं सब प्राणियों के सुहृद् हैं—इसे वस्तुतः जान लेने पर कोई किसी दूसरे के अनिष्ट की कामना नहीं कर सकता क्योंकि प्रभु अपने सुहृद् हैं और वह प्रभु का सुहृद् है। इस प्रकार वह अपना दुगुना सुहृद् हो जाता है। और फिर प्रभु अपने शील के कारण अपने से छोटों को अपने समान कर लेने में सिद्ध-हस्त हैं। तुलसीदास की गवाही है—

प्रभु तरुतर कपि डार पर ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील निधान।। (दोहावली ५०)

प्रभु से भी ऊँचे आसन पर बैठने की धृष्टता करने वाले अज्ञानी, अनाचारी वानरों को भी प्रभु ने अपने समान बनाकर अपना मित्र, बन्धु बना लिया था। वसिष्ठजी से उनका परिचय कराते हुए प्रभु ने अपने श्रीमुख से कहा था *ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे।।* (मानस ७.८.७) केवल इतना ही नहीं—प्रभु की प्रीति-रीति ऐसी अद्भुत है कि जब मुनिगण उनके सहज ब्रह्म स्वरूप का वर्णन करते थे तो वे उस समय इस संकोच से सिर झुकाये रहते थे कि कहीं इसके चलते अपनी लघुता से लज्जित हो जीव मुझ तक आने का हौसला न छोड़ बैठें। वे प्रसन्न तभी होते थे, अपनी स्तुति उसे ही मानते थे जब उन्हें केवट-मीत और वानर-बन्धु कहा जाता था। कैसी अपूर्व पंक्तियाँ हैं तुलसीदास की—

सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।

केवट-मीत कहे सुख मानत, बानर-बंधु बड़ाई।। (विनय० १६४.९-१०)

प्रभु का यह कृपामय स्वभाव ही हमको-आपको उत्साहित करता है कि हम उन्हें सखा बनाकर उनके साथ अपने सुख-दुःख बाँट लें। वैसे सख्य के आदर्श अर्जुन माने जाते हैं। किन्तु न तो अर्जुन-उद्धव, न सुग्रीव-विभीषण को सख्य की समानता का वैसा स्वच्छन्द अनुभव हुआ था जैसा ग्वाल-बालों को हुआ था। जो मित्रता पद या पदार्थ से दब जाये, उसमें समानता का वास्तविक आनन्द कहाँ? इसीलिए तो ग्वाल-बालों के भाग्य की सराहना करते हुए ब्रह्माजी ने कहा था—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।

यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।। (भाग० १०.१४.३२)

भला जिनके मित्र स्वयं परमानन्दस्वरूप, पूर्ण, सनातन ब्रह्म हों उनके सौभाग्य की भी कोई सीमा है। बचपन का वह निश्छल, सरल, समानतापूर्ण सख्य धन्य है, जिसके दावे से श्रीदामा श्रीकृष्ण से कह सके थे : *खेलत में को काको गुसैयां।* खेल में तो सब खेलाड़ी समान हैं, कौन किसका स्वामी बन सकता है। जो हार जाने पर दाँव न दे, कुछ गायें अधिक होने का गुमान करे, बात-बात पर रूठने की धमकी दे, उसके साथ कौन खेलेगा! क्या बाँका तेवर है समानता का, *जाति-पाति हम तैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।* (सूरसागर ८६३)। इसके आगे श्रीकृष्ण को ही झुकना पड़ा; नन्दबाबा की दुहाई देकर उन्हें सखाओं को मनाना पड़ा और दाँव देना पड़ा। समानता के आधार पर विश्वासयुक्त यह स्नेह मित्र-वृत्ति के अन्तर्गत प्रभु के कार्य के लिए, उनके सम्मान की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देने की प्रेरणा भी देता है।

आज भी प्रभु को हम लोग *त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव* कहकर पुकारते तो हैं किन्तु उसमें हृदय के सच्चे भाव का योग कहाँ कर पाते सम प्राणः सखा यतः एक प्राण दो देह की भूमिका पर पहुँच जाने पर ही सख्य सार्थक होता रहा है। प्रभु के साथ ऐसा सख्य आज भी हो सकता है, यदि हममें वैसी लगन हो तो!

आत्म-निवेदन

आत्म-निवेदन का अर्थ है भगवान् को अपना सब कुछ अर्पित कर देना। इस सब कुछ की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने बताया है कि इसके अन्तर्गत अपने अहं का आस्पद....देही जीवात्मा अर्थात् अपना सच्चा आपा और उसका आवास, अपने ममत्व का आस्पद अर्थात् अपना शरीर एवं उससे जुड़े हुए आत्मीय स्वजन, धन, सम्पत्ति, यश, मान, कर्म, कर्मफल आदि सबकी गणना हो जाती है। अपना आपा क्या है, इसका

निर्णय करना ज्ञानियों के लिए भी कठिन हो जाता है। इसीलिए यामुनाचार्य ने आलवन्दार स्तोत्र में कहा कि मैं, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार या आत्मा जो कुछ भी क्यों न होऊँ, सत्त्व, रज, तम आदि गुणों के वशवर्ती होकर भला, बुरा जैसा भी मैं क्यों न होऊँ, वैसा ही मैं आज ही आप के चरण-कमलों में अपने द्वारा अर्पित हूँ—

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा, गुणतोऽसानि यथातथाविधः।
तदयं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पितः।। ५२।। (आल० स्तो०)

प्रभु को अर्पित करने का अर्थ क्या है? किसी को कोई वही वस्तु दे सकता है जो उसकी अपनी हो, किन्तु सचमुच अपना क्या है? सत्य तो यही है कि सब कुछ प्रभु का ही है। फिर उन्हीं की वस्तु उनको समर्पित करने का अधिकार मुझे कैसे प्राप्त हो गया? यह प्रश्न यामुनाचार्य को मथने लगा तो उनके मुख से निकला।

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं, सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतस्वमिति ब्रवुद्धधीरथवा किं नु समर्पयामि ते ।। ५३।। (आल० स्तो०)

हे प्रभु, मेरा जो कुछ है और मैं जो कुछ हूँ वह सब तुम्हारा ही है। मैं तुम्हारा नियत धन हूँ, मेरी ऐसी बुद्धि सदा जागरूक रहे। अब भला मैं तुम्हें क्या समर्पित करूँ? सब कुछ प्रभु का है, यह स्वीकार कर कैसी मार्मिक उक्ति कही थी कबीर ने *'मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा। तेरा तुझको सौंपता क्या लागे है मेरा।'*

प्रभु की वस्तु प्रभु को सौंपते समय वस्तुतः कुछ नहीं लगना चाहिए किन्तु फिर भी कहाँ हम लोग सच्चे दिल से प्रभु को कुछ भी सौंप पाते हैं। अपने अज्ञान वश प्रभु की वस्तु पर अपना स्वत्व जमा बैठने की मूढ़ता का त्याग ही वास्तविक समर्पण है।

अपने को स्वतन्त्र मान कर या इस शरीर और इसके सम्बन्धियों को अपना मान कर जीव छटपटाता रहता है, सुख प्राप्ति की चेष्टाओं में अधिकाधिक दुःखों की श्रृंखला से जकड़ता चला जाता है। आत्म निवेदन कर देने का अर्थ है— इन सब की जिम्मेदारी प्रभु को सौंप देना। भक्तों ने बताया है कि जैसे बिके हुए पशु की देखरेख की चिन्ता बेचने वाला नहीं करता वैसे ही समर्पण के अनन्तर अपने शरीर आदि की चिन्ता स्वयं नहीं करनी चाहिए। 'भक्ति विवेक' में स्पष्ट कहा गया है—

चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः।
तथार्पयन् हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात्।।

इसी भाव के अनुरूप तुलसीदासजी ने विनय पत्रिका में कहा है कि राम से नाता जोड़ने के बाद दुनिया के सब नेह-नाते छोड़ कर उन्हीं का दास होकर रहूँगा और जिनका दास बनूँगा उन्हीं पर मेरे सभी उत्तरदायित्वों का बोझ होगा—

नातो-नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।। वि०प० १०४.७.८।।

इस प्रकार जब कोई सचमुच अपनी सारी जिम्मेदारी प्रभु को सौंप कर आने वाले सुख-दुखों को समभाव से सहता रहता है तब प्रभु उसके योगक्षेम का भार स्वयं उठा लेते हैं। गीता में प्रभु ने स्पष्ट कहा है, *तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्'।* (९.२२) सिर्फ इतना ही नहीं प्रभु ऐसे भक्त को अपने से अभिन्न कर लेते हैं। इस बात को जरा विस्तार से समझना चाहिए।

अपने 'मैं' को प्रभु को अर्पित कर देने के बाद मैं संज्ञा का अधिकारी प्रभु के अतिरिक्त कोई रह ही नहीं जाता। इसी तरह सब वस्तुएँ भगवान् की हैं तो क्या वे उनसे अलग हैं? वे उन्हीं में हैं, उन्हीं का रूप विशेष है, यह भाव धीरे-धीरे जागने लगता है और *'वासुदेवः सर्वमिति'* की व्रती होने लगती है। जब भाव और वस्तु की पृथकता नहीं रहती तो क्रिया भी उन्हीं की प्रेरणा से हो रही है, यह समझ में आने लगता है। भाव, वस्तु और क्रिया तीनों में प्रभु के अतिरिक्त और किसी की सत्ता, प्रेरकता न रहने पर अपने अलग अस्तित्व का भान ही नहीं रहता। गोस्वामी जी ने इसीलिए कहा है *'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'* कबीरदासजी ने इस भाव को पल्लवित करते हुए लिखा है, मेरा मन रात दिन राम का स्मरण करता रहता है, मेरा मन राम में रम गया है, लो, अब मेरा मन ही राम हो गया है, अब किसे शीश झुकाऊँ। भक्ति से अद्वैत सिद्धि का अपूर्व दोहा है यह—

मेरा मन सुमिरे राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि।।

आत्म-निवेदन के द्वारा अपने साथ एक हो जाने की प्रक्रिया का संकेत स्वयं प्रभु ने श्रीमद्भागवत में करते हुए कहा है कि अपने को निवेदित कर.....निवेदितात्मा होकर जब कोई मनुष्य अपने सब कर्मों का त्याग कर देता है (अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि आदि से होने वाले कर्मों के कर्तृत्व, भोक्तृत्व का त्याग कर देता है) तब मैं उसका विशेष कल्याण करना चाहता हूँ, तब वह अमृतत्व की उपलब्धि करता हुआ मेरे साथ एक होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। आत्म-निवेदन की चरम स्थिति का द्योतक यह श्लोक पुनः-पुनः मनन करने योग्य है—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै।। (११.२९.३४)

आत्म-निवेदन की इस ऊँची भूमिका पर पहुँचते-पहुँचते साधन-भक्ति कब पराभक्ति बन जाती है, पता ही नहीं चलता है। यह जरूर कहा जा सकता है कि यह स्थिति प्रभु की कृपा द्वारा किसी-किसी बिरले महाभाग को ही प्राप्त होती है। उस स्थिति में भी भक्त अभिन्नता-बोध के बावजूद अपना भक्ति भाव नहीं छोड़ता और सम्पूर्णतः प्रभु-निर्भर रहता हुआ सूरदास के शब्दों में प्रभु से कहता रहता है—

जैसे राखहु तैसे रहौं,
जानत हौं दुख सुख सब जन के मुखकरि कहा कहौं।

नवधाभक्ति स्वयं प्रभु को पाने के लिए साधन-स्वरूप

नवधा भक्ति पराभक्ति या रागात्मिका भक्ति को पाने के लिए ही नहीं अवस्था विशेष में स्वयं प्रभु को भी पाने के लिए साधन-स्वरूप है। सच बात तो यह है कि प्रभु में ही हम सब निवास करते हैं। अतः वे सहज सुलभ हैं, किन्तु हमारे असंख्य पूर्वजन्मों के (और इस जन्म के भी) वासनाजन्य कर्म-संस्कार हमें इस सत्य की उपलब्धि नहीं होने देते। तुलसीदास ने करुणाकातर होकर कहा है—

आनँदसिन्धु मध्य तव बासा।
बिनु जाने कस मरसि पियासा।। (वि० प० १३६।२१)

जीव आनन्द सिन्धु प्रभु में निवास करते हुए भी इस सत्य को न जानने के कारण सांसारिक विषयों से आनन्द पाने की लालसा से भटक-भटक कर उसी प्रकार प्यासा मरता है जिस प्रकार मरुस्थल में जल की भ्रान्ति मृग को दौड़ा-दौड़ाकर मार डालती है।

आनन्द-स्वरूप प्रभु की प्राप्ति में प्रतिबन्धक के रूप में जो हमारे दुरित हैं, पाप हैं, उनकी निवृत्ति एवं अन्तःकरण की शुद्धि कर स्वयं सान्द्र होकर पराभक्ति में परिणत हो जाना ही साधन भक्ति का कार्य है। इसीलिए शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र में कहा गया है, *तान्यः पावित्र्यमुपक्रमात्* (१।२।४) अर्थात् उन साधन-स्वरूपा नवधा भक्तियों के उपक्रम से ही, उनके अभ्यास के आरम्भ से ही अन्तःकरण पवित्र होने लगता है। भक्ति रसामृत-सिन्धु में श्री रूपगोस्वामी ने निरूपित किया है कि *कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा* (१।२।१) अर्थात् साधन भक्ति वह है जो साधक की कृति से सम्भव होकर साध्य भक्ति में रूपान्तरित हो सके। यह कितना बड़ा आश्वासन है। सभी मानते हैं कि पराभक्ति कृपासाध्य है। फिर भी यह सच है कि क्रिया साध्य साधन भक्ति प्रेम के प्रकर्ष से पराभक्ति में बदल जा सकती है। अतः निष्ठापूर्वक साधन भक्ति करते रहना हमारा परम कर्तव्य है।

यह भी समझ लेना चाहिए कि नवधा भक्तियों में किसी एक का प्रधान रूप से अवलम्बन कर या अनेक का समुच्चय कर भक्ति साधना की जा सकती है। यह सही है कि किसी एक भक्ति को प्रधान रूप से स्वीकार कर लेने पर अन्य भक्तियाँ गौण रूप से साधक के जीवन में स्वतः आ जाती हैं फिर भी जिसकी प्रधानता होती है उसी की निष्ठा कही जाती है। इस सन्दर्भ में एक प्रसिद्ध श्लोक है—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षितमवद्वैयासकिः कीर्तने,
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने च हनुमान् दास्ये, च सख्येऽर्जुनः,
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत्, कैवल्यमेषां समम् ।।

(शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १।२।७ की टीका में नारायणतीर्थ द्वारा उद्धृत)

अर्थात् श्रवण भक्ति में परीक्षित, कीर्तन में शुकदेव, स्मरण में प्रह्लाद, पाद-सेवन में लक्ष्मी, पूजन में पृथु, वन्दन में अक्रूर, दास्य में हनुमान्, सख्य में अर्जुन, आत्म निवेदन में बलि अग्रगण्य हैं किन्तु प्रभु का अनुग्रह सब पर समान था। अतः सब को कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति हुई। श्रीरूपगोस्वामी मुक्ति को भक्ति से बहुत तुच्छ मानते थे अतः भक्ति रसामृत-सिन्धु में उन्होंने इस श्लोक के अन्तिम चरण को बदल कर *कृष्णाप्तिरेषां परम्* कर दिया। (१।२।१९७) नवधा भक्ति में किसी एक की भी प्रेममयी साधना से कैवल्य या कृष्ण की प्राप्ति हो सकती है, इसका अर्थ यह है कि प्रभु से साधक को युक्त करने में समर्थ ये सभी भक्तियाँ तत्त्वतः समान हैं, इनमें ऊँच, नीच की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इसीलिए महर्षि शाण्डिल्य ने डंके की चोट पर कह दिया *ईश्वरतुष्टेरेकोऽपि बली* (२।२।८)। अर्थात् नवधा भक्तियों में प्रत्येक अभ्यास एवं अनुराग आदि गुणों से युक्त होकर ईश्वर को तुष्टि कर समस्त अर्थों के प्रदान करने में समर्थ हैं। फिर भी कुन्ती, अम्बरीष, वृत्रासुर आदि अधिकतर भक्तों के जीवन में नवधा भक्ति के समुच्चय के दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवत में वृत्रासुर की विख्यात स्तुति है :

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक्, कर्म करोतु कायः।। (६।११।२४)

अर्थात् हे हरि! मैं आप के चरण-सेवकों का दासानुदास बारम्बार बनूँ। हे प्राणनाथ, मेरा मन आप के गुणों का स्मरण किया करे, मेरी वाणी आपका गुण-कीर्त्तन करती रहे, मेरा शरीर आपका ही कर्म करता रहे।

इसी प्रकार तुलसीदास ने भी कई साधनों का समुच्चय कर भजन करने का निर्देश देते हुए लिखा है—

स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवाकर, अनुसरु।
नयनन्हि निरखि कृपा-समुद्र हरि अंग जग रूप भूप सीतावरु।।

(वि० प० २०५)

असली बात प्रभु में अपना मन लगाना है। चाहे वह नवधा भक्ति के एक अंग से हो, चाहे अनेक अंगों के समुच्चय से हो, चाहे किसी अन्य उपाय से हो। साधन भक्ति के अन्तर्गत प्रमुख है नवधा भक्ति, किन्तु अन्य किसी उपाय से भी प्रभु में भक्ति हो तो उसका भी स्वागत है। भागवत के अनुसार यह भी आवश्यक नहीं है कि भक्ति

पूर्वक ही प्रभु में मनोनिवेश हो। गोपियों ने काम भाव से, कंस ने भय से, शिशुपाल, दन्तवक्त्र आदि ने द्वेष से, यदुवंशियों ने पारिवारिक सम्बन्ध से, युधिष्ठिर आदि ने स्नेह से और नारद आदि ने भक्ति से अपने मन को भगवान् में लगाया था और इन सभी को भगवान् की प्राप्ति हुई थी (७।१।३०)। इसीलिए भागवत में कहा गया है कि किसी भी उपाय से क्यों न हो श्रीकृष्ण में अपना मन लगा देना चाहिए *तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्* (७।१।३१)

वे समस्त साधन धन्य हैं, आचरणीय हैं जिनसे विषयासक्ति छूटती और भगवदासक्ति दृढ़ होती है। प्रभु को ही अपना एक मात्र लक्ष्य बनाकर दृढ़ संकल्प कर हमें उस साधन पर जुट जाना चाहिए जो हमें गुरु, संत या परम्परा से प्राप्त हुआ हो। हमारे हाथ में तो अपना साधन ही है। उसी की पराकाष्ठा होने पर, उसी के दूसरे छोर पर हमें प्रभु की प्राप्ति होगी। आलस्य, प्रमाद या निराशा के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। भगवत्कृपा पर दृढ़ विश्वास और अपने साधन का सानुराग सतत अभ्यास ही वह पारस है जो हमारे अभावग्रस्त—दुःखमय जीवन को सच्चिदानन्दमय बना सकता है। ●

शरणागति की भूमिका

आस्तिक जनों का प्रभु से प्रयोजन मुख्यतः दो प्रकार का होता है पहला यह कि प्रभु से हमें कुछ मिले, दूसरा यह कि स्वयं प्रभु हमें मिलें। साधारण तौर पर जीव विषयासक्त रहते हैं। विषयों के प्रति महत्त्व बुद्धि होने के कारण वे उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। आस्तिक होने पर भी अधिकांश लोग विषय सुख की लालसा से ग्रस्त रहते हैं। ऐसे व्यक्ति भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि प्रभु हमें अमुक वस्तु प्राप्त हो जाये, अमुक नौकरी मिल जाय, हम रोग मुक्त हों, परीक्षा में उत्तीर्ण हों आदि, आदि। निश्चय ही अन्यों से याचना करने की तुलना में प्रभु से माँगना लाख गुना बेहतर है। फिर भी यह चुभन विचारशील व्यक्तियों को होती ही रहती है कि अनजान में सही, ये लोग कितना बड़ा अनर्थ कर रहे हैं। ये लोग भौतिक वस्तु, पद, प्रतिष्ठा आदि को साध्य मानकर उन्हें प्राप्त करने के साधन के रूप में प्रभु का उपयोग कर रहे हैं। यह बात सोचने पर जितनी भी कड़वी लगे लेकिन सच्चाई यही है कि प्रभु से अधिकांश लोगों का सरोकार ऐसा ही है।

आस्तिकों में भी बहुत थोड़े लोग ऐसे होते हैं जो प्रभु को पाना चाहते हैं। जिन लोगों का साध्य है प्रभु को पाना, वे भी साधन के सम्बन्ध में एक मत नहीं हैं। प्रभु को पाने के लिए कर्म, योग, ज्ञान, भक्ति आदि अनेकानेक साधन बताये गये हैं। अपने स्वभाव, संस्कार आदि के अनुसार किसी एक साधन का अवलम्बन कर अपने साध्य स्वरूप प्रभु को पाया जा सकता है, यह विश्वास साधकों में सामान्य रूप से सुलभ है। इसी विश्वास के कारण विभिन्न साधना-मार्गों पर चलने वाले साधक इसी जन्म में और यदि इसी जन्म में संभव न हो तो अगले किसी जन्म में सही —अपने लक्ष्य प्रभु प्राप्ति तक पहुँचने का दावा करते हैं। ये साधक निश्चय ही वन्दनीय हैं, पूजनीय हैं। शास्त्रों की गवाही है कि इनमें बहुतेरे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हुए हैं।

किन्तु इसी वर्ग में आने वाले अर्थात् प्रभु-प्राप्ति को ही अपना जीवन लक्ष्य मानने वाले कुछ लोग ऐसे भी हैं जो साधनों के प्रति पूज्य भाव रख कर भी प्रभु प्राप्ति की दृष्टि से उन्हें अपने लिए पर्याप्त नहीं मानते। उनकी विचार धारा कुछ इस प्रकार चलती है। प्रभु तो हैं असीम और हम हैं काम, क्रोध, लोभ आदि से ग्रस्त, साधारण जीव! प्रत्यक्षतः हमारी शक्ति सीमित है। हम सीमित शक्ति वाले लोग जो भी साधन करेंगे, वे भी सीमित ही होंगे। सीमित साधनों का फल भी सीमित ही होगा, फिर उनसे असीम प्रभु की प्राप्ति कैसे सम्भव हो सकती है? फिर एक बात और है। ये सीमित साधन भी क्या हम निर्विघ्न रूप से कर पाते हैं? हमारी दुर्बलताओं का लाभ उठाकर काम, क्रोध, लोभ आदि हमारे आन्तरिक रिपु और आकर्षणों से भरा बाहरी विश्व क्या हमें पद-पद पर प्रवंचित नहीं करते? जब अपने बलबूते पर हम सामान्य लौकिक कार्य ही प्रायः सम्पन्न नहीं कर पाते तो फिर भगवत्प्राप्ति जैसा महत्तम लक्ष्य हम अपने बलबूते पर कैसे पूर्ण कर सकते हैं। हमारा यह कहना भी नहीं है कि कर्म, योग, ज्ञान, भक्ति आदि साधनों में कोई कमी है। हम मान लेते हैं कि वे साधन समर्थ हैं, पर हम अपनी असमर्थता को क्या करें कि हम उन साधनों का निर्वाह ही नहीं कर पाते। माया के कठोर बन्धन से हम बँधे हुए हैं। जो लोग योग और ज्ञान का साधन स्वीकार करते हैं वे वस्तुतः माया के बन्धन से बड़े बन कर उसे उसी प्रकार तोड़ देना चाहते हैं, जिस प्रकार शक्तिशाली लोग दुर्बल बन्धनों को झटक कर तोड़ डालते हैं। पर हम तो माया से बड़े बनने में नितान्त असमर्थ हैं। दूसरा तरीका बन्धन से छोटा बनकर बन्धन से मुक्त होने का है। हनुमानजी ने लंका दहन के पहले अत्यन्त लघु रूप धारण कर ही अपने को बन्धन मुक्त किया था। इसे हम भक्ति की पद्धति कह सकते हैं, जिसमें साधक अपने को तिनके से भी तुच्छ और प्रभु के दासानुदास का दासानुदास मानता है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमारा अभिमान आड़े आता है और हममें भक्ति का आविर्भाव ही नहीं हो पाता! अतः ये सब साधन सम्मान्य होकर भी हमारे लिए अनुपयुक्त हैं। जब हम माया के बन्धन से मुक्त ही नहीं हो सकते तो हम प्रभु को पा कैसे सकते हैं।

फिर उपाय क्या है? इन लोगों का कहना है कि उपाय एक ही है कि प्रभु स्वयं हमें बन्धन-मुक्त कर अपनी गोद में ले लें! जिसने बाँधा है, वह चाहे तो अनायास खोल सकता है। अपनी लीला के व्याज से सर्वत्र हो कर भी जो सबसे अलग है, उसके लिए क्या कठिन है किसी को अपना बना लेना, अपना बनाकर सुधार लेना! अतः इन लोगों का आग्रह है कि प्रभु ही हमारे साध्य हैं और प्रभु ही हमारे साधन हैं! प्रभु हमारे साधन हैं, इसका अर्थ ही है कि हम सर्वथा निस्साधन हैं। प्रभु हमारे साध्य हैं, इसका मतलब ही है कि हमें प्रभु के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। सर्वथा निस्साधन होकर.....अकिंचन होकर.....सब सहारों का त्याग कर प्रभु के लिए प्रभु को चाहना,

उनसे और कुछ न माँगना, इनकी टेक है। इस टेक की विलक्षणता यह है कि अपनी निस्साधनता में खरे उतरने पर अर्थात् सचमुच सम्पूर्ण साधनों को त्याग कर देने पर ये परीक्षार्थी से परीक्षक बन जाते हैं। जिसे किसी साधन का भरोसा है, प्रभु जरूर जाँच करेंगे कि उसका साधन पक्का है या नहीं किन्तु प्रभु के अतिरिक्त जिसका कोई और साधन ही नहीं है, उसकी जाँच प्रभु करना भी चाहें तो किस बात की जाँच वे कर सकेंगे? सच कहा जाये तो वह निस्साधन ही प्रभु की कृपा की जाँच करेगा कि वह सचमुच अहेतुक है कि नहीं! कृपा-परवश होकर ही प्रभु उसे अपना लेंगे। निस्साधनता के इसी अनूठे मार्ग का नाम है प्रपत्ति-मार्ग या शरणागति। जो सचमुच इस पर चल सका, वह अनायास ही तर गया।

प्रपत्तिः शरणागतिः

शरणागति का अर्थ है शरण में आ जाना। *'शरणं गृहरक्षित्रोः'* अमरकोष के इस कथन के अनुसार शरण का अर्थ है गृह या रक्षक! शरण का व्युत्पत्ति गत अर्थ है *'श्रृणाति दुःखं अनेन'* अर्थात् जो दुःख को नष्ट कर दे वह! बोलचाल में शरण शब्द का प्रयोग 'रक्षा, आड़, ओट, आश्रयस्थल, घर, रक्षक' आदि अर्थों में किया जाता है। साधना के क्षेत्र में इसका प्रयोग भगवान् को अपने आश्रय, अपने रक्षक, अपने एक मात्र उपाय के रूप में स्वीकार करने की दृष्टि से किया जाता है। इस दृष्टि से शरणागति का सही अभिप्राय समझ लेना चाहिए।

अज्ञान की स्थिति में जीव अपने को स्वतन्त्र और शक्तिशाली मानकर अपनी रक्षा करने में अपने-आपको या अपने मित्र, स्वजन, स्नेही सम्बन्धियों को समर्थ मानता है। बाहरी और भीतरी संकटों का सामना करते समय वह अपना या सांसारिक दृष्टि से अपनों का भरोसा करता है। बार-बार के अनुभवों से उसे लगता है कि यह भरोसा गलत है। सामयिक रूप से कभी-कभी उसे ऐसा लग सकता है कि उसने अपने बलबूते पर अपना अभीष्ट पा लिया या कष्टों-दुःखों से अपने को बचा लिया, किन्तु अन्ततोगत्वा उसको यह प्रतीत हो जाता है कि उसकी या उसके सांसारिक मित्रों, सम्बन्धियों, स्वामियों की शक्ति बहुत कम है और उनके सहारे अपना भला करने के प्रयास में वह अपना बुरा करता चला जा रहा है। ऐसी स्थिति में दो ही बातें हो सकती हैं। एक तो यह कि जीव अहंकार के द्वारा विमूढ़ होकर सुख-दुःख, जन्म-मरण के चक्र में पड़ा भव प्रवाह में बहता रहे और दूसरी यह कि प्रभु, गुरु या सन्तों की कृपा से वह यह समझ ले कि उसकी, उसके तथाकथित स्वजनों की यह बिसात नहीं है कि उसकी वस्तुतः रक्षा कर सकें। तब वह इधर-उधर भटकना छोड़कर अपने वास्तविक रक्षक प्रभु के पास ही लौट आता है और उन्हीं की कृपा पर अवलम्बित हो जाता है।

आगति.....आ जाना, लौट आना से यह ध्वनित है कि जीव तो प्रभु का है ही, उन्हीं के आश्रय में था ही, अविद्या या नासमझी के कारण वह भटककर अहंकार या मर्त्यजनों के आश्रय में चला गया था, अब अपनी भूल समझ कर फिर अपने वास्तविक रक्षक के आश्रय में चला आया।

शरणागति की यह भावना प्राचीनकाल से साधकों का सम्बल रही है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऋषि की विनीत उक्ति है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।। (६.१८)

अर्थात् जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसे समस्त वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, मैं मुमुक्षु आत्म ज्ञान विषयक बुद्धि के प्रकाशक उसी देव की शरण में जाता हूँ।

उपनिषदों में बीज रूप में प्राप्त शरणागति-साधना का उत्तरोत्तर विकास होता चला गया। स्वयं प्रभु ने अनेक अवसरों पर इस साधना को सर्वोत्कृष्ट, सबसे सुरक्षित बताया है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार श्रीराम ने विभीषण की शरणागति के प्रसंग में कहा था—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।। (६.१८.३३)

अर्थात् मेरा यह व्रत है कि एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' यह कहने वाले प्रपन्न (शरणागत) को मैं सब प्राणियों से अभय दे देता हूँ। इसी तरह गीता के अन्त में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना सर्वगुह्यतम उपदेश यह दिया था—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (१८.६६)

अर्थात् सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी शरण में आजा, मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर। शरणागतों को आश्वस्त करने वाले ये दोनों मन्त्र प्रभु की प्रतिज्ञा होने के कारण भावुक भक्तों द्वारा चरम मन्त्र कहे जाते हैं।

शरणागति की यह परम्परागत भावना अहिर्बुध्न्य संहिता, लक्ष्मी संहिता, भरद्वाज संहिता आदि वैष्णव आगमों में, आलवार भक्तों के पदों में, नाथमुनि, यामुनाचार्य आदि के सिद्धान्तों, स्तोत्रों में विकसित होती रही। श्रीरामानुजाचार्य ने (१०१७-११३७ ई०) इन्हीं सबका आधार लेकर सुप्रसिद्ध 'प्रपत्ति का मार्ग' का निरूपण किया जो शरणागति मार्ग का ही दूसरा नाम है। *प्रपत्ति* शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक पद् *धातु* में *'ति'* प्रत्यय के योग से बना है। पद धातु का प्रयोग जाना, चलना, पास जाना, पहुँचना, प्राप्त करना आदि अर्थों में होता है। अतः प्रपत्ति का व्युत्पत्तिगत अर्थ है

प्रकृष्ट रूप से किसी के पास जाने, पहुँचने या किसी को प्राप्त करने का भाव। इसका पारिभाषिक अर्थ है प्रकृष्ट रूप से, सब प्रकार से भगवान् की सन्निधि में, शरण में आ जाना। नारद पञ्चरात्रान्तर्गत भरद्वाज संहिता के अनुसार—

निश्चितेऽनन्यसाध्यस्य परत्रेष्टस्य साधने।
अयमात्मभरन्यासः प्रपत्तिरिति चोच्यते।। (७)

'अनन्य साध्य इष्ट (प्रभु) की प्राप्ति के लिए प्रभु को ही साधन के रूप में ग्रहण कर उसके प्रति 'आत्म भरन्यास' .....सम्पूर्ण आत्म समर्पण करने को ही प्रपत्ति कहा जाता है। प्रपत्ति और शरणागति को अभिन्न बताते हुए वरवर मुनि ने कहा है, *'प्रपत्तिर्नाम भगवच्छरणवरणम्'* अर्थात् प्रपत्ति का मतलब है भगवान् की शरण लेना। इसी बात को भरताचार्य ने और स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः।।

अर्थात् अन्य किसी उपाय से अपना अभीष्ट (भगवत्प्राप्ति) सिद्ध न होते देखकर महाविश्वासपूर्वक भगवान् से ही अपना उपाय बनने की याचना करना ही प्रपत्ति या शरणागति है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शरणागति तत्त्व पर किसी सम्प्रदाय का एकाधिकार नहीं है। बौद्ध, जैन आदि अवैदिक मतों में भी इसका सम्मानपूर्ण स्थान है फिर वैदिक मतों का तो कहना ही क्या है। विशेषतः सभी वैष्णव सम्प्रदायों में 'शरणागति' को चरम गौरव प्राप्त है।

शरणागति की सरलता का तात्पर्य

प्रायः कहा जाता है कि शरणागति भगवत्प्राप्ति का सबसे सरल उपाय है। ऐसा क्यों कहा जाता है, इसे समझना चाहिए।

सामान्यतः किसी भी साधन या धर्म का पालन करने के लिए कुछ नियमों का अनुरक्षण करना पड़ता है। इनमें पाँच नियम प्रायः सब पर लागू होते हैं। वे हैं, देश-नियम, काल-नियम, प्रकार-नियम, अधिकारी-नियम और फल-नियम। देश-नियम का अर्थ है धर्म-साधन पुण्यक्षेत्र में, तीर्थादि में, मन्दिर आदि उपयुक्त स्थान में करना चाहिए। काल-नियम के अन्तर्गत विशेष ऋतु, पर्व, तिथि या समय का महत्त्व स्वीकार किया जाता है। उत्तरायण, मार्गशीर्ष, रामनवमी, जन्माष्टमी, नवरात्र, ग्रहण, एकादशी, पूर्णिमा या ब्राह्ममुहूर्त्त आदि को उत्तम काल मानकर उस समय किये गये धर्म-साधन को गौरव दिया जाता है। प्रकार-नियम का मतलब है, स्नान, पाद-प्रक्षालन, आचमन, प्राणायाम आदि प्रक्रियाओं के द्वारा बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि कर लेने के बाद या अन्य किसी

प्रयोजनीय प्रक्रिया को पूर्ण कर लेने के बाद धर्म-साधन करना चाहिए। अधिकारी-नियम के अन्तर्गत यह निर्धारित किया जाता है कि कौन किस साधन का अधिकारी है, कुछ साधन ब्राह्मणों के लिए हैं, कुछ क्षत्रियों के लिए, कुछ वैश्यों के लिए, कुछ शूद्रों के लिए। कुछ के लिए विद्या का प्रयोजन है, कुछ के लिए शक्ति का, कुछ के लिए धन का, कुछ के लिए सेवा का। षट् सम्पत्ति युक्त हुए बिना वेदान्त-श्रवण का कोई अधिकारी नहीं हो सकता। स्पष्टतः सब धर्म सबके लिए नहीं माने जाते। फल-नियम के अनुसार किसी धर्म-विशेष के साधन से किसी फल-विशेष की ही प्राप्ति होती है। पुत्रेष्टि-यज्ञ करने से पुत्र की ही प्राप्ति होगी विद्या या राज्य की नहीं। इन पाँच प्रधान नियमों के कारण धर्म-साधन में अन्तर्निहित कठिनता को समझा जा सकता है।

शरणागति में इन पाँचों नियमों का कोई प्रयोजन नहीं है। किसी भी देश और किसी भी काल में कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार से शरणागति ग्रहणकर कोई भी फल पा सकता है।

रावण से अपमानित होकर विभीषण जब श्रीराम की शरण में आया था तो जाम्बवान् जी ने कहा था—

बद्धवैराच्च पापाच्च राक्षसेन्द्राद्विभीषणः।
अदेशकाले सम्प्राप्तः सर्वदा शंक्यतामयम्।। ६-१७/४६

अर्थात् घोर वैरी, पापी रावण का भाई विभीषण अदेश और अकाल में (अनुपयुक्त देश और काल में) आप के पास आया है, यह सर्वथा शंका करने के योग्य है। श्री हनुमान् जी के अनुरोध पर श्रीराम ने देश और काल की अनुपयुक्तता पर विचार किये बिना विभीषण को अपनी शरण में ले लिया था। जहाँ, जब शरण ग्रहण करने का संकल्प मन में जागे, वहीं—तभी शरण ग्रहण की जा सकती है, इस विधान में निहित सरलता प्रत्यक्ष ही है। शरणागति के लिए किसी प्रकार के स्थानादि की, किसी प्रकार के तिलक, छाप, मुद्रा आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। यह जगजाहिर है कि अशुचि मानी जाने वाली रजस्वला की स्थिति में द्रौपदी ने श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण की थी। इसी प्रकार युद्ध-कर्म में रत अर्जुन को, रक्ताक्त, क्षतविक्षत, मरणासन्न वृत्रासुर को शरण लेते समय किसी प्रकार विशेष की पूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं हुई थी। शरण में आने वालों में उन्हीं की बहुलता है जो दुनिया की दृष्टि में पापी, दुराचारी, अपात्र, अनधिकारी माने जाते रहे हैं, काकवेषधारी जयन्त, कालियनाग, गजेन्द्र आदि कौन बड़े धर्मात्मा थे। पापी हो या पुण्यात्मा, मूर्ख हो या विद्वान्, चाण्डाल हो या ब्राह्मण.....कोई भी व्यक्ति प्रभु की शरण ले सकता है। किसी भी प्रकार का अधिकारी-नियम इस पर लागू नहीं होता। प्रभु शरण पाने के अधिकारी सभी हैं। फिर भी शरणागति के द्वारा प्रत्येक का अभीष्ट फल उसे प्राप्त होता है। ऐसा नहीं है कि

(४) गीता के अनुसार इस लोक में कर्मों का फल शीघ्र चाहने वाले लोग देवों को पूजा करते हैं क्योंकि मनुष्य लोक में कर्मजनित फल-सिद्धि शीघ्र होती है। (४।१२) इससे यह ध्वनि निकलती है कि प्रभु विलम्ब से फल देते हैं। फिर वे शरणागत को तत्काल ही मोक्ष या अपना दर्शन कैसे दे सकते हैं?

(५) प्रभु विचारवान् हैं। वे निश्चय ही पात्र-अपात्र का विचार कर पात्रता के अनुसार ही साधकों को फल देते हैं। भक्ति, ज्ञान, योग जैसे क्लेशसाध्य कठिन साधनों के कर्त्ता उत्तम साधक एवं शरणागति जैसे सरल साधन का अवलम्बन करने वाले उनसे निम्न कोटि के साधक माने जाने चाहिए। साधकों में तारतम्य मानने पर फल में भी तारतम्य मानना पड़ेगा। अतः शरणागतों को उनसे श्रेष्ठ साधकों के समान फल कैसे मिल सकता है?

ये और ऐसी अन्य आपत्तियाँ प्रभु और श्रीजी के स्वभाव तथा प्रभु और जीव के सम्बन्ध को भली-भाँति न जानने के कारण ही की जाती हैं। अतः वे दुर्विचार प्रसूत हैं। सम्यक् विचार करने पर इनका कोई अस्तित्व नहीं रहता।

अपराधी शरणागतों को क्षमाकर अपना लेने की प्रेरणा श्रीजी प्रभु को देती हैं। इसीलिए उन्हें 'पुरुषकार स्वरूपा' कहा जाता है। अपनी अन्तरङ्ग आह्लादिनी शक्ति के अनुरोध को अस्वीकारने में असमर्थ प्रेम-विवश प्रभु शरणागतों के प्रति 'अविज्ञाता' होकर उन्हें अपना बना लेते हैं। उस परम अनुग्रह की स्थिति में दण्ड देने की बात ही नहीं उठती।

दूसरी आपत्ति प्रभु और जीव के सहज सम्बन्ध पर विचार करने पर नहीं टिक पाती। प्रभु स्वामी हैं, जीव उनका सेवक है। यह सम्बन्ध सहज, स्वाभाविक और अविच्छेद्य है। जीव के अनादिकाल से किये गये अपराध प्रतिबन्धक बनकर इस सम्बन्ध को फलप्रसू नहीं होने देते। शरणागति ग्रहण करते ही प्रतिबन्धकता दूर हो जाती है। जीवरूपी दास को प्रभुरूपी स्वामी की सेवा का अधिकार उसी तरह सहज ही प्राप्त हो जाता है जिस तरह पुत्र को पिता की सम्पत्ति दायधन के रूप में अनायास ही मिल जाती है।

तीसरी आपत्ति प्रभु के स्वभाव को न जानने के कारण की जाती है। करुणा-वरुणालय प्रभु की अहैतुकी दया जीवों पर स्वाभाविक रूप से बरसती ही रहती है। वे दयालु होने के साथ-साथ कृतज्ञ भी हैं। शरणागति लोकदृष्टि में भले ही छोटा काम हो, दयार्द्र प्रभु उसे अपने ऊपर जीवों का बड़ा उपकार मानते हैं। अतः कृतज्ञता से अनुप्रेरित होकर वे जीवों के अनन्य साध्य अभीष्ट की पूर्ति कर देते हैं।

चौथी आपत्ति प्रभु के अमोघ संकल्प की महिमापर विचार करने से निरस्त हो जाती है। साधकों के लिए अहितकारी सांसारिक फल भले प्रभु शीघ्र न देते हों किन्तु

यदि वे किसी को कुछ भी देना चाहें तो उन्हें कौन रोक सकता है या उनमें कौन विलम्ब कर सकता है। मोक्ष या भगवदनुभव तो साधकों के लिए परम कल्याणकारी है। प्रभु अपने अव्यर्थ संकल्प मात्र से शरणागतों को तत्काल कृतार्थ कर देते हैं।

पाँचवीं आपत्ति प्रभु की स्वतन्त्रता और सेवक-मित्रता जैसी विशेषताओं पर विचार करने पर निराधार ठहरती है। भगवान् कुपात्र को भी सुपात्र बना लेने में स्वतन्त्र हैं। फिर जिस प्रकार सेवक को स्वामी का लाभ परम अभीष्ट है, उसी प्रकार स्वामी को सुसेवक का लाभ भी वांछनीय है। अतः प्रभु शरणागत को स्वीकार कर उसी प्रकार उसे अन्य श्रेष्ठ साधकों के साथ परम फल प्रदान करते हैं जिस प्रकार कोई राजा अपने राजपुत्रों के साथ-साथ तोते को अनार-अंगूर खिला सकता है।

शरणागति की वास्तविक कठिनाई ये कल्पित आपत्तियाँ नहीं, वे दो दुर्लभ अनिवार्य विशेषताएँ हैं जिनके बिना कोई शरणागत हो ही नहीं सकता। वे हैं अकिंचनत्व और अनन्य गतित्व! शरणागत को अकिंचन होना चाहिए अर्थात् उसे अपने किसी साधन, गुण वैशिष्ट्य आदि का कोई गुमान नहीं होना चाहिए। इसी तरह प्रभु को छोड़कर स्वप्न में भी किसी अन्य का आश्रय न लेने वाला, न कोई अन्य फल चाहने वाला ही अनन्य गति होता है। अहंता, ममता से ग्रस्त जीव के लिए अकिंचन और अनन्य गति होना सचमुच कठिन है। केवल प्रभु से विनीत प्रार्थना करते रहने पर उनकी कृपा से ही कोई सचमुच अकिंचन, अनन्यगति हो पाता है! यामुनाचार्य की यह उक्ति शरणागति ग्रहण करना चाहने वालों के लिए बार-बार मननीय है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि, न चात्मवेदी, न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽन्यगतिः शरण्य! त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये।।

(आलवन्दारस्तोत्र २२)

अर्थात् हे शरण्य! हे प्रभु! न मैं धर्मनिष्ठ हूँ, न आत्मवेत्ता, न आपके चरणकमलों में भक्तिमान ही हूँ। कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि समस्त साधनों से रहित अकिंचन होकर और सबका सहारा छोड़कर अनन्यगति होकर मैं तुम्हारे चरणों की शरण ग्रहण करता हूँ।

प्रभु कृपा से हम और आप भी अकिंचन एवं अनन्यगति बनें।

शरणागति के वास्तविक विषय प्रभु ही

शरणागति में देश, काल, प्रकार, अधिकारी, फल आदि का नियम नहीं है। किसी भी देश-काल में, किसी भी प्रकार, कोई भी व्यक्ति शरणागति ग्रहण कर कोई भी वाञ्छित फल प्राप्त कर सकता है। किन्तु उसकी सफलता के लिए यह अखण्डनीय नियम है कि शरणागति का विषय.....शरण्य सुयोग्य होना चाहिए।

जिस प्रकार सच्चे शरणागत को अकिंचन और अनन्यगति होना चाहिए उसी प्रकार वास्तविक शरण्य को सर्वपर और सुशील होना चाहिए। लोक में भी यह बात प्रत्यक्ष की जा सकती है कि कोई संकटग्रस्त व्यक्ति यदि किसी व्यक्ति का आश्रय ग्रहण करता है तो उसका भला तभी हो पाता है जब आश्रयदाता उस संकट को दूर करने में समर्थ हो और इतना सुशील, सुलभ और दयालु हो कि आश्रयप्रार्थी के दुःख से विगलित होकर उसे दूर करने का उद्यम करे। यदि कोई व्यक्ति समर्थ होकर भी क्रूर हृदय हो तो आश्रय प्रार्थी की उपेक्षा कर दे सकता है या यदि उसके पास तक पहुँचना ही सम्भव न हो तो भी आश्रित की बात नहीं बन पाती। इसी तरह यदि कोई सुलभ और दयालु तो हो किन्तु समर्थ न हो तो सूखी सहानुभूति जताकर या स्वयं दुःखी होकर रह जायेगा आश्रय प्रार्थी का संकट दूर नहीं कर पायेगा।

विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि इस संसार में प्रभु को और उनके भक्तों को छोड़कर ऐसा कोई भी नहीं है जो निःस्वार्थ भाव से किसी दूसरे का भला करता हो। तुलसीदास ने बहुत साफ दो टूक बात कही है—*'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।।'* अन्यथा *'सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।।'* ये स्वार्थी लोग यदि कभी किसी को शरण देते भी हैं तो उसके भले के लिए नहीं, अपने किसी बड़े स्वार्थ की सिद्धि के लिए। जिससे उनका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, उसे शरण देने का कोई औचित्य ही उनके लिए नहीं होता। फिर ये लोग.....देवी-देवता, राजा-रजवाड़े, मन्त्री-नेता, सेठ-साहूकार आदि-आदि स्वयं इतने अभावग्रस्त, संकटापन्न, असमर्थ और याचक हैं कि दूसरों को क्या दे सकते हैं, दूसरों का क्या संकट दूर कर सकते हैं। ये तो प्रभु का दिया हुआ ही अपने स्वार्थ और अहंकार की रक्षा के लिए कभी-कभी दूसरों को थोड़ी-सी मात्रा में देकर फूल-फूल कर कुप्पा होते रहते हैं। ये स्वयं माया से बँधे हुए हैं, दूसरों को माया से, मृत्यु से मुक्त कर सच्चा अभय कैसे दे सकते हैं। तुलसीदास ने बहुत ठीक कहा है—

देव दनुज मुनि नाग मनुज सब, माया बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपुनपौ हारे।।

वस्तुतः शरण्य तो केवल प्रभु ही हैं। वे सर्व-समर्थ हैं, सर्वपर हैं। उनका नाम भगवान् पड़ा ही इसलिए है कि वे समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य के स्वामी हैं। उनकी महिमा का वर्णन कोई कर ही नहीं सकता, फिर भी सभी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उनके गौरव का गुणगान करते ही रहते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् के इन मन्त्रों में प्रभु के सर्वपरत्व का निरूपण सम्यक् रूप से किया गया है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।। ६. ७-८

अर्थात् वह ईश्वरों का परम महेश्वर है, वह देवों का परम देव है, वह पतियों का परम पति है। वह परात्पर है, उस स्तुति योग्य, भुवनेश्वर देव को हम जानते हैं। न उसका (अपने लिए कोई) कार्य है, न उसे किसी साधन का प्रयोजन है, न कोई उसके समान है, न कोई उससे बड़ा है। सुनते हैं उसमें परम शक्ति है, विविध शक्तियाँ हैं। उसमें स्वाभाविक (बिना किसी अन्य कारण पर आश्रित) ज्ञान, बल और क्रिया हैं।

ऐसा परमेश्वर सर्व समर्थ होता हुआ परम सुलभ भी है, परम दयालु भी है। प्रभु की सुलभता, सुशीलता, दयालुता आदि गुणों का संकेत देते हुए यामुनाचार्य ने कहा है—

वशी, वदान्यो, गुणवानृजुः शुचिर्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः।।

(आलवन्दार स्तोत्र १८)

हे प्रभु, तुम सबको अपने वश में रखते हुए भी स्वयं भक्तों के वश में रहते हो, परम दानी हो, स्वयं महान् होते हुए भी पतितों को सहज ही अपना बना लेते हो, सरल, पवित्र, दयालु, मधुर हो, आश्रितों के अपराधों के बावजूद उनसे एक रस प्रेम करते हो, सब के लिए समान रूप से शरण्य हो, अपने लिए तुम्हारा कोई कर्त्तव्य न होते हुए भी आश्रितों के रक्षण से कृत-कृत्य हो, भक्तों द्वारा किये गये नाम-स्मरण या नमस्कार को भी अपने लिए उपकार मानने वाले परम कृतज्ञ हो, स्वाभाविक रूप से ही तुम समस्त कल्याणमय गुणों के अमृतसमुद्र हो।

विनयपत्रिका में तुलसीदास ने छोटी-छोटी दो पंक्तियों में प्रभु की सर्वपरता और सुशीलता का एकत्र निर्देश करते हुए कहा है—

ठाकुर अतिहि बड़ो, सील सरल सुठि।
ध्याय अगम सिवहूँ भेंट्यो केवट उठि।।

मेरा स्वामी इतना बड़ा है कि यदि वह पकड़ में न आना चाहे तो भगवान् शिव के लिए भी प्रत्यक्ष की बात तो दूर रही ध्यान में भी अगम्य है और इतने सुन्दर सरल शीलवाला है कि केवट जैसे सब प्रकार से हीन भक्तों के निकट स्वयं जाकर उन्हें गले लगा लेता है।

सच है, जो दीन-बन्धु है, पतित-पावन है, अधम-उधारन है, बानर-भालुओं, गोप-ग्वालों का सखा है, वही सर्व समर्थ प्रभु अपनी शरण में आने वालों को समस्त प्राणियों से अभय दे सकता है, सब पापों से मुक्त कर अपना बना ले सकता है। एक मात्र वही शरण्य है, उसी की शरण में जाना उचित है। ●

महाराणा प्रताप :
आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों की दृष्टि में

"प्रताप ! हमारे देश का प्रताप ! हमारी जाति का प्रताप ! दृढ़ता और उदारता का प्रताप! तू नहीं है, केवल तेरा यश और कीर्ति है । जब तक यह देश है और जब तक संसार में दृढ़ता, उदारता, स्वतंत्रता और तपस्या का आदर है तब तक हम क्षुद्र प्राणी ही नहीं, सारा संसार तुझे आदर की दृष्टि से देखेगा । संसार के किसी भी देश में तू होता तो तेरी पूजा होती और तेरे नाम पर लोग अपने को न्यौछावर करते।" इन भावमय शब्दों में महाराणा प्रताप की वंदना की है, उन्हीं के पथ के पथिक हुतात्मा गणेश शंकर विद्यार्थी ने, देश की स्वाधीनता का शंखनाद करनेवाले अपने साप्ताहिक पत्र के प्रवेशांक में, जिसका नामकरण भी उन्होंने अपने आदर्श पुरुष के नाम पर 'प्रताप' ही किया था। ९ नवंबर १९१३ के 'प्रताप' के इसी संपादकीय में विद्यार्थी जी ने भारत के महान् पुरुष की तुलना अमेरिका के वाशिंगटन और लिंकन, इंग्लैंड के वेलिंग्टन और नेल्सन, स्कॉटलैंड के वालेस और राबर्टब्रूस, फ्रांस की जोन ऑफ आर्क तथा इटली के मेजिनी के साथ करते हुए उनकी विशिष्टता का प्रतिपादन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर किया था। स्वतंत्रता के पूर्व आधुनिक हिंदी साहित्य में महाराणा प्रताप की भास्वर मूर्ति जिस उदात्तता तथा प्रमुखता के साथ अंकित की गयी थी, उसका यह एक उत्कृष्ट निदर्शन है। यहाँ इस तथ्य को भी स्वीकारना चाहिए कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद के हिन्दी साहित्य में राणा प्रताप की चर्चा पाकिस्तान, चीन से हुए युद्धों के दौर को छोड़कर यदा-कदा ही हुई है ।

ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर देने के लिए स्वतंत्रता के पूर्व और उसके बाद की भारतीय मानसिकता को राणा प्रताप के प्रति उसकी रागात्मक संबद्धता के संदर्भ में समझना होगा। किसी काल विशेष में किसी पूर्ववर्ती ऐतिहासिक चरित्र को लोकचित्त अपने आदर्श के रूप में तभी ग्रहण करता है जब वह उसकी किसी गहरी तात्कालिक

आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो । यदि वह आदर्श उसके वर्तमान अभाव की भावात्मक पूर्ति करने के साथ-साथ उसके स्वप्न को साकार बनाने की प्रेरणा भी देता हो तो उसकी गरिमा तथा प्रभविष्णुता और बढ़ जाती है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के सूत्रपात के समय कवियों ने इतिहास-प्रसिद्ध वीर योद्धा के आदर्श के रूप में भीम, अर्जुन, चंद्रगुप्त मौर्य, विक्रमादित्य, हर्षवर्धन, पुलकेशिन, पृथ्वीराज आदि को भी बार-बार प्रस्तुत किया था। किन्तु यह ऐतिहासिक तथ्य है कि लोकचित्त ने महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी और गुरु गोविंद सिंह को ही अपने उपयुक्त राष्ट्रीय वीर के आदर्श के रूप में स्वीकारा। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि ये तीनों ही पराधीनता को नकारकर स्वाधीनता के लिए जीवन-भर संघर्षशील रहे।

प्राचीन भारत के ऐतिहासिक महावीर स्वाधीन देश की महिमा बढ़ाने वाले थे, इसमें संदेह नहीं किंतु पराधीनता से संघर्ष करती हुई जाति के अधिक निकट उनकी तुलना में वे ही वीर हो सकते थे जिन्होंने स्वयं पराधीनता के फैलते हुए परिवेश को छिन्न-भिन्न कर स्वाधीनता की रक्षा या प्रतिष्ठा की थी । स्वभावतः आधुनिक काल के स्वातंत्र्यपूर्व युग में अंग्रेजों से मुकाबला करना चाहनेवालों या करनेवालों के लिए सबसे बड़े प्रेरणास्रोत प्रताप, शिवाजी और गुरुगोविंद ही बने। इनमें भी मेवाड़ के एक से एक बढ़कर पराक्रमी शासकों की परंपरा में होने के कारण तथा मुगल साम्राज्य के अभ्युदय काल में उसके सबसे महान सम्राट अकबर से इक्कीस वर्षों तक निरंतर युद्ध कर अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण एवं उत्तरकाल में विजयशील बनाये रखने के कारण साहित्यकारों एवं सामान्य जनता द्वारा महाराणा प्रताप और भी अधिक समादरणीय माने गये ।

यह भी याद रखना चाहिए कि इतिहास और साहित्य का संबंध अनुकार्य और अनुकर्ता का न होकर उपादान और नवीन सृष्टि का हुआ करता है । इतिहास अपने स्वभाव से ही तथ्याश्रित होता है जबकि साहित्य तथ्य को भावना और कल्पना से रंजित कर किसी महत्तर उद्देश्य की सिद्धि करना चाहता है । रचनाकारों की प्रदीप्त कल्पना ऐतिहासिक चरित्रों के अंतर्निहित गुणों को परिस्फुट करने के लिए या उन्हें अधिक मानवीय बनाने के लिए न केवल वास्तविक घटनाओं की अभीष्ट व्याख्या करती है बल्कि वांछित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कल्पित घटनाओं का संयोजन भी कर देती है। इस अधिकार का संगत उपयोग करनेवाले समर्थ रुष्टा या तो उन चरित्रों को अपने समय के अनुकूल (और इसलिए अधिक मर्मस्पर्शी) बनाना चाहते हैं या उनमें कुछ शाश्वत मूल्यों का आरोप कर कालबद्ध में कालातीत की झलक देना चाहते हैं। दूसरी स्थिति में वे चरित्र अपना व्यक्तित्व बनाये रखकर भी उन मूल्यों के प्रतीक बन जाते हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में महाराणा प्रताप के चित्रण में पहली पद्धति की ही प्रधानता है, फिर भी कहीं-कहीं दूसरी पद्धति भी कार्यरत रही है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की सर्जक प्रतिभाओं ने किस प्रकार प्रताप को समसामयिक संवेदना के अनुकूल बनाया है इसके बोध के लिए पुराने संस्कृत और डिंगल काव्य में चित्रित प्रताप के बिंब को दृष्टिगत रखना आवश्यक है। पं. जीवंधर कृत 'अमरसार', पं. सदाशिव कृत 'राज रत्नाकर' एवं पं. रणछोड़ भट्ट कृत 'राजप्रशस्ति', 'अमरकाव्य' जैसे काव्य-ग्रंथों में प्रताप का गुणगान बहुत कुछ पारंपरिक प्रशस्ति-काव्य के नायक के अनुरूप 'सौंदर्य धैर्य परमार्थ गुणौध भूमि', उज्ज्वल कीर्ति, पराक्रमी, तेजस्वी, यशस्वी, योद्धा, विजेता आदि विशेषणों के द्वारा ही किया गया है। इन कृतियों में प्रताप की वैयक्तिक विशेषताओं के सूचक 'म्लेच्छ भूपति पतंगगण दीपशिखा', 'तुर्कराज के समक्ष अनम्र' जैसे थोड़े ही पद मिलते हैं। इनकी तुलना में डिंगल काव्य अधिक जीवंत और समय सचेतन है। इसका सीधा अर्थ यह है कि उनमें प्रताप के संबंध में तत्कालीन लोकचेतना अधिक प्रखरता के साथ व्यक्त हुई है । सांदू माला, दुरसा आढ़ा, पृथ्वीराज, दयालदास, दौलत विजय आदि कवियों की दृष्टि में महाराणा प्रताप हिंदूपति, हिंदू-धर्म-रक्षक, हिंदुओं के पहरेदार, क्षात्रधर्म के प्रतिपालक, वंशगौरव को बढ़ानेवाले, अकबर के सामने कभी न झुकनेवाले, विपत्ति-संताप झेलकर भी अपनी टेक पर अड़े रहनेवाले महापुरुष थे।[१] "अकबर की शक्ति और कूटनीति के समक्ष जब एक-एक कर हिंदू राजा विलास-सुख के लोभी सियारों की तरह नत होते चले गये तब सारी हिंदू प्रजा के अंतरतम से यह पुकार उठी थी कि कोई तो ऐसा रोषीला मृगराज हो जो इस शिकारी के छल-बल-कौशल को व्यर्थ कर दहाड़ता रहे, उसके भेजे गजराजों के मस्तक फाड़ता रहे, मनोलोक में हो नहीं रणक्षेत्र में भी उसे पछाड़ता रहे! प्रतापी प्रताप ने इस लोककामना को पूर्ण किया। उन्होंने समस्त प्रलोभनों और बल-प्रयोगों को ठुकराकर अपना माथा ऊंचा रखा । अकबर को बादशाह न कहकर सदा विदेशी आक्रांता.....तुर्क ही कहा और उसके विशाल साम्राज्य बल को धूल चटाकर मेवाड़ के बड़े हिस्से को उसके शिकंजे से मुक्त किया। अतः कवि पृथ्वीराज की कृतज्ञ वाणी ने हिंदू जाति की ओर से प्रताप को श्रद्धांजलि दी—

"हिन्दू पति परताप, पत राखी हिन्दुवाण री ।
सहे विपति संताप, सत्य सपथ कर आपणी ।।"[२]

रीतिकाल के श्रृंगारी कवियों की दृष्टि नायिका के नखशिख में ही उलझी रही और दरबारी प्रशस्तिकारों के लिए तो 'रचि आखर खरीदने वाला' वित्ते भर का वामन भी त्रिविक्रम से कम न था अतः प्रताप की बलिदानी मूर्ति उन्हें क्योंकर दिखती !

आधुनिक काल के आरंभ में ही भारतीय मेधा ने अंग्रेजों की दासता से मुक्ति पाने की प्रेरणा देने के लिए मानव-जीवन के बड़े मूल्य के रूप में 'स्वाधीनता' पर बल देना शुरू कर दिया था। भारतीय इतिहास के मंथन से पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष करनेवाले

जिन पुरुष-रत्नों की उपलब्धि उसे हुई थी उनमें प्रताप प्रमुख थे । यहाँ कृतज्ञतापूर्वक इस तथ्य को स्वीकारना चाहिए कि सर्व भारतीय क्षेत्र में आधुनिक लेखकों के समक्ष मेवाड़ के स्वातंत्र्य-योद्धा के रूप में महाराणा प्रताप की प्रतिष्ठा मुख्यतः कर्नल जेम्स टाड के 'ऐनाल्स एंड ऐंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान' नामक ग्रंथ के कारण हुई। १८२९ ई. में प्रकाशित एवं पूर्वोल्लिखित चारणों-भाटों की कविताओं, किंवदंतियों से युक्त लोकप्रिय इतिहास के रूप में लिखित इस ग्रंथ का व्यापक प्रभाव पड़ा। बंगला, हिंदी, गुजराती, मराठी, तेलुगु, कन्नड़ आदि भाषाओं में प्रताप को आलंबन बनाकर जो नाटक, काव्य, कथा, जीवनचरित्र आदि लिखे गये उनकी घटनाएँ बहुत कुछ टाड के राजस्थान पर आधारित है; हाँ, दृष्टि निश्चय ही भिन्न है।

साहित्य में घटनाओं की नहीं, दृष्टि की, कथा की नहीं 'कथ्य' की प्रधानता होती है। यह दृष्टिगत नवीनता ही पुरानी कथा में नया अर्थ भरती है, पुराने चरित्रों को नयी परिस्थितियों से जोड़कर उन्हें जीवंत प्रेरणा बना देती है। आधुनिक हिंदी साहित्य में आरंभ से ही प्रताप स्वाधीनता के योद्धा हैं, मेवाड़ का स्थान भारतमाता ले लेती है, राजपूती गौरव भारतीय गौरव बन जाता है। डिंगल काव्य में राणा प्रताप द्वारा अकबर की अधीनता स्वीकार न करने पर बल देना स्वाभाविक ही था। राणा प्रताप तो स्वाधीन थे ही, उन्होंने आतंकित होकर या प्रलुब्ध होकर पराधीनता स्वीकार नहीं की, यह उनकी महान चारित्रिक विशेषता थी। पर आधुनिक साहित्यकार तो पराधीन था अतः उसके लिए स्वाधीनता के लिए युद्ध करने पर बल देना ही उचित था, जिसका अर्थ स्वाधीनता बचाने के लिए युद्ध करना (ऐतिहासिक राणा प्रताप के लिए प्रयोज्य) और स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए युद्ध करना (तत्कालीन भारत के लिए प्रयोज्य) दोनों था। अकबर के विरुद्ध प्रताप के सतत् संघर्ष को पराजय की विभीषिका से गुजरकर भी पराजय को अस्वीकारने वाली हिन्दू अस्मिता के रूप में मध्यकालीन कवियों ने अंकित किया था। आधुनिक युग के उषःकाल में हिन्दू पुनर्जागरण ने राष्ट्रीयता के विकास में प्रखर योग दिया था। अतः प्रताप के तेजस्वी हिन्दुत्व का गौरव-गान भी आधुनिक कवियों ने उच्छ्वसित शब्दों में किया है, यह सच है, किंतु उससे भी बड़ा सच यह है कि उनके लिए प्रताप और अकबर का संघर्ष हिंदू-मुस्लिम संघर्ष न होकर जननेता का स्वाधीनता हरण करने वाले के विरुद्ध संघर्ष था, अर्थात् प्रताप की गौरवगाथा का उपयोग वे लोग हिंदू-मुस्लिम विरोध बढ़ाने के लिए नहीं, अंग्रेज शासकों के विरुद्ध स्वाधीनताकामी जनसंघर्ष का मनोबल बढ़ाने के लिए कर रहे थे। इस प्रकार प्रताप का गुणकीर्तन एक तरफ भारतीय जनता की स्वाधीनता-प्रेमी प्रकृति का उद्घाटन करता था....प्रताप का सर्वोपरि गुण उनके वंशधरों में होना ही चाहिए, इसके अहसास द्वारा पराधीन होने के हीनताबोध से अंशतः मुक्त करता था, दूसरी तरफ उसके आदर्श के अनुरूप आततायी

की तलवार या कूटनीति के प्रलोभनों को अवज्ञा कर स्वतंत्रता-संग्राम का सिपाही बनने की प्रेरणा देता था। अतएव प्रताप आधुनिक हिंदी साहित्य में स्वाधीनता के लिए संघर्षशील प्रवृत्ति के प्रतीक बने मुस्लिम-द्वेष के नहीं।

भारतेंदु (१८५०-१८८४ ई.) ने ही संभवतः इस दिशा में पहल की थी—

"हाय चित्तौर निलज तू भारी, अजहुं खरो भारतहि मंझारी ।
जा दिन तुव अधिकार नसायो, ताही दिन किन धरनि समायो ।"[१]

लिखकर उन्होंने अपहृत विगत-गौरव की पीड़ा तो व्यक्त की ही थी, अपना अधिकार पुनः प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी थी। इसी चित्तौड़ी परंपरा के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करने के लिए उन्होंने 'उदयपुरोदय' नामक इतिहास ग्रंथ की रचना आरंभ की थी । बाप्पारावल और उनके पुत्र आसिलान तक की कथा ही वे लिख पाये थे कि उनकी मृत्यु हो गयी और यह रचना अधूरी रह गयी । 'बादशाह दर्पण' नामक अपने अन्य ग्रंथ में उन्होंने राणा प्रताप द्वारा किये जाने वाले बादशाही सेना के नाश एवं सतत् संघर्ष की प्रशंसा करते हुए लिखा था, "प्रताप सिंह ने हल्दीघाटी नामक स्थान पर बड़ा भारी युद्ध किया, जिसमें बाईस हजार राजपूत मारे गये । इस पर भी राणा ने हार नहीं मानी और सदा लड़ते रहे।"[२] १८५७ की आजादी की लड़ाई की विफलता के बाद अंग्रेजी-राज के आतंक के बावजूद पराधीनता की कसक और स्वाधीनता की ललक भारतेंदु में किस सीमा तक थी यह हार न मानकर अधिकार प्राप्त करने तक सदा लड़ते रहने की प्रेरणा पर बल देने से स्पष्ट हो जाता है ।

दिवंगत भारतेंदु के दिये निर्देश के अनुसार ही उनके फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्ण दास ने १८९७ ई. में 'महाराणा प्रताप सिंह' नामक नाटक की रचना की थी । इसकी प्रमुख घटनाएँ टाड के राजस्थान के अनुसार हो हैं, जिनमें कई की अनैतिहासिकता को बाद में स्वयं नाटककार ने स्वीकार किया था किंतु यह गौण बात है, मुख्य तो है इसकी आश्चर्यजनक रूप से विकसित साहसपूर्ण राजनैतिक दृष्टि!

इसकी प्रस्तावना में परिपार्श्वक से कहलाया गया है, "....श्री राधाकृष्ण दास ने महाराणा प्रताप सिंह का नाटक लिखा है, उसको खेलो। वह समयानुकूल है क्योंकि एक तो वीर केशरी प्रातःस्मरणीय प्रतापसिंह का पवित्र चरित्र, दूसरे जगत्-प्रसिद्ध अकबर बादशाह का राजत्व-वर्णन सभी को अच्छा लगेगा और अकबर के काल से अंग्रेजी काल में बहुत बातों में समानता भी है।"[३] प्रतापसिंह के चरित्र को अपने समय के अनुकूल बताना निश्चय ही बड़ी बात है किंतु उससे भी अधिक राजनीतिक सूझ-बूझ का प्रमाण श्री राधाकृष्ण दास ने दिया अंग्रेजी काल को बहुत-सी बातों में अकबर के काल के समान बताकर । धार्मिक सहिष्णुता की घोषणा विक्टोरिया ने भी की थी, आश्रित राजे-रजवाड़ों की आंतरिक स्वशासन संबंधी क्षमता और मर्यादा की रक्षा का

वचन भी दिया गया था, योग्य पढ़े-लिखे भारतीयों को क्रमशः ऊंची सरकारी नौकरियाँ भी दी जा रही थीं, विरोध करनेवालों का कठोरतापूर्वक दमन भी किया जा रहा था । सचमुच अंग्रेजों ने अकबर की नीति को उससे कहीं अधिक सफलता के साथ क्रियान्वित किया था क्योंकि आधुनिक विज्ञान का बल भी उन्हें प्राप्त था । फिर भी नाटककार भारतीय जनगण को मानसिंह का (तत्कालीन समृद्धिशाली अंग्रेजों के पिट्ठुओं का) नहीं, प्रतापसिंह का (राजकोप-भाजन देशभक्तों का) अनुसरण करने के लिए उत्साहित करता है, जिनकी प्रतिज्ञा थी—

"जबलौं तन में प्रान न तबलौं टेकहिं छोड़ौं
स्वाधीनता बचाइ दासता-श्रृंखल तोड़ौं ।"[5]

पृथ्वीराज का पत्र पाकर अपनी क्षणिक दुर्बलता को धिक्कारते हुए इस नाटक के महाराणा प्रतापसिंह गर्जन कर उठते हैं—

"पराधीन ह्वै कौन चहै जीवो जग माँही ।
को पहिरै दासत्व श्रृंखला निज पग माँही ।।
इक दिन की दासता अहै शतकोटि नरक सम ।
पल भर को स्वाधीनपनो स्वर्गहुतें उत्तम ।।"[6]

यह भी उल्लेखनीय है कि इस नाटक के अंत में यह अभिलाषा प्रकट की गयी है कि प्रताप की कीर्ति सारे संसार में वीरों द्वारा गायी जाती रहे और प्रभुकृपा से—

"यह आरत भारत दुख तजिकै परम सुखहिं विलसै ।"

स्वाभाविक था कि स्वाधीनता की प्रबल प्रेरणा देनेवाले इस नाटक की धूम मच जाती, इसका बार-बार मंचन होता एवं आलोचकों द्वारा इसे भारतेंदु-युग का सर्वश्रेष्ठ नाटक करार दिया जाता ।

इस नाटक के अतिरिक्त बाबू राधाकृष्ण दास ने 'प्रताप-विसर्जन' शीर्षक से एक लंबी कविता भी लिखी थी, जिसमें कुंवर अमरसिंह की विलासप्रियता के कारण मृत्यु के पूर्व प्रताप ने यह आशंका प्रकट की थी कि कहीं वह 'अति अमोल स्वाधीनता तुच्छ विषय के दाम' पर बेच न दे। उस वीर योद्धा के विकल प्राण तभी निकले जब सभी सरदारों ने हाथ में तलवार लेकर यह प्रतिज्ञा की कि "जौ लौं तन, स्वाधीनता तौ लौं रखौं बचाय।"[7] हिंदी के परिवर्ती कृती साहित्यकारों ने राधाकृष्ण दास की प्रताप संबंधी इसी दृष्टि को और जुझारू.....और व्यापक बनाने की चेष्टा की है ।

हिंदी के तेजस्वी लेखक बाबू बालमुकुंद गुप्त ने बंगला नाटक 'अश्रुमती' के लेखक श्री ज्योतिरिंद्रनाथ ठाकुर को कल्पित घटनाओं के अनुचित संयोजन द्वारा महाराणा प्रताप के यश को कलुषित करने के कारण कड़ी फटकार देते हुए १९०१ ई. में प्रताप को इन शब्दों में स्मरण किया था, "हिंदू लोग महाराणा प्रताप की बड़ी इज्जत करते हैं, सबेरे

उठकर उनका नाम लेते हैं, उनका उज्ज्वल यश आज तक गाया जाता है। उसे सुन-सुनकर इस गिरी दशा में भी हिंदुओं का हृदय स्फीत हो जाता है ।"[११]

श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर ने 'वीराष्टक' के अंतर्गत महाराणा प्रताप पर भूषण की परंपरा पर पानी चढ़ाने वाले ग्यारह अत्यंत ओजस्वी कवित्त रचे हैं । महाराणा प्रताप के दर्पपूर्ण प्रचंड आक्रमण के फलस्वरूप छिन्न-भिन्न होती मुगलसेना का काव्यात्मक चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है, *"प्रबल प्रताप-ताप-दाप सौं हवा ह्वै, सह बदल समान मुगलदल बिलाने हैं।"*[१०] वे यह संकेत करना भी नहीं भूले हैं कि राणाप्रताप *"विपत्तिन की रेलारेल, झेलि-झेलि मातृभूमि-भक्तिभाव भीन्यौ है"* तथा उसने अपनी विजयिनी तलवार *"देस-ब्रत कठिन कठोर महा लोह-मयी राजपूत-टेक बिबेक सौं"* बनाई है ।[११]

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भारत-भारती (१९१२ ई.) से आरंभ कर चीनी आक्रमण (१९६२) पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने तक आधी शताब्दी से भी अधिक व्याप्त अपने काव्यकाल में भारत-भारती, पत्रावली, हिंदू आदि अनेक काव्यग्रंथों में महाराणा प्रताप से भारतीय स्वातंत्र्य चेतना को बार-बार जोड़ा है । उन्होंने आत्मविश्वासपूर्वक जगत से पूछा है, "सुख मानकर बरसों भयंकर सर्व दुखों को सहकर भी आक्रांता को 'शाह' नहीं 'तुर्क' ही कहने वाले शूरवीर राणा प्रताप के समान 'स्वाधीनता के भक्त ऐसे श्रेष्ठ और कहाँ हुए ?"[१२] विपत्तियों-प्रलोभनों में निश्चल, निष्पाप रहनेवाला, हिंदूपन का प्रकृत 'प्रताप' इसीलिए अनुकरणीय है कि उसने *'करके सब कुछ भी बलिदान, रक्खी स्वतंत्रता की आन!'*[१३] 'पत्रावली' में गुप्त जी ने काव्यजगत् में सुप्रसिद्ध (किंतु गंभीर इतिहासकारों के अनुसार असिद्ध) पृथ्वीराज-प्रताप के पत्र-व्यवहार को खड़ी बोली की मर्मस्पर्शी रचना से पल्लवित-रूपांतरित भी किया है ।

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के अनुसार भारत-धरा की धीरता में सनने के कारण, जन्मभूमि वैरियों की जड़ खोद डालने के कारण, देशभक्ति की बलिवेदी पर आत्मबलि देने के कारण ही आज सारी जाति 'प्रताप' पर बलि-बलि जाती है, *"जय बोल-बोल, जाति बलि-बलि जाती कैसे, जो न बलिवेदी के प्रताप बलि बनते!"*[१४] उनका तो निश्चित मत है कि जो भारतीयजन प्रताप के पौरुष का उत्तराधिकारी न बना, जिसने प्रबल प्रलापी, पापी, देशपरितापी का भूत नहीं भगाया, बल नहीं बिलाया, प्रमाद नहीं मिटाया, उसे तपाया नहीं, वह इस धरा में आया ही क्यों? अर्थात् उनकी दृष्टि में जीवन को सार्थक बनाने के लिए गुलाम भारतीयों को प्रताप का उत्तराधिकार पाना और उसे निभाना ही चाहिए । वह शानदार छंद सुनिये—

"आया क्यों धरा में, क्यों कहाया भारतीय जन
भूत जो भगाया नहीं भारभूत पापी का ।
पूज-पूज सुरवृन्द कौन सी विभूति पाई

बल जो बिलाया नहीं प्रबल प्रलापी का।
'हरिऔध' कैसे तो सपूत न कपूती होती,
न गया मिटाया जो प्रसाद आपाधापी का।
देशपरितापी को तपाया जो न दे दे ताप
पाया जो न पौरुष 'प्रताप' से प्रतापी का।"[3]

लेकिन ऐसे साहित्यकार भी थे जो 'देशपरितापी' को तपाने के स्थान पर सदं गुलामी में उसकी गर्मी पा हाथ ताप रहे थे। ऐसे लोग यदि 'प्रताप' जैसे विस्फोटक विषय पर लिखते भी थे तो इतिहास की ममी पर फूल चढ़ाने की अदा में ! वर्तमान से उसे जोड़ने का आग्रह उनकी रचना में नहीं होता था। श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र (मिश्र बंधुओं) ने जगविदित प्रतापी प्रतापसिंह के प्रबल जाति-अभिमान की प्रशंसा तो की है किंतु उसकी उपलब्धियों को वैयक्तिक ही बताया है, उनका संबंध जाति से नहीं जोड़ा है। उनके अनुसार प्रताप ने—

"चौबीस बरष सह कष्ट सब, नहीं त्याग हठ को किया।
फिर जीत राज निज मान रख, जग में अनुपम जस लिया।।"[4]

दूसरी तरफ जो कवि सरकार से नहीं, जनता से जुड़े हुए थे, वे अनिवार्यतः नयी पीढ़ी को प्रताप की परंपरा से जोड़ना चाहते थे। नाथूरामशंकर शर्मा ने नौजवानों से ललकारकर कहा था कि "देशमाता अपनी संतानों की पीड़ा से रो रही है। देवी-देवताओं के नहीं, स्वतंत्रता के भक्त बनकर ही उसके विलाप को रोकना संभव है। सत्य, सदाचार को धारण कर यदि न्याय का साथ देना तथा कूटनीति की धुतैली छाप से बचना है और 'भद्र भावना से यदि जीवन बिताना है तो, पूजिए प्रताप महाराणा के प्रताप को।"[5]

मुक्तक कविताओं में समकालीन मानस की आवेगमयी अभिव्यक्ति तो होती है किन्तु उनका आधारफलक विस्तृत नहीं होता। प्रताप के चरित्र के विशद पहलुओं को उभारने के लिए कवियों को अधिक व्यापक फलक का प्रयोजन प्रतीत हुआ फलतः जयशंकर प्रसाद कृत 'महाराणा का महत्व' (१९१४ ई.) एवं गोकुलचंद शर्मा कृत 'प्रणवीर प्रताप' (१९१५ ई.) की भेंट हिंदी साहित्य को मिली। कुंवर अमरसिंह द्वारा बंदी बनायी गयी अब्दुर्रहीम खानखाना की बेगम को कितने सम्मान के साथ महाराणा प्रताप ने रहीम के पास भेज दिया और उससे प्रभावित हो रहीम ने किस प्रकार अकबर को प्रताप से संग्राम-विरत किया, यही इस काव्य की कथावस्तु है। मानवता और नारी मर्यादा के प्रति प्रताप का विवेकपूर्ण आचरण उनके चरित्र को और उज्ज्वल बनाता है। प्रसाद की दृष्टि में महाराणा प्रताप 'आर्य जाति के तेज', जननी के सच्चे दास थे। अतः भारतीयों को उन्होंने सलाह भी दी—

"भारतवासी ! इसी नाम का स्मरण ही
तुम्हें प्रतापान्वित कर देगा सत्य ही
तुम अपने प्रताप को विस्मृत हो गये ।
हाय कृतघ्न बनो मत उनको भूल के
यह महत्वमय नाम स्मरण करते रहो ।"[८]

'प्रणवीर प्रताप' में प्रताप के युद्धरत जीवन का संक्षिप्त किंतु प्रभावशाली चित्रण किया गया है जिसका निष्कर्ष यही है, *"दे शीश भी स्वातंत्र्य रक्षा सृजन करते हैं सभी/ है व्यर्थ शिर जो दासता से उठ न सकता हो कभी ।"*[९]

पांडेय लोचनप्रसाद कृत 'मेवाड़गाथा' (१९१७ ई.) में 'प्रतापी प्रताप का प्रण' तथा 'प्रताप स्तवन', लाला भगवानदीन कृत 'वीर पंचरत्न' (१९२० ई.) में 'वीर प्रताप' शीर्षक से हल्दीघाटी के युद्ध का तेजोद्दीप्त वर्णन, केसरी सिंह बारहठ कृत 'प्रतापचरित्र' हिंदी के प्रताप-साहित्य की समृद्धि के गौरवपूर्ण प्रमाण हैं। बारहठ जी की रचना वीर रस की पारंपरिक ओजस्विता में नवयुग की स्वाधीनता की तड़प के मेल के कारण बहुत प्रभावशालिनी बन गयी है। 'प्रताप की प्रतिज्ञा' उनके शब्दों में सुनिये—

"प्यारी है स्वतंत्रता सब ही जीवनधारिन को
छोरिकर या को मैं तो मन बहलाऊँ ना।
स्वै के परतंत्र तीन लोक को न राज चाहों
काहू के डराए हू तें दिल दहलाऊँ ना।
देवन के देव एकलिंग हैं हमारे नाथ
ताके अतिरिक्त सीस काहू पै नवाऊँ ना ।
हार जाऊँ समर, उजार जाऊँ देस,
देह डारि जाऊँ तोऊ जमींदार कहलाऊँ ना।"[१०]

सचमुच यह पंक्ति प्रताप के स्वाभिमान के अनुकूल ही है कि असफल होने पर भी मुझे 'फलचर कहेंगे, तृनचर कहेंगे लोग, बनचर कहेंगे, अनुचर कहेंगे ना।'[११]

द्विवेदी युग की रचनाधर्मिता पर प्रताप की छाप असंदिग्ध रूप से बहुत गहरी है। इस काल में रचित प्रताप संबंधी कविताएँ न केवल संख्याबहुल हैं बल्कि वे काव्यगत दृष्टि से उत्कृष्ट भी हैं । इन रचनाओं में बुद्धि और हृदय दोनों का योग हुआ है, इसीलिए ये इतनी प्राणवंत हैं ।

छायावादी काव्यचेतना में भले ही वैयक्तिक स्वच्छंदता, प्रकृतिप्रेम, रहस्यवाद आदि तत्वों की प्रधानता थी पर राष्ट्रीय चेतना का भी महत्वपूर्ण विधायक योगदान था। अतः उसके कई प्रमुख कवियों ने भी प्रताप पर लेखनी चलायी है। १९१८-१९ ई० से ही भारत की राजनीतिक चेतना व्यापक जनांदोलन की ओर अग्रसर होने लगी थी । उसके

साथ ही साथ हिन्दी की राष्ट्रीयतावादी साहित्यधारा का स्वर भी उग्र युद्ध-चेतना से ओत-प्रोत होने लगा था। स्वाभाविक रूप से 'प्रताप' का चित्रण भी 'युद्धनायक के प्रतीक के रूप में होने लगा और उनका उदाहरण देकर देशभक्तों को बलिदान देने के लिए उत्तेजित किया जाने लगा । १९२०, १९३०, १९४२ के आंदोलनों के समय या उनके कुछ आगे-पीछे लिखी प्रचुर कविताएँ इस प्रवृत्ति के प्रमाणस्वरूप उद्धृत की जा सकती हैं ।

१९२० के आंदोलन के पहले से ही गयाप्रसाद शुक्ल, त्रिशूल, सनेही, माखनलाल चतुर्वेदी, माधव शुक्ल, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि राष्ट्रीय काव्यधारा में महत्वपूर्ण योग देने लगे थे । श्री जगन्नाथप्रसाद चुतुर्वेदी ने प्रताप-शिवा के रक्त का लेश अपने में प्रमाणित करने पर ही भारतीयों को धन्य मानना चाहा था, *"जहाँ प्रताप-शिवाजी जूझे, धन्य-धन्य यह देश/हम भी धन्य रक्त का उनके, है हममें यदि लेश।"*[१३]

त्रिशूल ने तो १९२० के आंदोलन काल को प्रताप-शिवा का अनुकरण करते हुए अपने को बलिदान करने का अनुकूल समय बताया था—

"वीर प्रताप-शिवा के पद का निज हृदयों में ध्यान करो,
हे भारत के लाल, पूर्वजों की कृति पर अभिमान करो।
स्वतंत्रता के लिए मरे जो उनका चिर सम्मान करो,
हे त्रिशूल, अनुकूल समय यह अब अपना बलिदान करो ।"[१३]

माधव शुक्ल भी यही बलिदानी प्रेरणा दे रहे थे—

"पूरन करो यज्ञ माता का, ज्यों प्रताप अभिमानी बाँका,
ज्यों शिव-सूर्य हिंद गुरुता का, जैसे तिलक महान् ।
चाहती है माता बलिदान, जवानो उठो हिन्द सन्तान ।"[१४]

फिर भी ये उक्तियाँ समर-लिप्त योद्धा को नहीं, प्रेरणादाता कवि की हैं । इस दूरी को भी मिटा दिया है माखनलाल चतुर्वेदी की अमर कविता 'मैं हूँ एक सिपाही' ने जिसमें आजादी का सिपाही अपनी उमंग भरी वाणी में अपनी परंपरा को संकेतित करते हुए कह उठता है—

"क्या तुमको है कुरुक्षेत्र, हल्दीघाटी की याद ?
सिर पर प्रलय, नेत्र में मस्ती, मुट्ठी में मनचाही,
लक्ष्यमात्र मेरा प्रियतम है, मैं हूँ एक सिपाही ।"[१५]

रूपनारायण पाण्डेय, सत्यनारायण कविरत्न, शंभुदयाल श्रीवास्तव आदि ने भी इस दौर में रचित अपनी कविताओं में स्वाधीनता और प्रताप को साध्य और साधक के रूप में प्रस्तुत किया है । वियोगी हरि ने प्रताप-भक्ति और काव्य चमत्कार का अद्‌भुत उदाहरण उपस्थित करते हुए लिखा—

"जगत जाहि खोजत फिरै, सो स्वतंत्रता आप ।
बिकल तोहिं हेरत अजौं, राणा निठुर प्रताप ।।"[१६]

सारा संसार जिस स्वाधीनता को खोजता फिरता है, वह आज भी विकल होकर स्वयं उस निठुर राणा प्रताप को खोज रही है जो उसे छोड़कर कहीं छिप गया है। इसका अर्थ यही है कि राणा प्रताप जैसे बलिदानी वीरों के न रहने पर स्वाधीनता का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है, अतः अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए स्वतंत्रता राणा प्रताप जैसे वीर की तलाश में है। 'है किसी में हिम्मत राणा प्रताप बनने की? यह प्रश्न भारतीय जनता की ओर से कवियों ने बार-बार पूछा है। प्रसाद ने अपने काव्य के चरम उत्कर्ष काल में 'पेशोला की प्रतिध्वनि' शीर्षक कविता में छायावादी काव्यशिल्प की सांकेतिक सूक्ष्मता का समर्थ प्रयोग करते हुए अस्तगामी सूर्य और मरणासन्न प्रताप की करुणामंडित महिमा के परिवेश में यही प्रश्न उभारा है कि अब स्वाधीनता के प्रकाश को बनाए रखने का गुरुभार कौन लेगा ? विपत्तियों से घिरे हुए देश को लक्ष्य की ओर ले जाने के दुरूह कार्य का उत्तरदायित्व आंधी से उद्वेलित अंधेरे समुद्र में नाव खेने के समान ही है, यह बताते हुए प्रताप का प्रश्न है—

"आह इस खेवा की,
कौन थामता है पतवार ऐसे अन्धड़ में ?
अन्धकार-पारावार गहन निर्याति-सा,
उमड़ रहा है ज्योति-रेखा-हीन क्षुब्ध हो ।"[१७]

यही सवाल स्वाधीनता आंदोलन से विक्षुब्ध देश के कवि प्रसाद का भी था देश के नौजवानों से, इसीलिए कविता का समापन उन्होंने इन शब्दों से किया है, *"आज भी पेशोला के/तरल जलमंडली में/वही शब्द घूमता-सा/गूँजता विकल है....*किन्तु आज प्रतिध्वनि कहाँ?"

छायावाद के कविहृदय आलोचक शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'हल्दीघाटी' पर रचित मार्मिक कविता में बताया कि स्वत्व रक्षा के लिए मर मिटने वाले को ही जीने का अधिकार है, बलिदानी अमर हो जाता है—

"प्राणों के उन बलिदानों में था कितना स्वर्गिक उल्लास
हँस-हँस कर मिट जाने में ही है जीवन का अमर प्रकाश ।"[१८]

छायावाद के शलाका पुरुष 'निराला' ने १९२७ ई. में 'महाराणा प्रताप' की उपन्यास से भी रोचक जीवनी अत्यंत भावभीने शब्दों में लिखी । उसमें उन्होंने वेद, राम, कृष्ण आदि को मानने वाली जाति के गौरवपूर्ण अतीत की महिमा बखानने के बाद लिखा था, "उस जाति को आदर्श से भ्रष्ट, धर्म से पतित, सहानुभूति से बहिष्कृत, देश की हिताकांक्षा से विमुख, और तुर्कों की सेवा में तत्पर होते देखकर क्या कभी कोई सच्चा

देशभक्त एक क्षण के लिए भी स्थिर रह सकता है?"[२९] इस उद्धरण में, 'तुर्कों' के स्थान पर 'अंग्रेजों' शब्द को बैठा देने से निराला की व्याकुल अस्थिरता का कारण समझा जा सकता है । मुस्लिम उत्पीड़न के माध्यम से ब्राह्मणों, क्षत्रियों द्वारा निपीड़ित शूद्रशक्ति के उत्थान की संभावना देखने वाले निराला ने प्रताप और उनके पूरे परिवार का भीलों के साथ सौहार्द्र और स्नेह से भरे व्यवहार का सरस चित्रण इस जीवनी में किया है। यह प्रताप के जीवन के एक उज्ज्वल अंश की सामयिक प्रयोजनीयता का सुंदर निरूपण है।

प्रताप की संक्षिप्त जीवनी प्रेमचंद ने 'कलम, तलवार और त्याग' में लिखी है। उनके जैसे यथार्थवादी गद्यकार ने कवियों की तरह उच्छ्वसित भाव से प्रताप को वीरत्यक्त्वन-केसरी, अध्यवसायनद का मगरमच्छ, दृढ़ता-पथ का पथिक आदि तो कहा ही है, गाँव-गाँव में उनके नाम के मंदिर बनवाकर उनमें स्वाधीनता देवी की प्रतिष्ठा करने की सलाह दी है ताकि लोग सच्ची आजादी का सबक सीखें ।[३०]

प्रताप की लोकप्रिय जीवनियाँ तो टाड के आधार पर चंद्रशेखर पाठक, नंदकुमार देवशर्मा, श्रीराम शर्मा आदि दर्सियों लेखकों ने लिखीं किन्तु उनका तथ्यपरक, इतिहाससम्मत जीवन चरित्र मुंशी देवी प्रसाद, म.म.पं. गौरी शंकर हीराचंद ओझा और स्वाधीनता के बाद श्री राजेन्द्र शंकर भट्ट ने लिखा है। इन विद्वानों के मतानुसार मानसिंह का प्रताप द्वारा अपमान, शक्तिसिंह द्वारा दो मुगल सवारों का वध कर प्रताप की रक्षा, प्रताप की कन्या द्वारा घास की रोटी खाने की करुण स्थिति, अकबर की अधीनता स्वीकार करने की इच्छा प्रकट करने की प्रताप की क्षणिक दुर्बलता, पृथ्वीराज-प्रताप का पत्र-व्यवहार, प्रताप के सिंधगमन को रोकने के लिए भामाशाह का सर्वस्वदान आदि प्रसंग वास्तविक न होकर कविकल्पित हैं । जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है इन प्रसंगों को प्रताप के जीवन में इतनी भावुकता के साथ गूंथ दिया गया है कि अब इन्हें बिलगाना बड़ा कठिन है । इन घटनाओं के द्वारा साहित्य-सर्जकों ने प्रताप को अधिक मानवीय बनाने की चेष्टा की है।

श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिंद लिखित नाटक 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (१९२९ ई.) बहुत लोकप्रिय हुआ। इसमें मिलिंद जी ने सरदारों द्वारा राणा उदयसिंह की इच्छा के विरुद्ध जगमाल के स्थान पर प्रतापसिंह को राणा बनाये जाने की घटना का आधार लेकर प्रताप से कहलवाया है, "जनता जनार्दन ने आज मुझे अपना सेवक चुना है।"[३१] यह प्रजातंत्री उद्गार आधुनिकता की देन है । 'आठों पहर स्वाधीनता की प्रबल आकांक्षा प्रलयाग्नि' की तरह भारतीयों के हृदयों में भड़कती रहे, यही इस नाटक का काम्य है।

प्रसिद्ध कथाकार चतुरसेन शास्त्री कृत कहानी 'हल्दीघाटी में' अपनी मर्मस्पर्शिता के कारण अत्यंत लोकप्रिय हुई और कई कहानी संकलनों में सम्मिलित की गयी ।

१९३० के आंदोलन ने फिर एक बार कविताओं में संग्रामी भावना भरी...फिर 'प्रताप' का नामोच्चार आग्रहपूर्वक राष्ट्रीय भावापन्न कविताओं में होने लगा । सुभद्रा

कुमारी चौहान ने 'वीरों का कैसा हो वसन्त' की समस्या उठाकर खुद ही उसका समाधान भी प्रस्तुत किया, *"हल्दीघाटी के शिलाखंड/ऐ दुर्ग सिंहगढ़ के प्रचंड/राणा, तानाका कर घमंड/दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलन्त।"*[१२]

दिनकर ने हिमालय को जगाकर जिन खोई अनंत निधियों को सहेज लेने को कहा था, उनमें प्रताप प्रमुख थे, *"पूछे सिकता कण से हिमपति/तेरा वह राजस्थान कहाँ/वन-वन स्वतंत्रता दीप लिये/फिरनेवाला बलवान कहाँ।"*[१३]

हरिकृष्ण प्रेमी प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति के समक्ष भी प्रताप को न झुकने की टेक पर रीझकर कह उठे—

"सूर्य झुका, झुक गये कलाधर, झुके गगन के तारे,
अखिल विश्व के शीश झुके, पर झुके न तुम प्रताप प्यारे।"[१४]

१९३२ से ही श्यामनारायण पांडेय ने 'हल्दीघाटी' नामक प्रशस्त प्रबंधकाव्य की रचना आरंभ की थी जो सात वर्षों तक चलती रही। विषय की उदात्तता, भाषा और शैली की सरलता, पांडेय जी के काव्यपाठ की विशिष्टता तथा देश की जुझारू मानसिकता को अत्यंत व्यापक स्तर पर स्पर्श करने का गौरव इस कृति को मिला। पूर्व कवियों से प्राप्त प्रसंगों में अपनी कल्पना का भी थोड़ा-सा पुट मिलाकर पांडेय जी ने नसों में बिजली दौड़ा देनेवाले इस वीर काव्य की रचना की थी। हिंदूसूर्य, राष्ट्रनिर्माता प्रताप का बिंब उनकी दृष्टि में देश और काल दोनों की बृहत्तर सीमा को छूने में समर्थ था। प्रताप को संबोधित करते हुए उन्होंने रानी से कहलावा था—

"तू भारत का गौरव है, तू जननी-सेवा-रत है।
सच कोई मुझसे पूछे, तो तू ही तू भारत है॥
तू प्राण सनातन का है, मानवता का जीवन है।
तू सतियों का आंचल है, तू पावनता का धन है॥"[१५]

पूरे काव्य में बार-बार टेक की तरह स्वतंत्रता-प्राप्ति की भावना दुहरायी गयी है, 'स्वतंत्रता के लिए मरो', 'बनकर राणा सदृश महान, सीखें हम होना कुर्बान', 'बन जायें स्वाधीन-स्वतंत्र', 'राणा सदृश तू शक्ति दे, जननीचरण अनुरक्ति दे' आदि अनेक पंक्तियाँ अनायास उद्धृत की जा सकती हैं।

१९४२ के आंदोलन की पट भूमिका पर 'युद्धरत प्रताप' के अनुगामी के रूप में अपने को (जनगण को !) अंकित करनेवालों में सोहनलाल द्विवेदी, कुंवर चंद्रप्रकाश सिंह, भरतव्यास आदि प्रमुख हैं। इनमें निस्संदेह सर्वाधिक मार्मिक स्वर सोहनलाल द्विवेदी का था। 'भैरवी' में संकलित 'हल्दीघाटी' और 'राणा प्रताप के प्रति' कविताएँ बहुसंख्यक युवावर्ग विशेषत: विद्यार्थी समाज को कंठस्थ थीं। वतन के लिए शहीद होनेवाले वीरों की युद्धभूमि हल्दीघाटी को आज के देशभक्तों के लिए तीर्थस्थान के रूप में वंदित करते हुए कवि कह उठता है—

"गाओ माँ फिर एक बार तुम, वे मरने के मीठे गान ।
हम मतवाले हों स्वदेश के, चरणों में हँस हँस बलिदान ।।"[९५]

प्रताप को अपने सेनापति के रूप में वरण कर उन्हें आज की हल्दीघाटी के युद्ध के नेतृत्व के लिए आमंत्रित करते हुए कवि की पुकार है—

"मेरे प्रताप, तुम फूट पड़ो, मेरे आँसू की धारों से,
मेरे प्रताप, तुम गूँज उठो, मेरी संतप्त पुकारों से,
मेरे प्रताप, तुम बिखर पड़ो, मेरे उत्पीड़न भारों से,
मेरे प्रताप, तुम निखर पड़ो, मेरे बलि के उपहारों से ।।"[९७]

कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह को अन्य देशवासियों की तरह ही लगता रहा कि इस युद्ध में महाराणा प्रताप हमारे साथ हैं। उनकी सिंहगर्जना, उनके शस्त्रास्त्रों की झंकार, चेतक की टापें रह-रहकर कवि को सुनायी पड़ती हैं और उसके भयभीत हृदय के बंधन टूट जाते हैं । कम कविताओं में इस प्रकार का तादात्म्य मिलता है। कवि के शब्दों में—

"सदियों का तम भेद, छेद प्रतिस्तर जड़जीवन,
गरज उठा फिर वह, अरावली का पंचानन ।
उल्का-सी जल उठी वही - वह असि पहचानी,
वह बरछी उस विद्युलता की रक्त कहानी ।
कँपा रहीं हैं मनोदेश चेतक की टापें,
पड़ती हों ज्यों विजय-गीत-लय पर गुरु थापें ।
टूटे बन्धन भीति-अन्ध उर ने गति पाई,
'दृढ़ स्वातंत्र्यव्रती महाराणा की जय' छाई ।"[९८]

श्री भरतव्यास ने तादात्म्य के क्रम को उलट दिया । महाराणा प्रताप आज के युद्ध में हमारे साथ हैं, कहने के स्थान पर बड़ी ओज-भरी वाणी में उन्होंने कहा, 'हम ही तो हल्दीघाटी की लड़ाई में प्रताप बनकर दुश्मन पर टूटे थे।' इसका संकेत यही है कि अब हम कैसे इस युद्धबेला में निष्क्रिय रह सकते हैं—

"हल्दीघाटी की गलियों में, टूट पड़े थे हम प्रताप बन,
हम जननी के चिर पहिचाने, हम हैं सिंहों की सन्तानें ।।"[९९]

और तब आयी १५ अगस्त १९४७ को देश की खंडित स्वाधीनता, जिसका अभिनंदन करने के लिए असंख्य कविताएँ लिखी गयीं। कहते दुःख होता है कि उस विजयवेला में अपेक्षाकृत रूप से बहुत कम कवियों को प्रताप याद आये। प्रतिष्ठित कवियों में जिन्होंने सबसे ममत्व के साथ न केवल प्रताप को याद किया बल्कि उसे प्रतिश्रुति भी दी थी, वे थे डॉ. रामकुमार वर्मा। '१४ अगस्त, १९४७ की रात्रि में' शीर्षक कविता में 'देश के विशाल गौरव स्तंभ हिमालय' के माध्यम से कवि ने 'जौहर की भस्म

रमाए, रक्त की धार से बहकर स्वर्ग गये रक्तस्नात प्रताप को' उनकी बलिदानी गाथा का स्मरण करते हुए यह संदेश भेजा था, *'आज प्रणवीर/हम घोषणा हैं करते/उन खंडहरों को जो तुमने बसाए थे/फिर से गगनचुंबी महल बनाएँगे/और जो स्वतंत्रता की पावन परंपरा/तुमने चलाई थी, रहेगी सदा देश में ।"*[२०]

किन्तु क्रूर सत्य यह है कि स्वाधीनता के बाद देश ने प्रताप को भुला-सा दिया और इसीलिए साहित्य में भी उनका अंकन विरल हो गया । पाकिस्तान-चीन के आक्रमणों के समय जरूर अन्य योद्धाओं के साथ प्रताप याद आते हैं किन्तु तदतिरिक्त साहित्य में उनकी चर्चा बहुत कम है । स्वाधीनता के बाद श्री राजेन्द्रशंकर भट्ट लिखित जीवनी 'महाराणा प्रताप' (१९६७ ई.) तथा डॉ० देवीलाल पालीवाल द्वारा संपादित 'महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ' (१९६९ ई.) – ये दो कृतियाँ ही उल्लेखनीय हैं, दूसरी कृति में देश की विविध भाषाओं के साहित्य में प्रताप की प्रेरणा से रचित ग्रंथों की चर्चा एवं गंभीर इतिहास में राणा प्रताप एवं अकबर के संघर्ष में दोनों की भूमिकाओं पर की गयी महत्वपूर्ण विवेचना की प्रशंसा तो होनी ही चाहिए लेकिन सबसे अधिक आभार संपादक का इसलिए मानना चाहिए कि इसमें उन्होंने 'प्रताप-गाथा' के साहित्यिक विकास के मूल स्रोत के रूप में उपलब्ध संस्कृत काव्य, डिंगल-पिंगल-काव्य, ख्यात, बात, वंशावली, पट्टे, परवाने एवं शिलालेख उद्धृत कर दिये हैं।

ठाकुर रणवीरसिंह शक्तावत लिखित इक्कीस सर्गों का 'प्रताप' काव्य १९५७ में प्रकाशित जरूर हुआ है किन्तु उसकी भाषा, शैली और चेतना १९२७ के आसपास की, कवि के गुरु सनेही जी के समय की ही है। रचना की वर्तमान संगति देश की दुरवस्था सुधारने के लिए प्रताप से की गयी इस प्रार्थना में मिलती है—

"हे प्रताप, यह हाल नहीं है देखा जाता,
यद्यपि हुई स्वतंत्र खिन्न है भारत माता ।
लोकहृदय सम्राट ! हिन्द में शीघ्र पधारो
करके दृढ़ संगठन देश की दशा सुधारो ।"[२१]

युद्ध के समय लिखित काव्यों में आये प्रताप के उल्लेखों पर विचार करने के पूर्व उन कारणों पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए जिनके फलस्वरूप स्वाधीन भारत में प्रताप-चर्चा कम हो गयी।

पहली बात तो यह है कि प्रताप को स्वाधीनता-समर के योद्धा के प्रतीक के रूप में समसामयिक राजनीतिक संघर्ष की गतिविधि के समशील साहित्य में अंकित किया गया था। भारतेंदु युग में प्रत्यक्ष संग्राम के अभाव में उनके कष्ट-वरण द्वारा करुणा का उद्रेक, जाति का उद्बोधन, स्वाधीनता के लिए प्राणदान आदि ही कृतिकारों को अभीष्ट थे। द्विवेदी-युग में प्रत्यक्ष संघर्ष को आरंभिक उत्तेजना के स्पर्श के साथ-साथ प्रताप के

अनुकरण पर बल दिया जाने लगा और कुर्बानी की मांग की जाने लगी। १९२०, ३० और ४२ के आंदोलनों में प्रताप को युद्धनायक के रूप में, अपने को सिपाही के रूप में चित्रित कर कवियों ने रागात्मक संबद्धता को तादात्म्य की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसी बीच राजनीतिक क्षेत्र में प्रताप के विरुद्ध जानेवाली दो दृष्टियाँ उभर रही थीं। हिन्दू-मुस्लिम-एकता और असांप्रदायिकता के समर्थकों को प्रताप-स्तवन से मुस्लिम-मानसिकता के आहत होने का भय सताने लगा था और उनमें से कोई-कोई प्रताप-शिवा को 'विभ्रांत देशभक्त' कहने लगे थे। दूसरी ओर ऐसे विचार भी सामने आने लगे थे कि अकबर-प्रताप का संघर्ष सामंतवादी काल के राजाओं का आपसी संघर्ष मात्र था, उससे किसान-मजदूर के वर्ग-संघर्ष को कोई प्रेरणा नहीं मिलती। इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों दृष्टियाँ प्रताप के समकालीन एवं परवर्ती पारंपरिक लोकचित्त के साक्ष्य को अनदेखा कर अपनी तात्कालिक सुविधा पर बल देने का आग्रह रखने के कारण प्रताप के साथ अन्याय करती हैं, फिर भी इनका कुछ न कुछ असर तो पड़ा ही। तिलक, गाँधी, सुभाष, जवाहर जैसे आधुनिक राष्ट्रनायकों के प्रति भक्तिभाव ने भी पुराने आदर्शों के प्रति निष्ठा में हिस्सा बंटा लिया था। फिर एक निष्ठुर सत्य यह भी है कि स्वाधीनता मिल जाने के बाद स्वाधीनता के संघर्ष के प्रेरक प्रतीकों की उपयोगिता कम हो गयी थी। अतः वैयक्तिक, अंतर्वैयक्तिक, वर्गीय या देश के नवनिर्माण की चेतना से अनुप्रेरित साहित्य में उन्हें भुला दिया गया।

पर जब-जब देश पर आक्रमण हुए, हमारी स्वाधीनता जब-जब खतरे में पड़ी तब-तब अपनी संग्रामी परंपरा से...शक्ति के अक्षय भावात्मक कोष से जुड़ना अनिवार्य हो गया। १९६२ के चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया सबसे उग्र हुई क्योंकि उससे हमारी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को गहरी चोट पहुँची थी। उस समय हिन्दी के पुराने, नये कवियों ने अन्य राष्ट्रीय वीरों के साथ प्रताप की पुण्यस्मृति से भी शक्ति-संचय करने की प्रेरणा दी थी। मैथिलीशरण गुप्त ने रोषपूर्ण स्वर में कहा, *"ठोकर मार चिता दो उनको, देख रहे हैं जो सपने / भूलें नहीं प्रताप, शिवाजी, गुरुगोविंद हमें अपने।"*[४३] दिनकर ने आवेगमयी भाषा में राष्ट्रीय तेजस्विता का आवाहन करते हुए लिखा, *"झकझोरो, झकझोरो महान सुप्तों को/टेरो, टेरो चाणक्य-चंद्रगुप्तों को/विक्रमी तेज, असिकी उद्दाम प्रभा को/राणाप्रताप, गोविंद, शिवासरजा को।"*[४४] राणाप्रताप, छत्रपति शिवाजी, गुरुगोविंद सिंह की वही त्रिपुटी....जो लोकचित्त को स्वाधीनता की प्राप्ति की अभय प्रेरणा दे रही थी, अब स्वाधीनता की रक्षा के लिए मर-मिटने का बल दे रही थी। पुरानी स्मृतियों को नये संदर्भों से जोड़ते हुए रमासिंह ने लिखा—

"राणा प्रताप के त्याग ने/आज फिर हिमशिखरों पर पत्तों का भोजन किया है।"[४५] देवराज दिनेश 'राष्ट्र को आज चाहिए अपने प्रति राणा प्रताप की भक्ति' लिखकर

ही संतुष्ट नहीं हुए, अपनी प्रसिद्ध कविता 'भारत माँ की लोरी' में उन्होंने कल्पना की कि सीमांत पर हुए संघर्ष के निनाद से जागा हुआ अकबर भारतमाता से कह रहा है, *"उनसे कह दे - अकबर और प्रताप एक हैं/अब उनमें आपस में युद्ध नहीं हो सकता।/चेतक पर चढ़कर अकबर आयेगा-/हिमगिरि की छाती पिघलेगी चेतक की टापों से-/तब क्या होगा? बर्फ बनेगी अंगारे - तब क्या होगा?"*[५]

हिन्दू-मुस्लिम एकता के द्वारा आक्रमणकारियों को विफल मनोरथ कर देने के राष्ट्रीय संकल्प को कवि ने प्रताप और अकबर की मैत्री की घोषणा द्वारा प्रभावशाली अभिव्यक्ति दी है। उदाहरणों को संख्या अधिक बढ़ाये बिना यह निष्कर्ष स्पष्टतः निकाला जा सकता है कि प्रताप भारतीय चेतना के अविभाज्य अंग बन गये हैं । हम अपनी प्रसन्नता या व्यस्तता के क्षणों में भले ही उन्हें भूल जायें, संकट के समय वे हमें नहीं भूलते, प्रेरणा के अक्षयस्रोत बनकर हमारे राष्ट्रीय मनोबल में वे फौलाद ढालते रहे हैं और सदा ढालते रहेंगे।

१९८३ में प्रकाशित अरुण प्रकाश अवस्थी के खंडकाव्य 'महाराणा का पत्र' में कवि ने यह प्रतिपादित किया है कि राणाप्रताप ने संधि की याचना करते हुए अकबर को कोई पत्र नहीं लिखा था । स्वाभिमान, सांस्कृतिक गौरव-बोध और देशभक्ति की त्रिवेणी को शब्दबद्ध करने के लिए महाराणा प्रताप के बलिदानी जीवन-प्रसंग को चुनकर कवि ने बहुत सूझ-बूझ का परिचय दिया है । इस काव्य की ओजस्विनी भाषा और अनुसंधानाश्रित कल्पना अपने विषय के गौरव के अनुकूल सिद्ध हुई है । इस काव्य के अकबर की यह स्वीकृति कवि की देश-भक्ति से ओत-प्रोत भावना को ही उजागर करती है—

"यह देश एक जलता कंचन का दीपक है
जो नहीं बुझाने से भी तो बुझ पाता है ।
हर भारतीय इस दीपक का परवाना है
श्रद्धा से मेरा शीश स्वयं झुक जाता है ।।
ढलनेवाला है कभी नहीं यह आफताब
दिन-रात धधकने वाला यह अक्षय पावक ।
यह वह गुलशन है, हरा-भरा इस दुनिया का
जन्मते जहाँ पर राणा-से केहरि-शावक ।।"[६]

सच तो यह है कि हमने अब भी प्रताप को पूरी तरह नहीं पहचाना है। महाराणा प्रताप का अर्थ है स्वाधीनता की रक्षा के लिए सब कुछ दाँव पर लगा देनेवाला त्यागमय शौर्य, तात्कालिक लाभ की सुविधावादी नीति को घृणापूर्वक ठुकरा देनेवाला नैतिकताबोध, संकटों और पराजयों के बीच भी मेरुदंड को तना और माथे को ऊँचा रखनेवाला स्वाभिमान, स्वीकृत आदर्श की उपलब्धि के लिए सुख-दुःख, लाभ-हानि की परवाह

किये बिना जीवनभर दृढ़ निश्चयवाला सतत प्रयास । इसीलिए देश और काल, जाति और धर्म की संकीर्ण सीमाओं को लाँघकर प्रताप उन सबके हैं जो इन मूल्यों पर निष्ठा रखते हैं । ये मूल्य कभी पुराने नहीं पड़ते, अतः प्रताप भी पुराने नहीं पड़ सकते। प्रताप को भुलाना, इन मूल्यों के त्यागने के समान है और इन्हें त्यागनेवाला व्यक्ति या समाज सामयिक सुविधा या विलास-सुख के लिए अपनी अस्मिता को ही मिटाने की राह पर चलने के लिए अभिशप्त है । इसे जानकर हम चुनाव करने के लिए स्वतंत्र हैं कि हम 'प्रताप' को याद रखें या भुला दें । ●

संदर्भ :

१. महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, पृ. ८४-८५ पर उद्धृत, २. बॉल किसन रुकमिणीरी - (हिन्दुस्तानी एकेडेमी), पृ. १८, ३. भारतेंदु ग्रंथावली, खंड २, पृ. ८०४, ४. वही, खंड ३, पृ. ३३१-३२, ५. राधाकृष्ण ग्रंथावली, पहला खंड, पृ. ६७०, ६. वही, पृ. ६७६, ७. वही, पृ. ७७३-७४ (ये पंक्तियाँ १२ अप्रैल, १८९७ के 'हिंदी बंगवासी' से उद्धृत हैं।), ८. राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृ. २९, ९. गुप्त निबंधावली, पहला भाग, पृ. ५४७, १०. रत्नाकर, दूसरा भाग, पृ. १५३, ११. वही, पृ. १५६, १२. भारत-भारती, छं. सं. २३८, १३. हिंदू, पृ. १०५ एवं ६०-६१, १४. हरिऔध कृत कल्पलता, पृ. २०४, १५. वही, पृ. २०३, १६. भारत विनय, पृ. ४०, १७. शंकर सर्वस्व, पृ. ३४४, १८. महाराणा का महत्त्व, पृ. ६, १९. प्रणवीर प्रताप, पृ. ४२, २०. महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, पृ. ५६ एवं ५८, २१. वही, २२. राष्ट्रीय गीत, पृ. १०, २३. महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, पृ. ८६, २४. जागृत भारत, पृ. ५५, २५. हिमकिरीटिनी, पृ. ५०, २६. वीर सतसई, छं. सं. ४/६०, पृ. ५९, २७. लहर, पृ. ५७, २८. हिमानी, पृ. ५३, २९. महाराणा प्रताप, पृ. ४३, ३०. कलम, तलवार और त्याग, पृ. १२ तथा १८, ३१. प्रताप-प्रतिज्ञा, पृ. १२, ३२. मुकुल, पृ. १२७, ३३. रेणुका, पृ. ६, ३४. महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, पृ. ४९, ३५. हल्दीघाटी, पंचम सर्ग, पृ. १६९, ३६. भैरवी, पृ. ३३, ३७. वही, पृ. ३६, ३८. शम्पा, पृ. १५, ३९. मरुधरा, पृ. ४८, ४०. आकाशगंगा, पृ. ८८-८९, ४१. प्रताप पृ. २३८, ४२. ऊँचा है भारत का भाल, पृ. ३, ४३. परशुराम की प्रतीक्षा, ४४. ऊँचा है भारत का भाल, पृ. ७२, ४५. भारत माँ की लोरी, पृ. १४०, ४६. महाराणा का पत्र, पृ. ८३.

भूषण की दृष्टि में शिवाजी
"राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो"

महाकवि भूषण ने अपने ओजस्वी छन्दों में छत्रपति शिवाजी महाराज का जो तेजस्वी रूप अंकित किया है, वह तथ्याश्रित होते हुए भी भावोद्दीप्त है अर्थात् तथ्यों से ही अटका न रह कर भावुक कल्पना द्वारा अभिरंजित है। सच तो यह है कि इन छन्दों के शब्द भूषण के हैं। किन्तु भाव समस्त भारतीय जनता के हैं। युगों से पिसती हुई परतन्त्र किन्तु स्वतन्त्रता के लिए संघर्षशील हिन्दू जाति की आशा आकांक्षा को मूर्त करने का महत्प्रयास शिवाजी ने किया था। किसी भी युग में महापुरुष उसी को माना जाता है, जो युग की आकांक्षा को साकार रूप दे सके, न केवल शब्दों में, बल्कि कृतियों में भी। महापुरुष केवल विशिष्ट व्यक्ति ही नहीं होता, वह सामाजिक परिस्थितियों की उपज एवं परिवर्तन की प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण अंग.....एक सीमा तक संचालक होता है। कुछ महापुरुष अपने समय में विद्यमान सामाजिक शक्तियों के प्रतिनिधि होते हैं, वे उन्हें संगठित कर अभीप्सित रूप भर दे देते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो अपने समय में स्थापित सत्ता को चुनौती देनेवाली शक्तियों का विकास एवं नेतृत्व करते हैं तथा नवीन आदर्श को क्रियान्वित करने में सफल होते हैं। निस्सन्देह ऐसे ही महापुरुष अधिक महान् होते हैं और जनमत को अधिक प्रभावित करते हैं क्योंकि वे उन्हें नये स्वप्न और जीवन के नये अर्थ देते हैं। शिवाजी महाराज बिलकुल ऐसे ही महापुरुष थे।

क्रान्ति जो वीररसमयी एकता में प्रकट हुई

स्थापित सत्ता को—चाहे वह बीजापुर, गोलकुण्डा की हो, चाहे सर्वसमर्थ मानी जानेवाली मुगलिया दिल्ली की हो—चुनौती देते हुए ही.....उससे जूझते और उस पर हावी होते हुए ही शिवाजी महाराज आगे बढ़े थे। जो मावले किसान अपनी

छोटी-छोटी जमीनों से चिपटे हुए थे, पहले उनके सामने और फिर सारे देश के सामने 'हिन्दवी स्वराज' का महान् आदर्श उन्होंने रखा था। उन्होंने किसानों को सिपाही बना दिया और वेतनजीवी साधारण सिपाहियों को आदर्शवादी सेनानायक और प्रशासक। उनका आरम्भिक कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र था किन्तु उनके दृष्टिपथ में समग्र भारतवर्ष था। हिन्दवी स्वराज की उनकी कल्पना ने भाव के क्षेत्र में जो क्रान्ति की थी, उसी की एक लपट भूषण की वीररसमयी कविता में प्रकट हुई। इसीलिए उसका स्वर समसामयिक कविता से इतना भिन्न है। उसमें न नायिका के नखशिख वर्णन की मकरध्वजी उक्तियाँ हैं, न आश्रयदाता की वैयक्तिक प्रशंसा की झूठी अतिशयोक्तियाँ। भूषण ने शिवाजी का चित्रण महत्त्वाकांक्षी राजा के रूप में.....व्यक्तिगत लालसा की पूर्ति करनेवाले सफल योद्धा के रूप में नहीं किया है। शिवाजी के सम्बन्ध में सामान्य भारतीय जनता के जो विश्वास थे, जो आग्रह थे, जो भाव थे, उन्हें ही भूषण ने वाणी दी। जनता के मर्म की बात कहने के कारण ही भूषण की कविता इतनी मर्मस्पर्शी है। यह बेखटके कहा जा सकता है कि हिन्दवी स्वराज की चेतना का ज्ञानपक्ष यदि समर्थ स्वामी रामदास के उपदेशों में निखरा है और कर्मपक्ष शिवाजी महाराज के विजय-अभियानों में, तो उसका भावपक्ष भूषण की वीररस पूर्ण कविताओं में मूर्त हुआ है।

शिवाजी की महत्ता इस बात में नहीं है कि उन्होंने कई लड़ाइयाँ लड़ीं, किले जीते, अपना राज्य स्थापित किया। ऐसा तो इतिहास में कई राजाओं ने किया है। शिवाजी की महत्ता का वास्तविक कारण यह है कि उन्होंने पराधीनता को नष्ट कर स्वराज्य का.....सर्वभारतीय स्वराज्य का जीवन्त आदर्श, पराजित और हतबल देशवासियों के सम्मुख रख कर उन्हें नवीन आशा और विश्वास से संजीवित किया। भूषण ने उनके इसी रूप को बार-बार उभारा है। शिवाजी की वीरता एवं तलवार की सराहना करते हुए भूषण ने लिखा है—

बीर रस ख्याल, सिवराज भुआपाल तुअ,
हाथ कौ बिसाल भयो भूषन बखान को।
तेरौ करवार भयौ दच्छिन कौ ढाल, भयौ
हिन्द को दिवाल, भयौ काल तुरकान को।[1]

यह ध्यान देने योग्य बात है कि भूषण की दृष्टि में (अर्थात् भारतीय जनता की दृष्टि में) शिवाजी की तलवार केवल दक्षिण की रक्षक ही नहीं है, सारे भारत की मर्यादा बचानेवाली और तुर्कों के लिए कालस्वरूपिणी है। शिवाजी व्यक्तिगत या प्रदेशगत गौरव की वृद्धि के लिए नहीं लड़ रहे थे, इस पर भूषण ने बहुत बल दिया है। शिवाजी की विजयों से किन्हें शोक तथा किन्हें हर्ष होता था और क्यों, इसका मार्मिक संकेत भूषण की इन पंक्तियों में मिलेगा—

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी-सी रहत छाती,
बाढ़ी मरजाद, जस हद हिन्दुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धकधक,
सुनि-सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपत्ति चकत्ता के घराने की।'

शिवाजी की विजयों से सारे हिन्दुवाने को.....हिन्दुस्थान की मर्यादा और सीमा बढ़ी थी, अत्याचारों से पिसती हुई सामान्य भारतीय जनता के मन की कसक जिस तरह दूर हुई थी, उसी तरह आक्रान्त तुर्कों की ठसक.....शान भी मिट्टी में मिल गयी थी। चगताई घराने और तुरकाने जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा मुगलों की विशेषतः औरंगजेब की विदेशी भावापन्नता को भूषण ने स्पष्ट कर दिया है।

औरंगजेबी अत्याचार को चुनौती

स्वतन्त्रता के संघर्ष में जनता का पक्ष ग्रहण कर औरंगजेबी अत्याचार को चुनौती देनेवाले धर्मरक्षक, महावीर शिवाजी का गुण गाना भी कुछ विचक्षण आधुनिक राजनीतिज्ञों को साम्प्रदायिकता का प्रचार लगने लगा है। जो मनोवृत्ति राणाप्रताप और छत्रपति शिवाजी को 'पथभ्रष्ट देशभक्त' कहती रही, वही मनोवृत्ति भूषण की कविताओं के अध्ययन-अध्यापन का भी विरोध करती रही। यह सचमुच दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि क्षणिक राजनीतिक सुविधा के लिए इतिहास को अस्वीकारने और विकृत करनेवालों को देश विभाजन के बाद भी यह समझ नहीं आयी है कि ऐसी सुविधावादी राजनीति से कुछ व्यक्तियों और दलों को भले ही कुछ तुच्छ सामयिक लाभ हो जाये किन्तु अन्ततोगत्वा इससे राष्ट्रीय हितों को गम्भीर क्षति ही पहुँचती है।

उदार दृष्टि और विराट् शक्ति

जो हो, यह भी समझ रखना चाहिए कि तुर्कों के शासन के विरुद्ध संग्राम करते रहने पर भी शिवाजी न इस्लाम विरोधी थे, न भारतीय मुसलमानों के द्वेषी ही। हिन्दुओं पर लगे जजिया कर का विरोध करते हुए शिवाजी ने औरंगजेब को जो पत्र लिखवाया था, उसकी कुछ पंक्तियाँ है, "यदि आप ईश्वरीय वचन एवं आस्मानी किताब (कुरान) पर विश्वास करते हैं तो देखिये उसमें लिखा है कि ईश्वर रब-उल-आलमीन (सब का प्रभु) है, केवल रब-उल-मुसलमीन (मुसलमानों का प्रभु) ही नहीं। वस्तुतः इस्लाम

और हिन्दू धर्म दो पार्थक्य व्यंजक शब्द हैं, मानो वे दो भिन्न-भिन्न रंग हों जिनका सम्मिलित उपयोग उस सच्चे एवं दिव्य चित्रकार ने समग्र मानव जाति के चित्र की रूप-रेखा को रँगने और भरने में किया है। मस्जिद में उसी का स्मरण करने के लिए अजान दी जाती है, मन्दिर में उसी की खोज में हृदय को व्याकुलता प्रकट करने के लिए घण्टा बजाया जाता है। अतएव अपने मजहब एवं कर्मकांड के लिए हठाग्रह करना ईश्वरीय ग्रन्थ की बात को बदल देने के बराबर है"[3] शिवाजी ने 'पर उपदेश' के लिए ही यह बात नहीं कही थी, वे इस पर आचरण भी करते थे। उन्होंने मुसलमान होने के कारण कभी किसी पर कर नहीं लगाया, न किसी मस्जिद को, न कुरानशरीफ को कभी बेइज्जती की। भारतीय वफादार मुसलमानों को अपने राज्य में ऊँची से ऊँची नौकरियाँ भी दीं। शिवाजी की इस भावना को भूषण ने भी मुखरित किया था। हिन्दुओं के प्रति औरंगजेब के पूर्वजों की सद्भावना की सराहना करते हुए भूषण ने लिखा था—

बब्बर, अकब्बर, हिमायूँ हद बाँधि गए,
हिन्दू औ तुरुक की कुरान वेद ढब की।
इन पातसाहन में हिन्दुन की चाह हुती,
जहाँगीर, साहजहाँ साख पूरे तबकी।[4]

उनका अनुसरण न करने के कारण औरंगजेब की भर्त्सना में उन्होंने कहा— *"दौलत दिली की पाई, कहाइ आलमगीर, बब्बर अकब्बर के विरुद बिसारे तैं"* और इसी छन्द में भूषण ने उसे सत्परामर्श देते हुए लिखा— *"मेरे कहे मेल कर सिवाजी सों बैर करि, गैर करि नैर निज नाहक उजारे तैं"*[5] शिवाजी से मेल करने का अर्थ था हिन्दुओं से मेल करना, हिन्दुस्थान से मेल करना। किन्तु यदि कोई मदान्ध आक्रान्ता अत्याचार पर ही आमादा हो तो शिवाजी के अनुसार उसका इलाज तलवार है, मनुहार नहीं।

त्रस्त हिन्दू जाति के परमहितैषी

भारतीय जनता को भूषण की ही तरह इस बात की गहरी कसक थी कि : *आपस की फूट ही तें सारे हिन्दुवान टूटे*[6] और यह कसक तब हताशा में बदल गयी थी, जब उसने देखा कि औरंगजेब के अन्याय का प्रतिवाद करने के स्थान पर हिन्दू रजवाड़े दासता स्वीकार कर या सन्धि कर अपनी-अपनी खैर मना रहे हैं। हताशा के इस गहरे अन्धकार को चीर कर शिवाजी के शौर्य का सूर्य चमका था, इसीलिए सारे देश ने उन्हें अपना नायक मान लिया था। भूषण का तीखा छन्द है—

अटल रहे हैं दिगअन्तन के भूप, धरि
रैयत को रूप, निज देस पेस करि कै।
राना रह्यो अटल बहाना धरि सुलह कै,

बाना धरि भूषन कहत गुन भरि कै।
हाडा, राठवर, कछवारे, गौर ओर रहे,
अटल चकत्ता कौ चमाऊ धरि, डरि कै।
अटल शिवाजी रह्यो, दिल्ली कौ निदरि, धीर
धरि, एँडधरि, गढ़धरि, तेगधरि कै।[9]

शिवाजी के इस साहस और आत्म-विश्वास ने फिर से हिन्दुओं के मन में धैर्य और तेज का अपूर्व संचार किया था, इसीलिये भूषण ने पुनः पुनः शिवाजी के सम्बन्ध में *"साहस अपार, हिन्दुआन को अधार, धीर सकल सिसोदिया सपूत कुल कौ दिया"*[10] *"काल मही सिवराजबली हिन्दुआन बढ़ाइबे कौ उर ऊटै"*[11] *"हिन्दुआन द्रौपदी कौ ईंजत बचैबे बोलि बैराट नगर तें बाहिर गूढ़ ज्ञान कै। चहै हैं शिवाजी, जिहि भीम लौं अकेले मारयो अफजल कौचक सों कौच घमसान कै"*[12] जैसे उद्‌गार प्रकट कर शिवाजी को समस्त हिन्दू जाति का परम हितैषी घोषित किया था।

शिवाजी न होते तो सुन्नति होति सबकी

कहा जाता है कि वृक्ष की असली पहचान उसके रूप-रंग से नहीं, उसके फल से होती है। शिवाजी महाराज के इन युद्धों का परिणाम क्या निकला, यही उनके जीवन दर्शन के खरे-खोटे होने की वास्तविक कसौटी है। भौतिक स्तर पर शिवाजी महाराज द्वारा स्थापित राज्य तो विशाल भारतवर्ष का एक छोटा-सा अंश मात्र था, उसे भी उनकी मृत्यु के आठ-नौ वर्षों बाद ही औरंगजेब ने अपनी पाशवी शक्ति से करीब-करीब तहस-नहस कर दिया था। शिवाजी की उपलब्धि यदि इतनी ही होती तो फिर उनकी महत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता था, लेकिन नहीं, यह तो शिवाजी की उपलब्धि का एक गौण रूप है, उनकी मुख्य उपलब्धि सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री यदुनाथ सरकार के शब्दों में यह है— *"शिवाजी ने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दुत्व का वृक्ष वस्तुतः मरा नहीं है, वह सैकड़ों वर्षों की राजनीतिक दासता, प्रशासन से बहिष्करण एवं कानूनी दमन के कुचल देने में समर्थ लगने वाले बोझ को भी ठेल कर बढ़ सकता है, नवीन पल्लवों एवं शाखाओं का विस्तार कर सकता है और पुनः अपने उन्नत मस्तक से आकाश को छू सकता है"*।

महाकवि भूषण ने अपने अमर कवित्तों में शिवाजी महाराज के जीवन काल में ही उनकी इस वास्तविक उपलब्धि का संकेत दिया था। शिवाजी ने क्या किया था, इसका दो टूक उत्तर देते हुए भूषण ने लिखा है—

वेद राखे बिदित, पुरान परसिद्ध राखे,
रामनाम राख्यो अति रसना सुधर में।

हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी, तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर में।[८]

एक शब्द में कहा जाय तो शिवाजी ने हिन्दुवानी (हिन्दुत्व) की रक्षा की थी और जब हम इस पर ध्यान देते हैं कि शिवाजी ने कितने कम साधनों से, कितनी विकट परिस्थिति में, इस दुष्कर कार्य को सम्पन्न किया था, तब उनकी महत्ता और भी उद्भासित हो उठती है।

स्थिति की विकरालता का चित्रण करते हुए भूषण ने लिखा है—

देवल गिरावते फिरावते निसान अली,
ऐसे समै राव-राने सबै गए लबकी।
गौरा गनपति आप औरंग को देखि ताप,
आपने मुकाम सब मारि गए दबकी।
मीरा, पयगंबरा, दिगंबरा दिखाई देत,
सिद्ध की सधाई नई, रही बात रब की।
कासीहू की कला गई मथुरा मसीत भई,
शिवाजी न होतो तो सुन्नति होति सबकी।[९]

जैसे डूबते हुए को नौका मिल जाये, वैसे ही उस विकट काल में शिवाजी के आविर्भाव ने समस्त हिन्दू जाति और भारतीय संस्कृति को अवलम्ब दिया था अन्यथा शिवाजी न होते तो सब की सुन्नत हो जाती.....पूरी जाति ही धर्मान्तरित हो जाती। भूषण को यह भय इतना सच्चा लगा था कि इसे चुनौती देने के लिए इसी छाप के तीन छन्द उन्होंने बनाये।

प्रभु के विश्वासी–अटूट हिम्मती

कैसी विषम थी यह लड़ाई! बीजापुर, गोलकुण्डा की बात जाने भी दी जाये तो एक तरफ थी पाँच पुरखे बादशाहों द्वारा संचित अपार धनराशि, सुविशाल सेना, खून को पानी बना देनेवाली भयंकर धाक और उस पर औरंगजेब जैसा कट्टर धर्मान्ध, कुटिल, रणदक्ष शत्रु और दूसरी ओर था एक मराठे सरदार का परित्यक्त, विद्रोही बेटा। किन्तु उसकी विशाल छाती में करोड़ों देशवासियों के अपमान का दर्द था, उसकी चमकती आँखों में एक महान् आदर्श एवं ज्योतिर्मय भविष्य का स्वप्न था, उसके विवेकी मस्तिष्क

में यथार्थ को पहचान कर उसके अनुरूप योजना बनाने की बुद्धि थी, उसकी पुष्ट भुजाओं में आगे बढ़ कर मर्मान्तक वार करने की शक्ति थी और उस प्रभु विश्वासी के अन्त:करण में थी अटूट हिम्मत! अत: क्या आश्चर्य है कि विजय उसी की हुई। साधनों की कमी का रोना वे ही रोते रहते हैं, जो मानवीय क्षमता का पूर्ण विकास नहीं कर पाते। वही मुख्य है, उसके होने पर अन्य साधन जुटते ही जाते हैं। अफजल खाँ, शाइस्ता खाँ तथा औरंगजेब के मान-मर्दन पर शिवाजी की हिम्मत की प्रशंसा में बड़ी चुभती हुई उक्तियाँ भूषण ने कही हैं। साधनों की विषमता के बावजूद शिवाजी की विजय क्या आश्चर्यजनक नहीं है? भूषण के लिए नहीं, क्योंकि उनकी मान्यता है—

"ता कोऊ अचंभो महाराज सिवराज सदा,
बीरन के हिम्मतैं हत्यार होत आई है"[३]

और शिवाजी की यह हिम्मत उनके रणबाँकुरों में भी संक्रमित हो गई थी। शिवाजी की विजयशील सेना के उत्साह का सच्चा चित्रण करते हुए भूषण ने लिखा है—

छूटत कमान, बान, बन्दूकरु, कोकबान,
मुसकिल होत मुरचान हू की ओट में।
ताही समै, सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि द्वैषिन पै बीरन लै जोट मैं।
भूषन भनत तेरी हिम्मति कहाँ लौ कहौं,
किम्मति इहाँ लगि है जाकौ भटझोट में।
ताव दै-दै मूँछन, कँगूरन पै पाँव दै-दै,
ताव दै-दै अरिमुख, कूदे परैं, कोट में"[४]

ऐसे ही सिंहविक्रम सहयोगियों के सहारे शिवाजी ने *हद्द हिन्दुवान की बिहद्द तरवारि राखि, कैयो बार दिल्ली के गुमान झारि डारे हैं"*[५]

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित

प्रादेशिकता की तो बात ही नहीं उठती, भूषण ने शिवाजी महाराज को केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित करने का आग्रह आज से करीब तीन सौ वर्ष पहले ही किया था, यह बात बहुतों को आश्चर्यजनक लग सकती है। अरब और ईरान, इंग्लैंड और फ्रांस ही नहीं,रूस और चीन के समक्ष भी शिवाजी और हिन्दुस्थान की महिमा को उजागर करनेवाले उस दूरदर्शी महाकवि का बेजोड़ छन्द है—

जोर रूसयान को है, तेग खुरासान हू की,
जीति इंगलैंड, चीन हुन्नर महादरी।
हिम्मत अमान मरदान हिन्दुवान हू की,

रूस अभिमान, हबसान–हद कादरी।
नेकी अरबान, सान अदब ईरान त्योंही,
क्रोध है तुरान ज्यों फरांस फन्द आदरी।
भूषन भनत इमि देखिये महीतल पै,
वीर सरताज सिवराज की बहादुरी [६]

मध्ययुगीन हिन्दू कल्पना इतिहास का पौराणिकीकरण अनायास ही करती रही है। भूषण उसके अपवाद कैसे हो सकते थे? पुराणों के अनुसार उस समय कलियुग व्यापा हुआ था जिसके कारण धर्म और सदाचार पर घोर संकट था। हिन्दुओं के लिए उस संकट के प्रत्यक्षवाहक थे औरंगजेब, आदिलशाह, कुतुबशाह आदि। भूषण ने उन सब को विविध अंगों के रूप में सम्मिलित कर कलियुग का रूपक को बाँधा और जगत् को दण्डित करनेवाले उस कलि के बल को खण्डित करनेवाले के रूप में शिवाजी को इस छप्पय में चित्रित किया—

साहन मनौ समथ्थ जासु अचरंगसाह सिर।
हृदय जासु अब्बास साहि, बहु बल बिलास थिर।
ऐदिलसाहि, कुतुब्ब जासु भुज जुग भूषन भनि।
पाव म्लेच्छ उमराव काय तुरकान और गनि।
यह रूप अवनि औतार धरि, जिहि मिलि यह जग दंडियहु।
सरजा शिव साहस खग्ग गहि कलिजुग सोइ खल खंडियहु [७]

इस छप्पय में शिवाजी को ईंगित से कल्कि के सदृश बताया गया है। वास्तव में निराशा के अन्धकार को दूर कर स्वातन्त्र्य-सूर्य की प्रभा से राष्ट्र को प्रकाशित करनेवाले धर्मरक्षक शिवाजी के प्रति उस समय की समग्र हिन्दू जनता के हृदय में प्रगाढ़ श्रद्धा का भाव उदित हुआ था और वह उन्हें अवतार मानने लगी थी। साधुओं के परित्राण, दुर्जनों के नाश तथा धर्म की संस्थापना के लिए ही तो ईश्वर का अवतार हुआ करता है। शिवाजी में ये तीनों गुण प्रचुर मात्रा में थे अतः भारतीय जनता के प्रतिनिधि के रूप में भूषण कह उठे—

दसरथ राजा राम भौ, बसुदेव के गुपाल।
सोई प्रगट्यौ साहि के श्री सिवराज भुआल।।
उदित होत सिवराज के मुदित भए द्विजदेव।
कलियुग हट्यौ मिट्यौ सकल म्लेच्छन को अहमेव।।

आधुनिक मन पुराण की तुलना में इतिहास पर ही अधिक जोर देता है अतः वह इन उक्तियों का प्रतीकार्थ ही लेना चाहे तो भी कोई आपत्ति नहीं है। मूल बात यही है कि शिवाजी की तरह "*धर्मराज्य की स्थापना करने पर, चरित्र बल से बलीयान होने*

पर, नीति और अनुशासन को अन्तःकरण से स्वीकार कर लेने पर, स्वार्थ की अपेक्षा जन्मभूमि को बड़ा मानने पर, वागाडम्बर की अपेक्षा नीरव कार्य को साधना का लक्ष्य बनाने पर ही जाति अमर और अजेय होती है।"[१८]

शिवाजी का दिव्य चरित्र और भूषण का भव्य काव्य हमारी तरुणाई को स्वदेश एवं स्वधर्म की रक्षा के लिए निरन्तर प्रोद्दीप्त करता रहेगा। ●

संदर्भ :

१. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-६८, २. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-५०४, ३. शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स-यदुनाथ सरकार, ४. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-४४७, ५. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-२५६, ६. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-४७७, ७. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-१२०, ८. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-१०, ९. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-१५४, १०. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-३१५, ११. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-४२०, १२. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-४४६, १३. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-२४२, १४. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-४१५, १५. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-४१६, १६. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-४८२, १७. भूषण ग्रन्थावली, छन्द सं०-५८, १८. श्री यदुनाथ सरकार लिखित बंगला पुस्तक शिवाजी, पृ० २६३.

स्वामी विवेकानन्द का सन्देश

किसी महापुरुष को स्मरण करने का उद्देश्य यही होना चाहिए कि हम उनके तेजोमय जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक करें। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब हमारे देश के नवशिक्षित लोग विदेशी चमक-दमक से चौंधियाकर, उसके मोहक प्रभाव में पड़कर अपना सर्वस्व त्यागकर पश्चिम का अन्धानुकरण करने को उद्यत हो रहे थे तब आत्मगौरव एवं आत्मविश्वास के मूर्त रूप स्वामी विवेकानन्द ने हमारा दिशानिर्देश किया था, युगों की ग्लानि और हीनभाव से मुक्त कर हमें अपने वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि करायी थी। अतः यह आवश्यक है कि हम पुनः पुनः उनके सन्देश को स्मरण कर विभ्रान्तकारी आकर्षणों के मायाजाल को काटकर उनके दिखाये रास्ते पर चलते रहें।

क्या है विवेकानन्द का मूलभूत सन्देश? उन्होंने उसे एक छोटे से सूत्र में ग्रंथित कर दिया है *'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'*! चिन्तनशील व्यक्तियों के मनों में ये प्रश्न उठते ही हैं कि हम क्या करें जिससे हमारा जीवन चरितार्थ हो जाये.....हम क्यों जियें, कैसे जियें? विवेकानन्द का उत्तर है कि हमारे जीवन की चरितार्थता इसी बात में है कि हम अपने मोक्ष के लिए, जगत् के हित के लिए, मंगल के लिए जियें। भारतीय दृष्टि के अनुसार मोक्ष परम पुरुषार्थ है, उसे समझने के पहले पुरुषार्थ को समझना होगा।

पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग कभी-कभी घनघोर परिश्रम, कठिन उद्यम के अर्थ में भी होता है किन्तु वह उसका गौण अर्थ है। उसका मूल अर्थ उसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट होता है, *'पुरुषैः अर्थ्यते इति.....'* जो पुरुषों अर्थात् मनुष्यों द्वारा चाहा जाये वह। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्यों का सर्व प्रधान काम्य है सुख! अनुभव बताता है कि भौतिक सुख की प्राप्ति एक बड़ी सीमा तक अर्थ पर निर्भर है। अर्थ का सीधा-सादा मतलब है आवश्यकताओं की पूर्ति का विनिमयमूलक साधन यानी धन दौलत! अतः अर्थ को भारतीय चिन्तकों ने एक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया। पर यह भी स्पष्ट है कि अर्थ साधन ही है साध्य नहीं। अर्थ प्राप्ति से सुख का बोध इसीलिए होता है कि हम इसके

द्वारा अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं, अच्छा और यथेच्छ भोजन कर सकते हैं, बढ़िया कपड़े, आलीशान मकान, मोटर, गाड़ी, विमान आदि तरह-तरह के विलास के साधन खरीद सकते हैं। कामोपभोग के साधन के रूप में अर्थ का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। दूसरी तरफ यदि किसी के पास अर्थ बिल्कुल ही न हो, न जीवित रहने के लिए परिश्रम की क्षमता ही हो तो वह भूखों मर जायेगा। इसीलिए लोग सुरक्षा और कामोपभोग के लिए अर्थ संग्रह पर बहुत बल देते हैं। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि हमारा सारा अर्थ.....हमारी सारी धन दौलत हमारे बाहर है और वह हमें पहचानती तक नहीं। फिर वह साधन ही है, उसे साध्य मानना बुद्धि का विभ्रम ही कहा जायेगा।

सुख की पहली और सबसे स्थूल अनुभूति होती है इन्द्रियों और विषयों के अनुकूल संयोग द्वारा। आँख को सुन्दर रूप, कान को मधुर शब्द, नाक को मोहक सुगन्ध, रसना को सुस्वादु भोजन और त्वचा को कोमल स्पर्श अच्छा लगता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि के स्तरों पर आत्मवश अनुकूल वेदनीयता उत्तरोत्तर सूक्ष्म और उन्नततर सुखानुभूति जगाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसीलिए भारतीय चिन्तकों ने विषय सुखों के उपभोग के साथ-साथ साहित्य, संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्र आदि के उपभोग के द्वारा प्राप्त सुखों को भी काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत ही माना है।

स्वामी विवेकानन्द के समय अर्थ और काम के प्रति उद्दाम लालसा समाज के प्रभावशाली वर्ग में विद्यमान थी। भूमंडलीकरण और उदारीकरण का जो कुप्रभाव हमारे आज के समाज पर पड़ा है वह यही है कि लोग जल्दी से जल्दी ज्यादा से ज्यादा रुपया कमाकर मौजमस्ती करना चाहते हैं। इसीलिए भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है। निर्लज्ज, अवैध अर्थ और काम की उपासना से क्या वास्तव में सुख मिल सकता है?

स्वामी विवेकानन्द का स्पष्ट उत्तर है, नहीं। उन्होंने कई स्थलों पर पश्चिम और पूर्व की तुलना की है और दोनों की कमियों की ओर इंगित किया है। उन्होंने कहा है कि पश्चिम में बहुत धन है, सुख समृद्धि के असंख्य साधान हैं, प्रचुरता है, विलासिता है किन्तु गहरे उतरने पर लगता है कि उन सबके भीतर रोदन है, अभाव है, अशान्ति है, हाहाकार है, छटपटाहट है। क्योंकि भीतरी अभाव को अर्थ और काम से भरा नहीं जा सकता। अर्थ और काम के प्रचुर उपभोग के बावजूद वह अभाव बना रहता है। अतः अशान्ति भी बनी रहती है। दूसरी तरफ उन्होंने अपने समय के भारत को भी भलीभाँति देखा-परखा था। संन्यास लेने के बाद उन्होंने तीन वर्षों तक पूरे भारत में भ्रमण किया था परिव्राजक के रूप में! उन्होंने अनुभव किया था कि वेदान्त के उच्च ज्ञान के बावजूद भारत में अशिक्षा है, अन्धविश्वास है, छुआछूत की हृदयहीनता है, घनघोर गरीबी है। केरल में अस्पृश्यता की असह्य यंत्रणा से क्षुब्ध होकर उन्होंने कहा था यह पागलों का प्रदेश है। पूरे भारत को मथकर विवेकानन्द ने फिर भी यह निष्कर्ष निकाला था कि

भारतीय समाज बाहर से तो आर्त्त है, आतुर है, पीड़ित है, गरीब है, अशिक्षित है किन्तु अब भी उसका मन स्वस्थ है। अब भी वह समझता है कि मनुष्य अन्याय से, अवैध पद्धति से धन संचय कर, कामोपभोग कर सुखी नहीं हो सकता, सुखी होने के लिए धर्म का आश्रय अनिवार्य है।

पूर्व और पश्चिम दोनों की सीमाओं को समझकर ही विवेकानन्द ने यह निश्चय किया था कि हमें पूर्व और पश्चिम को पास लाना होगा। पूर्व को पश्चिम के भौतिक ज्ञान-विज्ञान और आर्थिक समृद्धि की आवश्यकता है, एवं अर्थकामपरायण पश्चिम को धर्म का आश्रय लेना होगा। अर्थ और काम के प्रति आसक्त व्यक्ति धर्म की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। इसीलिए ठाकुर रामकृष्ण परमहंस कांचन और कामिनी के त्याग की बात कहते थे। यहाँ कामिनी के त्याग का अर्थ काम का त्याग है, नारी की निन्दा यहाँ अभीष्ट नहीं है। नारी साधिका कांचन और कामी के त्याग की बात बेखटके कह सकती है। विचार करने पर लगेगा कि अर्थ हमारे बाहर है, काम का अवस्थान इन्द्रियों और मन में है एवं धर्म उससे भी सूक्ष्म है, उसकी स्थिति शुद्ध बुद्धि या विवेक में है। इसीलिए भारत का चिन्तक कहता है कि अर्थ और काम की सिद्धि धर्म के द्वारा होनी चाहिए तभी सुख मिलेगा। अधर्म से प्राप्त अर्थ और काम तो दुःख के मूल ही हैं। महाभारत की स्पष्ट घोषणा है *'धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते'* अर्थात् जिस धर्म से उपलब्ध अर्थ और काम सुख के व्यावहारिक हेतु बनते हैं, उस धर्म का सेवन मनुष्य क्यों नहीं करते! अभिप्राय यही है कि धर्म द्वारा ही अर्थ और काम की उपलब्धि कर मनुष्य इस जगत् में सुखी हो सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने जिस धर्म पर सबसे अधिक बल दिया है वह सेवा धर्म है। उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस देव ने उन्हें शिक्षा देते हुए कहा था, *'जीवे दया नय, शिवज्ञाने सेवा'* अर्थात् जीवों पर दया करने का भाव उचित नहीं है, इससे तुम्हारे मन में अहंकार आ सकता है। तुम्हें तो यह समझना चाहिए कि परमात्मा ही समस्त जीवों में.....सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। अतः जीवों को शिव.....परमात्मा मानकर उनकी सेवा करनी चाहिए। इसीलिए विवेकानन्द ने अपने शिष्यों के सामने सेवा का आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहा था *'दरिद्र देवो भव, मूर्ख देवो भव'*। लक्ष्मीनारायण के देश में दरिद्रनारायण की स्थापना कर अपने शिष्यों को विवेकानन्द ने प्रेरणा दी थी कि तुम लोग विनम्रतापूर्वक दरिद्रों की सेवा करो.....उन्हें दरिद्रता से ऊपर उठने के उपाय बताओ..... अशिक्षितों को शिक्षित बनाओ, रोगियों की चिकित्सा करो। प्लेग की महामारी के समय स्वयं विवेकानन्द ने प्लेग से पीड़ितों की सेवा की थी। आज भी रामकृष्ण मिशन शिक्षा, चिकित्सा आदि सेवा के क्षेत्रों में अभूतपूर्व कार्य कर रहा है।

सच कहा जाये तो विवेकानन्द के लिए धर्म भी एक पड़ाव ही था, लक्ष्य नहीं।

धर्म की अवस्थिति तो शुद्ध बुद्धि में ही है.... उनकी दृष्टि तो उस पर थी, जो बुद्धि के भी परे है, *'यो बुद्धेः परतस्तु सः'*। वे परम सत्य का साक्षात्कार करना चाहते थे। इसीलिए वे चढ़ती जवानी में सबसे पूछते फिरे थे कि क्या आपने ईश्वर को देखा है? महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी स्वीकार किया था कि मैंने ईश्वर के दर्शन नहीं किये हैं। सिर्फ रामकृष्ण परमहंस ने उनसे कहा, हाँ मैंने ईश्वर को देखा है, उन्होंने यह भी कहा कि मैं तुम्हें भी ईश्वर के दर्शन करा सकता हूँ। गुरुजी की कृपा से विवेकानन्द ने भी ईश्वर के दर्शन किये। वेद की उक्ति है, *'तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्।'* उसे देखा, वही हो गया, वही था! किसी को देखने या जानने से अगर कोई वही हो जाता है, तो वह वास्तव में वही था, केवल अज्ञान के कारण अपने को कुछ और मान बैठा था। विवेकानन्द भी नाम और रूप से ऊपर उठकर वही हो गये और शंकराचार्य के समान ही अनुभव करने लगे-

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।

अर्थात् मैं न मन हूँ, न बुद्धि, न चित्त, न अहंकार, न काम हूँ, न जीभ, न नाक, न आँख, न आकाश हूँ, न भूमि, न तेज (अग्नि), न वायु, मैं तो चिदानन्द रूप शिव हूँ, शिव हूँ। पंच महाभूत, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से ऊपर उठकर अपने को आत्मस्वरूप अनुभव करना ही मुक्त हो जाना है, मोक्ष को प्राप्त कर लेना है। तब न कर्त्तव्य का अहंकार रह जाता है, न कर्मफल प्राप्त करने की स्पृहा। नाम और रूप के प्रति अनासक्ति आत्मस्वरूप की चेतना को जागृत रखती है। इसी जीवन्मुक्त स्थिति में विवेकानन्द ने अपना संन्यासी जीवन जिया।

कन्याकुमारी के शिलाद्वीप में ध्यानमग्न विवेकानन्द को प्रतीत हुआ कि श्रीरामकृष्ण परमहंस देव पैदल समुद्र पार कर रहे हैं और उन्हें भी समुद्र पार करने की प्रेरणा दे रहे हैं। इस अनुभव से उन्हें लगा कि उन्हें शिकागो में आयोजित होने वाले विश्व धर्म सम्मेलन में जाना चाहिए। उन्होंने अपने मद्रासी शिष्यों से चर्चा की। उनके द्वारा एकत्रित धनराशि काफी कम थी, अमेरिका के टिकट की कीमत की तुलना में। विवेकानन्द ने कहा इस राशि को गरीबों में बाँट दो। माँ को मुझे अमेरिका भेजना होगा तो वे स्वयं व्यवस्था करेंगी। उन्होंने सचमुच व्यवस्था कर दी। उनके शिष्य खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह ने उनके अमेरिका जाने का प्रबन्ध कर दिया। विवेकानन्द को अमेरिका पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि वे न किसी धार्मिक संस्था के प्रतिनिधि हैं, न उनके पास किसी धर्मगुरु का दिया परिचय पत्र ही है। अतः वे धर्म सभा में अंश नहीं ग्रहण कर पायेंगे। वे कुछ परेशान जरूर हुए होंगे, पर विचलित नहीं हुए। वे अपना प्रिय श्लोक गुनगुनाने लगे—

किंनाम रोदिषि सखे त्वयि सर्वशक्तिः
आमंत्रयस्व भगवन् भगदंस्वरूपम्।
त्रैलोक्यमेतदखिलं तव पादमूले
आत्मैव हि प्रभवते न जड़ः कदाचित्।।

अर्थात् हे सखे, तू क्यों रो रहा है, तुझ में समस्त शक्तियाँ निहित हैं। अपने सर्वशक्तिमान् स्वरूप का आवाहन कर! तीनों लोक तेरे चरण तले लोटेंगे। आत्मा ही विजयिनी होती है, जड़ शक्तियाँ नहीं। और वैसा ही हुआ। शिकागो की धर्म सभा में उन्हें सादर बोलने के लिए आमंत्रित किया गया। और अपने सम्बोधन 'अमेरिकावासी मेरी बहनो और भाइयो' से ही उन्होंने श्रोताओं को जीत लिया। अमेरिकी श्रोताओं ने सोचा जरूर यह कोई विलक्षण व्यक्ति है जो हमें बहन मानता है, भाई मानता है, गैर नहीं समझता, पराया नहीं समझता। लोग भावाभिभूत हो गये, दो मिनटों तक तालियाँ ही बजती रहीं। विवेकानन्द उस धर्म सभा के सर्वाधिक प्रभावी वक्ता सिद्ध हुए। बाद की कहानी तो जगजाहिर है।

मोक्ष का अर्थ होता है छुटकारा। तुरन्त प्रश्न उठता है किससे छुटकारा.... कैसे मिलता है यह छुटकारा? विवेकानन्द का उत्तर है मोक्ष का अर्थ है, अज्ञान से छुटकारा, प्रकृति के बन्धन से छुटकारा। उन्होंने बार-बार समझाया है कि जब हम अपने वास्तविक चैतन्य स्वरूप को भूलकर अपने को नाम, रूप से आबद्ध छोटी सी इकाई मान लेते हैं, तभी हमारे दुःखों की उत्पत्ति होती है। उनका कहना था कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपने सीमित होने के अज्ञान प्रसूत भाव का त्याग कर विश्वव्यापी सच्चिदानन्दमयी निर्गुण सत्ता से अभेद स्थापित करने के लिए 'तत्त्वमसि' महावाक्य को आत्मसात् करना होगा, वही हो जाना होगा क्योंकि हम वास्तव में वही हैं, केवल अज्ञान के कारण अपने को सीमाबद्ध मानते हैं। उनका कहना था कि त्याग के मार्ग पर चलकर ही हम इस लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। इसीलिए उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता ने अपने बालिका विद्यालय का आदर्श वाक्य रखा था, *'त्यागाज्जायते शक्तिर्भागवती'* त्याग के द्वारा ही भागवती शक्ति का उदय होता है। दुनिया के साधारण लोग त्याग के विपरीत परिग्रह के रास्ते पर चलते हैं। कहा जा सकता है *'परिग्रहाज्जायते शक्तिर्भोगवती'* अर्थात् परिग्रह से भोगवती शक्ति का उदय होता है। पहला यदि श्रेय का मार्ग है तो दूसरा प्रेय का मार्ग। पहला रास्ता तलवार की धार पर चलने के समान दुर्गम है, कठिन है किन्तु वही मोक्ष का रास्ता है, असीम आनन्द प्राप्त करने का रास्ता है। दूसरे रास्ते पर चलने वाले को विषय सुखों की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु वे सुख की भ्रान्ति मात्र हैं वस्तुतः गहन दुखों की जड़ हैं, बन्धन में डालने वाले हैं। सर्वत्यागी संन्यासी को ही मोक्ष मिल सकता है.... जो मानवों को.... विवेकशील मानवों को प्राप्त

करना ही चाहिए। विवेकानन्द का यही सन्देश मूर्त्त हो उठा है *'आत्मनो मोक्षार्थं'* के रूप में जीने के उनके आह्वान में।

किन्तु विवेकानन्द यहीं नहीं रुकते। कई बार लगता है कि विवेकानन्द ज्ञानमार्गी हैं, ज्ञानी हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे ज्ञानी हैं किन्तु शुष्क ज्ञानी नहीं हैं वे। सारी सृष्टि दुःखों से तड़पती रहे और मैं अकेला मुक्त हो जाऊँ, यह बात उन्हें स्वीकार नहीं थी। याद आ रहा है श्रीमद्भागवत में आयी प्रह्लाद स्तुति का यह श्लोक—

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामाः
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान्विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।।

अर्थात् हे देव! मुनिजन प्रायः अपनी ही मुक्ति की इच्छा से एकान्त में रहकर मौन धारण किये रहते हैं, दूसरों के हित के लिए तत्पर नहीं होते, किन्तु इन दीन दुःखियों को छोड़कर अकेला स्वयं मुक्त हो जाऊँ, ऐसा मैं नहीं चाहता। और आपके सिवाय कोई दूसरा इन भटकने वालों का उद्धार कर सकता है, यह भी मैं नहीं मानता। अतः मेरी प्रार्थना है कि आप इन का भी उद्धार करें। इसी भाव की महिमा विवेकानन्द में भी परिलक्षित होती है। वे भी नहीं चाहते थे कि संसार के लोग विविध पीड़ाओं से भले ग्रस्त रहें, मैं तो मुक्त हो जाऊँ। इसीलिए उनका सन्देश है कि हमारा जीवन जन-गण के हित के लिए, मंगल के लिए व्यतीत होना चाहिए, केवल अपने कल्याण के लिए नहीं। यह भी द्रष्टव्य है कि उनकी परिधि में केवल उनकी जाति, धर्म, देश के लोग नहीं आते, सारा जगत् आता है। जिसने सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को प्रत्यक्ष कर लिया हो वह तो सबों का ही हित चाहेगा। यह हित उनकी पीड़ा, अशिक्षा, दरिद्रता आदि को दूर करने की सेवा से शुरू होता है और उन्हें मोक्ष प्राप्त कराने की सीमा तक जाता है क्योंकि किसी का भी सर्वोच्च हित उसे अपने स्वरूप का बोध करा देने में ही निहित है।

स्पष्टतः स्वामी विवेकानन्द का यह सन्देश किसी काल या देश तक सीमित नहीं है। यह सच्चे अर्थों में सार्वकालिक है, सार्वभौम है, सार्विक है, अर्थात् सब कालों के लिए, सब देशों के लिए, सब प्राणियों के लिए है। फिर भी यह लक्षणीय है कि विवेकानन्द का जीवन इसी सन्देश के अनुरूप व्यतीत हुआ है। जो उन्होंने कहा है, वही किया है। अतः हम सब उनके इस सन्देश को अपने व्यवहारों में मूर्त करें ..... जितनी हमारी शक्ति है, उतनी मात्रा में इस सन्देश को अपने जीवन में उतारें। श्रेय के मार्ग पर चलने वाले निःश्रेयस् की प्राप्ति करते ही हैं, इस विश्वास के साथ इस पथ पर चलना शुरू करें! विवेकानन्द के जीवन और सन्देश से हम यही प्रेरणा ग्रहण करें तो हमारा जीवन भी धन्य हो जायेगा। ●

मौलिक द्रष्टा एवं महान् संगठनकर्त्ता डॉ० हेडगेवार

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक प्रातःस्मरणीय डॉ० केशवराव बलिराम हेडगेवार को स्मरण[1] करते समय मुझे ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं —

छिपने नहीं दिया फूलों को, फूलों के उड़ते सुवास ने।
रहने नहीं दिया अनजाना, शशि को शशि के मंद हास ने।

डॉ० हेडगेवार ने अपने को छिपाकर रखा था। उनके कार्य ने उनको उजागर किया। मनुष्य अपनी कृति में जीता है, अपनी संतति में जीता है। संतति दो प्रकार की होती है—एक बिन्दु परंपरा होती है और दूसरी नाद परंपरा। बिन्दु परंपरा में हम पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के माध्यम से यह कल्पना करते हैं कि हमारा शरीर नहीं रहेगा पर हमारी परंपरा चलती रहेगी। नाद परंपरा में हम शिष्य, प्रशिष्य के माध्यम से यह सोचते हैं कि हमारा जो विचार है वह चलता रहेगा। शरीर की परंपरा गौण है, विचार की परंपरा मुख्य है। आज डॉ० हेडगेवार हम में जीवित है, हम उनकी नाद परंपरा के वंशधर हैं। हम उनके विचारों को स्वीकार कर आगे बढ़ाने का अपनी-अपनी शक्ति भर प्रयास कर रहे हैं। डॉ० हेडगेवार हम में, आप में जीवित हैं।

डॉ० हेडगेवार बड़े विलक्षण व्यक्ति थे। उन्होंने मौलिकता का एक विशेष अनुसन्धान किया था। मौलिक शब्द दो अर्थों में चलता है। मूल का एक अर्थ है—जड़। मौलिक कार्य का अर्थ है—आधारभूत कार्य। जिस पर दूसरे सब काम आधारित हों, वह मूलभूत काम है। मौलिकता का दूसरा अर्थ स्वकीयता, नवीनता है। 'यह उनकी मौलिक रचना है, उनकी मौलिक कल्पना है, किसी से उधार ली हुई नहीं, किसी की अनुकरण की हुई नहीं, स्वयं अपने से उद्भूत है।' ऐसा हम कहते हैं।

डॉक्टरजी की दृष्टि दोनों अर्थों में मौलिक थी। वे एक ही साथ उन समस्याओं से जूझे थे जो हमारे समाज की मूलभूत समस्याएँ थीं और उन समस्याओं के समाधान के लिए जो उन्होंने दिशा-निर्देश किया था वह उनका अपना सोच-विचार था, स्वकीय था।

डॉ० हेडगेवार बचपन से ही समर्थ स्वामी रामदास और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के द्वारा प्रभावित थे। समर्थ स्वामी रामदास को सावरकर जी ने हिन्दुस्तान का मैजिनी और मैजिनी को इटली का समर्थ स्वामी रामदास कहा है। उन समर्थ स्वामी रामदास के दासबोध से और विशेषकर हनुमत् उपासना से वे बहुत प्रभावित थे। हनुमत विग्रह की एक मूर्त धारणा है—सब कुछ प्रभु के व्यक्त रूप की सेवा के लिए समर्पित। हमारी आँखों के सामने जो चराचर जगत है, यही हमारे प्रभु का व्यक्त रूप है। हनुमान से भगवान राम ने यही कहा—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ, सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।
सो अनन्य जाके अस मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।।

मैं सेवक हूँ और मेरे प्रभु का, स्वामी का यह व्यक्त रूप है— मेरी आँखों के सामने का चराचर जगत, मेरा समाज–जिसकी मुझको सेवा करनी है। राम की पूजा का अर्थ केवल मन्दिर में जाकर पुष्प चढ़ाना नहीं है। राम की सेवा करने का अर्थ है कि राम का जो यह व्यक्त चराचर समाज है उसकी सेवा करना–यह भावना उन्होंने समर्थ स्वामी रामदास से प्राप्त की थी। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के 'केसरी' के अनुशीलन से बचपन से उन्होंने, तीव्र, उदात्त, प्रखर राष्ट्रीयता की भावना अर्जित की थी।

आपने उनके बचपन के अनेक प्रसंग सुने होंगे। सात वर्ष के बालक ने विक्टोरिया के हीरक जयन्ती के अवसर पर पाई हुई मिठाई कूड़े के ढेर पर फेंक दी— "वह मेरी रानी नहीं है।" एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक के समय होने वाली आतिशबाजी को देखने वे नहीं गये— "वह मेरा राजा नहीं है।" "जो मेरी रानी नहीं है, जो मेरा राजा नहीं है, उसकी खुशी में मैं कैसे खुश हो सकता हूँ। जिसने मेरे ऊपर अत्याचार किया है, मेरे ऊपर शासन किया है, मैं उससे अपने देश को स्वतंत्र करूँगा, मुक्त करूँगा" यह था मूल भाव उस बालक केशव के मन में। १९०५ ई० में ब्रिटिश सरकार द्वारा वन्देमातरम् नारे का निषेध करने हेतु रिस्ले सर्क्युलर निकाला गया। १९०९ में जब नीलसिटी हाई स्कूल में इंस्पेक्टर आया, तो डॉ० हेडगेवार ने सब छात्रों से वन्देमातरम् का नारा लगवाकर इंस्पेक्टर को और हेडमास्टर को चकित कर दिया। वे स्कूल से निकाल दिये गये और राष्ट्रीय पाठशाला में पढ़े। १९१० में बंगाल कौन्सिल आफ एज्यूकेशन से उन्होंने मैट्रिकुलेशन पास किया, करीब १९ वर्ष की अवस्था में। कलकत्ता जाकर पाँच वर्षों में उन्होंने नेशनल मेडिकल कॉलेज से डाक्टरी की परीक्षा पास की।

उनमें क्रान्तिकारी चेतना बचपन से ही थी। बंगाल में आकर वे अनुशीलन समिति के सदस्य बने। यह बात आपको मालूम होनी चाहिए कि अनुशीलन समिति के

आधारभूत नियमों में एक यह था कि जो व्यक्ति हिन्दू नहीं है या जो व्यक्ति हिन्दू चेतना का विरोधी है, वह अनुशीलन समिति का सदस्य नहीं हो सकता। उस अनुशीलन समिति के बड़े-बड़े क्रान्तिकारियों में एक त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती महाराज भी थे जो ४० साल बन्दीशाला में रहे। शेख मुजीबुर्रहमान उनको अपना गुरु मानते थे, अभी-अभी उनका स्वर्गवास हुआ, यहाँ ब्रेब्रोर्न रोड के ऊपर उनकी प्रतिमा स्थापित हुई है। वे और पुलिन बिहारी दास डॉक्टरजी के सहयोगी थे। उन लोगों के साथ उन्होंने क्रान्तिकारी आन्दोलन की दीक्षा ली। जब वे लौटकर १९१६ में महाराष्ट्र गये तो विवाह करने के लिए उनपर बहुत दबाव डाला गया। उन्होंने कह दिया कि मेरी मृत्यु किसी भी समय राष्ट्र का काम करते हुए हो सकती है। मैं कैसे किसी कन्या के जीवन को, भविष्य को अन्धकारमय कर दूँ? उन्होंने विवाह नहीं किया। १९१९ ई० तक वे क्रान्तिकारी आन्दोलन के संगठक के रूप में तत्कालीन मध्यप्रान्त में काम करते रहे। राजस्थान से, पंजाब से उनका सम्पर्क था। योजना थी कि गोआ में एक जहाज आएगा जर्मनी की तरफ से, जिसके शस्त्रों की सहायता से क्रांतिकारी व्यापक क्रान्ति कर सकेंगे सारे देश में। वह योजना विफल हुई। १९१९ ई० से वे सक्रिय राजनीति में आये और उन्होंने लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस में प्रवेश किया। वे मध्य प्रदेश कांग्रेस के सहमन्त्री बनाये गये।

१९२० ई० में नागपुर काँग्रेस के अधिवेशन को सफल बनाने के लिए जिन लोगों ने सबसे अधिक परिश्रम किया उनमें एक डॉ० हेडगेवार थे। उस समय महात्मा गाँधी का नारा था "हिन्दू मुस्लिम भाई-भाई", "हिन्दू-मुसलमान की एकता के ऊपर हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता निर्भर करती है। अतः खिलाफत आन्दोलन को हिन्दू अगर समर्थन देंगे तो मुसलमान भी भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता का समर्थन करेंगे।" यह युक्ति रखकर १९२० ई० में गाँधीजी ने नागपुर में खिलाफत आन्दोलन के समर्थन का प्रस्ताव पास कराया। उस समय डॉ० हेडगेवार ने तीन प्रस्ताव रखवाये थे। तीनों प्रस्तावों को गाँधीजी ने अस्वीकार कर दिया था। उनमें एक गो-रक्षा का था। डॉ० हेडगेवार ने कहा कि अगर हिन्दू खिलाफत का समर्थन कर सकता है तो मुसलमान गो रक्षा का समर्थन क्यों नहीं कर सकता? लेकिन गाँधीजी का कहना था कि इस समय मुसलमानों का मन दुखाना नहीं चाहिए। दूसरा प्रस्ताव था—हमें पूर्ण स्वतंत्रता की माँग करनी चाहिए। महात्मा गाँधी ने कहा स्वराज्य में पूर्ण स्वतंत्रता आ जाती है। लेकिन उसके ९ वर्ष बाद पण्डित जवाहरलाल नेहरू के प्रयास से काँग्रेस ने रावी के तट पर पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव स्वीकार किया। ९ साल पहले वह प्रस्ताव डॉ० हेडगेवार ने पेश किया था। तीसरा प्रस्ताव था कि कांग्रेस को विश्व के समस्त पददलित देशों को पूंजीवादी शक्तियों से स्वतंत्र कराने के लिए प्रयास करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से यह बहुत ही

क्रान्तिकारी प्रस्ताव था। किन्तु उसपर लोग हँसे थे कि यह बिल्कुल लड़कपन है। हिन्दुस्तान गुलाम है और सारी दुनिया के गुलाम देशों की आजादी की बात, पूँजीवादी देशों के विरोध की बात यह करता है! वे तीनों प्रस्ताव अस्वीकृत हो गये, लेकिन डॉ० हेडगेवार की मानसिकता का इससे पता चलता है।

१९२० ई० के असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर उन्होंने एक वर्ष का कारावरण किया। जब उनपर राजद्रोह का आपत्तिजनक भाषण करने के लिए मुकदमा चला तब उसका जवाब देने के लिए जो उन्होंने अदालत में भाषण किया वह मैजिस्ट्रेट मि० मिली के अनुसार अधिक राजद्रोहपूर्ण था। उन्हें एक वर्ष का कारादण्ड मिला। जब वे लौटकर आये तो उनके सम्मान में जो सभा हुई थी उसकी अध्यक्षता की थी डॉ० खरे ने और उसमें वक्ता थे पण्डित मोतीलाल नेहरू और हकीम अजमल खाँ। ये सब बातें इसलिए बता रहा हूँ कि आपको ज्ञात हो सके कि १९२२ ई० में डॉ० हेडगेवार की स्थिति क्या थी। उसके बाद उन्होंने देखा कि एक वर्ष में आजादी तो मिली नहीं। हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वप्न भी ध्वस्त हो गया। हिन्दू-मुस्लिम दंगे होने लगे। उनका कहना था कि 'हिन्दू मुस्लिम दंगे'—यह बात गलत है। मुस्लिम दंगे करने लगे, हिन्दू पिटने लगे—मोपलास्थान में, कोहाट में, यहाँ तक कि स्वयं नागपुर में भी।

उनको लगा कि कोई बात जड़ में ही गलत है। इस सारी चेष्टा में कुछ ऊपर-ऊपर का काम हो रहा है और ऊपर-ऊपर के काम से तत्काल सिद्धि पाने के प्रलोभन में कहीं कुछ गलत हो रहा है। एक गंभीर आत्म-मंथन से १९२२ से १९२५ तक डॉ० हेडगेवार गुजरते रहे। इस कालखण्ड में उन्होंने एक अखबार निकाला 'स्वातंत्र्य'। बहुत कम लोगों को यह बात मालूम होगी। एक वर्ष तक उन्होंने इसे चलाया। यह नहीं था कि वे प्रसिद्धि के तन्त्र से अपरिचित थे। दो अखबारों से उनका सम्बन्ध था और 'स्वातंत्र्य' को उन्होंने एक वर्ष तक चलाया। फिर उनको लगा कि वे सारी बातें जो मैंने अब तक की हैं वे ऊपर-ऊपर से निकल जाती हैं। इन बातों से उन समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता जो मौलिक समस्याएँ हैं, जो जड़ की बात है। आप देखिये कि जिस व्यक्ति ने राजनीतिक क्षेत्र में इतना वर्चस्व प्राप्त किया था, जिसके लिए एक तरफ स्वयं कांग्रेस और दूसरी तरफ हिन्दू महासभा के बड़े-बड़े नेता लालायित थे, उस व्यक्ति ने अपने सारे अर्जित अधिकारों को तिलांजलि दे दी। फिर सोचना शरू किया कि बात कहाँ बिगड़ गयी है? क्यों बात बनती नहीं? और उनको लगा—

सिर्फ बातों से भला कब बन सकी है बात,
शक्ति आवश्यक, अगर हो शक्ति का संघात,
सच कहें तो संगठन ही शक्ति का है उत्स,
जो खड़ा हो प्रेम, निष्ठा, ध्येय पर अवदात।।

यह बात क्या है कि बात करने से बात बन नहीं रही है? उन्होंने स्वयं आत्म निरीक्षण किया। क्रांतिकारी आंदोलन के सम्बन्ध में उनको लगा कि मेरा अकेला बम तो काफी नहीं है यद्यपि मैं बम चला सकता हूँ, बम बना सकता हूँ। स्मरण रहे उनका निशाना अचूक था, उन्हें बम बनाने की अच्छी प्रक्रिया आती थी। उनके १५० क्रान्तिकारी मित्र थे जो उनके अधीन मध्यप्रान्त में काम कर रहे थे, लेकिन उन्हें अनुभवों ने बताया कि साधारण जनता इस आन्दोलन में शामिल नहीं हो सकती अतः उन्होंने कहा कि मेरा अकेला बम पर्याप्त नहीं है। सारा समाज इस समय क्रान्तिकारी विद्रोह करने के लिए तैयार नहीं है। इसलिए यह रास्ता छोड़ना है। जिस रास्ते पर वे १९१० से १९१९ तक निष्ठा के साथ चले, जिस रास्ते पर चलने के लिए उन्होंने विवाह नहीं किया, रुपया नहीं कमाया, उस रास्ते को उन्होंने छोड़ दिया। आपको मालूम होना चाहिए कि वे जिस समय कलकत्ते से डाक्टरी पास करके मध्यप्रान्त में गये थे, उस समय वहाँ कुल ७५ डाक्टर थे। वे अगर अपना चेम्बर खोलते तो रुपया कमा सकते थे। जिस काँग्रेस के साथ वे जुड़े थे, वह तिलक की कांग्रेस थी पर दुर्भाग्य से अगस्त १९२० में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का स्वर्गवास हो गया और तिलक की कांग्रेस गाँधी की कांग्रेस बन गयी।

गाँधीजी की कांग्रेस के साथ उन्होंने निष्ठा के साथ सहकार्य किया। गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन के लिए उन्होंने आकाश-पाताल एक किया, कारावरण किया। लेकिन मंथन करते हुए उनको लगा कि महात्मा गाँधी से उनके मतभेद बहुत स्पष्ट हैं। उनमें महात्मा गाँधी के प्रति गंभीर श्रद्धा थी, लेकिन तीन मुद्दों पर उन्हें यह लगा कि गाँधीजी का रास्ता वे स्वीकार नहीं कर सकते। पहला मुद्दा था अहिंसा का। गाँधीजी कहते थे अहिंसा सिद्धान्त की बात है पर डाक्टर जी कहते थे 'अहिंसा' नीति की बात है। मेरे लिए देश की स्वाधीनता प्राथमिक है, अगर देश की स्वाधीनता अहिंसा से आती है तो मैं अहिंसा स्वीकार करूँगा और अगर देश की स्वाधीनता के लिए हिंसा करनी पड़ेगी तो मैं हिंसा भी करूँगा। अहिंसा मेरे लिए सिद्धांत नहीं है। बल्कि उन्होंने यह भी कहा कि अहिंसा के अतिरेक के कारण हमारा तारुण्य दुर्बल हुआ है, हमारी योद्धा-शक्ति क्षीण हुई है। अहिंसा की अतिरेक देश की चेतना को दुर्बल बना रहा है। दूसरा मुद्दा था खादी का। स्वदेशी का वे स्वागत करते थे। खादी का स्वागत करते हुए भी वे खादी का अनिवार्य प्रयोग स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने कहा कि खादी चरखे से बने, तकली से बने और इससे व्यापक रूप से लोगों को आर्थिक लाभ हो, यह स्वागत योग्य बात है लेकिन अगर अपने देश में कारखाने लगें और अपने देश की मिलों से कपड़े बनें तो इसमें क्या अपराध है? अपने देश का औद्योगीकरण होना चाहिए, अपने देश के औद्योगीकरण से बने हुए माल को स्वीकार करना चाहिए। महात्मा गाँधी के उस

अतिरेक पूर्ण औद्योगीकरण विरोधी रुख को उन्होंने अस्वीकार किया। स्वदेशी का समर्थन किया उसी के साथ-साथ औद्योगीकरण का भी समर्थन किया। तीसरी बात और सबसे बड़ी बात थी कि उन्होंने मुस्लिम तुष्टीकरण का विरोध किया। महात्मा गाँधी उस मृग-मरीचिका में कितनी दूर तक गये थे आज उसकी कल्पना करके छाती दहल जाती है। महात्मा गाँधी मेरे परम श्रद्धेय हैं, मैं उनको अपने महान पुरुषों में से एक मानता हूँ, लेकिन आप लोगों में कितनों को मालूम है कि खिलाफत के मित्रों ने जब अफगानिस्तान के अमीर को आमंत्रित करने की योजना बनाई कि अफगानिस्तान का अमीर यहाँ आकर हिन्दुस्तान पर शासन करे तो महात्मा गाँधी ने उसका भी समर्थन किया था। यह एक ऐसी ऐतिहासिक सच्चाई है जिसको दबाने की चेष्टा की जाती है लेकिन दबायी नहीं जा सकती। हिन्दू-मुस्लिम एकता के व्यामोह में आदमी कहाँ तक जा सकता है।

डॉ० अम्बेडकर ने उस समय कहा था कि कोई भी स्वस्थ मस्तिष्क का व्यक्ति हिन्दू-मुस्लिम एकता के नाम पर उतनी दूर तक नहीं उतर सकता जितनी दूर तक महात्मा गाँधी उतर गये थे। मौलाना मोहम्मद अली को कांग्रेस का प्रधान बनाया गया, राष्ट्रपति बनाया गया। मद्रास में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। मंच पर वन्देमातरम् का गान हुआ। मौलाना मोहम्मद अली उठकर चले गये। 'वन्देमातरम् मुस्लिम विरोधी है, इसलिए वन्देमातरम् बोलने में मैं शामिल नहीं होऊँगा।" यह उस मौलाना मोहम्मद अली ने कहा जिसको महात्मा गाँधी ने कांग्रेस का राष्ट्रपति बनाया। उसी मौलाना मोहम्मद अली ने कहा कि नीच से नीच, पतित से पतित मुसलमान, महात्मा गाँधी से मेरे लिए श्रेष्ठ है। आप कल्पना कीजिए कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के नाम पर क्या हो रहा था। जिस समय कोहाट में पठानों ने, मोपला लोगों ने केरल में अत्याचार किया; महात्मा गाँधी ने हिन्दुओं को उपदेश दिया था कि तुम मर जाओ लेकिन शस्त्र मत उठाओ। महात्मा गाँधी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा भाव रखते हुए भी डॉ० हेडगेवार ने कहा कि हिन्दू-मुस्लिम एकता का यह रास्ता गलत है। मुसलमानों के सम्बन्ध में डॉ० हेडगेवार की धारणा को बहुत गलत समझा गया। मुसलमानों के वे विरोधी नहीं थे। आपलोगों को जानकर आश्चर्य होगा कि इसी बंगाल में, इसी कलकत्ते में जिन लोगों ने उनको बहुत प्रभावित किया था, उनमें एक थे पण्डित श्यामसुन्दर चक्रवर्ती जो नंगे पाँव, भूखे पेट रहकर देश का काम करते थे और बाद में यहाँ कांग्रेस के सभापति बने। दूसरे थे साठ वर्ष के मौलवी लियाकत अली साहब। वे तिलक के अनुयायी थे। वे भगवाध्वज को राष्ट्रध्वज मानते थे और वे हिन्दू-मुस्लिम एकता की जो बात करते थे उसमें भारतीय चेतना को स्वीकार करते थे। महात्मा गाँधी की गलतियों में जो सबसे बड़ी गलती डॉ० हेडगेवार को लगती थी वह यह कि जो मुस्लिम-नेतृत्व अपेक्षाकृत राष्ट्रीय था,

अपेक्षाकृत आधुनिक था, उसकी महात्मा गाँधी ने उपेक्षा की। आमलोगों को यह मालूम होना चाहिए कि बैरिस्टर जिन्ना एक समय के बहुत बड़े राष्ट्रवादी मुसलमान थे। वे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के सहयोगी थे और उन्होंने खिलाफत आन्दोलन का विरोध किया था परन्तु मौलाना मोहम्मद अली, शौकत अली जैसे कट्टर, बिल्कुल दकियानूस नेताओं को महात्मा गाँधी के द्वारा ऊपर खड़ा कर दिया गया एवं जिन्ना को और ऐसे ही दूसरे नेताओं को पीछे कर दिया गया। जिन्ना ने कहा था खिलाफत आन्दोलन कैसा आन्दोलन है? सारी दुनियाँ ने जिस तन्त्र को व्यर्थ समझ लिया है, उसे लागू करने का यह आन्दोलन गलत है। खलीफा का पद तुर्किस्तान में नहीं चला। पहले तुर्की का जो अमीर होता था, वह सारी दुनिया के मुसलमानों का खलीफा होता था। प्रथम विश्वयुद्ध में तुर्किस्तान हार गया। अंग्रेजों ने उस खलीफा को गद्दी से उतार दिया। अब हिन्दुस्तान का मुसलमान कहता है कि तुर्किस्तान की गद्दी पर खलीफा को बैठायेंगे। हिन्दुस्तान की किसी समस्या से उस आंदोलन का कोई सम्बन्ध नहीं था। उस आन्दोलन को मोहम्मद अली, शौकत-अली और दूसरे लोगों के कारण महत्त्व दिया गया। बाद में वहीं के कमाल पाशा ने जब खलीफा पद को समाप्त कर दिया तो वह आंदोलन अपने आप व्यर्थ सिद्ध हो गया।

डॉ० हेडगेवार का कहना था कि मुसलमानों को न पुरस्कार दो, न बहिष्कार करो, परिष्कार करो। न पुरस्कार, न बहिष्कार बल्कि परिष्कार। उनका यह कहना था कि मुसलमानों के साथ एकता या समझौता करने का रास्ता दुर्बल होना नहीं है। तुम असंगठित रहोगे तो तुम पिटते रहोगे, तुम्हारी बहू-बेटी को एक गुण्डा छेड़कर जबरदस्ती उठाकर ले जायेगा और तुम हाय-हाय करके चुप रहोगे तो क्या वह तुम से दोस्ती करेगा? मुसलमान की वह आक्रामक चेतना, वह मिथ्या श्रेष्ठता की भावना हिन्दुओं की कायरता के कारण पनपती है। हिन्दुओं में यह कायरता उनकी व्यक्ति केन्द्रित चेतना.....मैं अकेला हूँ.....की चेतना के कारण भर गयी है।

वे दो उदाहरण देते थे। एक सभा भंग हो गई। उन्होंने कहा—'क्या हुआ?' लोग बोले कोई साँप जैसा निकला था। सब भागे और पूरी सभा भंग हो गई। देखा गया तो वह मेंढक निकला। दो गुण्डों ने हमला किया तो एक दूसरी सभा भंग हो गई। पकड़-पकड़ कर डॉ० हेडगेवार ने लोगों से पूछा "तुम क्यों भागे?" हर एक बोला 'मैं अकेला था।' दस हजार आदमी 'अकेले' थे। यह अकेलेपन की, कायरता की भावना, मिटनी चाहिए। कद्दू छुरी पर गिरे तो कद्दू कटे, और छुरी कद्दू पर गिरे तो भी कद्दू कटे। मुसलमान हमारी लड़की ले जाये तो वह मुसलमान हो जाये, हमारा लड़का मुसलमान लड़की ले आये तो भी मुसलमान हो जाये! यह क्या है? यह तो आत्म-विनाश की सहज प्रक्रिया है। मुसलमानों के संगठित रुख के सामने लिजलिजापन, मेरुदण्डविहीन

व्यवहार जब तक कायम रहेगा तब तक हिन्दू-मुस्लिम एकता नहीं हो सकती। आप लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि मुसलमान संख्या के बल पर आपसे प्रतिनिधित्व नहीं माँगता है। आजादी के पहले मुस्लिम लीग की माँग थी मुसलमान और हिन्दू की 'पैरिटी' चाहिए। हिन्दू ७५ प्रतिशत, मुसलमान २५ प्रतिशत फिर भी 'पैरिटी' चाहिए और आपको आश्चर्य होगा कि यही हमलोगों ने अस्थायी केन्द्रीय सरकार में किया—पाँच हिन्दू, पाँच मुसलमान मंत्री बने। मोहम्मद अली ने मद्रास में कांग्रेस के राष्ट्रपति के रूप में यह माँग की थी कि आधे हरिजनों को मुसलमान बना देना होगा। क्या यही रास्ता है हिन्दू-मुस्लिम एकता का? क्या यह पाँव चूमकर उनसे माँगी गई भीख नहीं है? क्या उनकी ही शक्ति पर हम स्वाधीन हो सकते थे?

डॉ० हेडगेवार ने कहा कि अपनी शक्ति पर हमको स्वाधीनता अर्जित करने के लिए प्रयास करना होगा, जब हम शक्तिशाली होंगे तो वे भी हमारा समर्थन करेंगे। उनको सिर मत चढ़ाओ, उनका अत्याचार मत सहो, उन पर अत्याचार भी मत करो। डाक्टर साहब एक अद्‌भुत सूक्ति सुनाया करते थे—

काहू को भय देत नहिं, नहिं भय जानत आप।
ऐसे संघ को देखकर जगत डरावे आप।।

कोई जरूरी नहीं है कि तुम किसी को भय दो। लेकिन यह जरूरी है कि तुम किसी से भयभीत मत हो। तुम किसी से भयभीत नहीं होगे, कब? जब तुमको यह अनुभव होगा कि तुम अकेले नहीं हो, जब तुमको यह अनुभव होगा कि तुम्हारे साथ पूरे समाज की शक्ति जुड़ी हुई है। उन्होंने अनुभव किया कि यह जो मौलिक दुर्बलता, कायरता है, जो मौलिक विश्रृंखलता है, उसे दूर किये बिना कोई बड़ा काम नहीं हो सकता। यह जो केवल बहस, कर्महीन बहस, होती रहती है, केवल बात, केवल व्याख्यानबाजी, उसमें आन्दोलन को आगे ले जाने वाली शक्ति कहाँ है?

उन्होंने देखा कि कांग्रेस और हिन्दू महासभा के लोग तात्कालिक लाभ के लिए, चुनावों को जीतने के लिए सब प्रकार के समझौते कर केवल शाब्दिक फुलझड़ी उड़ा रहे हैं। उन्होंने निश्चय किया कि उनका यह रास्ता नहीं हो सकता। उपर्युक्त जितने रास्ते थे--क्रान्तिकारी आन्दोलन का रास्ता, गाँधीवादी आन्दोलन का रास्ता, चुनाव जीतकर असेम्बलियों में जाने का कांग्रेस की नेशलिस्ट पार्टी का रास्ता और हिन्दू महासभा का भी वैसा ही राजनीतिक रास्ता आदि उनको जब अपर्याप्त लगे तब वे उन सब से विमुख हो गये, उन रास्तों पर चलकर अर्जित नेतृत्व को उन्होंने उठाकर फेंक दिया और सोचा कि मुझे आधारभूत मौलिक बात यानि हिन्दू समाज का संगठन करना है।

इस बात को और विस्तार से समझना चाहिए। उस समय राष्ट्रीयता की जो चेतना विकसित हो रही थी और जिस चेतना को जवाहरलाल नेहरू ने और आगे

बढ़ावा, वह मिश्रित राष्ट्रीयता या कम्पोजिट कल्चर पर आधारित राष्ट्रीयता थी। उसके अनुसार हिन्दुस्थान में जो रहता है वह हिन्दुस्थान का राष्ट्रीय है। हिन्दुस्थान को स्वाधीनता प्राप्त होनी चाहिए। स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों को निकालना चाहिए। अतः जो अंग्रेजों का विरोध करे वह राष्ट्रीय है और इसलिए अंग्रेज-विरोध, भारत की राष्ट्रीयता का मूल निर्धारक तत्त्व बन गया था। हिन्दुस्थान में जो भी लोग रहते हैं—हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं, पारसी हैं, यहूदी हैं, तमाम लोग हिन्दुस्थान की आजादी के लिए अगर अंग्रेजों का विरोध कर रहे हैं तो वे सब राष्ट्रीय हैं। यह दृष्टि धूमिल दृष्टि है, यह दृष्टि गलत है। राष्ट्रीयता का सवाल केवल सामयिक समझौते पर निर्भर नहीं होता, केवल सामयिक चुनाव के या आन्दोलन के मुद्दे पर निर्धारित नहीं होता। आप सोचिए, आज भी अगर कोई हिन्दुस्थान आयेगा और यहाँ हिन्दुस्थान की हिन्दुस्थानियत को, भारत की भारतीयता को पहचानना चाहेगा तो किसको पहचानने की चेष्टा करेगा? कोई भी आदमी हो, स्वयं जवाहर लाल नेहरू ने भारत की खोज की तो क्या खोज की? जवाहरलाल नेहरू को कहना पड़ा कि वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण, त्रिपिटिक, जैन सूत्र ग्रंथ आदि से निर्मित दृष्टि ही भारतवर्ष की पहचान करने वाली दृष्टि है। भारत की सभ्यता-संस्कृति के निर्माण करने वाले तत्त्व, भारत को भारत बनाने वाली दृष्टि, उसकी पहचान, उसकी अस्मिता, उसकी आईडेन्टिटी—यही तो भारत की राष्ट्रीयता के निर्धारक तत्त्व होने चाहिए। कोई यहाँ आकर कुरान शरीफ और हदीस के बारे में क्या कुछ जानना चाहेगा? उसको यह विषय जानना होगा तो वह अरब जायेगा, मिस्र जायेगा। कोई यहाँ आकर बाईबिल के बारे में, क्रिश्चियनिटी के बारे में नहीं जानना चाहेगा, यदि जानना चाहेगा तो जायेगा रोम या इंग्लैंड। भारतवर्ष की अपनी पहचान कुछ है कि नहीं? क्या भारतवर्ष केवल एक धर्मशाला है? क्या भारतवर्ष चौ-चौ का मुरब्बा है? नहीं, भारतवर्ष की अपनी पहचान है।

भारतवर्ष की वह पहचान एक व्यक्ति ने, दो व्यक्तियों ने, नहीं बनायी है। हजारों वर्षों से भारत की जो संस्कृति चली आ रही है वह संस्कृति, वह सारी की सारी चेतना, मूलतः हिन्दू चेतना है और उस चेतना को आधार मानकर ही हम भारत की पहचान कर सकते हैं। इसलिए भारत की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता है। इस बात को दृष्टि के स्तर पर उन्होंने मौलिक रूप से प्रतिपादित कर तमाम अवसरवादी, सामयिक, तात्कालिक-लाभपरक दृष्टियों को उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इसमें इस्लाम की, ईसाईयत की, अगर कुछ देन है तो हम उसे नकारते नहीं है। हम यह नहीं मानते हैं कि भारतवर्ष का इतिहास १२वीं शताब्दी में शेष हो गया। हम मानते हैं कि भारतवर्ष का इतिहास आदि काल से आज तक चला आ रहा है। १२वीं शताब्दी के बाद भी भारत का इतिहास बना है और उस बनने वाले इतिहास में थोड़ा तत्त्व इस्लाम का भी है।

इस्लाम के नाम से ईरान का होगा, अरब का होगा, ईसाईयों का भी है, यूरोप का भी है, लेकिन प्रश्न यह है कि गंगा में अगर छोटी-छोटी नदियाँ मिलती हैं, नाले मिलते हैं तो क्या उसका नाम बदल जाता है? मूलधारा का नाम नहीं बदलता। मूलधारा का नाम बदलना आत्महत्या करना है। हमारी चेतना में जो नई बातें कबीर, मलिक मोहम्मद जायसी, रहीम, रसखान, गालिब, मीर, माइकेल मधुसूदन दत्त और एनी बेसेन्ट ने जोड़ी हैं, हम उनका तिरस्कार नहीं करना चाहते, हम उनको स्वीकार करना चाहते हैं लेकिन स्वीकार करते हुए यह बताना चाहते हैं कि इन्हें मूलतत्व के साथ आप जोड़ सकते हैं, इनकी महिमा स्वीकारी जा सकती है पर मूलतत्व को नकार कर नहीं।

तुलसीदास ने एक दोहा कहा है—

"नाम राम को अंक है, सब साधन हैं सून।
अंक गये कछु हाथ नहिं, अंक रहे दस गून।।

राम जी का नाम अंक है। उसके बाद और जितने साधन हैं—तपस्या करो, यज्ञ करो, तीर्थ-यात्रा करो—सब शून्य हैं। अगर अंक के बगल में एक शून्य रखोगे तो दस गुना, और एक शून्य लगाओ तो सौ गुना, और एक शून्य लगाओ तो हजार गुना किन्तु अंक को मिटा दो तो सारे शून्य, शून्य ही हैं। भारतवर्ष की राष्ट्रीयता में हिन्दु अंक है, हिन्दु की दी हुई चीजें अंक है और उनके साथ जुड़ने वाले और सारे तत्व शून्य की तरह उसकी शोभा बढ़ा सकते हैं, लेकिन अगर उस अंक को मिटा दिया जाये तो वे सब के सब मिल कर शून्य ही हैं। भारत की राष्ट्रीयता मौलिक रूप से हिन्दु राष्ट्रीयता है। हिन्दुत्व ही भारत का राष्ट्रीयत्व हो सकता है और जब तक इस हिन्दुत्व की चेतना को नहीं जगाया जाता तब तक हम अपना आत्म परिचय प्राप्त नहीं कर सकते, हम अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य नहीं निभा सकते। इस बात का मौलिक चिन्तन दृष्टि के स्तर पर डॉ० हेडगेवार ने किया।

उनका दूसरा चिन्तन कृति के स्तर पर हुआ। कई बार उन्होंने सोचा कि ये जो तमाम संस्थायें चल रही हैं, उन्हीं संस्थाओं में एक और नई संस्था बढ़ गई तो क्या बात बनी? ऐसी संस्था बननी चाहिए जो संस्था उस मूलतत्व के साथ जुड़कर अपने अस्तित्व की सार्थकता को प्रमाणित करे। उस नयी कृति के लिए, उस संस्था के लिए उन्होंने जो पद्धति निकाली वह तो बड़ी अद्भुत थी। १९२५ की विजया दशमी को जब पूजनीय डाक्टरजी ने संघ बनाया तो उस दिन उसका नाम निर्धारित नहीं हुआ था, उसका संविधान नहीं था, उसके पास कोष के नाम पर एक पैसा नहीं था, उसका कार्यालय नहीं था, उसका प्रचार नहीं था, उसकी घोषणा नहीं की गयी थी। आप सच बताइये दुनिया में कोई संस्था ऐसी है जिसकी स्थापना करते समय उसके नाम का निर्धारण न हो, उसके सदस्यों की तालिका न बने, उसका संस्थापक न मालूम हो, उसके पास एक पैसा कोष

के नाम पर न हो, उसका एक कार्यालय न हो, उसकी घोषणा भी न की गयी हो! बस, संघ स्थापित हो गया। संघ स्थापित हो गया का मतलब क्या हो गया? अपनी जान पहचान के आठ दस बच्चों को लेकर उन्होंने विजया दशमी के दिन कबड्डी खेली। उस समय यह पद्धति नहीं थी कि रोज-रोज आना चाहिए। उन्होंने अपनी जान-पहचान के नौजवानों को कहा कि बिना तुम्हारे शक्तिशाली हुए देश कैसे शक्तिशाली होगा? मराठी में एक उक्ति है कि बिना युद्ध किये कहीं स्वतंत्रता प्राप्त होती है? युद्ध करने के लिए शक्ति होनी चाहिए। इसलिए उनकी पहचान के जितने नौजवान थे उनको उन्होंने कहा, "तुम लोग किसी न किसी व्यायामशाला में भर्ती हो जाओ"। केवल यही प्रेरणा दी कि व्यायाम करो। उसके दो-तीन महीने बाद यह योजना बनी कि प्रत्येक रविवार को सुबह पाँच बजे सबका एकत्रीकरण होगा। उसके बाद रविवार और वृहस्पतिवार को राजकीय वर्ग चालू हुआ जिसको आजकल 'बौद्धिक' कहा जाता है। आपलोगों को जानकर आश्चर्य होगा कि जुलाई १९२६ ई० में यानी संस्था के बनने के करीब आठ महीने बाद एक बैठक बुलाई गई कि इसका नाम क्या रखा जाय? नाम का प्रस्ताव एक नहीं आया था, कई नाम आये। उनमें से एक 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' भी था। डाक्टरजी द्वारा अपनी तरफ से बिना कुछ कहे उस नाम की पुष्टि अन्य मित्रों के द्वारा हुई। उस समय गणवेश आज जैसा नहीं था। चूँकि वे कांग्रेस के १९२० के अधिवेशन के स्वयंसेवक-प्रमुख थे अतः उस समय कांग्रेस का जो गणवेश था वही उन्होंने स्वीकार कर लिया यानी खाकी पैण्ट, खाकी कमीज, खाकी टोपी और काम चल पड़ा। आपको यह जानकर भी आश्चर्य होगा कि उस समय तक डॉ० हेडगेवार प्रधान नहीं बने थे। डॉ० हेडगेवार बाद में प्रधान अर्थात् सरसंघचालक चुने गये।

डाक्टरजी ने जिस समय संघ शुरू किया था उस समय काम चलाने के लिए जनता से चंदा लेना पड़ता था। पहली बार १९२८ ई० में, संघ शुरू होने के करीब अढ़ाई साल बाद उन्होंने यह विचार रखा कि अगर अपना संगठन एक परिवार है तो बताओ परिवार का खर्च उधार लेकर, चन्दा लेकर चलाते हो? परिवार का खर्च चलाने के लिए, अपनी बेटी का ब्याह करने के लिए तुम चन्दा लोगे? तुम्हारा रोज का खाना-पीना चलेगा तो तुम चन्दा लोगे? परिवार का काम जैसे तुम अपने पुरुषार्थ से चलाते हो वैसे ही संघ का काम भी अपने पुरुषार्थ से चलाना चाहिए, चन्दा लेकर नहीं—यह बात १९२८ ई० में उनके मन में आई और गुरु-दक्षिणा की कल्पना हुई। पहली बार उन्होंने १९२८ ई० में गुरु पूजन करते समय यह घोषित किया कि हमारा गुरु कोई व्यक्ति नहीं है, यह भगवाध्वज है।

चूँकि तत्कालीन मध्यप्रांत हिन्दी-मराठी भाषी द्विभाषी राज्य था, अतः शुरू में जो हमारी प्रार्थना थी उसमें एक पद मराठी का था, एक पद हिन्दी का था। जब बाद में संघ

में सैनिक शिक्षण देना शुरू किया गया तो सब आज्ञाएँ अंग्रेजी में दी जाती थी। एक ईसाई सज्जन ने हमारे घोष का निर्माण किया। घोष वर्ग को शिक्षा देने वाला एक सेवा-निवृत्त ईसाई सेना-अधिकारी था। संघ बिलकुल उसी प्रकार बड़ा हुआ है—जैसे बच्चा बड़ा होता है। संघ के बारे में कुछ मूर्ख लोग ही कहते हैं कि यह अपरिवर्तनवादी है।

संघ अपने जन्म से आज तक निरन्तर विकासशील और परिवर्तनवादी रहा है। पहले संघ का काम मुख्यतः मराठी भाषा में होता था। एक व्यक्ति, १९३४ ई० में सियालकोट से संघ शिक्षावर्ग हेतु नागपुर में आया। उसका नाम था श्री देशराज भारती। डॉ० हेडगेवार ने आज्ञा दी कि आज से सभी बौद्धिक हिन्दी में होंगे। संघ में हिन्दी भाषी लोग आयेंगे, अन्य भाषा-भाषी लोग भी आयेंगे अतः मराठी में काम नहीं चल सकता। हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, हिन्दी ही सम्पर्क भाषा हो सकती है। एक व्यक्ति के आने पर भविष्य के संकेत पर उन्होंने मराठी में बौद्धिक देने की परम्परा बदल दी। पहले जब प्रतिज्ञा ली जाती थी तो ध्वज के साथ हनुमानजी की मूर्ति रहती थी। उस समय जो हमारी हिन्दी की प्रार्थना थी उसमें हम कहते थे कि रामदूता शील हमको दीजिये। राम के दूत का जो शील है वह हमको प्राप्त होना चाहिए। समर्थ स्वामी रामदास की एक बहुत ही मार्मिक कविता है—

डूब रहे हैं, डूब रहे हैं, डूब रहे हैं लोग,
बिल्कुल निरानन्द है जीवन, ऊब रहे हैं लोग।
अनावृष्टि, अतिवृष्टि, पुण्य राजा का क्षीण हुआ,
व्यक्ति, समाज, राष्ट्र हतभागा दिन-दिन दीन हुआ।।
तन ढकने को वस्त्र नहीं है, सिर ढकने को छाया,
फिर भी क्रोध नहीं आता है, क्या स्वभाव है पाया।
एक दुराशा, किसी तरह, आफत टल जायेगी,
किसी तरह फिर से बंजर धरती फल जायेगी।
मगर 'तरह' का रूप किसी के आगे साफ नहीं,
काल-पुरुष के आगे ऐसी मंशा माफ नहीं।

किसी तरह यह आफत टल जायेगी, किसी तरह बंजर धरती फल जायगी, किसी तरह देश स्वाधीन हो जायेगा, किसी तरह बात बन जायेगी। किस तरह? इस 'तरह' को साफ करना होगा। रा० स्व० संघ का पूरा इतिहास उसी 'तरह' को साफ करने का इतिहास है। जिस तरह डॉ० हेडगेवार ने संगठन किया उस 'तरह' को आप ठीक-ठीक समझिये। हनुमानजी की मूर्ति के सामने प्रतिज्ञा लेने के लिए एक स्वयंसेवक आया और उसने कहा कि मुझे पूरा का पूरा संघ दर्शन स्वीकार है लेकिन मैं आर्यसमाजी हूँ, मैं हनुमानजी की मूर्ति के सामने प्रतिज्ञा करना नहीं चाहता। तब क्या

डाक्टर साहब अड़े? क्या वे अपरिवर्तनवादी थे? उन्होंने हनुमानजी की मूर्ति की बाध्यता हटा दी और कहा "सिर्फ ध्वज के सामने तुम प्रतिज्ञा लोगे।" मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि वे अपने उद्देश्य के प्रति अविचल थे। उद्देश्य की सिद्धि के लिए निरन्तर परिवर्तनशील थे।

बिना परिवर्तन के हम नयी-नयी चुनौतियों के प्रत्युत्तर कैसे देंगे? याद रखें कि देश की या समाज की या व्यक्ति की उन्नति का एक ही सूत्र है— 'चुनौती और प्रत्युत्तर' (Challenge and response)। आपके सामने जो चुनौती आयी है उसका योग्य प्रत्युत्तर आप देंगे तो आप आगे बढ़ेंगे। यदि उसके अनुकूल प्रत्युत्तर नहीं दे पायेंगे तो आपका पतन होगा, आप स्थिर नहीं रह सकते। बच्चन जी की एक कविता है—

जो न करेगा सीना आगे पीठ उसे खींचेगी पीछे।
जो ऊपर को उठ न सकेगा उसको जाना होगा नीचे।।
अस्थिर दुनिया में थिर होकर कोई वस्तु नहीं रहती है।
हे मन के अंगार अगर तुम लौ न बनोगे, क्षार बनोगे।।

अगर अपने हृदय के अंगारे से हम लौ उद्दीप्त नहीं कर सकते तो हमें राख बन जाना पड़ेगा। डॉ० हेडगेवार ने अपने हृदय के अंगारे से लौ उद्दीप्त की जिसका नाम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ है। किसी झूठे अहंकार पर वे अड़े नहीं। निरन्तर परिशोधन। हिन्दी और मराठी प्रदेशों के बाहर जब संघ गया तो लोगों को अटपटा लगा। प्रार्थना हिन्दी में है और मराठी में है, बंगला में क्यों नहीं? गुजराती में क्यों नहीं? प्रार्थना जैसा मानबिन्दु भी डॉ० हेडगेवार ने बदल दिया। उन्होंने फैसला किया कि अगर सर्वभारतीय स्तर पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को विकसित करना है तो प्रार्थना संस्कृत में होनी चाहिए, सारी आज्ञायें संस्कृत में होनी चाहिए। १९३९ ई० में यह विचार हुआ एवं डाक्टर जी की मृत्यु के पहले पूना की ओ. टी. सी. में पहली बार संस्कृत की प्रार्थना और संस्कृत की आज्ञायें दी गयीं। इस तरह १९२५ ई० से १९४० ई० तक निरन्तर अपने उद्देश्य के अनुकूल संघ में परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन चलता रहा।

लोग कहते हैं कि डाक्टर जी के चले जाने के बाद गुरुजी ने विश्व हिन्दू परिषद बना दी। डाक्टर जी के चले जाने के बाद दबाव पड़ा पहली बार के प्रतिबन्ध का तो भारतीय जनसंघ बन गया, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद बन गयी, वनवासी कल्याण आश्रम बन गया। मुझको याद आता है नन्द दास का एक पद। नन्द दास की गोपिकायें पूछती हैं ऊधो से कि तुम उसको निर्गुण कैसे कहते हो—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ तें,
बीज बिना तरु जमें मोहि तुम कहौ कहाँ तें?

भला बीज के बिना वृक्ष होता है? अगर श्रीकृष्ण में गुण नहीं हैं तो संसार में गुण कहाँ से आये?

वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे नहीं अमल वारि मिलि कीच।।

जो बात डॉ० हेडगेवार में नहीं थी वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में आती कैसे? बीज के रूप में डॉ० हेडगेवार के जीवन में जो कुछ था, उनके उत्तराधिकारियों यथा पूज्य गुरुजी, पूज्य बाला साहब देवरस ने उसको विकसित किया। स्वयं डाक्टर जी ने माननीया लक्ष्मी बाई केलकर जी को प्रेरणा देकर १९३६ ई० में राष्ट्र सेविका समिति की स्थापना करायी थी। संघ से प्रभावित स्वतंत्र संगठनों में वह प्रथम है। बाद के सरसंघचालकों ने डाक्टर जी की उसी नीति को आगे बढ़ाया। इसलिए आज हम संघ के इस व्यापक संगठन परिवार को देखते हैं। डाक्टर जी का कहना था कि संघ संगठन करेगा और अन्य सभी समस्याओं का समाधान स्वयंसेवक करेंगे। संघ संगठन करेगा माने क्या? जैसे डायनामो बिजली उत्पन्न करता है—महान विद्युत कोष से बनी हुई बिजली कहाँ पंखा चलायेगी, कहाँ बिजली जलायेगी, कहाँ फ्रीजर होगा, कहाँ कूलर होगा, कहाँ फर्नेस होगा, उसका हम-आप उपयोग के अनुसार निर्णय करेंगे। ठीक उसी तरह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वारा संगठन की शक्ति का आवश्यकता के अनुरूप जो प्रयोग करना है उसकी प्रेरणा को लेते हुए संघ के स्वयंसेवक अलग-अलग क्षेत्रों में काम करेंगे। मैं जानता हूँ इसी भाव से पूज्य गुरुजी, दीनदयाल उपाध्याय जी, एकनाथ जी, दत्तोपन्त ठेंगड़ी जी आदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम करते रहे हैं और तभी तो संघ का काम आगे बढ़ा है। आपलोगों में से अधिकांश को शायद यह पता नहीं होगा कि संघ के संस्थापक डाक्टर हेडगेवार की कोई पुस्तक है या नहीं। मुझे संयोग से अभी डॉ० हेडगेवार पर दो लेख लिखने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। माननीय रज्जू भैया का आदेश था। जब मैंने छानबीन की तो एक बहुत पतली सी किताब मिली—'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ—तत्व और व्यवहार'। उस पुस्तक में डाक्टरजी के कुल दस बौद्धिक हैं और कुल चौतीस सूक्तियाँ हैं। हमलोग जब छोटे थे तो स्मृतिकण नाम की एक छोटी सी पुस्तक मिलती थी उसमें से डाक्टर जी की उक्तियों को श्यामपट्ट पर लिख दिया जाता था और हमलोग उसको लिख लेते थे। उन उक्तियों में एक ही बात कही गयी है कि हम अपनी पूरी परम्परा को स्वीकार करते हैं। उस पूरी परम्परा की जो क्षमता है, उसके अनुसार विकास होना चाहिए। डाक्टरजी कहते थे कि मैं विद्वान नहीं हूँ, लेकिन संघ सम्पूर्ण भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन का उत्तराधिकारी है।

डाक्टर हेडगेवार ने संघ को कोई सम्प्रदाय नहीं बनाया, कोई मठ नहीं बनाया। संघ का अपना कोई सम्प्रदाय नहीं है। वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य, जैन, बौद्ध, सिक्ख सब आ जाओ। हिन्दू-मुसलमान की बात अलग है लेकिन हिन्दुओं में कोई भेदभाव डाक्टर साहब ने स्वीकार नहीं किया। उसमें भी एक बात यह थी कि भेदभाव मिटाने का उनका व्यावहारिक रूप ऐसा था. जिसमें दूसरे को कम से कम कष्ट हो।

१९३४ ई० में वर्धा में गांधी जी के आश्रम के निकट ही संघ का शिविर लगा हुआ था। गांधीजी रोज सुनते थे घोष की आवाज, रोज देखते थे स्वयंसेवकों का संचलन। उन्होंने सन्देश भेजा महादेव देसाई से कि "मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का शिविर देखना चाहता हूं।" अप्पाजी जोशी उस शिविर के सर्वाधिकारी थे। अप्पाजी जोशी उस समय वहाँ के कांग्रेस के महामन्त्री भी थे। उन्होंने कहा 'आप जब आना चाहें, आयें।' गांधीजी शिविर में आये, दो घण्टा रहे और जैसा उनका स्वभाव था उन्होंने एक-एक से पूछा कि तुम्हारी जाति क्या है? उन्होंने पहले पूछा कि इन स्वयंसेवकों में कितने ब्राह्मण हैं, कितने मराठे हैं, कितने महार हैं, इत्यादि। अप्पाजी जोशी ने कहा कि हमें इसकी जानकारी नहीं है। हमारे यहाँ सब हिन्दू हैं। कौन ब्राह्मण है, कौन मराठा है, कौन महार हैं इसकी हमें जानकारी नहीं है। हमारे यहाँ ऐसा कोई भेद नहीं रखा जाता। गांधीजी ने स्वयं पूछा तो उनमें ब्राह्मण भी निकले, महार भी निकले, मराठे भी निकले, नाई भी निकले। वे बोले, "क्या ये सब एक साथ खाते हैं?" पन्द्रह सौ स्वयंसेवकों के साथ बैठकर उन्होंने भोजन किया। वे आवास में गये, रुग्णालय में गये, भोजनालय में गये। बोले, "हम डॉ० हेडगेवार से मिलना चाहते हैं।" दूसरे दिन डॉ० हेडगेवार गांधीजी से मिलने गये और उन्होंने उनसे पूछा कि तुम्हारा यह खर्च कैसे चलता है? क्या जमनालाल बजाज से चन्दा लेते हो? वर्धा में तो सब काम जमनालाल बजाज के पैसे से ही चलता है। डाक्टर जी बोले किसी बजाज से हम पैसा नहीं लेते। संघ का सारा काम स्वयंसेवक खुद अपने पैसों से करते हैं। गांधीजी बोले—बड़ी अच्छी बात है।

डाक्टर साहब ने हमें बताया कि मनुष्य प्रधान है। मनुष्य आयेगा तो मनुष्य के साथ उसकी सारी क्षमता आयेगी। उसकी शक्ति आयेगी, उसका पैसा आयेगा, उसका चिन्तन आयेगा, उसकी बुद्धि आयेगी। कोई भी चीज मनुष्य छोड़कर के तो आयेगी नहीं। महामना मदन मोहन मालवीय ने जब कहा कि मैं भिखारियों का राजा माना जाता हूँ, कहो तो तुम्हारे लिए कुछ चन्दा इकट्ठा करूँ? डाक्टरजी बोले 'आप आशीर्वाद दीजिये, हमको पैसे की जरूरत नहीं है।' जबकि स्थिति यह थी कि उनके घर पर लिखने के लिए कलम कागज का भी अभाव था। जब मित्र उनके यहाँ आते थे तो कभी-कभी चाय पिलाने की भी स्थिति नहीं होती थी। एक बार एक मित्र ने कहा कि मैं पचास रुपया महीना घर की व्यवस्था हेतु देना चाहता हूँ तो गुरु जी ने कहा कि मैं तो डाक्टर जी से यह नहीं कह सकता। तुम्हारी हिम्मत हो तो तुम्हीं डाक्टर जी से कहो। उन्होंने कहा कि आप ही कुछ क्यों नहीं करते, तो गुरुजी बोले "शिवरात्री एकादशी का क्या पेट भर सकती है? जो हाल डॉ० हेडगेवार का वही हाल मेरा।" आज के अर्थप्रधान युग में अर्थ को चुनौती देते हुए इतना बड़ा संगठन खड़ा हो सकता है, उसके

द्वारा सहज भाव से आत्मीयता से एक सामाजिक समन्वय हो सकता है, शक्ति उत्पन्न हो सकती है, इसको प्रमाणित किया है डॉ० हेडगेवार के जीवन ने। इसलिए आज भी हम उनका स्मरण करते रहते हैं।

संघ शुरू करने के बाद डाक्टर साहब ने स्वयं व्याख्यान बहुत कम दिये उनका विश्वास था—कर्म करो।

'खोलना ही हो हृदय का मर्म तो बस कर्म खोले।'

वे कहते थे, बड़ी-बड़ी बातें तो बहुत से लोग बोलते रहते हैं। हमारे लिए बोलने का रास्ता कर्म है। हम कर्म के द्वारा अपनी बात सामने रखना चाहते हैं।

संघ का कितना काम डॉ० हेडगेवार की दृष्टि से आज आवश्यक है उसका ठीक ठीक अर्थ समझना चाहिए। एक बार गुरुजी एक चर्चा ले रहे थे। महाराष्ट्र के एक जिले के लोगों ने कहा कि डाक्टरजी ने जो सूत्र दिया था वह तो हमने पूरा कर दिया। हमारे यहाँ गाँव में एक प्रतिशत और शहरों में तीन प्रतिशत लोग स्वयंसेवक हो गये। गुरुजी ने कहा कि तुम डाक्टरजी के बताये हुए सूत्र का मतलब समझते हो? किसी भी आदमी को पकड़ लिया और उसको पैन्ट पहना कर खड़ा कर दिया, यह डाक्टरजी का मतलब नहीं था। ऐसा एक आदमी जो शेष निन्यानवे आदमियों का नेतृत्व कर सके वैसा आदमी संघ का स्वयंसेवक होना चाहिए।

वह एक प्रतिशत ऐसा व्यक्ति हो जो शेष निन्यानवे प्रतिशत को रास्ता दिखा सके, उनका आदर्श बन सके। उस मान्यता को सामने रखकर आज हम डाक्टर हेडगेवार की इस जन्म शतवार्षिकी (१९८९ ई०) के उत्सव पर पुनः अपनी श्रद्धा उस महापुरुष के चरणों में अर्पित करते हैं। हमें समझना चाहिए कि किस तरह से उन्होंने बिल्कुल साधारण रहते हुए असाधारण काम किया। एक बार जब किसी ने उनसे पूछा कि 'डाक्टर साहब आप तो बिल्कुल संन्यासी की तरह रहते हैं तो फिर आपने गेरूआ क्यों नहीं धारण कर लिया?" डाक्टर साहब ने उत्तर दिया कि अगर मैं गेरूआ धारण कर लेता तो हमारे समाज की मनःस्थिति के अनुसार कुछ लोग मेरी पूजा करने लगते किन्तु जो कार्य मुझे प्रिय है उसे बिल्कुल नहीं करते। वे कहते कि यह तो संन्यासी लोग ही कर सकते हैं हम गृहस्थ लोग नहीं कर सकते। इसलिए मैं सादे वस्त्रों में रहकर यह बताना चाहता हूँ कि यह संगठन का काम हर आदमी कर सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि अगर मैं विवाह करके गृहस्थ जीवन जीता हुआ यह काम कर सकता तो और अच्छा होता। यानि यह कि केवल वेष द्वारा पूजित होकर व्यक्तिगत रूपसे हमको सम्मान प्राप्त हो जाये यह डाक्टरजी नहीं चाहते थे। कार्यकर्त्ता का वेष बिल्कुल साधारण हो। जो यह साधारण आदमी कर सकता हैं, मैं भी कर सकता हूँ, यह विश्वास कार्यकर्त्ता दूसरों में जगाये और साधारणता के बाने में निहित असाधारणता को सिद्ध करके

दिखाये। जिस मिट्टी को डाक्टरजी ने छुआ वह इस्पात बन गया। उन लोगों में थे पूज्य गुरुजी, पूज्य बालासाहब देवरस, माधव राव मुले, बसन्त राव ओक, विट्ठल राव पतकी, दादाराव परमार्थ एवं एकनाथ रानाडे प्रभृति। साधारण लोग अपेक्षाकृत कम पढ़े-लिखे लोग, अपेक्षाकृत मौन रहने वाले लोग, उनको भी उन्होंने फौलाद बना दिया। एक-एक आदमी तन कर खड़ा हो गया। माधव राव मुले ने पाकिस्तान बनने के समय पंजाब और दिल्ली की सारी विभीषिका को झेला। उनके नेतृत्व में संघ के स्वयंसेवक लाहौर तक जाकर अपने हिन्दू भाइयों को सुरक्षित यहाँ ला सके।

डाक्टर जी के दर्शन मैं नहीं कर सका लेकिन मैंने पूज्य गुरुजी के, बालासाहब देवरस के दर्शन किये हैं, माननीय विट्ठल राव पतकी का स्वयंसेवक रहा हूँ, मा० दत्तोपन्त ठेंगड़ी का मार्ग-दर्शन मुझे मिला है। माननीय एकनाथ रानाडे के साथ काम करने का सौभाग्य मुझको प्राप्त हुआ है। फल बताता है कि बीज कैसा रहा होगा। इन महापुरुषों के माध्यम से हम डॉ० हेडगेवार के दर्शन कर सकते हैं। हम डाक्टरजी को श्रद्धांजलि देते हुए यही प्रार्थना करते हैं कि—

हम सभी का जन्म तव प्रतिबिम्ब सा बन जाय.....

और हम जो कहें, अपने जीवन में उससे ज्यादा करके दिखायें। ●

संदर्भ :

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा १९८९ ई० में आयोजित 'डॉ० हेडगेवार जन्मशती समारोह' में दिया गया भाषण।

डा० मुखर्जी की शिक्षा-नीति

महामानव श्यामाप्रसाद मुखर्जी सफल राजनीतिज्ञ, कुशल प्रशासक, धारा-प्रवाही वक्ता, सुदक्ष संगठक और लोकप्रिय जन-नेता ही नहीं थे, महान् शिक्षाविद् भी थे। सच कहा जाय तो वही उनका प्रधान रूप था। उन्होंने अपने कर्म-जीवन का आरम्भ ही शिक्षाविद् के रूप में किया, शिक्षा के लिए ही उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया और राजनीति द्वारा भी भारतीय जनगण को शिक्षा देते रहे। भारत माता की सेवा के लिए उन्होंने शिक्षा का क्षेत्र विचार-पूर्वक चुना था, क्योंकि सम्पूर्ण समस्याओं का कारण शिक्षा का अभाव था और समस्त समस्याओं का समाधान उसी के विकास में निहित था। अपने पूज्यपिता प्रातःस्मरणीय आशुतोष मुखर्जी से उन्होंने यह तत्त्व उत्तराधिकारी के रूप में पाया था। *योग्य पिता के योग्य पुत्र* ने आजीवन यह पवित्र दायित्व निभाया।

इस महान् शिक्षाविद् का छात्र-जीवन अपने दायित्वों का निर्वाह करने की प्रस्तुति के समान था। बीस वर्ष की अवस्था में १९२१ ई. में प्रेसिडेन्सी कालेज से उन्होंने इंगलिश आनर्स के साथ बी. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण की। १९२३ में एम. ए. और १९२४ में बी. एल की परीक्षाएँ दीं और दोनों में प्रथम श्रेणी में प्रथम हुए। १९२७ ई. में बैरिस्टरी पास की, किन्तु जहाँ इसी पेशे के अनेकानेक व्यक्तियों ने लक्ष्मी की उपासना कर अपने व्यक्तिगत जीवन को सुखी बनाने की चेष्टा में ही अपनी विद्या-बुद्धि की सार्थकता समझी, वहीं उन्होंने सरस्वती की उपासना कर अपने देशवासियों की सेवा को अपने जीवन की साधना के रूप में स्वीकार किया। १९२४ में ही वे कलकत्ता विश्वविद्यालय की सिनेट के सदस्य चुने गये और उसी वर्ष अपने पिता की मृत्यु के बाद सिण्डिकेट के सदस्य चुन लिए गये। तब से जीवन की अन्तिम साँस तक किसी-न-किसी रूप में वे शिक्षा-सम्बन्धी कार्य करते रहे। अपनी प्रतिभा और कार्य-पटुता के कारण तैंतीस वर्ष की अवस्था में ही वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति बने। भारत के सबसे पुराने विश्वविद्यालय के सब से कम उम्र के उपकुलपति ने अपनी निर्भीकता, रचनात्मक कल्पना, सुसंगत

योजना एवं व्यवहार-पटुता से शिक्षासम्बन्धी अनेकानेक मौलिक प्रयोग कर कलकत्ता विश्वविद्यालय को भारतीय विश्वविद्यालयों में अग्रगण्य बना दिया। १९३४ से १९३८ तक वे उपकुलपति रहे और इस छोटे से काल-खण्ड में ही उन्होंने अपने कार्य-कलापों से विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों, छात्रों और हितैषियों के हृदयों को नवीन आशा एवं उत्साह से स्पन्दित कर दिया। उनके दीक्षान्त भाषणों में अदम्य विश्वासमयी ओजस्विनी भाषा में समस्याओं की विवेचना, वर्ष भर की उपलब्धि और भावी कार्यक्रम का संकेत रहा करता था। उनके इस संक्रामक उत्साह और विश्वास के समक्ष बाधाओं के पर्वत भी सिर झुका दिया करते थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के अतिरिक्त नागपुर वि. वि., बम्बई वि. वि., पटना वि. वि., काशी हिन्दू वि. वि., गुरुकुल वि. वि., आदि ने भी उन्हें दीक्षान्त भाषण देने के लिये समय समय पर सादर निमंत्रित किया था। आत्मबलिदान के कुछ मास पूर्व १९५२ ई. के दिसम्बर में दिल्ली विश्वविद्यालय के स्नातकों के समक्ष दीक्षान्त भाषण करते हुए उन्होंने स्वतन्त्र भारत की शिक्षानीति के लिए आदर्श दिशा संकेत दिया था। उनके इन्हीं दीक्षान्त भाषणों तथा शिक्षा-सम्बन्धी कुछ अन्य भाषणों के आधार पर उनकी शिक्षानीति का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा इस लेख में की गई है।

डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी की शिक्षानीति पर विचार करने के पूर्व उनकी दृष्टि के अनुसार शिक्षा का आदर्श समझ लेना चाहिए। वे उसे शिक्षा ही नहीं समझते थे जिसके द्वारा विविध विषयों की कुछ सूचनाएँ प्राप्त कर व्यक्ति सरकारी नौकरी या किसी व्यावसायिक पेशे के योग्य माना जाता था। उन्हें ज्ञात था कि मुख्यतः इसी उद्देश्य को सामने रखकर मेकाले के परामर्शानुसार अंग्रेज शासकों ने भारतवर्ष में विविध विश्वविद्यालय स्थापित किये थे, किन्तु भारत की मृत्युञ्जयी संस्कृति ने अपनी महत्ता से इस उद्देश्य को विफल-सा कर दिया। इसी संस्कृति के प्रभाव से इस शिक्षा-प्रणाली के द्वारा कुछ ऐसे लोग भी उत्पन्न हुए, जिन्होंने देश-प्रेम की अखण्ड ज्वाला में अपनी आहुति देकर वह सामर्थ्य, वह शक्ति उत्पन्न की कि अन्ततोगत्वा विदेशियों को यहाँ से विदा ग्रहण करने के लिए विवश होना पड़ा। किन्तु फिर भी यह सत्य है कि मेकाले की मोहिनी अंशतः सफल हुई और देश के साधारण शिक्षितों का एक वर्ग अंग्रेजों की नकल और गुलामी में सौभाग्य की चरम-सीमा मानने लगा था। श्यामाप्रसाद ने निर्भयता-पूर्वक इस असत् उद्देश्य की भर्त्सना की और इस बात की घोषणा की कि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य नौकरी की योग्यता उत्पन्न करना न होकर मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है, उसकी आत्मिक, नैतिक, मानसिक एवं भौतिक उन्नति का द्वार खोलना है। २२ फरवरी १९३६ को कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति की हैसियत से द्वितीय दीक्षान्त भाषण देते हुए उन्होंने सिंहगर्जना करते हुए कहा था..... *हमारा आदर्श है*, निम्नतम भाव से उच्चतम भाव तक की शिक्षा के लिए व्यापक सुविधाएँ प्रदान करना, अपनी व्यवस्था को

इस प्रकार ढालना कि हमारे शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्य पूर्ण हो सकें और अपने नवयुवकों के अविकसित श्रेष्ठ गुणों को पूर्णरूपेण विकसित कर बौद्धिक, शारीरिक एवं नैतिक दृष्टियों से उन्हें इस प्रकार प्रशिक्षित करना कि वे राष्ट्रोत्थान के कार्य में प्रत्येक क्षेत्र में — गाँवों में, कस्बों में, शहरों में — निष्ठा-पूर्वक अपनी सेवाएँ समर्पित कर सकें। *हमारा आदर्श है,* स्वस्थ उदार शिक्षा के लिए अधिकतम प्रोत्साहन देना, सांस्कृतिक शिक्षा तथा व्यावसायिक एवं शिल्पिक शिक्षा में सच्चा समन्वय इस बात को सर्वदा स्मरण रखते हुए करना कि, कोई भी राष्ट्र केवल भौतिक लाभों को दृष्टि में रखकर, अपने नवयुवकों को यंत्र-निर्मित वस्तु मात्र बना कर महान् नहीं हो सकता। *हमारा आदर्श है,* अपने शिक्षकों को विपुल सुविधाएँ एवं विशेषाधिकार प्रदान करना ताकि वे विद्या, चरित्र एवं स्वतंत्रता से समृद्ध होकर ज्ञानालोक के वाहक एवं व्याख्याता तथा विचार के नवीन क्षेत्रों के विजेता ही न बनें, बल्कि सच्चे एवं वीर, ईमानदार एवं देश-भक्त, नेता एवं कार्यकर्त्ता, स्त्री-पुरुषों के निर्माता भी बनें। *हमारा आदर्श है,* अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के श्रेष्ठ तत्त्वों से शिक्षा को संयुक्त करना तथा प्रयोजनानुसार पाश्चात्य ज्ञान एवं शिल्प के सदुपयोग से उसे शक्तिशाली बनाना। *हमारा आदर्श है* राज्य एवं जनता के उदार सहयोग से शिक्षण-संस्थाओं को स्वतन्त्रता तथा स्वस्थ एवं प्रगतिशील विचारों का अधिष्ठान बनाना, जहाँ शिक्षक और शिक्षार्थी पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना के वातावरण में मिल-जुल कर कार्य करेंगे, जहाँ कोई भी वर्ण, लिंग, विश्वास तथा धार्मिक या राजनीतिक मतवाद के कारण वंचित नहीं किया जायगा।" श्यामा बाबू भलीभाँति जानते थे कि विदेशी सरकार इस आदर्श की प्राप्ति में सर्वप्रथम बाधक तत्त्व है, अतः वे देश की पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे और इसके लिए शिक्षा को ही प्रबलतम साधन मानते थे। नागपुर विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए उन्होंने कहा था - *मेरा दृढ़ विश्वास है कि उचित रूप से आयोजित एवं उदारता-पूर्वक संवर्धित शिक्षा में ही हमारे देश की मुक्ति निहित है और आज भारत में शिक्षा का क्षेत्र असीम सेवा और सक्रियता का जीवन व्यतीत करने के लिए सभी-सम्प्रदायों और मतवादों के व्यक्तियों का आवाहन कर रहा है।*[2] भारत माता के इस आवाहन के उत्तर में अपना सर्वस्व समर्पण कर देने वाले मुट्ठी भर महापुरुषों में श्यामाप्रसाद का स्थान अन्यतम है।

अपने आदर्श की उपलब्धि के लिए श्यामाप्रसाद ने गम्भीर विचार मन्थन के बाद एक विशिष्ट शिक्षानीति प्रवर्त्तित की और कलकत्ता विश्वविद्यालय में उसे कार्यान्वित करने की यथासम्भव चेष्टा भी की। यह सच है कि वे अपने समस्त विचारों को कार्य रूप में परिणत नहीं कर सके, क्योंकि विदेशी सरकार और जड़ीभूत साधारण जनता ने उनकी माँगों को पूरा नहीं किया, फिर भी उनके कार्य और विचार देश के वर्त्तमान और भावी शिक्षाविदों को सदैव अनुप्रेरित करते रहेंगे।

शिक्षा पर विचार करते समय हमें उसके चार प्रमुख अंगों पर विचार करना पड़ता है। इन्हें हम शिक्षांग-चतुष्टय कह सकते हैं। ये हैं - (१) शिक्षाक्रम, (२) शिक्षक, (३) शिक्षार्थी और (४) शिक्षा-संस्थान। श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने इन चारों के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक अपने विचार व्यक्त किये हैं।

श्यामाप्रसाद का दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा स्थितिशील नहीं, गतिशील होनी चाहिए। उसका क्रम बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार बदलना चाहिए, क्योंकि उसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है; वह तोता-रटन्त या अन्धी नकल न होकर वह दिव्य प्रकाश है, जिसके सहारे व्यक्ति और राष्ट्र अपना भविष्य बनाते हैं, मनुष्यता का विकास करते हैं। अतः उन्होंने भारत की वर्त्तमान आवश्यकताओं के अनुसार समस्त शिक्षाक्रम को नये साँचे में ढालने की भगीरथ चेष्टा की। उनका मूल सिद्धान्त यह था कि हमें ऐसी शिक्षा का प्रसार-प्रचार करना है जिसके द्वारा शिक्षार्थियों के मन में अपने राष्ट्र, अपने इतिहास, अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति श्रद्धा और आस्था जागे। इस श्रद्धा और आस्था को आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान से विभूषित कर वे शिक्षार्थियों को इतना समर्थ बनाना चाहते थे कि अपने गौरवमय अतीत के अनुरूप भव्य भविष्य का निर्माण कर सकें। इस श्रद्धा एवं आस्था से विहीन केवल यान्त्रिक, भौतिक तथा नकलवादी उन्नति को वे उन्नति ही नहीं मानते थे, क्योंकि इसमें हमारे स्व का तथा हमारी परम्परा का विकास न होकर विनाश निहित था। पटना विश्वविद्यालय और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रदत्त दीक्षान्त भाषणों में तथा अन्यत्र भी उन्होंने अपनी संस्कृति के सम्यक् अध्ययन, अनुसन्धान, तात्त्विक बोध एवं विकास पर बहुत अधिक बल दिया है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि अपने प्राचीन ज्ञान का मेल आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों और विचारों से इस प्रकार करना चाहिए कि हम दोनों के श्रेष्ठ तत्त्वों को अपना सकें। यह स्वस्थ समन्वय उनका मूल मन्त्र था।

इसके अनुसार उन्होंने सम्पूर्ण शिक्षाक्रम को नवीन रूप देने की चेष्टा की। शिक्षा का माध्यम विद्यालयों में अंग्रेजी के स्थान पर मातृभाषाओं को बनाया गया। अपने पूज्यपिता के चरण चिह्नों का अनुसरण करते हुए उन्होंने भारत की राष्ट्रीय भाषाओं की, विशेष कर बँगला की इस क्षेत्र में अत्यन्त ठोस सेवा की है। अंग्रेजी के भक्तों के प्रबल विरोध की उपेक्षा करते हुए उन्होंने इस बात को व्यवहारतः सिद्ध करके दिखा दिया कि उपयुक्त योजना, लगन और निष्ठा द्वारा हमारी देशी भाषाएँ उच्चतम शिक्षा का भार वहन करने में पूर्णतः सफल हो सकती हैं। मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा पाना ही स्वाभाविक है, शिक्षार्थियों के स्वस्थ मानसिक विकास के लिए अनिवार्य है और राष्ट्रीय स्वाभिमान तथा अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा जगाने के लिए अपरिहार्य है, यह आज स्वतःसिद्ध है। केवल विद्यालयों तक ही नहीं, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों तक की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से हो सकती है और होनी चाहिए,

ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था। आज भी यद्यपि हम उनका स्वप्न पूर्णतः सत्य नहीं बना सके हैं फिर भी हम उस दिशा की ओर बढ़ रहे हैं, यह प्रत्यक्ष है। अंग्रेजी का अध्ययन आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि के लिए आवश्यक मानते हुए भी नित्यप्रति के आभ्यन्तर शासन और व्यवस्था आदि के कार्यों के लिए उसे जनसाधारण पर थोपने के वे समर्थक नहीं थे। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति उनका गहरा अनुराग था। कलकत्ता विश्वविद्यालय में उसके अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था उन्होंने रुचिपूर्वक की थी। उन्होंने बार-बार इसकी घोषणा की थी कि हिन्दी का अध्ययन समस्त देशवासियों को अवश्य करना चाहिए। २५ अप्रैल १९४३ को गुरुकुल विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए उन्होंने कहा था:– "Similarly a working Knowledge of Hindi is essential, so that direct contact among peoples of different provinces may be maintained."[3]

अर्थात् उसी तरह हिन्दी का व्यावहारिक ज्ञान भी आवश्यक है जिससे विविध प्रदेशों की जनता में प्रत्यक्ष सम्पर्क बना रहे। इसी तरह १३ दिसम्बर १९५२ को दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रदत्त उनके दीक्षान्त भाषण की यह उक्ति देखिए : – Hindi, which has been accepted as the official language of India, should be learnt by all without any hesitation. It will act as a powerful unifying force."[4] अर्थात् – *हिन्दी जो भारत की राजकीय भाषा स्वीकृत की जा चुकी है, समस्त देशवासियों द्वारा बिना किसी संकोच के सीखी जानी चाहिए। यह (हिन्दी) प्रबल एकता-विधायक शक्ति के रूप में कार्य करेगी।* इस तरह यह स्पष्ट है कि वे हिन्दी को विविध प्रदेशों की जनता में प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करनेवाली तथा एकता-विधायक शक्ति के रूप में देखते थे और उसे शिक्षाक्रम का अपरिहार्य अंग मानते थे।

मानव का सम्यक् सन्तुलित विकास कला और विज्ञान के समन्वय पर ही निर्भर है। किसी भी एक अंग पर अधिक जोर देने से दूसरा अंग दुर्बल रह जायेगा और विकास में बाधक बनेगा। अतः श्यामा बाबू ने ज्ञान के इन दोनों विभागों पर समान जोर देते हुए यही सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि शिक्षा, मनुष्य के सर्वांगीण विकास की साधक होनी चाहिए। इसीलिए यदि एक ओर उन्होंने दर्शन और इतिहास, भाषा और साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र, पुरातत्त्व और स्थापत्य, संगीत और चित्रकला आदि विषयों के पढ़ने-पढ़ाने की व्यवस्था की, तो दूसरी ओर रसायन एवं भौतिक विज्ञान, गणित एवं सांख्यिकी, चिकित्सा-विज्ञान एवं शिल्पविज्ञान, मनोविज्ञान एवं शरीर विज्ञान, जीवविज्ञान एवं वनस्पति-विज्ञान आदि विषयों का भी अत्यन्त मनोयोगपूर्वक संवर्धन किया। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि भूमण्डल का कोई भी ऐसा शास्त्र या कला न बचे जिसकी शिक्षा-दीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय में न होती हो। सीमित साधनों के द्वारा ही जितना कार्य वे कर गये, वह हम सबको सदा स्फूर्ति और प्रेरणा देता रहेगा।

उनकी उत्कट इच्छा थी कि भारतीय विद्वान् विदेशी विद्वानों के उच्छिष्ट को ही सन्तोष-पूर्वक सम्बल न मान कर स्वयं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़कर विविध विषयों में भारतीय प्रतिभा का दान विश्व को दें। अतः वे अनुसंधान पर बहुत अधिक जोर देते थे। उनके दीक्षान्त भाषणों में भारतीय विद्वानों के अनुसंधानों की भूरि-भूरि प्रशंसा और शोधरत होने की आन्तरिक प्रेरणा सर्वदा प्रमुख स्थान पाती थी। उच्चशिक्षा और अनुसन्धान के ऊपर इतना अधिक ममत्व देखकर कुछ लोग यह गलत धारणा बना सकते हैं कि वे प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का महत्त्व कम आँकते थे। उनके समय में विदेशी सरकार द्वारा यह चेष्टा भी की गयी थी कि उच्च शिक्षा पर होने वाला व्यय घटाकर प्राथमिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाय। इसका उन्होंने प्रचण्ड विरोध किया था और इस मत के विरुद्ध इतना प्रबल जनमत तैयार किया कि सरकार ऐसा करने का दुःसाहस न कर सकी। उच्च शिक्षा पर होने वाला व्यय आगे ही बहुत कम था, इसमें और कटौती करना तो मानो ज्ञान-विज्ञान के नवीन क्षेत्रों में संचरण करने का भारतीयों का अधिकार ही छीन लेना था। अतः इस प्रस्ताव का विरोध वे उग्रता-पूर्वक करते रहे। प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए वे और भी अधिक व्यय एवं प्रयत्न करने के पक्ष में थे किन्तु उच्च शिक्षा को पंगु कर प्राथमिक शिक्षा को बढ़ावा देना वे शिक्षा के उद्देश्य को ही विफल कर देना समझते थे। शिक्षा को खण्ड दृष्टि से देखने के वे सदा विरोधी रहे। शिक्षा प्राथमिक, माध्यमिक, उच्चमाध्यमिक, एवं उच्च आदि विशेषण से युक्त की जा कर एक-दूसरे से भिन्न या विरोधी कैसे बतायी जा सकती है? वह तो एक ही है, अखण्ड है, केवल सुविधा के लिए, उसके विकास क्रम को समझने के लिए, ये नाम दे दिये गये हैं। उच्च शिक्षा तभी सार्थक हो सकती है जब कि प्राथमिक शिक्षा की नींव गहरी और निर्दोष हो, उसका विकास स्वस्थ और क्रमागत हो। कलकत्ता विश्वविद्यालय में चतुर्थ दीक्षान्त भाषण देते हुए उन्होंने ५ मार्च १९३८ को स्पष्टतः यह प्रतिपादित किया था कि शिक्षा को इन विशेषणों के कठघरों में विभक्त कर एक के नाम पर दूसरे का अंगभंग करना वस्तुतः आत्मघाती नीति है। इसके विपरीत उनका सिद्धान्त था कि ऐसी शिक्षानीति का अवलम्बन करना चाहिए जिससे निम्नतम स्तर से उच्चतम स्तर तक सतत प्रगति होती रहे। प्राथमिक शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे साक्षरता का अधिकाधिक विस्तार हो, सदाचार, उदार दृष्टि एवं कर्मठता के गुणों का विकास हो, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय चेतना विकसित हो सके। माध्यमिक शिक्षा के व्यापक प्रसार से ही स्वस्थ एवं उदार शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो सकती है और इसी के द्वारा शिक्षार्थियों को ज्ञान के विविध क्षेत्रों में उनकी रुचि और शक्ति के अनुसार प्रवृत्त कराया जा सकता है और इसी के स्वाभाविक विकास के रूप में उच्च शिक्षा और अनुसन्धानों का क्रम आता है जिनके ऊपर हमारे देश की उन्नति

निर्भर है। अतः शिक्षा के ये विभाग परस्पर विरोधी न होकर परस्पर पूरक हैं। इसके विपरीत सोचना और करना या तो शिक्षा सम्बन्धी अज्ञान का या अपने द्वेष का परिचय देना है। उनके इस मत को सभी शिक्षाविदों ने स्वीकार किया।

शिक्षा केवल कुछ विषयों के बारे में सूचना देना भर नहीं है, यह सिद्धान्त उनके मन में बड़ा गहरा पैठा हुआ था। अतः अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त खेलकूद की उन्होंने सुष्ठु व्यवस्था की। सैनिक शिक्षा प्रत्येक विद्यार्थी को मिलनी ही चाहिए, ऐसा उनका मत था। स्वतन्त्र भारत के विद्यार्थियों को उपाधि देने के पूर्व सामाजिक सेवा की शिक्षा देनी चाहिए, यह सुझाव उन्होंने दिल्ली वि० वि० में दीक्षान्त भाषण देते हुए दिया था। उनके मतानुसार सर्व-धर्मसम्मत नैतिक शिक्षा भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित की जा सकती है किन्तु संकीर्ण एवं अन्य धर्मविरोधी शिक्षा पाठ्यक्रम में सम्मिलित नहीं की जानी चाहिए। इस तरह व्यापक, उपादेय एवं सन्तुलित शिक्षाक्रम का समर्थन उनके अनुभव और विचारों की परिपक्वता का प्रमाण है।

शिक्षकों पर ही शिक्षा की सफलता व असफलता निर्भर करती है। वे ही भविष्य के निर्माता हैं। उन्हें निस्पृह, कर्त्तव्यपरायण, छात्रवत्सल और भारतीय संस्कृति में आस्थाशील होना चाहिए, अध्ययन-अध्यापन ही उनकी जीवन-साधना हो। यह एक कटु सत्य है कि वर्त्तमान व्यवस्था शिक्षकों की भौतिक सुख सुविधा के प्रति लगभग उदासीन है। श्यामाप्रसाद ने इस दिशा में भी शिक्षकों को कुछ राहत पहुँचाने की चेष्टा की थी, किन्तु अर्थाभाव के कारण विशेष फलप्रसू व्यवस्था नहीं की जा सकी। श्यामाप्रसाद ने शिक्षकों को अपने महान्, सर्वस्व-त्यागी, शिक्षाव्रती पूर्वजों का अनुसरण करने के लिए आमन्त्रित किया था। उनके मतानुसार उच्चकोटि के आधुनिक भारतीय विद्वानों और शिक्षकों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे अपने देश के प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता-संस्कृति की छानबीन कर आधुनिक युग के उपयोगी तथा वर्त्तमान वैज्ञानिक विचारधारा के अविरोधी जीवनदर्शन की रचना करें जिसके सहारे भारत विश्वसभा में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर सके। उन्होंने बार-बार यह विचार प्रकट किया था कि शिक्षक शिक्षार्थी का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय शिक्षाप्रणाली के अनुरूप पितापुत्र के सम्बन्धवत् होना चाहिए तभी वास्तविक एवं स्वाभाविक श्रद्धाप्रसूत अनुशासन उत्पन्न होगा। बलपूर्वक आरोपित अनुशासन से कभी किसी का कल्याण नहीं होता, शिक्षा के क्षेत्र में तो वह और भी असुविधाओं और समस्याओं की सृष्टि कर देता है। शिक्षकों को शिक्षादान की वैज्ञानिक पद्धति से अवगत कराने के लिए उन्होंने शिक्षक-शिक्षण की व्यवस्था पर बहुत जोर दिया था। प्रशिक्षित शिक्षक शिक्षादान के गुरुत्व और महत्त्व को समझ कर योग्यतापूर्वक भावी भारत के तेजस्वी, दिव्य, भव्य और समृद्ध रूप की रचना में आत्म-नियोग करें, यही उनकी कामना थी।

शिक्षार्थियों के प्रति श्यामाप्रसाद के हृदय में अपार स्नेह और ममत्व था। उनकी दृष्टि में प्रत्येक शिक्षार्थी योग्य शिक्षा पाकर भारत माता का श्रेष्ठ सेवक बननेवाला था, गुलामी की बेड़ियों को तोड़नेवाला था, विश्वसभा में भारत का मान-सम्मान बढ़ाने वाला था। उनका विश्वास था कि शिक्षा मनुष्य मात्र का मौलिक अधिकार है, लेकिन देश में मुश्किल से १० प्रतिशत व्यक्ति साक्षर थे। यह बहुत बड़ी विडम्बना थी। जब-जब उन्हें कोई गरीब विद्यार्थी अर्थाभाव के कारण पढ़ाई छोड़ता दिखता, उनका दिल कचोट उठता। लड़कियों की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध करना चाहिए, यह उनका निश्चित मत था तथा अधिकाधिक छात्रवृत्तियों के द्वारा वे सुलभ एवं स्वावलम्बी शिक्षा की व्यवस्था करना चाहते थे। शिक्षार्थियों में तीव्र अध्ययन-पिपासा, लगन, विनम्रता, धैर्य, सौहार्द, गुरुजनों पर श्रद्धा एवं अपनी संस्कृति पर गहरी आस्था तो वे देखना चाहते ही थे, किन्तु जिसमें ये सभी गुण समा जाते हैं और जिसके बिना ये सब फीके पड़ जाते हैं उस दृढ़ चरित्र का विकास विद्यार्थियों में हो, यह उनका परम अभीष्ट था। उनका मत था कि जनता के चरित्र के अनुरूप ही राष्ट्र उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होते हैं या अवनति के गर्त्त में पतित होते हैं। धन-सम्पत्ति, शस्त्रास्त्र, अनुशासित स्थल, जल एवं वायुसेना आदि सभी राष्ट्रोत्थान के लिए आवश्यक हैं, किन्तु जिस तत्त्व पर राष्ट्र का जीवन-मरण निर्भर करता है, वह है जनता का चरित्र और इस चरित्र की सृष्टि होती है शिक्षालयों में, शिक्षार्थी अवस्था में। अतः हमारे शिक्षार्थी चरित्रवान् बनें, वास्तविक शिक्षा प्राप्त कर मातृभूमि के दुःख-दर्द को दूर करने के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ कमर कसकर जुट सकें, कठोर परिश्रम, त्याग और सेवा उनका मूल मन्त्र हो एवं समस्त क्षेत्रों में यशस्वी बनकर भारत माता का मुख उज्ज्वल कर सकें, यही उनका स्वप्न था।

शिक्षा-संस्थानों का संचालन योग्य, अनुभवी और निःस्वार्थ शिक्षाविदों द्वारा होना चाहिए, नौकरशाही के बड़े बाबुओं द्वारा नहीं। राजकीय सहायता तो उन्हें भरपूर मिलनी चाहिए किन्तु राजकीय नियन्त्रण उनपर कम-से-कम होना चाहिए। प्रयोगशाला, पुस्तकालय, पत्रिका, उद्यान आदि की सुव्यवस्था होनी चाहिए। वातावरण ऐसा होना चाहिए जिससे अध्ययन, अध्यापन, अन्वेषण की ओर सहज प्रवृत्ति हो। क्षुद्र स्वार्थी मनोवृत्ति, संकीर्ण दलबन्दी, व्यक्तिगत अधिकार-लिप्सा आदि दुष्टवृत्तियों के लिए इनमें कोई स्थान नहीं होना चाहिए। उनके मतानुसार वह विश्वविद्यालय विश्वविद्यालय संज्ञा का अधिकारी नहीं है जिसमें ज्ञानविज्ञान की विविध शाखाओं के उच्चतम अध्ययन और गवेषणा की सुविधा नहीं है, जहाँ राष्ट्र निर्माण नहीं होता है, जहाँ से प्रतिवर्ष संकीर्ण विशेषज्ञों के स्थान पर भारत को आध्यात्मिक, नैतिक, आर्थिक और औद्योगिक उन्नति करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ, कर्मठ नेताओं और कार्यकर्त्ताओं की सेना नहीं निकलती है।

स्वतन्त्र भारत के कर्णधारों के विचारार्थ शिक्षा के पुनःसंघटन के लिए एक

षट्सूत्री कार्यक्रम उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए उपस्थित किया था। संक्षेप में उनके सुझाव ये थे :-

(१) राज्य द्वारा शिक्षा-विस्तार का दायित्व अविलम्ब ग्रहण किया जाना चाहिए। इसके लिए एक यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन की स्थापना की जानी चाहिए, जिसके अधिकार में पर्याप्त कोष होना चाहिए। यह कमीशन विविध विश्वविद्यालयों को विविध सुधारों के लिए मुक्तहस्त से सहायता करे, किन्तु राजकीय सहायता का अर्थ विश्वविद्यालयों की स्वाधीनता का अपहरण नहीं होना चाहिए।

(२) अपनी-अपनी पृथक् विशेषताओं के बावजूद विश्वविद्यालयों के अध्यापन और परीक्षणक्रम में एक सर्वस्वीकृत उचित स्तर का निर्वाह होना चाहिए। निरर्थक पिष्टपेषण और अपव्यय से बचना चाहिए।

(३) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो, जहाँ यह संभव नहीं है वहाँ क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जानी चाहिए, किन्तु अंग्रेजी के विरुद्ध विद्वेष नहीं होना चाहिए।

(४) भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में भिन्न-भिन्न विषयों की विशेषज्ञता अर्जित करने का प्रयास होना चाहिए। विश्वविद्यालयों में प्राध्यापकों का योजना-पूर्वक पारस्परिक विनिमय होना चाहिए। इसी तरह एक विश्वविद्यालय के छात्रों को अन्य विश्वविद्यालयों के परिदर्शन का अवसर मिलना चाहिए।

(५) विभिन्न विषयों में विशेषतः विज्ञान और शिल्प-सम्बन्धी विषय में विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों और अध्यापकों को विदेश भेजना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये विषय ऐसे हो जिनके सम्बन्ध में विशेषज्ञता प्राप्त करना स्वदेश में सम्भव नहीं है।

(६) ग्रेजुएट उपाधि प्राप्त करने के पूर्व प्रत्येक शिक्षार्थी को अनिवार्य रूप से कुछ समय तक सामाजिक सेवा का कार्य करना चाहिए ताकि वे अपने देश की परिस्थितियों से परिचित हो सकें और कर्मजीवन में प्रवेश कर उन्हें दूर करने का प्रयास कर सकें।

हर्ष की बात है कि शासन द्वारा यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन की स्थापना की जा चुकी है और राष्ट्रीय शिक्षा के पुनर्निर्माण में बहुत से महत्त्वपूर्ण कदम उठाये जा रहे हैं। हमारा विश्वास है कि आदर्श और यथार्थ का समन्वय करनेवाली श्यामाप्रसाद की शिक्षानीति से स्वतन्त्र भारत लाभ उठायेगा और गौरवोज्ज्वल भविष्य की सृष्टि करने में सफल होगा। ●

संदर्भ :

1. Dr. Mookerjee on Education, Page 31-32, (2) वही Page 53
(3) वही Page 132, (4) वही Page 151.

जयप्रकाश नारायण : क्रान्तिकारी भी आध्यात्मिक भी

जयप्रकाश नारायण की पूरी राजनीति त्याग की, बलिदान की राजनीति थी, ग्रहण और उपभोग की नहीं। वे चाहते तो ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त कर सकते थे। उन्होंने अपने सहयोगियों को आगे बढ़ाया और वे स्वयं तपस्या ही करते रहे। काश ! आज भी कुछ लोग उनके इस आदर्श का अनुकरण कर पाते।

जयप्रकाश नारायण उन बिरले भारतीय नेताओं में अन्यतम रहे हैं, जिन्होंने पराधीन भारतवर्ष में और स्वाधीन भारतवर्ष में भी जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए घनघोर संघर्ष किया, कारावरण किया। उनकी क्रान्तिकारी चेतना लोकमंगल के लिए समर्पित थी, सत्तारूढ़ होने के प्रति नहीं। १८ वर्ष की आयु में पहले उन्होंने महात्मा गाँधी का और फिर मौलाना अबुल कलाम आजाद का व्याख्यान सुना कि देश की स्वाधीनता की लड़ाई के सिपाहियों को अंग्रेज सरकार के द्वारा स्थापित विद्यालयों, महाविद्यालयों में नहीं पढ़ना चाहिए। इन व्याख्यानों से प्रभावित होकर उन्होंने पटना कॉलेज छोड़ दिया और बिहार विद्यापीठ के विद्यार्थी बन गये। १९२० में ही उनका विवाह पक्के गाँधीवादी ब्रज किशोर प्रसाद की पुत्री प्रभावती देवी के साथ हुआ। जयप्रकाश नारायण आगे पढ़ना भी चाहते थे और ब्रिटिश सरकार का विरोध भी करना चाहते थे। ऐसा तभी संभव था जब वे विद्याध्ययन के लिए विदेश जाते। उन्होंने इस विषय में प्रभावती देवी के साथ परामर्श किया। प्रभावती देवी उस समय केवल १६ वर्ष की थीं। विवाह हुए अभी दो वर्ष हुए थे। उन्होंने बेझिझक कहा 'पढ़ाई के लिए परदेश जाने में बुरा क्या है, वहाँ से पढ़कर आप लौटेंगे तो देश सेवा करेंगे।' जयप्रकाश नारायण को अमेरिका जाने की प्रेरणा स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के व्याख्यान से मिली। स्वामीजी ने उनके विद्यालय में एक व्याख्यान देते हुए कहा था कि अमेरिका में विद्यार्थी पढ़ते भी हैं और उसके लिए आवश्यक धनोपार्जन भी करते हैं। जयप्रकाश नारायण १९२२ से १९२९ तक सात वर्ष अमेरिका में रहे। वे आवश्यक धनोपार्जन फीस

देने के लिए खेत, खलिहान, कारखाने आदि में काम भी करते रहे और पढ़ाई भी करते रहे। समाजशास्त्र में एम. ए. की उपाधि प्राप्त कर वे स्वदेश लौटे। अमेरिका में वर्ग-वैषम्य को देखकर, रंग-वैषम्य का अनुभव कर उनका झुकाव मार्क्सवाद के प्रति हो गया था। विचारों से कट्टर मार्क्सवादी होते हुए भी संस्कारों से वे मर्यादावादी हिन्दू बने रहे, इसीलिए वे अमेरिका की कई उच्छृंखल महिलाओं की अश्लील हरकतों को उपेक्षा कर सके। अमेरिका जाते समय जयप्रकाश नारायण अपनी पत्नी प्रभावती देवी को गीता की प्रति देकर आये थे और उन्हें चरखा चलाने की प्रेरणा भी दी थी क्योंकि वे जानते थे कि प्रभावती को गाँधीजी के आश्रम में भेज दिया जायेगा। यह बात जयप्रकाश नारायण को बराबर याद रही और इसीलिए उच्छृंखल भोग-विलास का विरोध करते हुए उन्होंने कई बार कहा था 'मैं हिन्दू हूँ, मैं ऐसा नहीं कर सकता।'

जयप्रकाश नारायण विचारों से मार्क्सवादी बनकर भारत लौटे। तब तक प्रभावती देवी ने गाँधीजी के आश्रम में ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया था। पहले तो जयप्रकाश नारायण इससे बहुत क्षुब्ध हुए और महात्मा गाँधी से भी उन्होंने अपना रोष प्रकट किया, किन्तु जब बाद में उनको अनुभव हुआ कि ब्रह्मचर्य का व्रत लेने की प्रभावती देवी की आन्तरिक प्रेरणा है तो मार्क्सवादी जयप्रकाश नारायण ने भी उनके निर्णय को स्वीकार कर लिया। बहुतों को यह मालूम ही नहीं है कि जयप्रकाश नारायण और प्रभावती देवी आजन्म ब्रह्मचारी रहते हुए भी परस्पर एक दूसरे के पूरक और प्रेरक बने रहे।

गाँधीजी के आश्रम में ही जयप्रकाश नारायण का परिचय पं० जवाहर लाल नेहरू से हुआ और दोनों एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए। पं० नेहरू की प्रेरणा से उन्होंने इलाहाबाद आकर कांग्रेस के श्रमिक प्रकोष्ठ का काम सम्हाल लिया। किन्तु जयप्रकाश नारायण का परिवार उन दिनों गहरे आर्थिक संकट से जूझ रहा था, जिससे उबरने के लिए उन्हें तत्काल धनोपार्जन करने की विवशता थी। महात्मा गाँधी के प्रभाव से वे श्री घनश्याम दास बिड़ला के व्यक्तिगत सचिव नियुक्त हुए, किन्तु यह काम जयप्रकाश नारायण को रुचा नहीं। केवल छह महीनों के बाद ही उन्होंने इस काम को छोड़ दिया और पुनः कांग्रेस श्रमिक प्रकोष्ठ के प्रभारी का उत्तरदायित्व सम्भाल लिया। जयप्रकाश नारायण की प्रतिभा और अटूट लगन के कारण कांग्रेस का श्रमिक प्रकोष्ठ पूरे देश में अपनी पहचान बना सका और समाजवादी विचारधारा की ओर तेजस्वी युवकों को आकृष्ट करने में समर्थ हो सका।

सामान्य जनता की दृष्टि में राष्ट्रीय मंच पर जयप्रकाश नारायण का आविर्भाव हुआ १९४२ के आन्दोलन के समय, जब वे हजारीबाग जेल की १७ फीट ऊँची दीवार को लाँघ कर बाहर आ गये थे और पूरे एक वर्ष तक देश भर के क्रान्तिकारी युवकों

का नेतृत्व करते रहे थे। यह कम लोगों को मालूम है कि इससे पहले भी वे तीन बार राजद्रोह के अभियोग में ब्रिटिश सरकार के द्वारा गिरफ्तार किये जा चुके थे। पहले १९३२ में मद्रास में, फिर १९४० में जमशेदपुर में और १९४१ में बंबई में। बंबई से वे देवली कैम्प जेल भेजे गये थे, जहाँ उन्होंने कैदियों के मानवाधिकारों की रक्षा के लिए ३१ दिन का उपवास किया था। वहीं से उन्हें हजारीबाग जेल भेजा गया था।

हजारीबाग जेल से निकलकर जयप्रकाश नारायण पूरे एक वर्ष तक सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आन्दोलन का नेतृत्व करते रहे। इसी क्रम में उन्हें यह लगा कि कुछ प्रशिक्षित क्रान्तिकारियों के द्वारा इस आन्दोलन को गति दी जा सकती है। अतः उन्होंने यह निश्चय किया कि नेपाल में सैनिक प्रशिक्षण देने वाले आजाद दस्ते का गठन किया जाये। वे तेजस्वी युवकों के सहयोग से इस दस्ते का गठन करने में सफल हुए। नेपाल में उन्होंने ब्रिटिश सेना से भागे तीन अफसरों के सहयोग से इस दस्ते के क्रान्तिकारियों को सैनिक प्रशिक्षण दिलाया और एक रेडियो प्रसारण केन्द्र भी स्थापित किया, जिसके माध्यम से वे अपने क्रांतिकारी विचारों को प्रसारित करते थे। अंग्रेज सरकार के दबाव के कारण नेपाल सरकार ने जयप्रकाश नारायण को गिरफ्तार कर लिया, किन्तु आजाद दस्ते के नौजवानों ने सूरज नारायण सिंह के नेतृत्व में धावा बोलकर जयप्रकाश नारायण और राम मनोहर लोहिया को मुक्त करा लिया। वे दोनों पुनः १९४२ के आन्दोलनकारियों को प्रेरणा देते हुए भारतवर्ष का भ्रमण करते रहे। सितम्बर १९४३ में जयप्रकाश नारायण अमृतसर में गिरफ्तार हुए और उन्हें लाहौर किले में घनघोर यातना दी गयी किन्तु वे टस से मस नहीं हुए।

ढाई वर्ष की सजा भुगतने के बाद अप्रैल १९४६ में वे लाहौर किले के कारागार से मुक्त हुए। सारे देश ने उनको वरेण्य नेता के रूप में ग्रहण किया और स्थान-स्थान पर उनका सम्मान किया गया। पटना के स्वागत समारोह में विशालतम सभा में उनका अभिनन्दन किया गया, जिसमें दिनकर ने उन पर लिखी अपनी ऐतिहासिक कविता का पाठ किया। इस कविता में दिनकर ने उन्हें 'भावी भारत का भाग्य विधाता' बताते हुए घोषित किया—

सेनानी करो प्रयाण अभय,
भावी इतिहास तुम्हारा है।
ये नखत अमा के बुझते हैं,
सारा आकाश तुम्हारा है।

देश का विभाजन जयप्रकाश नारायण नहीं चाहते थे, किन्तु कांग्रेस के थके नेता और प्रतीक्षा करने के लिए तैयार नहीं थे। फलतः देश के विभाजन के बाद खण्डित भारत को आजादी मिली, इससे कांग्रेसी नेताओं के प्रति उनका मोहभंग हुआ। महात्मा

गाँधी की हत्या के कारण भी एक बड़ी चुनौती का अनुभव जयप्रकाश नारायण ने किया और अपनी उस पीड़ा में भी वे देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए बेचैन हो उठे। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि सत्तारूढ़ कांग्रेस दल जनता से धीरे-धीरे दूर होता जा रहा है और उसमें भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है। अतः उन्हें लगा कि उनको एक राजनैतिक पार्टी बनाकर समाजवादी समाज की स्थापना के लिए संघर्ष करना चाहिए। फलतः १९४८ में उन्होंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को सोशलिस्ट पार्टी के रूप में बदल दिया। सोशलिस्ट पार्टी एक तरफ कांग्रेस से दूसरी तरफ कम्युनिस्ट पार्टी से अलग रहकर भारतीय परम्परा से जुड़े रहकर समाजवादी विचारधारा के अनुसार नये भारत के निर्माण के लिए समर्पित होकर काम करने लगी।

१९४८ से १९५२ तक जयप्रकाश नारायण ने पहले सोशलिस्ट पार्टी और फिर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के पक्ष में धुंआधार प्रचार किया। श्रमिक संगठनों का नेतृत्व किया और १९५२ के चुनाव युद्ध में अपनी पार्टी की सफलता के लिए जी-तोड़ मेहनत की। वे स्वयं उम्मीदवार नहीं बने थे, किन्तु पार्टी के उम्मीदवारों को जिताने के लिए उन्होंने दिन-रात एक कर दिया। ५२ के चुनाव में पार्टी को करारी हार का सामना करना पड़ा और उनके केवल दो उम्मीदवार चुनाव में विजयी हुए। फलस्वरूप पार्टी में विवाद भी हुआ और कुछ लोगों ने जयप्रकाश नारायण पर यह आरोप भी लगाया कि वे भीतर से कांग्रेस से मिले हुए थे। इससे उन्हें बहुत पीड़ा पहुँची और वे सत्ता की राजनीति से विरक्त होने लगे। पं० नेहरू ने १९५३ में उन्हें आमंत्रित किया कि वे सरकार में शामिल हों। उन्होंने विनम्रतापूर्वक उनका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। विनोबा भावे से उनकी पहली मुलाकात पवनार आश्रम में हुई थी। महात्मा गाँधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी के रूप में उन्होंने विनोबा भावे को स्वीकार किया और वे उनके आध्यात्मिक-रचनात्मक कार्यों से बहुत प्रभावित भी हुए। वे क्रमशः भूदान आन्दोलन की ओर आकृष्ट होते गये और १९ अप्रैल, १९५४ को उन्होंने बोधगया में भूदान के लिए जीवनदान करने की घोषणा की। बिहार के शेखोदेवड़ा गाँव में १९५४ में उन्होंने सर्वोदय आश्रम की स्थापना की और वे सत्ता की राजनीति छोड़कर लोकनीति की राजनीति करने लगे। उनके इसी समय के गंभीर चिन्तन ने उन्हें यह भी बताया कि भौतिकवाद मनुष्यों को अधिकार के लिए लड़ने की प्रेरणा तो देता है, किन्तु निःस्वार्थ भाव से परोपकार करने की प्रेरणा नहीं देता। मनुष्य को मूलभूत रूप से अच्छा बनने की प्रेरणा अध्यात्म से मिलती है, क्योंकि वही यह बताता है कि सबमें एक ही चैतन्य है, इसलिए सभी एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और इसीलिए आध्यात्मिक व्यक्ति ही दूसरे के दुख से दुखी होकर उनके दुख को दूर करने की साधना कर सकता है। इसीलिए गाँधी एवं विनोबा के चिन्तन से प्रभावित होकर उन्होंने सर्वोदय के लिए अपने को समर्पित कर दिया।

१९५४ से १९७३ तक की लम्बी यात्रा में जयप्रकाश नारायण भूदान से जुड़े रहकर भी देश और विदेश की स्थायी महत्व की गतिविधियों में भाग लेते रहे। इसी सन्दर्भ में १९५५ में राष्ट्रपति मार्शल टीटो से उनकी मुलाकात, १९५८ में इजराइल की और १९६२ में अफ्रीका की उनकी यात्राएँ, १९६४ में नागालैंड में शान्ति स्थापना के लिए पीस मिशन का कार्य, १९६८ की उनकी अमेरिका यात्रा, १९७० में नक्सलवादी आन्दोलन का प्रतिवाद करते हुए बिहार के मुसहरी प्रखण्ड में ग्राम स्वराज के लिए किया गया कार्य, १९७१ में बांगलादेश की स्वतंत्रता का समर्थन एवं उसके लिए व्यापक राजनयिक सम्पर्क, चम्बल के बागियों से उनके द्वारा कराया गया आत्मसमर्पण जैसी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। १९७३ में उनकी पत्नी प्रभावती देवी जी का स्वर्गवास हो गया और एक बार तो ऐसा लगा कि इसके बाद शायद वे सक्रिय सामाजिक जीवन में भाग न ले सकें, किन्तु व्यक्तिगत क्षति से कहीं अधिक हावी हुई उन पर देश की जलती हुई परिस्थितियाँ। १९७४ के पूर्वार्द्ध में गुजरात में और उत्तरार्द्ध में बिहार में कांग्रेस सरकार की दुर्नीतियों के विरुद्ध प्रबल छात्र आन्दोलन छिड़ा और जयप्रकाश नारायण दोनों आन्दोलनों के मार्गदर्शक बने। छात्रों ने ही उन्हें *'लोकनायक'* की पदवी दी। इसी संघर्ष के दौरान उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा दिया और संघर्ष का नेतृत्व करते हुए ४ नवम्बर, १९७४ को पटना में पुलिस की लाठियाँ भी झेलीं। प्रभु कृपा से उस समय नानाजी देशमुख उनके साथ थे, जिन्होंने जयप्रकाश नारायण पर बरसती हुई लाठियाँ स्वयं झेल लीं, अन्यथा उस दिन अनर्थ हो सकता था, फिर भी एक लाठी जयप्रकाश नारायण के माथे पर लगी और उनके सिर से रक्त बहने लगा। स्वाधीन भारत में जयप्रकाश नारायण जैसे बड़े नेता के ऊपर ऐसा घृणित प्रहार भारतीय राजनीति के लिए सदा लज्जा का विषय रहेगा। श्रीमती इंदिरा गाँधी के अतिरेकों का विरोध कर वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना के लिए जयप्रकाश नारायण युवा शक्ति का नेतृत्व करते रहे। १२ जून, १९७५ को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने श्रीमती इंदिरा गाँधी के चुनाव को अवैध घोषित कर दिया। २५ जून, १९७५ को जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में रामलीला मैदान, दिल्ली में एक विशाल जनसभा आयोजित हुई, जिसमें प्रायः सभी दलों के नेता शामिल हुए और उस सभा में इंदिरा गाँधी से प्रधान मंत्री पद से त्यागपत्र देने की माँग की गयी तथा ऐसा न करने पर और उन्हें इसके लिए विवश करने हेतु प्रबल जनसंघर्ष छेड़ने की घोषणा की गयी। अगले ही दिन श्रीमती इंदिरा गाँधी ने आपातकाल की घोषणा कर दी और न केवल जयप्रकाश नारायण को बल्कि प्रतिपक्ष के सभी बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर लिया।

आपातकाल के १९ महीने जयप्रकाश नारायण के सबसे कठिन परीक्षा के दिन रहे। देश लोकतंत्र के स्थान पर तानाशाही की ओर बढ़ रहा था। सभी प्रमुख विरोधी

नेता कारागार में थे। सरकारी अत्याचार का कठिन आतंक छाया हुआ था फिर भी स्थान-स्थान पर जनता आपातकाल का प्रतिवाद कर रही थी और ऐसा करने के लिए लोकनायक जयप्रकाश नारायण की प्रेरणा उसे सुलभ थी। जयप्रकाश नारायण जी ने आपातकाल का विरोध करते हुए एक बहुत ही मार्मिक पत्र इंदिरा गाँधी को लिखा था, जिसमें उन्होंने यह बात कही थी कि प्रजातंत्र में जनता को यह हक प्राप्त होना चाहिए कि यदि चुनी हुई सरकार भ्रष्ट हो जाय, अनुचित शासन करे, अत्याचार करे तो वह उस सरकार को त्यागपत्र देने के लिए विवश कर सके। जिन प्रतिनिधियों को जनता ने चुना है, उनके प्रत्याहार का, उनको वापस बुलाने का अधिकार भी जनता को प्राप्त होना चाहिए। उन्होंने इस बात पर भी क्षोभ प्रकट किया था कि कुछ लोग इंदिरा गाँधी को देश के समतुल्य मानने लगे हैं। यह एकदम गलत बात है।

कारागार में जयप्रकाश नारायण गंभीर रूप से बीमार हुए तथा उनके दोनों गुर्दे खराब हो गये, किन्तु उनका मन मजबूत बना रहा। नित्य गीता एवं रामचरितमानस का पाठ करने के बाद वे मुक्त चिन्तन करते रहे, डायरी लिखते रहे। छिटपुट मित्रों को पत्र लिखते रहे। इस काल का उनका लेखन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, जो प्रभु के प्रति उनकी निष्ठा को और देश के लोकतंत्र के प्रति उनकी श्रद्धा को समान रूप से व्यक्त करता है। बड़े-बड़े नेताओं के अभाव में जनता में आपातकाल के विरुद्ध गहरा आक्रोश था जो भीतर ही भीतर सुलगता रहा। देश की जनता उस अंधकारपूर्ण काल में जयप्रकाश नारायण को प्रकाश के स्रोत के रूप में देखने लगी थी। १९४२ में तो महात्मा गाँधी थे, पं० नेहरू थे, सरदार पटेल थे, किन्तु आपातकाल के १९ महीनों में तो सबसे बड़े नेता जयप्रकाश नारायण ही थे। जनता अपने त्राण के लिए उन्हें जिस भाव से देखती थी, इसका कुछ आभास दुष्यंत कुमार की इन पंक्तियों में मिलता है–

एक बूढ़ा आदमी है मुल्क में या यों कहो,
इस अंधेरी कोठरी में एक रोशनदान है।

आपातकाल के अंधकार को परास्त करने के लिए जयप्रकाश नारायण का ही प्रकाश जनगण के मन में व्याप्त हो रहा था। इंदिरा जी ने अपने सूत्रों से प्राप्त सूचना पर यह मान लिया था कि आपातकाल के विरोधियों का छत्र भंग हो चुका है। जनता अब कांग्रेस के साथ है, अतः १८ जनवरी, १९७७ को उन्होंने यह घोषणा कर दी कि वे लोक सभा का चुनाव करवाएँगी। उनको यह विश्वास था कि विभाजित प्रतिपक्ष उनकी क्षमता का मुकाबला नहीं कर सकेगा। चुनाव की घोषणा के बाद प्रतिपक्ष के नेता रिहा किये जाने लगे। सभी की दृष्टि लोकनायक जयप्रकाश नारायण की ओर लगी थी। जयप्रकाश नारायण दिल्ली गये। वहाँ मोरारजी भाई, अटल जी तथा अन्य नेताओं के साथ उन्होंने परामर्श किया और सब नेताओं ने जयप्रकाश नारायण के निर्देश को

स्वीकार करते हुए मिलकर चुनाव लड़ने का निर्णय लिया। संगठन कांग्रेस, लोकदल, भारतीय जनसंघ, समाजवादी पार्टी और बाद में जगजीवन राम और हेमवती नन्दन बहुगुणा भी मिलजुल कर चुनाव लड़ने के लिए तैयार हो गये। जयप्रकाश नारायण का आग्रह स्वीकार कर सब विपक्षी दलों ने एक ही चुनाव चिन्ह पर जनता पार्टी के उम्मीदवार के रूप में मिलजुल कर चुनाव लड़ने का फैसला किया। श्रीमती इंदिरा गाँधी ने नारा दिया था 'रोटी या आजादी' और जयप्रकाश नारायण ने नारा दिया था 'रोटी और आजादी'। इस चुनावी महाभारत के परिणाम देखकर जनता हर्ष से उछल पड़ी। स्वयं इंदिरा गाँधी को, संजय गाँधी को पराजय का मुख देखना पड़ा था। मार्च १९७७ में जयप्रकाश नारायण का नेतृत्व स्वीकार कर स्वाधीन भारतवर्ष ने पुनः लोकतंत्र की प्रतिष्ठा की थी।

इतिहास का यह भी एक अनूठा तथ्य है कि नयी सरकार का गठन तो २७ मार्च, १९७७ को हो गया, किन्तु जनता पार्टी का विधिवत् गठन १ मई, १९७७ को ही हो सका। इस नयी सरकार के गठन में भी और प्रधानमंत्री के चयन में भी जयप्रकाश जी का महत्त्वपूर्ण योगदान था। मैं मानता हूँ कि जयप्रकाश नारायण के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि उन्होंने तानाशाही की प्रवृत्तियों को परास्त कर देश की लोकतांत्रिक चेतना को सुदृढ़ बनाया। यह दुर्भाग्य की बात है कि जनता पार्टी की सरकार भी मिलजुल कर काम नहीं कर पायी और नये सत्तानायकों ने भी एक तरह से लोकनायक की उपेक्षा-सी कर दी। उन्होंने २ मार्च, १९७९ के अपने पत्र में प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई को चेतावनी दी थी कि जनता सरकार देश की जनता की भावनाओं के अनुरूप यदि काम नहीं कर पायेगी तो जनता उसे भी नहीं सहेगी। दुर्भाग्य से जनता पार्टी के घटक भीतर ही भीतर एक दूसरे से लड़ते रहे और जनता पार्टी जनता की भावनाओं के अनुरूप सुशासन नहीं दे सकी। जयप्रकाश नारायण की बीमारी भी बढ़ रही थी और उनकी पीड़ा और चिन्ता भी। ऐसी ही मनःस्थिति में ८ अक्टूबर, १९७९ को उन्होंने शरीर त्याग दिया।

जयप्रकाश नारायण तो चले गये, किन्तु उन्होंने जो विरासत छोड़ी है, हमें उसे अच्छी तरह समझने की चेष्टा करनी चाहिए। हमें यह याद रखना चाहिए कि जयप्रकाश नारायण की पूरी राजनीति त्याग की, बलिदान की राजनीति थी, ग्रहण और उपभोग की नहीं। वे चाहते तो ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त कर सकते थे। उन्होंने अपने सहयोगियों को आगे बढ़ाया और वे स्वयं तपस्या ही करते रहे। काश ! आज भी कुछ लोग उनके इस आदर्श का अनुकरण कर पाते। उन्होंने अपने जीवन के अनुभव का एक निचोड़ यह भी दिया कि अगर हमें अच्छा आदमी बनना है, दूसरों के मंगल के लिए स्वयं अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करना है तो हमें आध्यात्मिक होना होगा। भौतिकता दूसरों के भले के लिए

त्याग करने की प्रेरणा देने में असमर्थ है। उसका पूरा ध्यान तो अधिकार की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देने तक ही सीमित रहता है।

जयप्रकाश नारायण ने हमें सिखाया कि देश के नव-निर्माण में वही समर्थ हो सकता है जो देश की आत्मा को समझे, जो सामान्य जन से जुड़े, जिसकी कथनी और करनी में एकता हो, जो दूसरों को उपदेश देने के पहले अपने जीवन में सिद्धान्तों को उतार सके, जो सम्पूर्ण विश्व से बन्धु के रूप में अपने देश को जोड़ सके, जो अपनी परम्परा को सम्मान देते हुए भी उसका युगानुकूल विकास कर सके।

काश, हम उनकी सीख को व्यवहार में रूपायित कर पाते ! ●

शिक्षा का भारतीय आदर्श

प्रायः कहा जाता है कि एक समय था जब भारत को जगद्गुरु की उपाधि प्राप्त थी और हमारे विश्वविद्यालयों में, तक्षशिला में, नालन्दा में, विक्रमशिला विश्वविद्यालयों में या और दूसरे विश्वविद्यालयों में विदेशों से भी बड़े-बड़े विद्वान शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। बाद में ऐतिहासिक विपर्यय के कारण हमारी स्थिति में परिवर्तन हुआ और हमारी शिक्षा का विकास क्रम अवरुद्ध सा हो गया। १८५७ में अंग्रेजों ने लंदन विश्वविद्यालय के अनुकरण पर कलकत्ता विश्वविद्यालय, मद्रास विश्वविद्यालय और बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना की । उनकी स्थापना के पीछे एक कूट योजना भी थी। मैकाले ने जो टिप्पणी (मिनट) लिखी थी उसमें उन्होंने बताया था कि अगर हम अंग्रेजी के माध्यम से भारत के विद्वानों को प्रशिक्षित करने का प्रयास करें तो एक दिन ऐसा आयेगा कि वे केवल रंग में भारतीय रह जायेंगे । अपने चिन्तन में, अपने व्यवहार में वे हमारा अनुकरण करने की चेष्टा करेंगे । उनकी यह चेष्टा थी कि वे अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देकर भारतीयों को मुख्यतः क्लर्क बनाने के लिये तैयार करें । हमारे उस समय के पुरखों ने इसकी तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएँ कीं । कुछ लोग थे जो बिल्कुल अंग्रेजीदाँ हो गये, अंग्रेजों की नकल में अंग्रेज बनने की चेष्टा करने लगे। यदि उनका नाम था रतन दे तो वे अपने को लिखते थे डी. रैटन और अगर उनका नाम था आशुतोष तो अपने को लिखते थे ए. टोष यानी अपने नाम में, अपने व्यवहार में वे अंग्रेजों के अधिकाधिक अनुकरण के द्वारा अपने को अंग्रेज साबित करने की चेष्टा करते थे। निश्चय ही यह रास्ता भारत के लिये स्वाभिमान का रास्ता नहीं था। कुछ ऐसे विद्वान भी थे जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा का बहिष्कार करना चाहा और उसके द्वारा अपने पुरातन जीवन मूल्यों से चिपटे रहने का प्रयास किया । निश्चय ही यह रास्ता भी सही रास्ता नहीं था क्योंकि ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में हम केवल भौगोलिक सीमा के आधार पर जानने, या न जानने का निर्णय नहीं कर सकते । हमारे ही वेद की उक्ति है : *'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः'*

अर्थात् सब दिशाओं से मिले शुभ ज्ञान । जो शुभ ज्ञान है वह किसी भी देश से क्यों न आये हमको स्वीकार करना चाहिए । हमारे पुरखों की एक तीसरी श्रेणी थी जिस ने अन्धानुकरण करने से भी इन्कार किया और पश्चिम के ज्ञान विज्ञान के उज्ज्वल पक्ष का बहिष्कार करने से भी इन्कार किया । उन्होंने राष्ट्रीय चेतना के विकास का मार्ग प्रशस्त किया । यह जो तीसरा मार्ग है इस तीसरे मार्ग को आज तक हम उचित मानते हैं, क्योंकि यही सही रास्ता है । हम यह मानते हैं कि हम अपने पुराने ज्ञान विज्ञान को आज के युग में अगर स्वीकार करें तो उसको हम युगानुकूल बनायें। प्राचीन परम्परा को युगानुकूल बनाकर और विदेशों से ली गयी ज्ञान राशि को अपने देश के अनुकूल बनाकर हम अपने विकास के रास्ते पर चल सकते हैं । विकास और शिक्षा इन दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । अगर हम शिक्षा के क्षेत्र में पीछे रहेंगे तो हम विकास के क्षेत्र में भी आगे नहीं बढ़ सकते । हमारे देश की आज की स्थिति बहुत प्रशंसनीय नहीं है । आज भी हमारे देश की बहुत बड़ी जनसंख्या निरक्षर है । आज भी हमारे देश में बहुत बड़ी संख्या प्राथमिक शिक्षा के स्तर के ऊपर नहीं उठ पायी है । बहुत कम लोग उच्चतर शिक्षा प्राप्त कर सके हैं । उनके ऊपर कितना बड़ा उत्तरदायित्व है सारे देश के पुनर्निर्माण का, सारे देश के राष्ट्रीय विकास का, इस बात का हमको अनुभव करना चाहिए ।

हमें इस बात को समझना चाहिए कि आखिर वे कौन से गुण हैं जिन गुणों ने हमारे देश को जगद्गुरु बनाया था और उन गुणों को आज हम किस रूप में स्वीकार कर सकते हैं । हमें विचार करना चाहिए कि हम अपने देश की परम्परा से जुड़े रहकर कैसे आधुनिक हो सकते हैं, कैसे हम वास्तव में अपनी उस वैदिक उक्ति को चरितार्थ कर सकते हैं कि विश्वविद्यालय का मतलब होता है 'यत्र विश्वं भवत्येक् नीड़म्' जहाँ सारा संसार एक घोंसला बन जाये । सारे संसार के विद्वान जहाँ आ सकें और जिसकी दृष्टि क्षेत्रीय न हो, जिसकी दृष्टि संकीर्ण न हो, जिसकी दृष्टि के सामने सारा विश्व हो। विश्व मानवता को स्वीकार करते हुए अपने देश की राष्ट्रीयता, अपने देश का सर्वतोमुख विकास करने की ओर अपने को समर्पित करने की दृष्टि कैसे विकसित हो, हमारे अध्यापकों में, हमारे विद्यार्थियों में, हमारे शोधार्थियों में —यह हमारे चिन्तन का विषय होना चाहिए और इस दिशा में हमको अग्रसर होना चाहिए।

मैं यह मानता हूँ कि अपने कार्य के प्रति गौरव बोध हमें किसी काम को भली-भाँति सम्पन्न करने की प्रेरणा देता है। जब हम जगद्गुरु थे तो हमने अध्ययन-अध्यापन के कार्य को किस रूप में देखा था। उस समय की स्थिति यह थी कि हमने इस कार्य को तपस्या के रूप में देखा था। हमारी मान्यता थी— 'छात्राणां अध्ययनं तपः' विद्यार्थियों का तप अध्ययन है । बिना तपस्यापूर्ण अध्ययन के विद्यार्थी वास्तव में विद्या प्राप्त नहीं

कर सकता। 'छात्राणां अध्ययनं तपः', यह कथन इस बात को साबित करता है कि अध्ययन अध्यापन को हमने उच्चतर भूमिका पर प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा की थी। हमारी दृष्टि केवल अर्थकरी विद्या प्राप्त करने की नहीं थी। हमारा तत्कालीन अध्यापक सगौरव कहता था : *'नाहं विद्या - विक्रयं शासनशतेनापि करोमि'*

सैकड़ों शासन का अधिकार प्राप्त होने पर भी मैं विद्या-विक्रय नहीं करूँगा। यह दृष्टि हमारे अध्यापकों की दृष्टि थी। अच्छा अध्यापक कौन होता है ? अच्छा अध्यापक वही होता है जो आजीवन छात्र रहे। जब तक साँस चलती रहे तब तक सीखने की प्रवृत्ति अगर बनी रहेगी तब हम अच्छे अध्यापक हो सकेंगे। आधुनिक युग के महान् उपदेशक, महान् गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस देव ने कहा था, *"जतो दिन बाँची ततो दिन शीखी"* जितने दिन जियूँगा उतने दिन सीखूँगा। यह जो लगातार सीखते रहने की परम्परा है, यह परम्परा विद्या के क्षेत्र को उन्नत मान देती है। कैसे हम विद्या को प्राप्त करें ? शिक्षा का मतलब क्या होता है ? *'शिक्षा विद्योपादानं'* शिक्षा का मतलब होता है विद्या देने की प्रक्रिया। 'शिक्षते उपदीयते विद्या यया सा शिक्षा' शिक्षा वह है जिससे विद्या प्रदान की जाती है। हमारे देश में विद्या के दो भाग किये गये हैं एक परा विद्या, एक अपरा विद्या। पराविद्या का मतलब है परमात्म विद्या, अध्यात्म विद्या और अपराविद्या माने लौकिक विषयों की विद्या। इन दोनों प्रकार की विद्याओं के अर्जन को तपस्या की संज्ञा दी गयी है। एक बार ऋषियों से एक प्रश्न पूछा गया कि सबसे बड़ा तप कौन सा है ? ऋषियों में एक नाकोमौद्गल्य ऋषि थे, उन्होंने कहा—

'स्वाध्यायप्रवचनं एवेति नाकोमौद्गल्यः
तद्धितपस् तद्धितपः तद्धितपस् तद्धितपः'

विभिन्न ऋषियों ने अलग-अलग तप बताये लेकिन नाकोमौद्गल्य ने कहा कि सबसे बड़ा तप है स्वाध्याय करना और प्रवचन करना। सभी ऋषियों ने अपनी सहमति ज्ञापित करते हुए कहा, हाँ वही तप है, वही तप है। यही अच्छे शिक्षक का धर्म है। स्वाध्याय जितना उत्तम होगा प्रवचन उतना उत्कृष्ट होगा। इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद ने आदेश दिया *'स्वाध्यायन्मा प्रमदः'* स्वाध्याय से यानी अच्छे ग्रन्थों के निरन्तर अनुशीलन से कभी प्रमाद मत करना। जो भी अध्यापक होगा वह अगर तपस्या करना चाहता है तो उसको निरन्तर स्वाध्याय करना होगा और जितना अधिक स्वाध्याय वह कर सकेगा उसका प्रवचन उतना प्रामाणिक होगा। कालिदास ने शिक्षकों की एक अद्भुत श्रृंखला बतायी है कि बड़ा शिक्षक कौन है, धुरि-प्रतिष्ठा का अधिकारी शिक्षक कौन है। उन्होंने कहा—

'श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेष युक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरिप्रतिष्ठापयितव्य एव।।'

अर्थात् कुछ विद्वान होते हैं जो ज्ञान तो बहुत अर्जित कर लेते हैं लेकिन ज्ञान का संक्रमण करने में, अपने विद्यार्थियों को ज्ञान दे पाने में वे कुशल नहीं होते। संक्रान्ति की विद्या से वे रहित होते हैं। कुछ विद्वान होते हैं जो संक्रमण में तो बहुत कुशल होते हैं, जितना जानते हैं उतना दूसरों को सिखा देते हैं लेकिन वे जानते ही कम हैं।

ये दोनों प्रकार के विद्वान धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी नहीं है ।

'यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां, धुरिप्रतिष्ठापयितव्य एव ।।'

जिसमें ये दोनों गुण हों अर्थात् वह स्वयं ज्ञानी भी हो और ज्ञान के संक्रमण की कला में भी कुशल हो वही विद्वान धुरिप्रतिष्ठा का, वास्तविक प्रतिष्ठा का अधिकारी होता है। हमारे देश में धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी विद्वान थे, वे जब शिक्षा देते थे, तब हमारे विद्यार्थी आगे बढ़ते थे । आज भी हमारे देश में बहुत से ऐसे धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी विद्वान हैं लेकिन मेरी अपेक्षा है कि हममें से प्रत्येक शिक्षक इस धुरिप्रतिष्ठा को प्राप्त करने की ओर अग्रसर हो। शिक्षक का यही आदर्श था । आज यह बात आश्चर्यजनक लग सकती है लेकिन हमारे देश का आदर्श शिक्षक डंके की चोट पर अपने विद्यार्थियों से कहता था—

यान्यस्माकं सुचरितानि
तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।

हमारे देश का शिक्षक कहता था कि, 'जो हमारा सुचरित है, विद्यार्थियों! केवल उस सुचरित का तुम अनुगमन करना। जो सुचरित से भिन्न है उसका अनुगमन मत करना'। हमारे देश के शिक्षक की अद्भुत दृष्टि थी। वह कहता था, *'सर्वत्र जयमिच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्'*। मनुष्य को सर्वत्र विजय की कामना करनी चाहिए लेकिन मेरा पुत्र मुझको हरा दे, मेरा विद्यार्थी मुझको हरा दे, यह कामना भी भारत का शिक्षक करता था। अगर मेरा विद्यार्थी मुझको पराजित करेगा तो कैसे पराजित करेगा ? ज्ञान की सीमा को जहाँ तक मैंने बढ़ाया है जब उससे आगे वह बढ़ा के ले जायेगा, जब मेरी बात में वह कहीं खोट निकालेगा और उसको दूर करेगा, जब मुझसे भी ज्यादा वह ज्ञानी हो जायेगा तब न मुझे पराजित करेगा। अगर कोई शिष्य किसी गुरु को अपने ज्ञान से पराजित करता है तो गुरु की छाती फूल जाती है। हमारे आदर्श गुरु की चेष्टा होती थी कि हमारे शिष्य हमसे भी योग्य बन जायें, यह नहीं कि हम अपने शिष्यों को दबाते रहें।

हमारे देश में कहा गया है कि दो प्रकार के गुरु होते हैं। एक प्रकार का गुरु होता है आकाशधर्मी गुरु और दूसरे प्रकार का गुरु होता है शिलाधर्मी गुरु। शिलाधर्मी गुरु कैसा होता है ? आप लोगों ने मैदानों में देखा होगा कि हरी घास के ऊपर कोई ईंट रख दे, एक शिला रख दे और एक महीने के बाद उस ईंट को हटाये तो दिखेगा कि ईंट से दबी

घास पीली पड़ गयी, निस्तेज हो गयी, विकलांग हो गयी। जो गुरु शिलाधर्मी गुरु के रूप में अपने विद्यार्थियों पर लद जाये और कहे कि मैं जो कहता हूँ वही तुमको मानना पड़ेगा, वही सत्य है, तो वह अपने विद्यार्थियों का विकास नहीं कर सकता। शिलाधर्मी गुरु हमारे यहाँ त्याज्य, हमारे यहाँ निन्द्य माना जाता है। हमारे यहाँ जिस गुरु की आदर्श कल्पना की गयी है उस गुरु की संज्ञा आकाशधर्मी है। आकाशधर्मी गुरु कैसा होता है ? आकाश चाहता है कि उस के नीचे जो वनस्पतियाँ हैं वे विकसित हों, जिसकी जितनी क्षमता हो वह उतनी विकसित हो। घास की उगने की क्षमता प्रायः सतह तक है और देवदारु की उगने की क्षमता बहुत ऊँची है, बरगद बहुत फैल सकता है। आकाशधर्मी गुरु प्रत्येक शिष्य को प्रकाश देता है, आकाशधर्मी गुरु प्रत्येक शिष्य को वायु देता है, प्रत्येक शिष्य को अवकाश देता है बढ़ने का ताकि जिसकी जितनी क्षमता है वह उतनी विकसित भूमिका को अर्जित कर सके। यह आकाशधर्मी गुरु का लक्षण है। आकाशधर्मी गुरु शिष्य की क्षमता को पहचानता है। जैसे चिकित्सा रोग की नहीं की जाती, चिकित्सा रोगी की की जाती है, वैसे ही विद्या विद्या के लिए नहीं दी जाती विद्या व्यक्ति को दी जाती है। उस व्यक्ति की जो क्षमता है, उस व्यक्ति के जो विशेष गुण हैं, उन विशेष गुणों को कैसे विकसित किया जाए, यह कुशलता जिस गुरु में होती है उसको आकाशधर्मी गुरु कहते हैं। आकाशधर्मी गुरुओं के द्वारा भारतवर्ष बड़ा हुआ है और आज भी अगर भारतवर्ष बड़ा होगा तो इन्हीं आकाशधर्मी गुरुओं के द्वारा होगा जो अपने शिष्यों से मतभेद की चिन्ता किये बिना उनको सही रास्ता बताते हुए उनको प्रवृत्ति के अनुसार उनके विकास की सुविधा देते रहेंगे। शिष्यों की क्षमता के अनुसार उनके विकास को दिशा बताने वाला आकाशधर्मी गुरु हमारा आदर्श होना चाहिए।

हम अध्यापकगण यदि आकाशधर्मी गुरु के रूप में जीवन जियें, तब हम अपने शिष्यों को भी अपनी भूमिका पर ला सकेंगे । हमारे कबीर दास जी ने कहा है पारस में और गुरु में बहुत अन्तर होता है। *'पारस तो कंचन करे गुरु करे आप समान'* पारस पत्थर लोहे को सोना बना सकता है लेकिन गुरु, आकाशधर्मी गुरु शिष्य को भी आकाशधर्मी गुरु बना सकता है। गुरु की वास्तविक सफलता शिष्य की श्रद्धा अर्जित करने में है। एक बढ़िया श्लोक है :-

'बहवः गुरवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः ।।'

ऐसे तो गुरु बहुत हैं जो शिष्यों के वित्त का, अर्थ का अपहरण कर लेते हैं। आजकल हम लोग फीस लेते ही हैं, प्रायः हर विद्यार्थी को फीस देनी पड़ती है तो वित्त का अपहरण करने वाली शिक्षा संस्थाएँ और गुरु बहुत हैं। *'दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः'* किन्तु वैसा गुरु दुर्लभ है इस लोक में जो शिष्य के चित्त का

अपहरण कर सके, जो शिष्य की श्रद्धा अर्जित कर सके। शिष्य श्रद्धेय के रूप में किसी गुरु को क्या केवल इसलिए स्वीकार कर लेगा कि वह अध्यापक है, वह प्रोफेसर है। ऐसा नहीं होता। केवल पद से सम्मान प्राप्त नहीं होता। शिक्षक में कुछ वैशिष्ट्य होना चाहिए, जिससे शिष्य के मन में श्रद्धा उत्पन्न हो और वह वैशिष्ट्य जब तक हमारा शिक्षक वर्ग अर्जित करता रहेगा तब तक हमारे विद्यार्थी आगे बढ़ते रहेंगे।

हम को इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि अध्यापक के समान ही शिष्य का क्या स्वरूपभूत लक्षण होना चाहिए। शिष्य कैसे ज्ञान प्राप्त करे, इसके बारे में गीता में दो बहुत अच्छी उक्तियाँ कही गयी हैं— *तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।*

शिष्य का आधारभूत लक्षण है ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रणी होना। शिष्य ज्ञान प्राप्त कर सकें, इसके लिए उनको परिप्रश्न करने का अधिकार मिलना चाहिए। परिप्रश्न माने बार-बार प्रश्न, परिप्रश्न माने चारों तरफ से प्रश्न, परिप्रश्न माने जब तक विषय समझ में न आये तब तक प्रश्न करने का अधिकार शिष्यों का है इसकी स्वीकृति लेकिन परिप्रश्न को सम्पुटित किया गया है, प्रणिपात यानी विनम्रतापूर्वक नमस्कार और सेवा के द्वारा। विद्यार्थी अध्यापक से प्रश्न करने के अधिकारी हैं अगर सचमुच उस विषय को वे जानने, समझने की इच्छा रखते हैं किन्तु उस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें विनम्र होना चाहिए । इस संदर्भ में एक अच्छी उक्ति है—

पैये असीस लचैये जो सीस, लची रहिये तब ऊँची कहैये ।

जब तक विद्यार्थी का सिर श्रद्धा से झुकता नहीं है गुरु के सामने, तब तक वह विद्या अर्जित नहीं कर सकता। साथ ही हमें निश्छल सेवा के द्वारा गुरु को प्रसन्न भी करना चाहिए। इस प्रकार सेवा और प्रणिपात के द्वारा हम अनेकानेक प्रश्न करने का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। एक और बात है। एक उक्ति बहुत बार उद्धृत की जाती है। *'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'* श्रद्धावान् को ज्ञान प्राप्त होता है लेकिन इतनी ही बात आधी बात है। पूरी उक्ति है गीता की—

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः'

उस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है जो अपने गुरु एवं विषय के प्रति श्रद्धा तो रखता ही है साथ ही उसको अर्जित करने के लिए तत्पर है, जुटा हुआ है, उसी के प्रति समर्पित है। दूसरी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। दूसरी ओर उसका ध्यान न जाये इसके लिए उसको संयतेन्द्रिय होना चाहिए, अपनी इन्द्रियों पर संयम करना चाहिए। अपनी इन्द्रियों पर संयम करके जब हम अपना पूरा ध्यान अपने अध्येतव्य विषय की ओर लगायेंगे तब हम श्रद्धा के द्वारा ज्ञान अर्जित कर सकेंगे। विद्यार्थियों के लिए एक बहुत अच्छा श्लोक है - *'याज्ञवल्क्यीय शिक्षा'* का। उसका अभिप्राय यह है कि हम अपनी भूमिका को सतत नापते रहें कि हम कहाँ खड़े हैं। विद्या बुद्धि की कौन सी

भूमिका है जिस पर अभी हम खड़े हैं और जिससे अग्रसर होना चाहते हैं, उच्चतर भूमिका पर जाना चाहते हैं । वह अद्‌भुत श्लोक है—

'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धी गुणाः ।।'

धी माने बुद्धि । बुद्धि के सात गुण हैं अर्थात् बुद्धि की सात भूमिकाएँ हैं । हम सब विचार करें कि हम किस भूमिका पर खड़े हैं। बुद्धि की पहली भूमिका है शुश्रूषा। शुश्रूषा माने श्रोतुमिच्छा। श्रोतुमिच्छा माने जानने की इच्छा, सुनने की इच्छा। पुराकाल का यह श्लोक है। पुराकाल में तो छपी हुई किताबें होती नहीं थीं, हस्तलिखित ग्रन्थ होते थे उनकी संख्या भी बहुत कम थी। इसलिए गुरु के निकट जा कर पूछा जाता था। कोई बात जानने की इच्छा हुई तो उसे कहते थे शुश्रूषा। सुनने की, जानने की इच्छा यदि इच्छा के स्तर पर ही रुक गई तो समझिए कि बुद्धि बहुत मंद है । शुश्रूषा श्रवणं चैव। बुद्धि की दूसरी भूमिका है जानने की चेष्टा, जानने की क्रिया । श्रवणम् का मतलब हुआ कि अपनी जिज्ञासा को लेकर, अपने प्रश्न को लेकर किसी योग्य अधिकारी गुरु के पास गये उनसे विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया और उन्होंने जो उत्तर दिया, जो उन्होंने समझाया, उसको सुना। श्रवणम् का मतलब हुआ जानने की, ज्ञान अर्जित करने की चेष्टा । आज हमारे मन में शुश्रूषा हो तो हम इनसाइक्लोपीडिया से समझ सकते हैं, हम इन्टरनेट से समझ सकते हैं लेकिन आधारभूत बात यह है कि जानने की इच्छा होनी चाहिए और जानने की इच्छा के बाद जानने की क्रिया होनी चाहिए । श्रवणम् माने जानने की क्रिया। जानने के लिए आप अध्यापक के पास गये, आप ने अपने अध्यापक से सवाल किया, उनका बताया हुआ उत्तर सुना, लेकिन समझ में नहीं आया तो मतलब हुआ कि बुद्धि मन्द है। बुद्धि की तीसरी भूमिका है ग्रहणम्। जो कुछ आपको बताया गया वह आपकी समझ में आना चाहिए। वह आपको समझ में आया कि नहीं, अगर समझ में आया तो आप बुद्धि की तीसरी भूमिका पर हैं और समझ में नहीं आया तो आपकी बुद्धि मन्द है। बुद्धि की चौथी भूमिका है धारणम् । आपने किसी विद्वान का व्याख्यान सुना, घर में आकर कहा, आज का व्याख्यान बहुत अच्छा था वाह-वाह, वाह-वाह कितना अच्छा व्याख्यान था आज का। किसी ने पूछा— क्या कहा गया था व्याख्यान में, उत्तर दिया, भाई, यह तो याद नहीं, तो यह बुद्धि की मन्दता है। बुद्धि की चौथी भूमिका है धारणम् अर्थात् जो हमने सुना जिसको हमने समझा उसको हमने धारण किया कि नहीं किया। अगर हमको वह याद नहीं है तो हमारी बुद्धि मन्द है। हमको बुद्धि की चौथी भूमिका पर जाना चाहिए कि जो हम पढ़ें उसको हम स्मरण रख सकें, धारण कर सकें। 'ऊहापोहार्थविज्ञानम्'। गंगा गये गंगादास, यमुना गये यमुनादास ऐसा नहीं होना चाहिए। इन्होंने कहा यह भी सही, उन्होंने कहा यह भी सही, ऐसा नहीं होना चाहिए। जो विषय सुना है जो विषय समझा है

या जो विषय पढ़ा है उसके ऊपर ऊहापोह किया कि नहीं, विचार किया कि नहीं, यह सही है तो क्यों सही है, वह गलत है तो क्यों गलत है। यह जो सही और गलत के बारे में विश्लेषण करना, वितर्क करना, विवेचना करना है यह बुद्धि की पाँचवीं भूमिका है। अन्ध श्रद्धा की बात भारतीय दृष्टि में नहीं है। ऊहापोह करना चाहिए, विचार करना चाहिए और विचार करने के बाद जो सही लगे, उसे स्वीकार करना चाहिए और जो गलत लगे उसे छोड़ देना चाहिए और जो कुछ सीखा है उस सीखे हुए को काम में लाना चाहिए। 'अर्थविज्ञानम्' यह बुद्धि की छठी भूमिका है। जो भी हमने सीखा है, जो हमने ज्ञान प्राप्त किया है वह अगर काम में नहीं आया तो किस काम का ! मीमांसा का सूत्र है, 'सर्वमपि ज्ञानं कर्मपरम्' अर्थात् सीखा हुआ ज्ञान हमारे आचरण में, हमारे कर्म में उतरना चाहिए। हमको सही दिशा देने वाला ज्ञान हमसे ठीक ठीक काम करवाये। वेदान्त ने इसमें एक अपवाद बताया है, *'ऋते आत्मज्ञानात्'* अर्थात् आत्मज्ञान को छोड़कर, आत्मज्ञान के बाद कर्म अनिवार्य नहीं रहता। किन्तु अभी तो हम लौकिक ज्ञान की बात कर रहे हैं । तो अर्थ विज्ञानम् अर्थात् ज्ञान का उपयोग हो। जैसे कोई अनुसंधान हुआ तो उस अनुसंधान के द्वारा, विविध तकनीकों के द्वारा हम कैसे यन्त्र बना सकते हैं, कैसे उसका उपयोग समस्याओं का समाधान करने में कर सकते हैं यह अर्थ विज्ञान आना चाहिए। यह बुद्धि की छठी भूमिका है। *'तत्त्वज्ञानं च धी गुणाः'* और तत्त्वतः किसी विषय को समझ लेना उस विषय को पूर्णतः समझ लेना है, जैसे मिट्टी को तत्त्वतः समझ लिया तो मिट्टी से बनी हुई सभी चीजों को समझ लिया, सोने को तत्त्वतः समझ लिया तो सोने से बनी हुई सब चीजों को समझ लिया। किसी चीज का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त कर लेना उस विषय की समझदारी की सातवीं भूमिका है। हमारे विद्यार्थियों को सातवीं भूमिका तक जाने की तैयारी करनी चाहिए।

बड़ा काम कैसे होता है ? बड़ा काम केवल इच्छा से नहीं होता। बड़ा काम उस बड़ी इच्छा को पूर्ण करने के लिए अपने जीवन को होम देने से होता है। जीवन की सारी शक्तियों को एकाग्र करके अपने विषय को उपलब्ध करने के लिए जब हम अपने आप को समर्पित कर देंगे तब बड़ा काम कर सकेंगे।

अनुसन्धान या शोध कार्य के लिए भी यह स्थापना सत्य है। ज्ञान का प्रदर्शन कर सस्ती वाहवाही लूट लेना अलग बात है और किसी विषय की तह में जाकर उसकी उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाना, उस विषय के ज्ञान को आगे बढ़ाना, बिलकुल दूसरी बात है । नवीन शोधों के द्वारा ज्ञान की समृद्धि कौन कर सकता है, कैसे कर सकता है, इस पर एक बहुत अच्छा श्लोक है—

तरन्तो दृश्यन्ते बहव इह गंभीर सरसि
सुसाराभ्यां दोर्भ्यां हृदि विदधतः कौतुकशतम् ।

प्रविश्यान्तर्लीनं किमपि सुविविच्योद्धरति यश्
चिरं रुद्धश्वासः स खलु पुनरेतेषु विरलः ।।

अर्थात् इस गहरे और विशाल ज्ञान-सरोवर में तैरते हुए बहुत से तैराक अपनी पुष्ट भुजाओं से नाना प्रकार के कौतुक करते हुए दीख पड़ते हैं किन्तु इन सबमें वह (विद्वान) विरला ही है जो देर तक साँस रोक कर, गहरे डुब कर गंभीर विवेचन के बाद किसी दुर्लभ रत्न का उद्धार कर लाता है। आत्मप्रदर्शन विमुख, गंभीर निष्ठापूर्ण ऐकान्तिक वस्तुनिष्ठ विद्या साधना ही मौलिक शोधपरक उपलब्धि का आधार है, यह सत्य इस श्लोक में बहुत अच्छी तरह निरूपित किया गया है । अभिनवगुप्त ने अपूर्व वस्तु का निर्माण करने में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है, 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा'। हमारे शोधार्थी प्रतिभाशाली हों और नयी नयी शोधों, नये नये अविष्कारों द्वारा ज्ञान की परिधि को बढ़ाते रहें।

हमारी परम्परा यह भी मानती है कि अपनी मान्यताओं को हमें बार-बार जाँच पड़ताल करनी चाहिए इसके लिए सही रास्ता है विद्वानों से विचार-विमर्श करते रहना। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' इस दिशा में हमारा मार्ग निर्देशक सूत्र है । कई बार ऊँचा पद प्राप्त कर लेने के बाद प्राध्यापकगण विचार विमर्श से कतराने लगते हैं। उन्हें लगता है कि यदि उनकी बात गलत साबित हो जायेगी तो उन्हें अपमानित होना पड़ेगा अतः विवाद से.....शास्त्रार्थ या विचार विमर्श से वे कन्नी काटते हैं । कालिदास ने इस प्रवृत्ति की निन्दा करते हुए एक मार्मिक श्लोक लिखा है—

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोः तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवल जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ।।

अर्थात् सम्मानजनक पद प्राप्त हो जाने के बाद जो विवाद भीरु आत्मविश्वासहीनता के कारण दूसरों के द्वारा की गयी निन्दा को सहता रहता है, जिसका ज्ञान केवल जीविकोपार्जन के लिए ही होता है, वह तो ज्ञान बेचने वाला बनिया है, विद्वान नहीं। विद्वान सब समय विवाद ही करता रहे इसका अर्थ यह भी नहीं है। इसका अभिप्राय यही है कि अपनी मान्यता विचार की कसौटी पर खरी उतरती रहे, इसकी ओर सजग रहना चाहिए। अन्यथा विद्वत्ता तेजस्विनी नहीं हो सकती। हमारी पारम्परिक प्रार्थना यही है कि हमारा अधीत (हमारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान) तेजस्वी हो..... 'तेजस्विनावधीतमस्तु' । यह तेजस्विता खंडित तभी होती है जब हम अपना ज्ञान बेचने लगते हैं। जायसी की हृदयस्पर्शिणी उक्ति है, *'पंडित होइ सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाइ भूलि गा पढ़ा'* । मेरी मंगलकामना है कि हमारे तेजस्वी विद्वान् प्राध्यापक आत्मविक्रय की स्थिति से बचें। एक बात और। ज्ञान प्राप्त करने की तेजस्वी परम्परा यह मानती थी कि केवल एक विषय का ज्ञान रखने वाले वास्तव में ज्ञानी नहीं होते।

उसकी मान्यता थी, *'एकं शास्त्रं अधीयानः न किंचिदपि शास्त्र विजानाति'*। अर्थात् एक ही शास्त्र को जानने वाला कुछ भी शास्त्र नहीं जानता । सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत से शास्त्र जानने चाहिए, भले ही विशेषज्ञता एक शास्त्र की हो। क्योंकि सभी शास्त्र सभी विषय परस्पर सम्बद्ध हैं। एक शास्त्र की ग्रन्थि दूसरे शास्त्र के प्रकाश से सुलझाई जा सकती है । अतः विद्वान को बहुश्रुत होना चाहिए।

भारतीय शैक्षणिक दृष्टि यह रही है कि हम तो अपने जीवन की सार्थकता के लिए पढ़ रहे हैं, हम तो अपने जीवन में ऋषि-ऋण उतारने के लिए जो कुछ हमने बड़ों से सीखा है उसको सामान्य जनता तक पहुँचा देने के लिए काम कर रहे हैं । अतः हमारी चिन्ता होनी चाहिए कि कैसे हम उच्चतम ज्ञान-विज्ञान भारतीय भाषाओं में ले आयें, कैसे हम उच्चतम विद्या को निम्नतम वर्ग तक पहुँचाने की धारावाहिकता उत्पन्न करें।

मैं यह भी मानता हूँ कि हमारे देश के पुनर्निर्माण का जो महायज्ञ चल रहा है, उसकी वास्तविक आधारभूमि विश्वविद्यालय हैं। हमारे विश्वविद्यालयों में जैसे प्राध्यापक, प्रशासक रहेंगे, हम वैसे ही पाठ्यक्रम रखेंगे, वैसा ही वातावरण बनायेंगे, वैसे ही विद्यार्थी उत्पन्न करेंगे। स्वाभावतः देश वैसा ही बनेगा । अगर हम अपने राष्ट्र को महान् बनाना चाहते हैं तो अपनी गौरवपूर्ण परम्परा से प्रेरणा लेते हुए आगामी सहस्त्राब्दी में आने वाली चुनौतियों का मुकाबला करने में समर्थ प्राध्यापक, नवीनतम ज्ञान-विज्ञान से समृद्ध पाठ्यक्रम और परिवेश की संयोजना हमें करनी होगी जिससे सभी चुनौतियों का समुचित प्रत्युत्तर देने में समर्थ विद्यार्थियों का निर्माण हम कर सकें। ●

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

अधिकांश पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार राष्ट्रवाद एक ऐसा राजनीतिक सिद्धान्त है जो राष्ट्र को राजनीतिक संगठन की मुख्य इकाई मानता है और जिसका मुख्य लक्ष्य विशिष्ट राष्ट्रीय जनसमूह पर अवलम्बित स्वाधीन राष्ट्र-राज्य (नेशन-स्टेट) का गठन करना है। पिछली दो शताब्दियों के इतिहास से यह स्पष्ट है कि इस मतवाद को मानने वाले अपने देश में तो दूसरे देशों के शासन का विरोध करते हैं किन्तु शीघ्र ही अपनी राजनीतिक लालसा के कारण प्रायः साम्राज्यवादी का बाना धारण कर लेते हैं। क्या इस मान्यता को भारत पर आरोपित किया जा सकता है? मेरे मतानुसार ऐसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमारे पारम्परिक राष्ट्रचिन्तन में राजनीति की भूमिका गौण है, उसमें प्रधानता है व्यापक अर्थ में प्रयुक्त धर्म अथवा संस्कृति की, अतः उसकी परिणति हिंसक आक्रामकता में न हो कर उदार, सहिष्णु वैश्विकता में होती है।

अंग्रेज सरकार के विरुद्ध क्रांति के अभियोग में एक वर्ष तक विचाराधीन कैदी के रूप में कारागार में रहने के बाद जब श्री अरविन्द मुक्त हुए थे तो उन्होंने उत्तरपाड़ा के अपने विख्यात भाषण में कहा था, *'हमारा सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। जब सनातन धर्म की हानि होती है तब इस राष्ट्र की अवनति होती है, और सनातन धर्म का विनाश यदि संभव होता, तो सनातन धर्म के साथ ही इस राष्ट्र का भी विनाश हो गया होता।"* यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि सनातन धर्म का अर्थ है— चिरपुरातन होते हुए भी नित्य नूतन धर्म, स्वरूप में अपरिवर्तित रहते हुए भी, युगीन प्रयोजनों के अनुरूप नव-नव रूप धारण करने में समर्थ धर्म।

रूप और स्वरूप का मौलिक अन्तर समझना चाहिए। रूप बाहरी होता है अतः वह बदला जा सकता है लेकिन स्वरूप आभ्यन्तर होता है वह बदला नहीं जा सकता। उसके बदलने पर वस्तु ही बदल जाती है। बहुरूपिया एक दिन में दस बार रूप बदल सकता है लेकिन वह अपना स्वरूप नहीं बदल सकता। इस बात को बहुत अच्छे ढंग से भक्ति की परिभाषा के माध्यम से नारदीय भक्ति-सूत्र में समझाया गया है।

भक्ति का लक्षण देते हुए उसमें कहा गया है, *"सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपाच"*।

वह भक्ति निश्चय ही परमात्मा के प्रति प्रेम रूपा है। अगर भक्ति का रूपपरक लक्षण केवल परम प्रेम ही होता तो भक्ति की पहचान पूरी नहीं होती क्योंकि परम प्रेम तो पति-पत्नी में या अन्यों में भी हो सकता है। इसीलिए भक्ति की पहचान को भ्रान्तिरहित करने के लिए ही जोड़ा गया कि वह अमृतस्वरूपा है। भक्ति अमृतत्व के प्रति निवेदित है, स्वयं अमृता है और भक्तों को भी अमृतत्व प्रदान करने में समर्थ है। भगवद्भक्ति का रूप है परम प्रेम और स्वरूप है अमृतत्व।

अतः मैं समझता हूँ कि अपने राष्ट्रवाद को परिभाषित करने के पहले हमें अपने पारम्परिक स्वरूप को पहचानना चाहिए। हमें उस स्वरूप को हृदयंगम करना चाहिए जो परिस्थितियों के दबाव में रूपतः बाहर से तो बदलता रहा है, किन्तु भीतर से अपरिवर्तित रहा है। हम परम्परा के आधारभूत चिन्तन-मनन और जीवन में उसके प्रतिफलन को समझने की चेष्टा करें। बहुत ही संक्षेप में मैं कुछ प्रमुख मान्यताओं की चर्चा करने जा रहा हूँ।

भारतीय ऋषियों ने परम तत्त्व का स्वरूप निर्धारित किया है सच्चिदानन्द अर्थात् वह सत् स्वरूप है, सदा रहा है, आज भी, आगे भी रहेगा, उसका अभाव कभी नहीं हो सकता, वह चित् स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, वह समस्त ज्ञानों का स्रोत है, अज्ञान उसे स्पर्श भी नहीं कर सकता, वह आनन्द स्वरूप है नश्वर, सुख-दुख से परे शुद्ध आनन्दमय है। इसका अर्थ यह भी है कि जो सत् है, वही चित् है, वही आनन्द है। यही तत्त्व सृष्टि रचना करते समय अपने को बहु बनाता है, *"एकोऽहं बहुस्याम"* ।

यह सृष्टि अपनी प्रकृति से ही त्रिगुणात्मिका और द्वन्द्वमयी है अर्थात् सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण मिश्रित है एवं जड़-चेतन, जन्म-मरण, गुण-दोष, लाभ-हानि द्वन्द्वों से युक्त है। मनुष्य इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है क्योंकि और सब प्राणी पशु-पक्षी, मत्स्य आदि प्रकृति के सर्वथा अधीन हैं, केवल मनुष्य ही अपने कर्मों द्वारा प्रकृति का अतिक्रमण कर सकता है। यह अतिक्रमण दोनों ओर हो सकता है, अच्छाई की ओर भी और बुराई की ओर भी।

मनुष्य अच्छाई की ओर बढ़े तभी उसका अभ्युदय होगा, बुराई की ओर जाने से तो वह पशु से भी अधम हो जाएगा, क्योंकि सामान्यतः कर्म का फल हमें भोगना ही होता है। कर्मफल भोग का यह सिद्धान्त भी हमारी आधारभूत मान्यताओं में एक है। मनुष्य को अच्छाई की ओर ले जाने के लिए ही धर्म और संस्कृति का विधान किया गया। धर्म की परिभाषा है *"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः"* अर्थात् धर्म वह है जिससे भौतिक अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति हो। धर्म व्यक्ति का भी होता है समष्टि का भी। महाभारत में कहा गया है कि धारण करने की शक्ति के कारण धर्म धर्म होता

है। धर्म वही है जो प्रजा का धारण करे। अतः निश्चित सिद्धान्त यही है कि जो धारण शक्ति से संयुक्त है वही धर्म है—

धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।

प्रजा का धारण करे अर्थात् प्रजा को पतित होने से बचाये, प्रजा को सन्मार्ग पर ले चले। उस आधारभूत धर्म को सनातन धर्म कहा जाता है जो सबके लिए, सब कालों में पालनीय है। मनुस्मृति में यह गौरव सत्य को दिया गया है। सत्य भाषण की मर्यादाओं को निर्धारित करते हुए कहा गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मःसनातनः।। (मनु-४।१३८)

अर्थात् सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए, प्रिय मिथ्या भी नहीं बोलना चाहिए। सत्य को प्रिय बना कर बोलने की साधना सनातन धर्म है।

इसी तरह महाभारत में कहा गया है कि समस्त प्राणियों के प्रति मन, वाणी और कर्म से द्रोह का भाव न रखना, सब के प्रति अनुग्रह, सब के प्रति उदारता (दानभाव) यही सज्जनों का सनातन धर्म है—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः।।

मनु ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय निग्रह को भी सभी वर्णों का सामासिक अर्थात् सामूहिक धर्म कहा है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः।।

इसके अलावा युग धर्म, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, आपद्धर्म आदि की व्यवस्था भी की गयी है। समाज में विभिन्न भूमिकाओं के सम्यक् निर्वाह के लिए पति-पत्नी, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा आदि के धर्म भी निर्दिष्ट किये गये हैं। बदली हुई परिस्थितियों में धर्म के रूप में भी बदलाव आता है, इस सत्य को स्वीकार करके ही मनु ने कहा है—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः।। (मनु-१।८७)

अर्थात् मनुष्यों के लिए सत्ययुग के धर्म अन्य हैं जबकि त्रेता, द्वापर, कलियुग के धर्म युगह्रास के अनुरूप बदलते जाते हैं। मूल बात यही है कि स्वरूप का रक्षण करते हुए हम अपने आपको युगीन परिस्थितियों के अनुरूप बदलते रह सकते हैं।

यहाँ कुछ चर्चा संस्कृति की भी कर ली जाए। संस्कृति अर्थात् सम्यक् कृति। इससे यह ध्वनि निकलती है कि जो कृति को सम्यक् रूप से सुधार दे वह संस्कृति है। कुछ लोग कहते हैं कि संस्कृति शब्द कल्चर का अनुवाद है। यह ठीक नहीं है। यजुर्वेद में बड़े गौरव के साथ इसका प्रयोग करते हुए कहा गया है, *"सा प्रथमा संस्कृति-विश्ववारा"* अर्थात् हमारी यह प्रथमा संस्कृति, श्रेष्ठ संस्कृति विश्ववरणीय है।

यह ठीक है कि प्राचीन साहित्य में संस्कृति के समशील शब्द संस्कार का प्रयोग अधिक किया गया है, किन्तु संस्कृति शब्द नवनिर्मित है, यह कहना गलत है। हम जो कुछ करते हैं, जिस प्रकार का वैयक्तिक, पारिवारिक या सामाजिक जीवन जीते हैं, उसको निरन्तर सुधारते रहने की प्रक्रिया ही संस्कृति है। जीवन को सुसंस्कृत करते रहने के तीन साधन हमारे पूर्वजों ने बताये हैं, गुणाधान, (गुणों को अर्जित करना), दोषापनयन (दोषों को दूर करना) और हीनांगपूर्ति अर्थात् जो आवश्यक अवयव (सहायता साधन) अपने पास न हों उन्हें अन्यों से प्राप्त करना। हम दूसरों से अच्छे विचार या साधन लेने के लिए सदा प्रस्तुत रहे हैं। ऋग्वेद की ही उक्ति है, *"आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः"* अर्थात् सब दिशाओं से मिले शुभ ज्ञान। इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि स्वीकार किया जाने वाला विचार या उपकरण हमारे लिए शुभ है कि नहीं, हमारी संस्कृति के अनुकूल है या नहीं।

प्रश्न उठता है कि गुण और दोष के निर्धारण का आधार क्या होना चाहिए। सीधा उत्तर है कि हमारी परम्परा ने सच्चिदानन्द को सर्वोपरि तत्त्व माना है। अतः जो कुछ उसके अनुकूल है वह गुण और जो कुछ उसके प्रतिकूल है वह दोष है। उदाहरणार्थ गीता के सोलहवें अध्याय में वर्णित दैवी सम्पदा को अर्जनीय गुण समूह एवं आसुरी सम्पदा को त्याज्य दोष समूह कहा जा सकता है। हमें निरन्तर अपना, अपने समाज का निरीक्षण करते रहना चाहिए और गुणों का अर्जन तथा दोषों का त्याग करते रहना चाहिए तभी हम सुसंस्कृत होंगे और समाज को सुसंस्कृत बना सकेंगे। यही मानदंड संस्कृति के लिए भी सच है। सृष्टि में समरसता, सद्भाव बनाये रखने वाली ज्ञान और आनन्द की वृद्धि करने वाली व्यवस्था संस्कृति है एवं उसकी विरोधी व्यवस्था विकृति है।

अपनी संस्कृति की एक आधारभूत विशेषता की ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। सभी जानते हैं कि अपने अपने उपास्य की उत्कृष्टता सिद्ध करने के हठाग्रह के कारण धार्मिक विद्वेष उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप धार्मिक संघर्ष होते रहे हैं। भारतीय संस्कृति ने इस विकृति के निराकरण के लिए एक अद्भुत स्थापना की है। ऋग्वेद में कहा गया है कि, *"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"* अर्थात् परमसत्ता एक ही है जिसे विद्वान विविध नामों से पुकारते हैं। उपास्यों के नाम, रूप, लीला, धाम आदि में विभिन्नता हो सकती है किन्तु यदि वे परम सत्ता की ही अभिव्यक्ति

हैं, सच्चिदानन्द स्वरूप ही हैं तो इन सब विभेदों के बावजूद वे मूलतः एक ही हैं। अतः इनके लिए विवाद करना असंगत है।

इस मान्यता के कारण भारत में बड़ी हद तक साम्प्रदायिक समरसता बनी रही। सम्राट् हर्षवर्धन, शिव, सूर्य और बुद्ध तीनों की उपासना करते थे। एक ही परिवार के भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न इष्टदेवों की पूजा करते हुए प्रेमपूर्वक साथ-साथ रहते हैं। अपने इष्ट देव को बड़ा साबित करने के लिए झगड़ा नहीं करते। याद आ रहा है इस भाव को मूर्तरूप देने वाला श्री हनुमन्नाष्टक का यह श्लोक—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।

अर्थात् शैव जिनकी उपासना शिवरूप से करते हैं, वेदान्तिक ब्रह्म रूप से, बौद्ध बुद्ध रूप से और प्रमाण कुशल नैयायिक जिन्हें कर्ता मानते हैं, जैन जिन्हें अर्हन और मीमांसक कर्म बतलाते हैं, वे त्रैलोक्याधिपति भगवान हमको वांछित फल प्रदान करें। इसी भाव की प्रतिध्वनि जैनाचार्य की इस उक्ति में मिलती है—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

अर्थात् पुनर्जन्म के बीजांकुर उत्पन्न करने वाले रागादि दोष जिसके नष्ट हो चुके हैं, उसे मेरा नमस्कार है, वह चाहे ब्रह्मा हो या विष्णु, शिव हो या जिन! यह उदार समंजसता सचमुच वन्दनीय है। इसी स्थापना की एक और कल्याणकारिणी उपलब्धि यह है कि हमारी संस्कृति यह स्वीकार करती है कि परमात्मा तक जाने के मार्ग अनेक हैं क्योंकि लोगों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न हैं, क्षमताएँ भिन्न-भिन्न हैं। अतः सब एक ही पथ पर कैसे चल सकते हैं। शिवमहिम्न स्तोत्र की इन पंक्तियों को सुनें—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

अर्थात् अपनी भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार सीधे या टेढ़े मार्ग पर श्रद्धापूर्वक चलते हुए सभी साधक हे प्रभु, तुम तक उसी प्रकार पहुँचेंगे जिस प्रकार उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम किसी भी दिशा की ओर बहने वाली नदियाँ समुद्र तक पहुँचती हैं। स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो की विश्व धर्म सभा में इन पंक्तियों को सुनाकर श्रोताओं को भाव विभोर कर दिया था। इस सत्य की अनुगूंज भारतीय साधना जगत् में बार-बार होती रही है। हिन्दी की एक पंक्ति मुझे याद आ रही है, *"बीथी भगवत मिलन की निहचै एक न होय"* अर्थात् यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान से मिलने का रास्ता एक

ही नहीं है। श्री रामकृष्ण परमहंसदेव कहा करते थे, *"जतो मत ततो पथ"* जितने मत हैं उतने ही पथ हैं भगवान तक पहुंचने के। विनोबा भावे ने इसे भारतीय संस्कृति का भेदक लक्षण घोषित करते हुए इसको "भी वाद" की संज्ञा दी है। इसका अर्थ हुआ कि यदि हम सब श्रद्धापूर्वक चल रहे हैं तो भगवान तक मेरा रास्ता भी पहुंचेगा और तुम्हारा तथा उसका रास्ता भी पहुंचेगा। यह "भी" वाद यदि सभी धर्मावलम्बियों द्वारा स्वीकार कर लिया जाए तो धार्मिक संघर्ष का मूलोच्छेद हो जाए। पर अभी इसकी संभावना बहुत कम है क्योंकि विनोबा भावे के अनुसार यहूदी, ईसाई और इस्लाम "ही" वादी धर्म हैं।

उनमें से प्रत्येक यह मानता है कि उसका रास्ता ही सही रास्ता है और दूसरों के रास्ते गलत हैं। यह भी यहां जोड़ दूं कि बाबा विनोबा के अनुसार मार्क्सवादी भी "ही" वादी ही हैं। वे भी सबों पर अपना सिद्धांत थोपने के हठाग्रही हैं।

भारतीय संस्कृति की एक और आधारभूत विशेषता है जीवन को समग्रता में ग्रहण करना। भारतीय संस्कृति खंड दृष्टियों से परिचालित नहीं होती। खंड दृष्टियों में मनुष्य के किसी एक विशेष पक्ष पर अत्यधिक बल दिया जाता है, जिससे उसके अन्य पक्ष उपेक्षित रह जाते हैं। अपनी समग्र दृष्टि के कारण भारतीय संस्कृति मानव जीवन की समस्त उपलब्धियों को चार पुरुषार्थों में समेट लेती है। आजकल पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग साहसपूर्ण कठिन परिश्रम के लिए भी होने लगा है। किन्तु उसका वास्तविक अर्थ है *"पुरुषैः अर्थ्यते इति"* अर्थात् मनुष्य जिसको चाहता है। मानव जीवन पर समग्र रूप से विचार कर निर्धारित किया गया है कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों को चाहता है। बाहर की दृष्टि से भीतर की यात्रा से विचार किया जाए तो धर्म का स्थान काम के बाद आता है। किसी विशेष प्रयोजन से ऋषियों ने धर्म को सब से पहले रखा इसकी चर्चा बाद में की जाएगी।

अर्थ्यते इति अर्थ..... अर्थात् जिसको चाहा जाता है वह ! अर्थ का मतलब साधारणतः समझा जाता है धन, दौलत, किन्तु वास्तव में समस्त स्थूल भौतिक उपलब्धियों को 'अर्थ' पुरुषार्थ के अन्तर्गत ग्रहण करना चाहिए। इस बात पर ध्यान दीजिए कि अर्थ हमारे बाहर रहता है। कोई सिर पटक कर मर जाए तो भी अर्थ को अपने भीतर नहीं ला सकता। हमारा सारा रुपया पैसा, घर जमीन, कल कारखाने आदि-आदि हमसे बाहर हैं। मजा यह है कि इन वस्तुओं को हम ही अपना मानते हैं, ये वस्तुएँ हमें पहचानती तक नहीं। यह भी याद रखना चाहिए अर्थ साधन मात्र है, वह साध्य नहीं हो सकता। यह भी सही है कि अर्थ जीवन यात्रा के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है अतः उसके महत्व को स्वीकार कर उसे पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है।

अर्थ की तुलना में काम आन्तरिक है। काम का अर्थ स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध ही नहीं है। काम का व्यापक अर्थ है सौन्दर्य को समाहित करने वाली कामना। इसीलिए

साहित्य, संगीत, नृत्य, नाटच, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य तथा अन्य सब कलाओं का समाहार काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत ही होता है। काम का अवस्थान हमारे मन में है और उसका लक्ष्य है सृष्टि को अधिक सुन्दर, अधिक रमणीय बनाकर उसका उपभोग करना। धर्म पुरुषार्थ का अवस्थान हमारी बुद्धि में है, सत् को असत् से अलग करने वाले हमारे विवेक में है। वह असत् को त्याग कर सत् को ग्रहण करने की हमें प्रेरणा देता है। उसे अर्थ और काम के पहले गिनाने का अभिप्राय यही है कि हम सदुपायों से अर्थ और काम की सिद्धि करें, असत् उपायों से नहीं। मोक्ष हमारी आत्मा का सहज स्वरूप है। अज्ञान के आवरण को नष्ट कर हम उसका अपरोक्ष अनुभव कर सकते हैं।

इन चारों पुरुषार्थों की सम्यक् सिद्धि के लिए ही मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। सामान्य नियम तो क्रमशः अगले आश्रम में जाने का है किन्तु यह भी स्वीकार किया गया है कि जिस दिन सच्चा वैराग्य मन में उदित हो उसी दिन संन्यास ग्रहण कर लिया जा सकता है। इसी तरह गुण और कर्म के आधार पर ऋषियों ने मानव समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त किया था। यह दुर्भाग्य ही है कि बाद में इस व्यवस्था को विकृत कर जन्म पर आधारित मान लिया गया जिससे अनेक प्रकार के अन्यायों की सृष्टि हुई। यह सन्तोष की बात है कि इन अन्यायों का निराकरण अब संविधान द्वारा कर दिया गया है।

समग्र मानव जीवन के मंगल का विधान करने वाली हमारी सांस्कृतिक चेतना ने जिस भारतीय समाज और राष्ट्र का निर्माण किया उनमें राजनीति की भूमिका को महत्वपूर्ण तो माना गया है किन्तु उसे सर्वोपरि नहीं माना गया है। सर्वोपरि स्थान धर्म को ही दिया गया क्योंकि वही अर्थ और काम को सम्यक् सिद्धि के द्वारा अभ्युदय का और वैराग्य से पुष्ट हो कर मोक्ष का साधन बनता है।

धर्माधिष्ठित राजनीति का ही हमारे देश में सम्मान था। भारतीय चेतना ने आदर्श शासक के रूप में श्रीराम को ही स्वीकार किया है जिनकी प्रशस्ति में कहा गया है, *"रामो विग्रहवान् धर्मः"* राम तो मूर्तिमान धर्म ही हैं। राज्याभिषेक के बाद जब राजा अपने को अदंड्य घोषित करता था तब पुरोहित कहता था, नहीं तुम भी धर्म दंड्य (धर्म के द्वारा दंडनीय) हो। धर्म रहित राजनीति को निन्दनीय माना जाता था। भर्तृहरि ने तो उसकी तुलना वेश्या से करते हुए लिखा है—

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा।।

राजनीति कभी सत्यमयी, कभी मिथ्यामयी, कभी कठोर, कभी प्रियभाषिणी, कभी हिंसामयी, कभी दयालु, कभी लोभी, कभी उदार, कभी अत्यन्त खर्चीली, कभी अत्यधिक अर्जनशील होती है। सचमुच वेश्या की ही तरह वह अनेकरूपा है। राजनीति वस्तुतः कल्याणकारिणी तभी होती है जब वह सच्चे राजधर्म पर आधारित होती है, जिसका एक प्रधान लक्षण यह है कि राजा पार्थिव व्रत का निर्वाह करे अर्थात् उसी प्रकार बिना किसी भेदभाव के सारी प्रजा का समानभाव से पालन करे जिस प्रकार पृथ्वी सब प्राणियों को समान भाव से धारण करती है—

यथा सर्वाणि भूतानि, धरा धारयते समम्।
तथा सर्वाणि भूतानि, बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम्।।

इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय धर्म व राज्य को मजहबी राज्य या थियोक्रेटिक स्टेट नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें जाति, भाषा, उपासना-पद्धति आदि के आधारपर जनता में भेद-भाव नहीं किया जाता था।

वेदों में राष्ट्र शब्द अनेक बार आया है। यह ठीक है कि राष्ट्र शब्द का प्रयोग कभी-कभी राज्य और प्रजावर्ग के लिए भी किया गया है किन्तु मूलतः उसका प्रयोग देशवाचक है जिसमें एक विशिष्ट विचारधारा (संस्कृति) को मानने वाला वर्धिष्णु समाज रहता है। उस देश की धरती से उस समाज के व्यक्तियों का सम्बन्ध माता-पुत्र का है। तभी वैदिक ऋषि कहता है, *"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"*। वैदिक ऋषि को ज्ञात है कि यह धरती माता अनेक भाषाओं को बोलने वाले, अनेक धर्मों का अनुसरण करने वाले जनों को धारण करती है, *"जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं", नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्"*।

इसलिए उसका आदेश है कि इस देश के सभी निवासी कदम से कदम मिला कर चलें, अपनी विशेषताओं के बावजूद एकता का भाव रखें। परस्पर विरोध का त्याग कर एक सी वाणी बोलें, सबके मन और संकल्प एक जैसे हों, *संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जानताम्"*।

इस समाज के परिवारों के आन्तरिक सौमनस्य की कामना ऋषि ने अथर्ववेद के संज्ञान सूक्त में की है। यजुर्वेद के इस मंत्र को सुनाये बिना नहीं रह सकता क्योंकि सहृदयों ने इसे वैदिक राष्ट्रगीत की संज्ञा दी है—

आ ब्रह्मन ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नः ओषधयःपच्यन्ताम्।
योगक्षेमो नः कल्पताम्।।

अर्थात् हे प्रभु, हमारे राष्ट्र में ब्रह्मतेजव्रतधारी विद्वान् ब्राह्मण हों, शूर, धनुर्धर शत्रु-विनाशी महारथी क्षत्रिय हों, दुधारू गायें हों, भारवाही पुष्ट बैल हों, तीव्रगामी अश्व हों, सुन्दरी गुणवती नारियाँ हों, विजयशील रथी सभ्य युवक हों, इस यजनशील पुरुष के वीरपुत्र उत्पन्न हों, समय-समय पर वर्षा हो, हमारी खेती खूब फले-फूले, पके, जिससे हमारे राष्ट्र का योगक्षेम चलता रहे।

विद्या, शक्ति, समृद्धि से युक्त जिस तेजस्वी राष्ट्र की भावना इस वैदिक मंत्र में की गयी है, कालान्तर में वही भारतवर्ष के नाम से विख्यात हुआ। भारत नाम क्यों पड़ा, इस पर मतभेद हैं। ब्रह्मांडपुराण के अनुसार प्रजा का भरणपोषण करने के कारण मनु को भरत कहा जाने लगा। भरत से प्रतिपालित होने के कारण देश का नाम पड़ा भारत। कुछ विद्वानों के अनुसार दुष्यन्त के पुत्र के नाम पर देश का नाम भारत हुआ। जो हो, विष्णु पुराण में इसकी सीमा का स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा गया है—

उत्तरं यत् समुद्रस्य, हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम, भारती यत्र सन्ततिः।।

अर्थात् समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में जो देश है, उसका नाम है भारतवर्ष, जिसकी सन्तति भारती के नाम से प्रसिद्ध है अथवा जहाँ भरत की सन्तति का वास है। विष्णुपुराण में भारत के पर्वतों, प्रदेशों, नदियों, निवासियों के वर्णन के बाद बताया गया है कि भारत कर्मभूमि है जबकि अन्य सभी भूमियाँ भोगभूमि हैं। अतः जम्बू द्वीप में भारत सर्वश्रेष्ठ देश है। भारत की प्रशंसा में गीत गाते हुए देवगण भी कहते हैं कि वे धन्य हैं, जिनका जन्म भारत में हुआ है क्योंकि यहाँ के निवासी उत्तम सकाम कर्म करते हुए स्वर्ग की ओर ज्ञान या भक्ति से युक्त निष्काम कर्म करते हुए मोक्ष की उपलब्धि कर सकते हैं, अतः वे देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं! अद्भुत है हमारे पूर्वजों की साधना की प्रशंसा में कहा गया यह श्लोक—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

लक्ष्य करने की बात यह है कि भारत की यह प्रशंसा उसकी साधनामयी संस्कृति के लिए की गयी है, राजनीतिक उपलब्धियों के लिए नहीं।

यह तथ्य भी उल्लेख्य है कि प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में मनु, रघु, श्रीराम, युधिष्ठर, अशोक, विक्रमादित्य आदि कुछ ही ऐसे चक्रवर्ती राजा थे जिन्होंने पूरे भारतवर्ष पर शासन किया था। अन्यथा भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग, स्वाधीन राज्य थे। हमारा इतिहास साक्षी है कि राजनीतिक दृष्टि से विभिन्न राज्यों में विभक्त होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से पूरा भारतवर्ष एक देश माना जाता था। देश के किसी भी कोने में बैठ कर पुण्य कार्य करने वाला व्यक्ति जल को शुद्ध करने के लिए

देश के विभिन्न भागों में बहने वाली सात पवित्र नदियों का आह्वान करता था, जो परम्परा आज तक चली आ रही है—

गंगे च यमुने चैव, गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।

इसी तरह सात मोक्षदायिका पुरियाँ, द्वादश ज्योतिर्लिंग, बावन शक्तिपीठ, चार धाम, चार महाकुंभ क्षेत्र, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत जैसे ग्रन्थ आदि हमारे देश की एकता के महत्वपूर्ण संघटक हैं। *यदि हमारे देश की एकता का मुख्य आधार संस्कृति है तो हमारे देश के राष्ट्रवाद को स्वाभाविक रूप से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहना चाहिए।*

एक बात और है। हमारे देश के अखंड मंडलाकार चिन्तन के अनुरूप ही हमारी व्याप्ति की धारणा राष्ट्र से आगे बढ़ कर विश्वोन्मुखी या विश्वनाथोन्मुखी हो जाती है। विलक्षण है यह श्लोक—

माता च पार्वती देवी, पिता देवो महेश्वरः।
बान्धवाः शिवभक्ताश्च, स्वदेशो भुवनत्रयम्।।

भक्त का उद्गार है भगवती पार्वती या पर्वतों को धारण करने वाली यह धरती मेरी माता है, पिता है देवाधिदेव परमेश्वर, शिव अर्थात् कल्याण के साधक ही मेरे आत्मीय स्वजन हैं और स्वदेश तीनों भुवन हैं। इसी सांस्कृतिक चेतना के कारण भारतवर्ष कभी दूसरे देशों पर आधिपत्य जमाने की लालसा से ग्रस्त नहीं हुआ क्योंकि हमारी राष्ट्रीयता की परिणति *"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्", वसुधैव कुटुम्बकम्, स्वदेशोभुवनत्रयम्"* के अनुरूप वैश्विकता में होती रही है। राजनीतिक राष्ट्रवाद की विकृति साम्राज्यवाद के रूप में कितनी आसानी से हो जाती है इसे पश्चिमी देशों या पश्चिमी मतवादों से आक्रान्त देशों के इतिहास के अनुशीलन से समझा जा सकता है।

यह ठीक है कि राजनीति को कम महत्व देने का दंड भी हमलोगों को भोगना पड़ा है। जब विदेशी शक्तियाँ सीमावर्ती राज्यों पर आक्रमण करती थीं तो देशभर के सभी राज्य मिलकर उनका प्रतिरोध नहीं करते थे। फलतः एक एक करके वे राज्य विपन्न होते रहे और हमें पराधीनता का अभिशाप भोगना पड़ा। अब हम इस ओर भी सावधान रह कर अपने को राजनीतिक दृष्टि से भी अजेय बनायें, यही अभीष्ट है।

जो हो, अपने विचारक्रम को ऐतिहासिक दृष्टि से आगे बढ़ाने पर यह लक्षित किया जा सकता है कि जब तुर्क आये, पठान आये, मुगल आये और केन्द्रीय राज्यक्षमता छिन गयी, तब भी हमारी संस्कृति ने ही सारे देश को एक मानने की दृष्टि को अक्षुण्ण रखा। मध्यकाल में हुए हेमाद्रिपंडित ने अपने संकल्प में देश के मान्य पर्वतों, वनों, नदियों, पुरियों, प्रदेशों का उल्लेख कर पूरे भारतवर्ष का बोध जाग्रत रखा।

आज भी श्रावणी आदि पर्वों का पालन करते समय इस विस्तृत संकल्प का पाठ किया जाता है। इस बात पर भी ध्यान जाना चाहिए कि राजनीतिक पराजय के बावजूद हमारी संस्कृति ने किस प्रकार अन्याय का प्रतिरोध करने की प्रेरणा दी, समागत इस्लामी संस्कृति से कैसे सेतु बनायें, किस प्रकार उसे एक सीमा तक प्रभावित किया, कैसे उसने ग्रहणीय अंश को स्वीकारा।

यह सांस्कृतिक सेतु मुख्यतः योगियों, भक्तों, संतों, सूफियों ने तैयार किया। मध्यकाल में दक्षिण भारत में भक्ति साधना का नवोन्मेष हुआ जिसे उत्तर भारत में प्रवाहित करने का महत्वपूर्ण कार्य आकाशधर्मी गुरु रामानन्द ने किया। भक्ति सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने घोषणा की *"जाति पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सौ हरि का होई"* और इस पर अमल भी किया। उनके शिष्यों में कबीर दास भी थे जो मुस्लिम जुलाहा कुल में पैदा हुए थे। कबीर ने हिन्दु मुसलमान दोनों को फटकारते हुए पूछा- *"दुई जगदीस कहां ते आये, कहु कौन भरमाया"* और दृढ़तापूर्वक घोषणा की—

हमारै राम रहीम, करीमा केसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसभर एकै और न दुजा कोई।।

यह विचार *"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"* की भावना के अनुरूप ही है किन्तु उस संघर्ष काल में इसे घोषित करना सचमुच साहस का काम था। कबीर ने योगियों, सूफियों से भी सत्संग किया था किन्तु उनका ऐतिहासिक कार्य निर्गुण भक्ति का व्यापक प्रचार करना ही था। उनके शिष्यों में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही थे। दादू, रज्जब, बरवना, वाजिद, गरीबदास आदि मुस्लिम भक्तों ने भारतीय भक्ति साधना और सूफी साधना को एक हद तक समन्वित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

गुरुनानक देव ने भी निर्गुण भक्ति पर बल दिया, हिन्दू-मुसलमान का भेद अस्वीकार कर दोनों को अपना शिष्य बनाया। उनमें भक्ति के साथ-साथ शक्ति की भी ज्योति चमकती थी। बाबर के अत्याचारों से क्षुब्ध हो कर उन्होंने जिस तरह उसे फटकारा और घोषणा की, *"हिन्दुस्तान संभालसि बोला"* वह सचमुच अत्यन्त प्रेरणादायक तेजस्विता का प्रमाण है। सचमुच मर्द के चेले उठे और इस परम्परा का निर्वाह करते हुए गुरु अर्जुनदेव ने गुरु ग्रन्थ साहब की पवित्रता की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग किये, गुरु तेग बहादुर ने तिलक और जनेऊ के गौरव को बचाने के लिए वस्तुतः उपासना पद्धति की भिन्नता के अधिकार की रक्षा के लिए अपनी कुर्बानी दी और गुरु गोबिन्द सिंह ने उसी आदर्श को रूपायित करने के लिए जुझारू खालसा पंथ की स्थापना की। सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीयता को किस प्रकार सुदृढ़ करती है इसका उज्ज्वल निदर्शन है सिक्खों का बलिदानी इतिहास। दक्षिण-पश्चिम भारतवर्ष में समर्थ स्वामी रामदास की प्रेरणा से ही छत्रपति शिवाजी का प्रादुर्भाव हुआ था।

इसी के साथ-साथ सद्भावपूर्वक सेतु बनाने का कार्य भी चलता रहा। रसखान उच्चवर्ग के पठान थे। पठानों और मुगलों के संघर्ष से दिल्ली नगर को श्मशान सदृश बनता देख कर उन में वैराग्य जागा। उन्होंने "छिनहिं" बादशाह वंश की ठसक छोड़ कर भक्तों से सत्संग शुरू किया। श्रीकृष्ण के रूप पर, उनकी मनोहर लीलाओं पर वे रीझ गये। उन्होंने लिखा है, *"प्रेम देव की छबिहिं लखि भये मियां रसखान"*। कैसी अपूर्व रसमयी कविताएँ हैं उनकी, श्रीकृष्ण भक्त की मनोकामना मूर्त हो उठी है उनके शब्दों में—

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूं पुरको तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवों निधि को सुख, नन्द की गाइ चराइ बिसारौं।
इन आँखिन सों रसखान कबौं, ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हू कलधौत के धाम, करील की कुंजन ऊपर वारौं।।

बादशाह वंश का प्रतिनिधि कह रहा है कि मेरी ओर से सोने के करोड़ों भवन वृन्दावन के करील के कुंजों के ऊपर न्यौछावर।

बादशाह वंश के एक और प्रतिनिधि थे खानखाना अब्दुर्रहीम..... अकबर के फुफेरे भाई। अपनी दोहावली के मंगलाचरण के रूप में उन्होंने भगवती गंगा की ऐसी स्तुति की है कि उसे पढ़ कर सहृदय व्यक्ति रोमांचित हो उठता है। वे कहते हैं, हे सुरसरि, हे गंगा मैया तुम सर्वसमर्थ हो। चाहो तो किसी को विष्णु बना दो, चाहो तो शंकर बना दो। तुम विष्णु के चरणों से प्रवाहित हुई हो और शिवजी ने मालती की माला की तरह तुम्हें अपने शीश पर धारण कर रखा है। तुम मुझे विष्णु नहीं, शिव बनाना जिससे तुम्हें मैं अपने मस्तक पर धारण कर सकूँ। अत्यन्त मर्मस्पर्शी है यह दोहा—

अच्युत चरण तरंगिणी शिव सिर मालति माल।
हरि न बनायो सुरसरी कीजौ इन्दवभाल।।

इन्हीं रहीम ने पीड़ित जनता की हताशा को दूर कर दृढ़तापूर्वक रामत्व के साथ जुड़े रहने की प्रेरणा देने वाली तुलसीदास के महान् ग्रन्थ श्रीरामचरित मानस के बारे में लिखा था—

रामचरितमानस विमल संतन जीवन-प्रान।
हिन्दुआन को बेद सम जवनहिं प्रगट कुरान।।

सन्तों के जीवन प्राण सदृश निर्मल रामचरित मानस हिन्दुओं के लिए वेद तुल्य है और मुसलमानों के लिए वह कुरान के समान है, यह बात कोई हिन्दू नहीं कहा रहा, बादशाहवंश के विद्वान प्रतिनिधि अब्दुर्रहीम खानखाना कह रहे हैं। तभी तो भाव विभोर हो कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था, *"इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिक हिन्दू वारिये।"*

भारतीय मुस्लिम समाज में भारतीय संस्कृति का संचार करने की दृष्टि से हिन्दी के सूफी कवियों मौलाना दाऊद, कुतुबन, मंझन, मलिक मुहम्मद जायसी आदि का बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। इन कवियों ने इस्लाम की धार्मिक शब्दावली को सहज ही हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया। अल्लाह और खुदा के साथ करतार, अलखनिरंजन सर्वव्यापी का भी प्रयोग उन्होंने परमेश्वर के लिए किया। इसी तरह नूरूल मुहम्मदिया को ज्योति प्रकाश, बहिश्त को कैलास, कुरान शरीफ को पुराण, रसूल को बसीठ कहने में उन्हें संकोच नहीं हुआ। अपनी धार्मिक आस्थाओं पर दृढ़ रहते हुए फारसी की मसनवी परम्परा के अनुसार ईश्वरवन्दना के बाद हजरत मुहम्मद साहब, प्रथम चारों खलीफों, शाहे वक्त और अपने गुरु की स्तुति करके ही वे कथा शुरू करते हैं। उनकी प्रेमकथाओं में भारतीय जीवन एवं संस्कृति के सजीव रूप के दर्शन होते हैं। बड़े चाव से बड़े अपनेपन के साथ उन्होंने भारतीय त्यौहारों, ऋतुओं और जीवन-पद्धति का चित्रण किया है। जायसी ने भारतीय दृष्टि को स्वीकारते हुए बेझिझक कहा है, *"विधना के मारग हैं तेते, सरग नखत तन रोवां जेते"* अर्थात् विधाता तक पहुँचने के उतने मार्ग हैं जितने आकाश में तारे हैं और शरीर में रोएँ। वे अपने देश की संस्कृति से किस प्रकार एकमेक हो गये थे इसका एक प्रमाण यही है कि रामचरित मानस की रचना के चौंतीस वर्ष पूर्व उन्होंने अपने पद्मावत में रामकथा के विविध प्रसंगों का करीब एक सौ बार उल्लेख किया है। फिर भी वे सच्चे सूफी भक्त थे और निस्संकोच घोषणा करते थे कि भगवान् तक पहुँचने वाले पंथों में मुहम्मद के द्वारा निरूपित पंथ सबसे बड़ा और अच्छा है।

ऐसा नहीं है कि हिन्दी में लिखने के कारण सूफी भक्तों ने भारतीय संस्कृति को इस प्रकार अपनाया था। उर्दू के सबसे बड़े कवि मीर तकी मीर में भी यह तत्व प्रचुर मात्रा में मिलता है। उनका एक मर्मस्पर्शी शेर है जिसमें उन्होंने कहा है कि परमात्मा के सौन्दर्य के प्रकाश से ही सब दीपक चमकते हैं, चाहे वह मस्जिद की शमा हो या सोमनाथ का दीया—

उसके फरोगे हुस्न से झमके हैं सब चिराग,
शम्मा हरम हो या कि दीया सोमनाथ का।

वे केवल इतना ही कह कर नहीं रुक गये कि मन्दिर के प्रदीप भी प्रभु के सौन्दर्य से प्रकाशमान् हैं, उन्होंने यह भी कह दिया कि मंदिर की महफिल में भी प्रभु को पाया जा सकता है, इसलिए कभी मंदिर में, कभी मस्जिद में हो आने में उन्हें प्रसन्नता का अनुभव होता था। अद्भुत सद्भाव झलका है उनके इस शेर में—

कभी मन्दिर में हो आओ, कभी मस्जिद में हो आओ।
कि मकसद तो उसे पाना है, जिस महफिल में हो आओ।।

और वे नजीर अकबराबादी जिन्होंने केवल तन से नहीं, मन से भी भीग कर

भारत की वर्षा की बहारों की तारीफ के पुल बाँध दिये थे, श्रीकृष्ण की लीला पर कितने मुग्ध थे, उसका कुछ अनुमान उनकी उस प्रसिद्ध नज्म से किया जा सकता है जिसमें उन्होंने झूम कर कहा है—

यारो सुनो य' दधि के, लुटैया का बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं, कृष्ण कन्हैया का बालपन।।

यह दिवालोक की भाँति स्पष्ट है कि धार्मिक कट्टरता को लाँघ कर साधना और साहित्य के क्षेत्र में पठान-मुगल काल में ही भारतीय संस्कृति की उदारता को मुसलमान भाई अपना रहे थे। दाराशिकोह द्वारा उपनिषदों का फारसी अनुवाद करवाना भी इसी धारा की एक कड़ी है। यह देश का दुर्भाग्य ही है कि औरंगजेब की मजहबी कट्टरता ने इस धारा को अवरुद्ध करना चाहा पर फिर भी मन्दगति से ही सही वह धारा प्रवाहित होती रही। सन्त प्राणनाथ जी ने समन्वय की दृष्टि से औरंगजेब को पत्र भी लिखा और अपने सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को निराकार रूप की उपासना का प्रवर्त्तन किया। असम के श्री शंकर देव ने भी निराकार प्रभु की भक्ति पर ही बल दिया है। इसी तरह रीतिकालीन हिन्दी साहित्य पर फारसी साहित्य का प्रभाव देखा जा सकता है। संगीत, नृत्य, चित्रकला में भी आदान प्रदान चलता रहा। यह उदार समन्वयी धारा निश्चय ही भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की गौरवपूर्ण उपलब्धि है।

आधुनिक काल का इतिहास तो अधिक ज्ञात है, अतः उसकी चर्चा संक्षेप में ही करना चाहता हूँ। १८५७ में अंग्रेजों के विरुद्ध छेड़े गये प्रथम स्वाधीनता संग्राम के पूर्व जनसंघर्ष की चेतना जगाने के लिए रोटी के साथ-साथ कमल को प्रतीक के रूप में चुनना, हमारी सांस्कृतिक चेतना के कारण ही संभव हो सका था। इस संग्राम में कंधे से कंधा मिलाकर हिन्दू और मुसलमान अंग्रेजी राज को उखाड़ फेंकने के लिए लड़े थे। दुर्भाग्य से इस स्वांतत्र्यसमर के विफल होने के बाद जनता में व्यापक हताशा फैल गयी। राष्ट्र को इस हताशा से उबारने के लिए पुनः एक बार हमारी सांस्कृतिक चेतना ही सक्रिय हुई। राजा राममोहन राय, श्री रामकृष्ण परमहंसदेव, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि महापुरुषों ने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्षों को उभारकर और विकृतियों को नकार कर पुनः देश में नवजीवन का संचार किया। यह ऐतिहासिक तथ्य स्मरणीय है कि श्रीमद्भगवद्गीता इस काल की सर्वाधिक प्रेरक पुस्तक रही। ऋषि बंकिम, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द, महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, डॉ. राधाकृष्णन् तथा अन्यान्य मनीषियों ने गीता से प्रेरणा लेकर जनजागरण अभियान चलाया था। सशस्त्र क्रान्तिकारी और अहिंसक सत्याग्रही दोनों प्रकार के योद्धाओं के लिए गीता परम सम्बल थी। इस सांस्कृतिक जागरण का एक सुफल यह भी हुआ कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान और जीवन मूल्यों के अन्ध अनुकरण या अन्धवर्जन के अतिरेकों से मुक्त होकर भारतीय प्रबुद्ध

चित्त ने भारतीय और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान आदि के स्वस्थ समन्वय पर बल दिया।

इस सांस्कृतिक जागरण की फलश्रुति ही थे भारतीय स्वाधीनता के सहिंस और अहिंस आन्दोलन। आरंभ में इन आन्दोलनों को सभी भारतीयों का समर्थन प्राप्त था, किन्तु कालान्तर में अंग्रेजों की कूटनीति के कारण कट्टरपंथी मुसलमान इनसे कटते गये। दुर्भाग्य की बात है कि "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा" लिखने वाले अल्लामा इकबाल ने पाकिस्तान का बीजारोपण किया और एक समय के हिन्दू मुस्लिम एकता के समर्थक, नरमपंथी नेता कायदे आजम जिन्ना अंग्रेजों की कूटनीति को सफल करते हुए पाकिस्तान के जनक बने। मजहब के आधार पर जिस पाकिस्तान की सृष्टि हुई थी वह १९७१ में टूट गया। स्वाधीन बांग्लादेश इस बात का प्रमाण है कि मजहब के नाम पर बने पाकिस्तान की नींव कितनी खोखली थी। बचे-खुचे पाकिस्तान में भी पंजाबी, सिन्धी, बलूच, पख्तून, मुजाहिर के भेद उग्र होते जा रहे हैं। मुजाहिरों के नेता अल्ताफ हुसेन ने तो साफ-साफ कह दिया है कि पाकिस्तान का निर्माण ऐतिहासिक भूल थी। इसीलिए उसने "सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा" फिर से गाना शुरू कर दिया है।

इससे यही शिक्षा लेनी चाहिए कि उपासना पद्धति एवं सामाजिक रीति-नीति की भिन्नताओं के बावजूद सांझी भारतीय सांस्कृतिक चेतना को हमलोग और दृढ़ करें। यह याद रखें कि स्वाधीनता संग्राम में भी और स्वाधीन भारत के विकास में भी सभी धर्मावलम्बी भारतीयों का योगदान रहा है। आदिकाल से ही भारतीय संस्कृति एकरूपता की नहीं, अन्तर्निहित एकता की पक्षधर रही है।

अपनी ऐतिहासिक परम्परा के उज्ज्वल पक्षों के प्रति श्रद्धा, मातृभूमि के प्रति निष्ठा, रूप में स्वस्थ परिवर्तनों को स्वीकारते हुए भी स्वरूप की निरन्तरता का बोध, विचार स्वातंत्र्य, विविध उपासना पद्धतियों, भाषाओं, सामाजिक एवं क्षेत्रीय विशिष्टताओं के प्रति सद्भाव हमारी सांस्कृतिक चेतना के प्रमुख पक्ष रहे हैं। मध्ययुग में राजनीति की उपेक्षा करने का भरपूर दंड हमलोग भोग चुके हैं अतः अब राजनीतिक आवश्यकताओं के प्रति भी पूर्णतः सजग रहना होगा। खासकर इस बात का ध्यान रखना होगा कि देश में बलिष्ठ राज्यों के साथ-साथ केन्द्र भी भरपूर बलिष्ठ हो जिससे हमारी सीमाओं पर कारगिल के सदृश अनुप्रवेश करने का दुस्साहस करने वालों को उचित सबक सिखाया जा सके।

संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसकी संस्कृति ने दूसरे देशों की संस्कृतियों से आदान-प्रदान न किया हो। आधुनिक युग में तो यह प्रक्रिया और तेज हो गयी है। फिर भी दुनिया का कोई दूसरा देश ऐसा नहीं है जो अपनी संस्कृति को सामासिक संस्कृति कहता हो। अतः हमें भी अकुंठ चित्त से अपने देश की संस्कृति को सीधे सीधे भारतीय संस्कृति ही कहना चाहिए। ●

आईने के सामने

तुम अब भी अच्छे लगते हो मेरे प्रतिबिम्ब।
तुममें अब भी बाकी है सहज सरल उत्साह
तुममें अब भी हिलोरती है जीवन की चाह
तुम अब भी हँस सकते हो खूब ठठाकर
तुम अब भी मुसका सकते चोट उठाकर
अब भी जीवन के प्रति विश्वास नहीं टूटा है,
भले लगे आघात सैकड़ों
मन का दरपन नहीं अभी फूटा है।
झाँक दूसरों की आँखों में
स्नेह जोड़ सकते हो
चाँदी की चमचमी ठनकती माया हो
या ईर्ष्या की अधसुलगी तिल-तिल दहने वाली आग
दोनों का फन्दा एक साँस में
झटक तोड़ सकते हो।

इसीलिए तो नेह हृदय का देकर यह कहता हूँ
तुम अब भी अच्छे लगते हो मेरे प्रतिबिम्ब।

सच है पक चला चेहरा
पड़ चलीं ललाट पर रेखाएँ दो चार
असफल आकांक्षाओं का भार
किन्तु नहीं अवरोह।
हाँ, बीत गया कैशोर भावना का
स्वप्निल व्यामोह।
हँसी खींचती है अब भी
यद्यपि दिख जाता उसके भीतर का कलुषित द्रोह।

शब्दों का ताने पाल
युक्तियों, सिद्धान्तों की नौकाएँ
अब भी लगतीं तुम्हें पार पहुँचाने के साधन
नहीं सैर के लिए
लक्ष्य तक जाने को करते उनका आवाहन
ठगे जा चुके कितनी बार
फिर भी तुम्हें बाँध लेता है सपनों का मायाजाल।

तुम दुनियादारों की आँखों में मूरख
अपनों के लिए पराये
उनके काम न आये
ले ले नाम तुम्हारा जाने कितनों ने मुँह बिचकाये।
नहीं जानता क्या होगी परिणति,
इस दुनिया में सिरफिरे तुम्हारे जैसे
करवाते अपनी दुर्गति,
फिर भी उस दिन भी माथा ताने रहे अगर तुम
सच कहता हूँ नहीं करूँगा गिला
भीगे स्वर में सही
कहूँगा यही
तुम अब भी अच्छे लगते हो मेरे प्रतिबिम्ब। ●

क्या करोगे पूछ कर प्रिय

रुक गया मैं जिस जगह बस हो गया वह ठाँव मेरा
हार कर ही जीत पाता जो सदा वह दाँव मेरा।
हूँ वही पंछी, अकेला ही रहा जो झुण्ड में भी
क्या करोगे पूछ कर प्रिय! नाम मेरा गाँव मेरा।। ●

विविध मुक्तक

काम होता नहीं किया जाता है
हृदय मिलता नहीं लिया जाता है।
किनारे बैठना तो साँस लेना है
बीच तरंगों के जिया जाता है।।

• • •

अखिल विश्व को जीत चुका जो
उसे हराती शंका मन की।
बन सकते हो राम स्वयं तुम
जीत सको यदि लंका मन की।।

• • •

कविता केवल कभी-कभी मुझसे हँसती है
प्रायः गुमसुम सी रहती, अवहेला करती।
पर चीर हृदय को आह निकलती है जब-जब
चुपचाप स्वयं आ मेरे दुख झेला करती।।

• • •

अंधकार की ओर नहीं तुम चलो ज्योति की ओर
रहे गूँजती यह पावन ध्वनि जड़ता को झकझोर।
सबसे घना अँधेरा जग में यदि अज्ञान अमा का
ज्ञान-सूर्य को लिये गर्भ में ग्रन्थालय है भोर।।

• • •

तुम विकास के पथ पर बढ़ते रहो निरंतर
तेजस्वी आनन हो श्रद्धा भीगा अंतर।
सपनों का संसार तुम्हारा सच बन जाये
नयी ज्योति ले चाँद उतर आँगन में आये।। ●

तुमको क्या जादू आता है?

यह तुमने क्या किया कि सहसा
प्राणों में तूफान आ गया।
यह तुमने क्या दिया जिसे पा
गरल-सुधा मधु-दान पा गया।।
मेरा मन मुझको, दुनिया को
भूल-भूल कैसे जाता है।
तुमको क्या जादू आता है?

मेरा कण-कण, मेरा क्षण-क्षण
अब मेरा अपना न रहा प्रिय!
समा गये हो ज्यों तुम मुझमें
अब सपना, सपना न रहा प्रिय!
आँखों में आँसू भर आते
किन्तु हृदय बेसुध गाता है।
तुमको क्या जादू आता है?

क्या पाया, क्या खोया मैंने
यह हिसाब मैं कर न सकूँगा।
मिट्टी के टुकड़ों की खातिर
तुम्हें तुला पर धर न सकूँगा।
जीते जग के सफल हिसाबी,
मुझे हारना ही भाता है।
तुमको क्या जादू आता है? ●

लक्ष्य तेरा पास ही है

दृढ़ चरण धर तू बढ़ा चल लक्ष्य तेरा पास ही है।

साधना तेरी निरन्तर, परम पावन ज्योति बन कर
है प्रकाशित कर रही शत, कोटि भावुक तरुण अन्तर
जो स्वयं को भूल जीवन्मृत बने बिखरे पड़े थे,
वे सगौरव सिर उठाते आज तेरा तेज पाकर
आज उनके वक्ष में बल, नयन में उल्लास भी है
.....लक्ष्य तेरा पास ही है।

तू वही जिसने कि जग को, तीन पग में माप डाला,
पलक झपते ही न झपते, जलधि तक को लाँघ डाला
सहज गति तेरी, न रोके, रुक सकी थी विश्व भर से
अश्व-मख कर बार कितनी, अखिल जग को जीत डाला
तू वही होगा वही फिर सत्य यह विश्वास भी है।
.....लक्ष्य तेरा पास ही है।

क्या हुआ जो जिन्दगी की दौड़ में तू लड़खड़ाया
क्या हुआ जो विघ्नपर्वत आज तुझ पर टूट आया
विफलता के इन झकोरों में अटल रह अभय साधक
क्या हुआ जो श्याम घन ने, प्रखर रवि को है छिपाया
भूलता क्यों विफलता भी विजय का आभास ही है।
.....लक्ष्य तेरा पास ही है।

माँगती है कटु परिस्थिति और भी बलिदान तुझसे
माँगती है शक्ति, धीरज, संगठन की आन तुझसे
शपथ जो तू डगमगाया हो रही तेरी परीक्षा
है अपेक्षित सुदृढ़ साहसमय शहीदी शान तुझसे
विपद बाधा ठेल बढ़ने का तुझे अभ्यास ही है
.....लक्ष्य तेरा पास ही है।

फिर उठेगी गूँज जग में तव जय-ध्वनि गगन-भेदी
फिर उड़ेगी तव पताका, कर अलंकृत विश्ववेदी
जग बनेगा आर्य फिर से, स्वप्न तेरे सत्य होंगे
भीत भव को अभय देता, गान होगा सामवेदी
विश्व के कल्याण का पथ, तव चरम विकास ही है।
.....लक्ष्य तेरा पास ही है। ●

दो मुक्तक

ध्येयनिष्ठ हो अगर समर्पण विनयपूर्ण हो प्रतिपद,
सहज साधनामय जीवन हो, रामकृपा हो सम्पद।
मेवा खाने की न लालसा हो यदि अपने मन में
सेवा का छोटा सा पौधा, बन सकता है बरगद।।

बड़ा काम कैसे होता है? पूछा मेरे मन ने,
बड़ा लक्ष्य हो, बड़ी तपस्या, बड़ा हृदय मृदुवाणी।
किन्तु अहं छोटा हो जिससे सहज मिलें सहयोगी
दोष हमारा, श्रेय राम का यह प्रवृत्ति कल्याणी।। ●

भक्तिपरक चतुष्पदियाँ

साँस-साँस में रटूँ राम मैं नाम तुम्हारा
साँस-साँस में बुनूँ रूप में राम तुम्हारा।
साँस-साँस में झलकाओ तुम अपनी लीला
साँस-साँस में रमो बने यह धाम तुम्हारा।।

• • •

राम प्राण की गहराई से तुम्हें नमन है
कृपा पा सकूँ नाथ तुम्हारी, इतना मन है।
यह जग-ज्वाला क्या बिगाड़ सकती है मेरा
नाम तुम्हारा, सब पापों का सहज शमन है।।

• • •

राम तुम्हारी कृपा लक्ष्य तक पहुँचाती है,
साधन वह, साधनहीनों का बन जाती है।
संकट की घड़ियों में अपने अमृत-स्पर्श से
आशंका-विष हरती, जीवन बरसाती है।।

• • •

सौंप जब तुमको दिया इस जिन्दगी का भार रघुबर,
तब मुझे क्या सोचना है, जीत हो या हार रघुबर।
सिर्फ इतनी शक्ति मुझको दो कि मैं अन्तःकरण से
कर सकूँ स्वीकार सब कुछ, जो तुम्हें स्वीकार रघुबर।।

• • •

शुभाशीष दो, करूँ राम मैं केवल काम तुम्हारा
अहंकार हर लो, हो सम्बल केवल नाम तुम्हारा।
जग के नाना रूपों में मैं देखूँ नाथ तुम्हें ही,
अखिल विश्व को समझ सकूँ मैं केवल धाम तुम्हारा।।

यह चमकीली दुनिया झूठी सिर्फ राख की ढेरी,
ऊपर भोगों का मधु दिखता भीतर विपति घनेरी।
जो बीता, सो बीता, इसपर और न अब ललचूँगा
राम! तुम्हारे ही चरणों में हो रति-मति-गति मेरी।।

• • •

तुम्हीं काम देते हो स्वामी, तुम्हीं उन्हें पूरा करते हो,
असफलता के दारुण क्षण में, अश्रु पोंछ पीड़ा हरते हो।
कभी-कभी अचरज होता है, इतना अगुणी होने पर भी,
कैसे, क्यों कर तुम मुझपर यों कृपा-मेघ जैसे झरते हो।।

• • •

तरी अहल्या जिनके पावन मृदुल स्पर्श से
प्रेम हठीले केवट से जो गए पखारे।
जो जग का दुख हरने काँटों से क्षत-विक्षत
राम! तुम्हारे चरण प्रेरणास्रोत हमारे।।

• • •

जो कराना चाहते हो, तुम करा लेते सहज ही,
मैं तुम्हारे हाथ का प्रभु, एक छोटा उपकरण हूँ।
दो मुझे आशीष, मानूँ सिर्फ निमित्त स्वयं को मैं
चल रही लीला तुम्हारी, मैं निदेशित आचरण हूँ।।

• • •

छोड़ दो, सब राम पर ही छोड़ दो,
जिन्दगी का रुख उधर ही मोड़ दो।
तुम जगत् के साथ भटके हो बहुत,
अब स्वयं को जगत्पति से जोड़ दो।। ●

केशव* का आत्ममंथन

सिर्फ बातों से भला कब बन सकी है बात?
शक्ति आवश्यक, यहाँ तो शक्ति का संघात।
सत्य तो यह, संगठन ही शक्ति का है उत्स
जो खड़ा हो प्रेम, निष्ठा, ध्येय पर अवदात।।

किन्तु ऐसा संगठन तो चाहता बलिदान
स्वप्न, चिन्तन, हृदय के कोमल, मधुर अरमान,
व्यक्तिगत सुख-लालसा या उच्च पद का गर्व
सब समर्पित यदि, तभी हो लक्ष्य का संधान।।

कौन धारण कर सकेगा व्रत कठिन असिधार
सुन सकेगा कौन बिखरा मौन हाहाकार?
युग-युगों की ग्लानि संचित धो सकेगा कौन
ला सकेगा कौन गंगा की अमृतमय धार?

आह, शत-शत प्रश्न, उत्तर किन्तु उनका एक
दूसरे आगे बढ़ें यह चाहना अविवेक।
क्यों बढ़े कोई तुम्हारी दृष्टि के अनुरूप
यदि स्वयं तुम ठान सकते हो नहीं वह टेक?

नींव का पत्थर बनूँगा यह सुदृढ़ संकल्प
ठन सके यदि, दूर क्षण में हों समस्त विकल्प।
आत्मबलि ही सर्जना का मूलभूत रहस्य
वृक्ष तो है बीज का ही दिव्य कायाकल्प!!

* राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रतिष्ठाता केशवराव बलीरामराव हेडगेवार

अब न दुविधा रोक सकती ये घुमड़ते भाव,
अब न आकर्षण जगत् का खेल सकता दाँव
नदी जैसे सिन्धु-संगम को उमड़ती दौड़
जग उठा वैसे हृदय में अब समर्पण-चाव।।

साँस-साँस चुकाय मेरी, देश का राजस्व
है यही अब पंथ मेरा दीर्घ हो या ह्रस्व।
बन गयी सेवा नरों की राम सेवा आज
कुछ न मेरा, मैं न कुछ, अब संगठन सर्वस्व।।

संगठन, जो कर सकेगा जाति का उद्धार
संगठन, जो शुद्ध सात्त्विक शक्ति का आगार।
जो सँजोये प्राण में शाश्वत, सरस हिन्दुत्व
चिर पुरातन धर्म का होगा नया श्रृंगार।।

जो किसी को भी न भय दे, भय न जाने आप
हाँ, जिसे लख देश-द्रोही काँपे अपने आप।
शील-ज्ञान-चरित्र-बल जिसमें रहे भरपूर
जो सदा वरदान ही दे, झेल खुद अभिशाप।।

राजसत्ता से न आकर्षित, न कम्पित, धीर
अभ्युदय के साथ निःश्रेयस् परम व्रत वीर
ले, करेगा राष्ट्र को जो परम वैभव-युक्त
जो मिटा देगा जननि-उर की युगों की पीर।।

प्रभु, तुम्हारे पाद-पद्मों में झुका यह शीश
दो अजय साहस कि लाँघूँ विघ्न का वारीश।
देश के उत्कर्ष के हित जो सदा कटिबद्ध
गढ़ सकूँ वह संगठन, तुम दो मुझे आशीष।। ●

जुगल किशोर जैथलिया

- *जन्म :* २ अक्टूबर १९३७ ई०
- *जन्म स्थान :* छोटीखाटू, जिला : नागौर (राज०)
- *शिक्षा :* एम.काम्., एल-एल. बी., एडवोकेट
- वृत्ति : आयकर सलाहकार।
- रुचि : साहित्य एवं समाज सेवा।
- बाल्यकाल से ही लेखन में विशेष रुचि, लेख एवं कवितायें पाञ्चजन्य, सन्मार्ग, विश्वमित्र, जनसत्ता एवं राष्ट्रीय महानगर में प्रकाशित।
- *सह-सम्पादक*
  १. कालजयी सोहनलाल दूगड़ स्मृति-ग्रंथ (१९७९)
  २. तुलसीदास : चिन्तन-अनुचिन्तन (१९८०)
  ३. बड़ाबाजार के कार्यकर्त्ता : स्मरण एवं अभिनन्दन '८२
  ४. पत्रों के प्रकाश में कन्हैयालाल सेठिया (१९८९)
- राजस्थान परिषद, कोलकाता की वार्षिक स्मारिकाओं का विगत २० वर्षों से नियमित सम्पादन।
- श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता तथा श्री छोटीखाटू हिन्दी पुस्तकालय, राजस्थान की दर्जनों महत्त्वपूर्ण एवं संग्रहणीय स्मारिकाओं का सम्पादन।

साहित्यिक/सामाजिक गतिविधियाँ :

- श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के पूर्व अध्यक्ष एवं मंत्री
- सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय के पूर्व मंत्री
- राजस्थान परिषद के उपाध्यक्ष
- बड़ाबाजार लाइब्रेरी, मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी, कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी की कार्यसमिति के सदस्य
- बाल्यकाल से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक एवं विविध दायित्वों का निर्वाह
- प० बंगाल भाजपा के पूर्व कोषाध्यक्ष एवं सम्प्रति उपाध्यक्ष
- ओजस्वी वक्ता एवं कुशल संगठक
- नेशनल इन्स्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड के डायरेक्टर

सम्पर्क :
४२, कालीकृष्ण टैगोर स्ट्रीट, कोलकाता-७०००७
फोन : (०३३) २२५९-०९३०(नि०), २२६८-५५२१ (का०)

विष्णुकान्त शास्त्री

जन्म : २ मई १९२९, कलकत्ता।
शिक्षा : एम. ए., एल-एल. बी.
वृत्ति : १९५३ से कलकत्ता विश्वविद्यालय के
हिन्दी विभाग में प्राध्यापक।
आचार्य के पद से मई १९९४ को अवकाश ग्रहण।

कृतियाँ :

मौलिक : कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध, कुछ चंदन की कुछ कपूर की, चिन्तन मुद्रा, अनुचिन्तन (साहित्य समीक्षा), तुलसी के हिय हेरि (तुलसी केन्द्रित निबन्ध), बांग्लादेश के सन्दर्भ में (रिपोर्ताज), स्मरण को पाथेय बनने दो, सुधियाँ उस चन्दन के वन की (संस्मरण एवं यात्रा वृत्तान्त), अनंत पथ के यात्री : धर्मवीर भारती (संस्मरण), भक्ति और शरणागति (विवेचन), ज्ञान और कर्म (ईशावास्य प्रवचन), जीवन पथ पर चलते-चलते (काव्य)।

अनूदित : उपमा कालिदासस्य (बंगला से हिन्दी), संकल्प-संत्रास-संकल्प (बांग्लादेश की संग्रामी कविताओं का काव्यानुवाद), महात्मा गाँधी का समाज दर्शन (अंग्रेजी से हिन्दी)।

सम्पादित : दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच, बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन, बांग्लादेश : संस्कृति और साहित्य, तुलसीदास : आज के संदर्भ में, कलकत्ता १९८६, कलकत्ता १९९३, अमर आग है (श्री अटल बिहारी वाजपेयी की चुनी हुई कविताओं का संकलन)।

गतिविधियाँ : साहित्यिक स्तर पर देश भर के विश्वविद्यालयों में व्याख्यान, देश-विदेश की साहित्यिक संगोष्ठियों में भागीदारी, भक्तिसाहित्य के अधिकारी विद्वान, विविध साहित्यिक सम्मानों एवं पुरस्कारों से समादृत। १९४४ से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से सम्बद्ध, १९७७ से सक्रिय राजनीति में प्रवेश। जनता पार्टी के सदस्य के रूप में पश्चिम बंगाल विधानसभा में विधायक (१९७७-१९८२), पं.बंगाल प्रदेश भाजपा के दो बार अध्यक्ष, भाजपा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष (१९८८-१९९३), संसद सदस्य - राज्यसभा (१९९२ से १९९८), २ दिसम्बर १९९९ को हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त, २४ नवम्बर २००० से उत्तर प्रदेश के राज्यपाल।

स्थायी पता : २८० चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-७००००६, दूरभाष : २२४१-१३४८
सम्पर्क : राजभवन, लखनऊ - २२७१३२ (उत्तरप्रदेश)

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
कोलकाता